हिन्दी गद्य के निर्माता

पण्डित बालकृष्ण भट्ट

(जीवन और साहित्य)

आगरा विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि
के लिये स्वीकृत प्रबंध

लेखक
डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०
हिन्दी-संस्कृत विभाग, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा
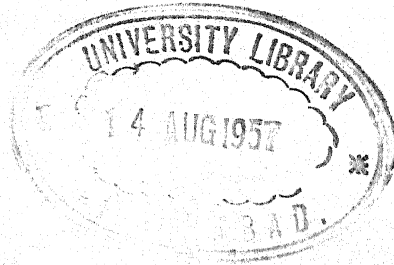
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

पूज्या माता

श्रीमती ब्रह्मादेवी

एवम्

पूज्य पिता

श्रीयुत पं० मोहनलाल शर्मा

को

उनके अकिंचन पुत्र द्वारा

श्रद्धा एवम् भक्ति पूर्वक

समर्पित

भूमिका

यह देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि श्री राजेन्द्र शर्मा ने युग-निर्माता, विचारक, समाजसुधारक और महान् देशभक्त साहित्यकार स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट पर अपना ग्रन्थ पूरा कर लिया है, उस पर उन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिल गई है और अब वह प्रकाशित होकर सर्वसाधारण के सामने अध्ययन और मनन के लिए प्रस्तुत है।

भट्ट जी का समर्थ व्यक्तित्व अपनी सुदीर्घ साहित्य-सेवा से दो युगों को मिलाता है। एक ओर वह भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक उत्थान के प्रमुख सूत्रधार हैं, दूसरी ओर वह नयी पीढ़ी के तरुण लेखकों, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, पुरुषोत्तम टण्डन आदि के सहयोगी, शिक्षक और उनके प्रेरणा-केन्द्र भी हैं। छायावाद के आरम्भ से अब तक हिन्दी साहित्य के विकास में जो भूमिका श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की रही है, उससे पूर्व के चालीस वर्षों में वैसी ही भूमिका भट्ट जी की थी।

उस समय के लेखकों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे विशुद्ध लेखक नहीं थे। वे पत्रकार, समाजसुधारक, राजनीतिक कार्यकर्त्ता और साहित्यकार —सब कुछ एक साथ थे। एक ओर उन्हें अंग्रेजी राज के दमन का सामना करना था, दूसरी ओर उन्हें समाज के रूढ़िवादियों के अन्धविश्वासों से मोर्चा लेना पड़ता था। इसके साथ ही उनके सामने हिन्दी भाषा को सँवारने, गद्य साहित्य को विकसित करने और भाषा का सर्वमान्य रूप स्थिर करने की अनेक जटिल समस्याएँ थीं। भट्ट जी जैसे आत्मविश्वासी लेखक इन समस्याओं से घबरानेवाले न थे, न अंग्रेजी राज, उसके समर्थकों की शक्ति और रूढ़िवादियों के आक्रोश से वे आतङ्कित होने वाले थे। इन परिस्थितियों में उनका उज्ज्वल चरित्र और भी निखर गया, उनकी लेखनी और भी शक्तिसम्पन्न हुई, उनका व्यंग्य और भी मार्मिक, उनकी शैली और भी ओजस्वी बन गयी।

भट्ट जी का बहुविध साहित्य जनता को अंग्रेजी राज के सच्चे रूप से परिचित कराता है। अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था, उनकी सभ्यता, उनकी राज-

नीति---इनके बाह्य रूपों से चमत्कृत न होकर भट्ट जी ने उनकी वास्तविकता उद्घाटित की। पैनी सूझबूझ के अलावा यह साहस का काम भी था। जिस देश में १८५७ के शताब्दि-महोत्सव के अवसर पर विद्वान् इस बहस में पड़े हों कि अंग्रेजों की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी, उसमें १८५७ के लगभग बीस वर्ष बाद भट्ट जी के राजनीतिक निबन्धों का युगान्तरकारी महत्व सहज ही समझा जा सकता है। वह अपने युग के श्रेष्ठ क्रांतिकारी विचारक थे; इस दृष्टि से वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी बढ़कर थे। भारतीय स्वाधीनता के समर्थक होने के नाते उन्हें आयर्लैंण्ड जैसे देशों से गहरी सहानुभूति थी जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे।

उनकी सामाजिक आलोचना अत्यन्त मर्मभेदी होती थी। उनका उदार सरल हृदय भारतीय समाज में नारी की दुर्दशा और उसके प्रति अन्याय से व्यथित हो उठता था। उनका सात्विक क्रोध ऐसा तीक्ष्ण व्यंग्य का रूप लेता था कि विरोधियों से बगलें झाँकते ही बनता था। इस सामाजिक दायित्व की भावना ने उनकी गद्य-शैली को लोकप्रिय बनाया। वह सरल और सुबोध होने के साथ बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है; उसमें मुहावरों, कहावतों, चुभते हुए वाक्यों की बहुतायत है। यह गद्य-निर्माण का प्रारम्भिक काल था; इसलिए एक ही शब्द, क्रियारूप आदि के प्रयोगों में विविधता भी है। भट्टजी की गद्य-शैली समतल भूमि पर मंथर गति सी बहने वाली नदी नहीं है; वह चट्टानों से टकराती, प्रस्तर-खण्डों को बहाती, प्रखर वेगवाली पर्वत-सरिता है जिसका सौन्दर्य उसके अदम्य वेग में है।

भाषा के सम्बन्ध में भट्ट जी उदार नीति के समर्थक हैं। एक ओर वे अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा को अनुपयोगी समझते हैं तो दूसरी ओर अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों के वहिष्कार के विरोधी भी हैं। उनकी भाषा-संबन्धी नीति का महत्व आज भी कम नहीं हुआ क्योंकि अनेक हिन्दी लेखकों का रुझान ऐसा है कि वे गद्य को जनजीवन और बोलचाल की भाषा से दूर ले जा रहे हैं।

भट्ट जी का दार्शनिक दृष्टिकोण रामावतार शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता था। भारतीय दर्शन की चर्चा के सिलसिले में इन हिन्दी साहित्यकारों के उल्लेख का चलन नहीं है। किन्तु संसार को दुःख का कारण मानने वाले, उसे मिथ्या कहकर अखंड ज्ञानमय सत्ता की घोषणा करने वाले दर्शन के इतिहासकारों से इन हिन्दी साहित्यकारों का दृष्टि-कोण अधिक दार्शनिक है और प्रगतिशील भी है। मायावादियों के विरुद्ध भट्ट

जी ने लिखा था, "विरक्त और वेदान्तियों को यह संसार नीरस और फीका जान पड़ता है। हम लोगों की बुद्धि गवाही दे रही है कि नहीं यही सार है। इसलिये इसी को सिद्ध करना हमारे जीवन का फल है।" संसार को दुख का कारण न मानकर भट्ट जी कहते हैं, "संसार सुख संदोह का परमोत्कृष्ट मंदिर है। हम अपने कुढंग और कुचरित्र से अपवित्र कर अपने जीवन को दुःखपूर्ण कर रहे हैं।"

सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक—हर दृष्टि से भट्ट जी का साहित्य मनन करने योग्य है। श्री राजेन्द्र शर्मा की इस पुस्तक में हम भट्ट जी के संघर्षमय जीवन का चित्र देखते हैं और उनकी बहुमुखी साहित्यिक कार्यवाही से परिचित होते हैं। यह बहुत आवश्यक है कि भट्ट जी के साहित्य को सम्पादित करके प्रकाशित किया जाय। इससे हिन्दी भाषा और साहित्य के विकासक्रम का सम्यक् परिचय प्राप्त होगा, साथ ही इस युग की अनेक सांस्कृतिक और भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ सुलझाने में सहायता मिलेगी। "प्राक्कथन" में अपने मौलिक अनुसन्धान की चर्चा करते हुए श्री राजेन्द्र शर्मा ने ठीक लिखा है कि "भारतेन्दु युग के निर्माणकर्ता तत्कालीन प्रमुख लेखकों एवं उनकी कृतियों का गवेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन अद्यावधि नहीं हुआ।"

आशा है, इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी के अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान भारतेन्दु युग के उन लेखकों की ओर अधिक जायगा और वे उपर्युक्त अभाव की पूर्ति शीघ्र ही करेंगे।

१२ अशोक नगर,
आगरा।
२१-१-५८.

रामविलास शर्मा

प्राक्कथन

हिन्दी के भारतेन्दु युगीन साहित्य के अध्ययन की ओर इधर विद्वानों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ है। उसके प्रमुख अध्येता डा० रामविलास शर्मा, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय तथा बाबू ब्रजरत्नदास आदि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस युग की ऐतिहासिक महत्ता का प्रतिपादन दृढ़ शब्दों में करते हैं, और अन्य प्रमुख विद्वान् भी मुक्त कंठ से इस युग की प्रशंसा करने में आज गौरव का अनुभव करते हैं, किन्तु यह एक कठोर सत्य है कि भारतेन्दु युग के निर्माण कर्ता तत्कालीन प्रमुख लेखकों एवं उनकी कृतियों का गवेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन अद्यावधि नहीं हुआ।

भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में भारतेन्दु के पश्चात् सभी दृष्टियों से सर्वमहान व्यक्तित्व पं० बालकृष्ण भट्ट का है। स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र उन्हें अपने पश्चात् उस युग का सर्वमहान लेखक स्वीकार करते थे।[1] डा० रामविलास शर्मा भट्ट जी को धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि सभी विषयों की दृष्टि से, उस युग का महानतम विचारक मानते हैं।[2] वे उनके ३३ वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' संचलन को एक ऐतिहासिक घटना तथा उनकी धुन और लगन को हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय उदाहरण के रूप में देखते हैं।[3] प्रो० जयनाथ 'नलिन' तो परिस्थितियों की कसौटी के आधार पर उन्हें भारतेंदु बाबू से भी ऊँचा स्थान देते हैं।[4] अपवाद स्वरूप भी कोई ऐसा विद्वान् हिन्दी-जगत में दिखाई नहीं देता जो पं० बालकृष्ण भट्ट के महत्व को अस्वीकार करता हो या साधारण मानता हो। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान के अधिकारी होने पर भी भट्ट जी के जीवन या साहित्य का गवेषणात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ। अतः गवेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध को इस क्षेत्र में अपने ढंग का प्रथम प्रयास समझा जाना चाहिए।

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२।
२. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १२२।
३. „ „ „ पृ० ११५।
४, हिन्दी निबन्धकार, जयनाथ 'नलिन' पृ० ६७ -

यह प्रबन्ध दो भागों में विभाजित है, (१) भट्ट जी का जीवन, (२) साहित्य ।

भट्ट जी के जीवन पर अभी तक कार्य नहीं हुआ। यों विभिन्न ग्रंथों में परिचय के रूप में भट्ट जी का जीवन अवश्य मिलता है परन्तु वह अपर्याप्त, अप्रामाणिक तथा प्राय: असंगत एवं असत्य कथनों से युक्त है। इन पंक्तियों के लेखक ने भट्ट जी का जीवन चरित्र लिखने के लिए सभी मौलिक सूत्रों का उपयोग किया है जिनके विषय में पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वे अभी तक हिन्दी संसार के लिए अज्ञात थे।

इधर हिन्दी-साहित्य-समाज, लखनऊ विश्वविद्यालय की ओर से 'भट्ट जी के निबन्धकार' रूप पर श्री गोपाल पुरोहित की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक उनके एम० ए० परीक्षा के इसी शीर्षक निबन्ध का प्रकाशित रूप है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि उपर्युक्त पुस्तक भ्रमात्मक, मिथ्या एवं अर्द्ध सत्य कथनों से भरी है। उदाहरण के लिए उक्त ग्रंथ के लेखक महोदय ने भट्ट जी को विधवा विवाह विरोधी माना है,[1] वे भट्ट जी के विदेश-यात्रा सम्बन्धी विचारों के विषय में भ्रम में हैं[2] तथा भट्ट जी के द्वारा लिखा स्वप्न सम्बन्धी एक ही निबन्ध मानते हैं।[3] भट्ट जी के नाटकों के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।[4] वे भट्ट जी के पौत्र श्री धनंजय भट्ट 'सरल' के इस कथन पर व्यर्थ ही विश्वास करते हैं कि भट्ट जी की जीवन सम्बन्धी सामग्री के विषय में केवल एक ही प्रामाणिक निबन्ध श्री रासबिहारी शुक्ल का उपलब्ध है।[5] 'सरल जी', ने उक्त लेखक महोदय से क्या कहा है इसके लिए स्वयं पुरोहित जी ही उत्तरदायी हैं। एम० ए० के लिये प्रस्तुत निबंध में इससे अधिक आशा भी नहीं की जा सकती।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उपर्युक्त सभी शंकाओं एवं असत्य तथा अर्द्ध सत्य कथनों का यथा प्रसंग सप्रमाण उत्तर दिया है। यह भी विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भट्ट जी के जीवन के विषय में, 'हितकारिणी', 'अभ्युदय' 'श्री बेंकटेश समाचार', 'पाटलिपुत्र', 'आनन्द', 'प्रताप', 'विद्यार्थी' आदि तत्कालीन पत्रों से यहाँ पहली बार मौलिक सामग्री का उपयोग किया गया है

---

१. निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट, गोपाल पुरोहित, पृ० ४८।
२. ,, ,, ,, पृ० ४९।
३. ,, ,, ,, पृ० ११६।
४. ,, ,, ,, पृ० ५५।
५. ,, ,, ,, पृ० ३९।

और सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि पं० बालकृष्ण भट्ट के पुत्र पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट द्वारा लिखी अपने पिता की जीवनी से हिन्दी जगत आजतक अनभिज्ञ है। केवल श्री ब्रजरत्नदास ने अपने 'भारतेन्दु मण्डल' में इस जीवनी की चर्चा की है[1] पर यह निश्चित है कि उन्होंने न तो यह जीवनी देखी ही है। और न वे इसका उपयोग ही कर सके हैं। वास्तव में भट्ट जी के दो और पुत्रों (पं० मूलचन्द भट्ट तथा पं० महादेव भट्ट) ने भी उनकी जीवनी लिखने का प्रयत्न किया था पर वे उसे सुव्यवस्थित रूप नहीं दे सके और उनके द्वारा लिखी ये अपूर्ण जीवनियाँ आज भी भट्ट जी की एक मात्र जीवित संतान पं० जनार्दन भट्ट के पास सुरक्षित हैं। इधर भट्ट जी पर लेखनी चलाने वाले शायद ही कोई लेखक-बन्धु जनार्दन जी भट्ट से परिचित हों। पं० जनार्दन जी भट्ट का महत्व तो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की इन पंक्तियों से ही स्पष्ट है जो उन्होंने पं० बालकृष्ण भट्ट के देहावसान पर शोकांजलि के रूप में लिखी थीं :-"भट्ट जी तुम्हारी कौन कौन बात याद करें। तुम्हारे जीवन की अन्यान्य घटनाओं का उल्लेख और लोग करें हमारे लिये तो यह अवसर इतना ही कहने का है। अब हम तुम्हारी आत्मा का प्रतिबिम्ब जनार्दन में देखना चाहते हैं। अखिलेश्वर इस आशा को फलवती करें।"[2] पं० बालकृष्ण भट्ट के जीवन और साहित्य का आज कोई दूसरा जीवित व्यक्ति इतना अधिकारी विद्वान् नहीं जितने पं० जनार्दन भट्ट।

भट्ट जी के जीवन और साहित्य सम्बन्धी अनभिज्ञता का ही यह परिणाम है कि उनके विषय में जिसके जी में जो आता है लिख देता है। पं श्रीराम शर्मा 'शंकर सर्वस्व' नामक ग्रंथ की भूमिका लिखते समय भट्ट जी को समस्या पूर्ति करने वालों की सूची में लिख गए हैं। जबकि भट्ट जी ने न तो अपने जीवन में कभी कोई समस्या पूर्ति की और न कोई कविता ही लिखी। हिन्दी नाटक साहित्य के लेखक डा० सोमनाथ गुप्त धनंजय भट्ट 'सरल' को भट्ट जी का पुत्र समझ बैठे हैं जबकि वे उनके पौत्र हैं। डा० गुप्त पूरी एक पीढ़ी की भूल कर गए हैं।

लेखक ने पं० बालकृष्ण भट्ट के प्रिय शिष्य राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन तथा पं० सुन्दरलाल से भी उनकी जीवनी के विषय में सहायता ली है। यह स्मरणीय है कि टंडन जी 'हिन्दी प्रदीप' के मुख्य लेखकों में रहे हैं।

जीवन के अतिरिक्त इस प्रबन्ध में ६ अध्याय और हैं, प्रथम अध्याय तो

---

१. **भारतेन्दु मण्डल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १२।**

२. **'सरस्वती' अगस्त १९१४, पृ० ४७३।**

इस निबन्ध की भूमिका ही है । इसकी अधिकांश सामग्री पराजित है । यत्र तत्र मौलिक सामग्री का भी.इसमें उपयोग किया गया है ।

दूसरा अध्याय 'जीवनी' का है जिसकी चर्चा ऊपर का जा चुकी है ।

तीसरे अध्याय में भट्ट जी के पत्रकार रूप का अध्ययन किया गया है अभी तक किसी ने प्रामाणिक ढंग पर उनके इस रूप का विवेचन नहीं किया । लेखक ने ३३ वर्ष की 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं के आधार पर मूल सामग्री का उपयोग करते हुए उनके पत्रकार रूप और पत्रकार कला पर प्रकाश डाला है जो लेखक का विश्वास है अपने ढंग का मौलिक कार्य है ।

चौथे अध्याय में भट्ट जी के निबन्धकार रूप का विवेचन है । अब तक भट्ट जी के निबन्धकार रूप पर लेखनी चलाने वाले लेखकों का अध्ययन क्षेत्र उनके केवल प्रकाशित निबन्धों तक ही सीमित रहा है । इस प्रबन्ध में पहली बार भट्ट जी की सम्पूर्ण मौलिक निबन्ध सामग्री का उपयोग किया गया है । अन्य लेखकों द्वारा किए गए भट्ट जी के निबन्धों के वर्गीकरण का लेखक समर्थक नहीं हैं । क्योंकि वह उनके कतिपय प्रकाशित निबन्धों पर ही आधारित है तथा एकांगी और अपूर्ण है । इसलिए इस प्रबन्ध में वर्गीकरण का आधार और रूप सर्वथा उसका अपना है ।

पाँचवें अध्याय में भट्ट जी के आलोचक रूप पर विचार किया गया है । इसमें पहली बार आलोचक के रूप में भट्ट जी के विचारों की एकान्विति तथा एकसूत्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है । और आलोचक के रूप में हिन्दी आलोचना साहित्य में उनका स्थान निर्धारित किया गया है ।

छठवें अध्याय में भट्ट जी के कथाकार रूप का विवेचन किया गया है । अभी तक हिन्दी का कोई भी लेखक भट्ट जी के कथा साहित्य के विषय में पूर्ण अभिज्ञ नहीं है । अनेक तो उनके प्रकाशित उपन्यास और नाटकों को ही उनके द्वारा प्रणीत मानते हैं और शेष के विषय में अंधकार में है जबकि कुछ भट्टजी की कृतियों में ऐसी रचनाओं का उल्लेख भी कर जाते हैं जो उन्होंने कभी लिखी ही नहीं । उदाहरणार्थ भट्ट जी के पौत्र धनंजय भट्ट 'सरल' स्वसम्पादित कतिपय पुस्तकों में भट्ट जी प्रणीत कृतियों के रूप में कुछ ऐसी रचनाओं का उल्लेख कर गए हैं जो भट्ट जी की हैं ही नहीं । उन्हीं को आधार और प्रमाण मान कर भ्रम का यह वृत्त विस्तृत से विस्तृततर होता गया है । इन पंक्तियों के लेखक ने प्रथम बार भट्ट जी की कृतियों की निश्चित संख्या दी है और द्विधाहीन तथा निर्भ्रांत भाषा में उन कृतियों का सप्रमाण खंडन किया है जो भट्ट जी द्वारा वास्तव में लिखी ही नहीं गईं । वास्तव में अभी तक भट्ट जी के

साहित्य के विषय में सारा भ्रम और अनिश्चितता इसलिए थी क्योंकि आज 'हिन्दी प्रदीप' की वे सारी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं जो भट्ट जी की कृतियों की वास्तविक संख्या को अपने हृदय में छिपाए हुए हैं। इस लेखकने पहली बार 'हिन्दी प्रदीप' के ३३ वर्ष के सभी अंकों का अध्ययन किया है और जो निष्कर्ष उसने निकाले हैं उनके प्रमाण भी दिए हैं।

भट्ट जी का अधिकांश साहित्य तो प्रकाशित है किन्तु कुछ ऐसा साहित्य भी इस लेखक को उपलब्ध हुआ है जो अब तक किन्हीं कारणोंवश अप्रकाशित रहा। सप्तम अध्याय में इसी सामग्री का विवरण दिया गया है। भट्ट जी का हिन्दी का एक लेख और संस्कृत के ५६ कवियों पर उनके हस्त लेख में ३६४ पृष्ठों में लिखा साहित्य आज भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इस प्रबन्ध में सभी कवियों के नाम और उन पर लिखे पृष्ठों की संख्या दे दी गई है। लेखक नम्रता के साथ इसे अपनी खोज कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाता।

लेखक को पूरा विश्वास है कि भट्ट जी विषयक मौलिक सामग्री या उनके साहित्य का कोई भाग उससे अदृष्ट नहीं रहा और इस प्रबन्ध के द्वारा पहली बार उनके महान् व्यक्तित्व का उद्घाटन उनकी सम्पूर्ण रचनाओं के वैज्ञानिक विवेचन और विश्लेषण के आधार पर किया गया है। उसे आशा है कि इस प्रबन्ध द्वारा हिन्दी साहित्य के एक रिक्त अंग की पूर्ति होगी और भट्ट जी के जीवन और साहित्य के विषय में प्रचलित शंका, अनिश्चितता, तथा भ्रम आदि सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगे।

इस निबन्ध के साथ ४ परिशिष्ट 'क', 'ख', 'ग', 'घ', जोड़ दिए गये हैं। परिशिष्ट 'क' भट्ट जी का एक मात्र अप्रकाशित निबन्ध है। परिशिष्ट 'ख' भट्ट जी के प्रतिनिधि साहित्यिक निबन्धों की सूची मात्र है। परिशिष्ट 'ग' में उन पत्र एवं तारादि की सूची है जो विभिन्न व्यक्ति एवं संस्थाओं ने संवेदना प्रकाशन के लिये भट्ट जी के सुपुत्रों को भेजे थे। परिशिष्ट 'घ' सहायक पुस्तकों की सूची है यद्यपि लेखक का मुख्य अध्ययन का विषय तो 'हिन्दी प्रदीप' के ३३ वर्ष के अंक थे (जो भट्ट जी के सुपुत्र पं० जनार्दन भट्ट अखिल भारतीय धर्म सेवा संघ, सब्जी मंडी, देहली के पास आज भी सुरक्षित हैं) तथापि अन्य सूचना संग्रह, या अध्ययन सम्बन्धी कार्य में जिन ग्रंथों से सहायता मिली है उनका उल्लेख इसमें कर दिया गया है।

मुझे अपने इस कार्य में अपने गुरु वर्ग से जो सहायता, आशीर्वाद तथा पथ प्रदर्शन प्राप्त हुआ है वह अविस्मरणीय है :—

इस विषय पर प्रबंध लिखने की प्रेरणा मुझे पूज्य डा० राम विलास शर्मा

से मिली। समय समय पर उन्होंने मुझे जो बहुमूल्य सुझाव दिए तथा मेरा मार्ग दर्शन किया, उस सबका ऋण केवल धन्यवाद देने से नहीं चुक सकता। मेरे इस ग्रंथ की भूमिका लिखकर उन्होंने मुझे अपना आशीर्वाद भी दिया। इसके लिये मैं उनका यावज्जीवन ऋणी रहूँगा।

/श्रद्धेय डा० टीकमसिंह तोमर इस कठिन कार्य में मेरे मार्ग दर्शक रहे हैं। अत्यंत व्यस्त रहने पर भी उन्होंने सदैव सहर्ष मुझे अपना अमूल्य समय दिया है। सच तो यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ के विषय प्रतिपादन में यदि कुछ विशिष्टता आई है तो वह डा० साहब की ही कृपा का फल है। यत्र तत्र जहाँ कुछ कमियाँ रह गई हों वे मेरी अपनी हैं। मैंने चूँकि डा० तोमर के तत्वावधान में ही अपना कार्य पूरा किया है इसलिये उनके आशीर्वाद, कृपा, सहायता और सहयोग के लिये में हृदय से कृतज्ञ हूँ।

परमादरणीय पं० जनार्दन भट्ट की चर्चा भी मैं गुरुवर्ग में ही करना उचित समझता हूँ। श्रीयुत भट्ट जी प्रस्तुत प्रबंध के चरितनायक पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र हैं। अपने पिता के सदृश ही संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और हिन्दी के उद्‌भट लेखक हैं। मैं निस्संकोच यह स्वीकार करता हूँ कि यदि उनका आशीर्वाद कृपा और सहयोग मुझे न मिलता तो कदाचित् मैं अपने इस कार्य में सफल न हो पाता। सच है, 'बड़ों का वरदहस्त मंगलमय होता है।' आदरणीय भट्ट जी की असीम कृपा का मूल्यांकन धन्यवाद के द्वारा करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा, मैं यावज्जीवन उनका आभारी रहूँगा।

श्रद्धेय गुरुवर डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी शुभकामनायें और शीतल आशीर्वाद सदैव इस कठिन मार्ग में मेरे सम्बल रहे।

पूज्य डा० रामकरणसिंह (प्रिंसिपल बलवन्त राजपूत कालेज) के प्रति आभार प्रदर्शन भी मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके सतत प्रोत्साहन ने मुझे असीम प्रेरणा और शक्ति दी तथा सफलता के निकट पहुँचने में मेरी सहायता की।

मित्र वर्ग में, मैं अपने आदरणीय मित्र डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दिल्ली कालेज दिल्ली) को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने, विषय के चुनाव में ही मेरी सहायता नहीं कि अपितु पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र पं० जनार्दन भट्ट से मेरा परिचय भी करा दिया।

अपने प्रिय मित्र नरेन्द्र सहगल को मैं जितना धन्यवाद दूँ थोड़ा है, परमादरणीय राजर्षि टंडन तथा श्रद्धेय पं० सुंदरलाल से मेरा परिचय उन्हीं के द्वारा हुआ और इस प्रकार भट्ट जी के व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में मुझे

ऐसे अमूल्य संस्मरण प्राप्त हुए जिनसे मैं अन्यथा वंचित रह जाता। मैं उपर्युक्त दोनों महान् विभूतियों का भी हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ जिनकी कृपा से उस काल की अनेक समस्यायें, कठिनाइयाँ और अस्पष्टतायें स्पष्ट होगईं।

अभिन्न हृदय प्रो० प्रकाश दीक्षित ने प्रस्तुत प्रबंध के अनेक अंश बड़े धैर्य पूर्वक सुने हैं और मुझे अपने अमूल्य सुझावों से लाभान्वित किया है। वे मेरे इतने अपने हैं कि उन्हें धन्यवाद देना शिष्टाचार का पालन मात्र होगा।

डा० बाबूलाल गुप्त तथा श्री भोलानाथ जी का भी में हृदय से आभारी हूँ क्योंकि उनकी सहानुभूति और कृपा के बिना कदाचित् यह प्रबंध पुस्तक का आकार ही ग्रहण न कर पाता।

शिष्य वर्ग में सर्व श्री राजपालसिंह, ब्रजेन्द्रसिंह शर्मा, रघुराजसिंह शर्मा सुरेन्द्रकुमार, तथा रामप्रकाश आदि भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने विभिन्न अवसरों पर सहायता देकर मेरा हाथ बटाया है।

इसके अतिरिक्त मेरे शुभचिन्तकों का भी एक बड़ा वर्ग है। स्थानाभाव के कारण सबका नामोल्लेख संभव भी नहीं है फिर भी जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मुझे कुछ भी सहायता मिली है उन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैं अपने पूर्ववर्ती तथा समसामयिक उन सभी लेखकों का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी रचनाओं ने प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में अमूल्य सहायता दी है।

सबके अंत में मैं स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकाध्यक्ष श्रीयुत तोताराम तथा श्री मोतीलाल के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने समय समय पर वांछित पुस्तकें देकर मेरी बड़ी सहायता की है।

२६ जनवरी, १६५८ ई०
३५, लाजपत कुंज,
सिविल लाइन्स, आगरा

—राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

विषय-सूची

पहला अध्याय

भारतेन्दु युग और आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१—६४)

दूसरा अध्याय

जीवन वृत्त तथा चरित्र (६५—१३४)

तीसरा अध्याय

भट्ट जी पत्रकार के रूप में (१३५—२०९)

चौथा अध्याय

भट्ट जी निबंधकार के रूप में (२१०—३४२)

पाँचवाँ अध्याय

भट्ट जी आलोचक के रूप में (३४३—३७५)

छठा अध्याय

भट्ट जी कथाकार के रूप में (३७७–४३४)

सातवाँ अध्याय

परिशिष्ट

—*—*—

पहला अध्याय

भारतेंदु युग और आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

हिन्दी गद्य में परिमार्जन :—

हिन्दी गद्य में परिमार्जन से हमारा अर्थ खड़ी बोली गद्य के परिमार्जन से है। ब्रजभाषा का गद्य इतना भाव व्यंजक और सशक्त न बन सका कि वह साधारणतः भाव प्रकाशन का माध्यम बन पाता, इसलिए वह अपने शैशव में ही समाप्त हो गया। खड़ी बोली का गद्य हमें अवश्य एक विकासोन्मुख क्रमबद्ध कड़ी के रूप में प्राप्त होता है। यह तो सत्य है कि खड़ी बोली उतनी ही प्राचीन है जितनी ब्रजभाषा और यह भी सत्य है कि ब्रजभाषा की उन्नति के प्रखर ताप के समय खड़ी बोली कहीं पड़ी विकास के उचित अवसर की खोज में थी। पद्य के रूप में खड़ी बोली के अंकुर हमें अमीर खुसरो जैसे प्राचीन कवि की रचनाओं में मिल जाते हैं किन्तु गद्य के रूप में उसका विकास बहुत बाद की बात है। विद्वज्जन खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ अकबर के समय से मानते हैं और गंग कवि की 'चंद-छंद-बरनन की महिमा' नामक गद्य पुस्तक को खड़ी बोली गद्य की पहली पुस्तक बतलाते हैं। गंग की इस पुस्तक में खड़ी बोली के गद्य का क्या रूप था इसे स्पष्ट करने के लिए एक उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा :—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपत जी अकबर साहिजी आम खास तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहें।........

इतना सुनके पात साहिजी श्री अकबर साहिजी आदसेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।[1]

हमारा उद्देश्य यहाँ खड़ी बोली गद्य का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है अपितु इस आरम्भिक उद्धरण के द्वारा यह दिखाना है कि इसी अपरिष्कृत और खुरदरी खड़ी बोली का रूप आगे चलकर भारतेंदु युग तक पहुँच कर कितना परिष्कृत और स्निग्ध हो गया।

अंग्रेजों के आने के पूर्व खड़ी बोली को कोई ऐसा सहारा नहीं मिला कि वह द्रुतगति से फैल पाती। मुद्रणकला भी अंग्रेजों के साथ-साथ आई जो कि खड़ी बोली गद्य के प्रचार प्रसार में युगांतरकारी प्रमाणित हुई। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने तत्कालीन स्थिति को निम्नांकित शब्दों में ठीक ही व्यक्त किया है :—

"भारतवर्ष में अंग्रेजों के आते ही यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति में विप्लव उपस्थित हो उठा। राज्य संस्थापन तथा आधिपत्य-विस्तार की उनकी भावना ने यहां के राजनैतिक जीवन में उलट फेर उत्पन्न कर दिया। उनके नित्य के संसर्ग ने तथा रेल, तार की नूतन सुविधाओं ने यहाँ के रहन-सहन और आचार विचार में परिवर्तन ला खड़ा किया। उन लोगों के साथ-साथ उनका धर्म भी लगा रहा। उनका एक अन्य दल धर्म प्रचार की चेष्टा कर रहा था। धर्म प्रवर्तन की इस चेष्टा ने धार्मिक जगत में एक आन्दोलन उपस्थित किया। सब ओर एक साधारण दृष्टि फेरने से एक शब्द में कहा जा सकता है कि अब विज्ञान का युग आरम्भ हो गया था। लोगों के विचारों में जागृति हो रही थी।............इसी समय यंत्रालयों से मुद्रण कार्य आरम्भ हुआ। इसका प्रभाव नवीन साहित्य के विकास पर अधिक पड़ा।"[2]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि मुन्शी सदासुखलाल और लल्लूलाल से कोई ६२ वर्ष पूर्व 'रामप्रसाद निरंजनी' ने खड़ी बोली गद्य में 'योगवाशिष्ठ' नामक पुस्तक लिखी है जो खड़ी बोली गद्य का उस काल को देखते हुए बहुत ही परिष्कृत रूप प्रस्तुत करती है। शुक्ल जी इन्हीं रामप्रसाद

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४१०।

२. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास ले० डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३-१४।

निरंजनी को परिष्कृत खड़ी बोली गद्य का प्रथम लेखक मानते हैं और उनकी पुस्तक 'योगवाशिष्ठ' को पहली पुस्तक। शुक्ल जी ने "योग वाशिष्ठ" में से निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जो परिमार्जित खड़ी बोली गद्य का एक निश्चित रूप हमारे सामने रखती हैं :—

"हे राम जी ! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है......मलीन वासना जन्मों का कारण है ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित रहोगे ।......जिसने आत्म तत्व पाया है वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्म तत्व को देखो तब विगत ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आओगे।[1]

रामप्रसाद निरंजनी की ये पंक्तियाँ एक साहित्यिक भाषा के जन्म की सूचना तो देती हैं पर जनता से अपने सम्बन्ध घनिष्ठ होने का कोई प्रमाण नहीं देतीं। उपर्युक्त पंक्तियों में न तो कोई मुहावरा है न कोई कहावत है। 'योग वाशिष्ठ' संवत् १७९८ में लिखा गया था। उसके लगभग ६२ वर्ष बाद तक खड़ी बोली गद्य की कोई क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित परम्परा नहीं मिलती इसलिये संवत् १८६० से हिन्दी गद्य का वास्तविक प्रारम्भ माना जाता है क्योंकि इसी काल में, मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र चार महानुभाव हुए जिन्होंने खड़ी बोली गद्य की निश्चित परम्परा की नींव डाली और जो परम्परा कि आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

यह तो ठीक है कि उपर्युक्त चार महानुभावों से बहुत पूर्व ही खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ हो गया था किन्तु उसे जनता की भाषा के निकट लाकर उसमें स्वाभाविकता और मृदुता लाने की आवश्यकता थी। इन चार महानुभावों ने इस पूर्ति की ओर अपना ध्यान दिया और हिन्दी गद्य को एक पग आगे बढ़ाया।

उपर्युक्त चार महानुभावों में से सदल मिश्र तथा लल्लूलाल ने तो अँग्रेजों के आश्रय में लिखा और मुंशी सदासुखलाल तथा सैयद इंशाअल्ला खाँ ने स्वतन्त्र रूप से। अंग्रेजों के कुछ प्रशंसकों ने यह प्रसिद्ध करने में कुछ उठा न

---

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ संस्करण, पृ० ४११ व ४१२।**

रखा कि खड़ी बोली गद्य अंग्रेजों की कृपा और उदारता का फल है। उन्होंने ही इसे जन्म दिया और उन्हीं के अंचल में यह पल कर बड़ी हुई, हिन्दी के गण्यमान विद्वानों ने इसका विरोध किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] और डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय[2] का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

मुंशी सदासुखलाल:—मुंशी जी ने संवत् १८७५ में 'सुखसागर' की रचना की थी। इस ग्रन्थ की भाषा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हिन्दी गद्य का रूप निखरने लगा था। उनकी भाषा का एक उद्धरण लीजिए—

"यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं, जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए कोई बुरा माने कि भला माने विद्या इसी हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चुतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को जो तमोवृति से भर रहा है निर्मल न कीजिए।

तोता है सो नारायन का नाम लेता है परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।[3] रेखांकित शब्दों से दो तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हैं कि एक तो मुंशी सदासुखलाल ने तात्पर्य, सतोवृत्ति, तमोवृत्ति, सुरापान जैसे संस्कृत शब्दों का उनके तत्सम रूप में ही व्यवहार किया है दूसरे उनकी क्रियायें कुछ पंण्डिताऊपन लिये हुए हैं या कम से कम ऐसी हैं जैसी आजकल व्यवहृत नहीं होतीं। 'तोता है सो नारायण का नाम लेता है।' में पंण्डिताऊ बोली स्पष्टत: झाँक रही है। भाषा स्वयं यह संकेत कर रही है कि अभी उसमें निरन्तर संस्कार और परिष्कार की आवश्यकता है।

उपर्युक्त गद्य पर विचार करते समय यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मुंशी सदासुखलाल एक अच्छे शायर थे और 'नियाज़' उपनाम से शायरी करते थे। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखी हुई उर्दू और फारसी की पुस्तकों की संख्या भी बहुत है।[1] यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि मुंशी सदासुखलाल

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण पृ० ४११ व ४१२।

२. साहित्य चिंतन, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० ६८।

३. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध' द्वितीय संस्करण, पृ० ६४१।

ने अपनी हिन्दी गद्य को फारसी अरबी के प्रभाव से बिल्कुल बचाए रखा है। इससे कम से कम इतना स्पष्ट तो हो ही जाता है कि खड़ी बोली गद्य की एक ऐसी शैली विकासोन्मुख थी जो बिना उर्दू के शब्दों के ही अपना कार्य चला सकती थी। उर्दू से भिन्न हिन्दी एक निश्चित रूप ग्रहण करती जा रही थी।

सैयद इंशाअल्ला खाँ :—मुंशी सदासुखलाल की शैली में हमने देखा कि वह पण्डिताऊ अधिक है और बोलचाल की भाषा के निकट न होकर कृत्रिम और अस्वाभाविक है। हिन्दी गद्य की बोलचाल की भाषा के निकटतम लाने का बहुत कुछ श्रेय सैयद इंशाअल्ला खां को है। किसी भी भाषा की कहावतें तथा उसके मुहावरे उसके जीवन्त होने के सच्चे प्रतीक होते हैं। हिन्दी में भाषा की इस विशेषता की ओर सम्भवतः सैयद इंशाअल्ला खां का ही ध्यान पहली बार गया और वे आज हिन्दी के शैलीकारों में शैली की उत्कृष्टता या सम्पन्नता की दृष्टि से न सही फिर भी अपनी ऐतिहासिक स्थिति के नाते बहुत महत्वपूर्ण है।

इंशाअल्ला खाँ की यह प्रतिज्ञा तो हिन्दी में ऐतिहासिक है जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने हिन्दी लिखी और वैसी ही लिखी जैसी प्रतिज्ञा की थी :—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही डौल रहे और छाँह किसी की न पड़े।"[२]

इंशाअल्ला खाँ की यह प्रतिज्ञा ही उस काल में प्रचलित अनेक विचारों एवं मान्यताओं को सहज ही स्पष्ट करती है।

(१) इंशाअल्ला खाँ 'भाखापन' से बचना चाहते हैं। स्पष्टतः उनके भाखापन का अर्थ भाषा में पण्डिताऊपन है। तत्सम शब्दों के ग्रहण के वे विरोधी जान पड़ते हैं।

(२) बाहर की बोली से उनका अभिप्राय अरबी और फारसी से है जिसका अबाध मिश्रण उर्दू में होता था।

---

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण पृ० ४१४।**

२. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध' द्वितीय संस्करण पृ० ६४१।**

(३) ब्रजभाषा के शब्दों को सम्भवतः उन्होंने गंवारू बोली के शब्दों की संज्ञा दी है ।

(४) हिन्दी से इंशाअल्ला खाँ का अभिप्राय उस भाषा से है जो जन-साधारण के बोलचाल की भाषा है और जो फारसी अरबी और संस्कृत आदि के प्रभाव से मुक्त है ।

यों इंशाअल्ला खाँ ने अपनी विशिष्ट शैली में हिन्दी लिखी है और उसको बाहरी प्रभावों से बचाने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी स्वभावतः उनके वाक्यों पर उर्दू वाक्य रचना का प्रभाव स्पष्ट है—

'इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को ।'[1]

इंशा का हिन्दुस्तानी मुहावरों और कहावतों पर असाधारण अधिकार था उनके तद्विषयक ज्ञान को स्पष्ट करने के लिये हरिऔध जी ने अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास' में उनके निम्नांकित वाक्य उद्धृत किये हैं :—

(१) 'जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखों सूझती हैं ।'

(२) 'चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत········।'

(३) 'अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ ।'

(४) मैं कुछ ऐसा बड़ बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उंगलियाँ नचाऊँ और बे सिर बे ठिकाने की उलझी सुलझी बातें पचाऊँ ।[2]

रेखांकित शब्द कहावतें और मुहाविरे हैं इसके साथ ऐसे युग्मों का प्रयोग भी है जो आधुनिकतम हिन्दी की विशेषता हैं, जैसे—'तावभाव', 'कूदफाँद', 'लपक झपक' आदि ।

हरिऔध जी ने इस भाषा की प्रशंसा में यह ठीक ही लिखा है :—

"संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सर्वथा त्याग कर, अरबी फारसी के शब्दों से मुँह मोड़कर केवल–तद्भव-शब्द–विशिष्ट ठेठ भाषा में कहावतों आदि का आश्रय लेकर इंशा ने जिस चमत्कार की सृष्टि की वह उस समय के हिन्दी

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४२ ।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४३ ।

गद्य के लिये अपूर्व बात थी उनकी भाषा ने आगे के लेखकों के लिये सरल और मुहावरेदार भाषा का एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया।"[१]

इंशा की भाषा में आलंकारिकता की भी कमी नहीं है। उनकी शैली उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा (अलंकारों) के सहारे आगे बढ़ती है।

लल्लूलाल जी :— लल्लूलाल जी कलकत्ते के फोर्टविलियम कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे। इन्होंने जानगिलक्रिस्ट (जो उक्त कालेज में प्रधानाध्यापक थे) के कहने से प्रेमसागर खड़ी बोली गद्य में लिखा। उक्त पुस्तक से कुछ उद्धरण देना उचित होगा :—

"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय, न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्राभूषण पहिराने।"

"तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आती थी सोई सूरवीर रावत थे जिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, वगपाँत ठौर-ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादु र मोर कड़खेतों की भाँति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।"[२]

लल्लूलाल जी की भाषा से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं :—

(१) लल्लूलाल जी की खड़ी बोली का आदर्श था जिसमें अरबी फारसी शब्द बिलकुल न हों।

(२) लल्लूलाल जी की खड़ी बोली गद्य में ब्रजभाषापन अत्यन्त स्पष्ट है।

(३) जाय, न्हाय, समुझाय आदि क्रियायें उनकी भाषा के पण्डिताऊपन की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं।

(४) लल्लूलाल जी की भाषा में कहावतों और मुहावरों का नितान्त अभाव है। जो लल्लूलाल जी की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है कि वे साहित्यिक भाषा को जनसाधारण की भाषा से अलग देखना पसन्द करते थे।

(५) लल्लूलाल जी की भाषा में एक पण्डित की शिष्टता और गंभीरता है उसमें हास्य या व्यंग्य का नाम तक नहीं है।

---

१. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४३।**

२. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४४-४५।**

(६) ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि लल्लूलाल जी जान बूझकर ऐसी भाषा खड़ी बोली गद्य के रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे जो इंशाअल्ला खाँ की भाषा से मिलती जुलती न हो। वास्तव में इंशाअल्ला खाँ की भाषा और लल्लूलाल जी की भाषा दो विपरीत दिशाओं में जाती दिखाई देती हैं। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि आगे चलकर भारतेंदु युग की गद्य का आधार इंशा की भाषा ही बनी पण्डित लल्लूलाल की भाषा नहीं। इस विषय में कुछ विद्वानों की सम्मति उद्धृत करना आवश्यक है :—

हरिऔध जी लिखते हैं :—लल्लूलाल जी आगरे के रहने वाले थे, इसलिए उनकी रचना में ब्रजभाषा के शब्दों की भरमार होना स्वाभाविक था। उस समय भाषा का कोई सर्वमान्य आदर्श उनके सामने नहीं था। जिस प्रकार सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ ने अपने-अपने अनुमित विचार के अनुसार अपने-अपने ग्रन्थों की हिन्दी भाषा रखी उसी प्रकार लल्लूलाल जी ने भी प्रेम-सागर को अपनी अनुमानी हिन्दी में बनाया। उन दोनों के सामने उर्दू का आदर्श था इसलिये उनकी भाषा विशेष परिमार्जित और खड़ी बोली के रंग में ढकी हुई है, परन्तु ये उर्दू के आदर्श को त्याग कर चले इसलिये वास्तविक खड़ी बोली न लिख सके। उर्दू शब्दों को भी बचाया, इसलिये आवश्यकता से अधिक ब्रजभाषा के शब्द उनकी रचना में घुस गए।"[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—"सारांश यह कि लल्लूलाल जी का काव्याभास गद्य, भक्तों की कथा-वार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यवहार के अनुकूल है न सम्बद्ध विचारधारा के योग्य।"[२]

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा लिखते हैं :—"इस प्रकार की भाषा कथा वार्ताओं में ही प्रयुक्त की जा सकती है। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोज-नीय था। उसका निर्माण नहीं हुआ। इनकी भाषा अधिकांश शिथिल है। स्थान स्थान पर ऐसे वाक्यांश आए हैं जिनका सम्बन्ध आगे पीछे के वाक्यों से बिलकुल नहीं मिलता।"[३]

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते हैं :—"इंशा ने एक सुन्दर गद्य प्रणाली

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण पृ० ६४५।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४२०।

३. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२।

की नींव डाली मुसलमानी दरबार का आश्रय पाकर उन्होंने गद्य का वह रूप सामने रखा जो उनके समसामयिकों लल्लूलाल और सदल मिश्र से अधिक उच्च आसन दिलाता है।"[1]

डा० वार्ष्णेय अपने एक निबन्ध में लल्लूलाल जी की भाषा को सदल मिश्र की तुलना में 'लचर' भी बताते हैं :—

"अन्त में भाषा के विषय में हम यह कह सकते हैं कि इनकी भाषा बिलकुल साफ सुथरी न होते हुए भी गठीली है। उसमें लल्लूलाल की भाषा की तरह लचरपन नहीं है।"[2]

सदल मिश्र :—सदल मिश्र भी कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे और इन्होंने भी कालेज अधिकारियों की प्रेरणा से ही खड़ी बोली गद्य में "नासिकेतोपाख्यान" नामक ग्रन्थ की रचना की। इनकी भाषा का उदाहरण लीजिए :—"तब नृप ने पण्डितों को बोला दिन विचार बड़ी प्रसन्नता से सब राजा वा ऋषियों को नेवत बुलाया। लगन के समय सबों को साथ ले मंडप में जहाँ सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप बलते थे जा पहुँचे।"[3]

मिश्र जी की भाषा से निम्नांकित तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं :—

(१) संस्कृत के विद्वान् होने के नाते ही मिश्र जी संस्कृत के अधिक शब्दों के प्रयोग करने से बच पाए हैं।

(२) मिश्र जी की भाषा में अवधी, ब्रज और बिहारी के शब्दों का मिश्रण है। मिश्र जी बिहारी थे इसलिये बिहारी शब्दों का आजाना स्वाभाविक है और चूँकि ब्रजभाषा साहित्य की एक मात्र भाषा रह चुकी थी इसलिये उसके प्रभाव से बचना भी कठिन था।

(३) भाषा में पण्डिताऊपन है इसमें कोई संदेह नहीं।

(४) मिश्र जी की भाषा पर उर्दू का प्रभाव भी स्पष्ट है। उन्होंने मुहावरों और कहावतों का खूब प्रयोग किया है।

इनकी भाषा के विषय में कुछ विद्वानों के मत देखिए :—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है :—'लल्लूलाल के समान इनकी भाषा

---

१. साहित्य चिंतन, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० ८७।

२. साहित्य चिंतन, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० ६३।

३. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६३।

में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परम्परागत काव्य भाषा की पदावली का स्थान-स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है।"[१]

हरिऔध जी का मत है :—"सदल मिश्र की भाषा न तो लल्लूलाल की भाषा की तरह ब्रजभाषा शब्दों से भरी है न शुद्ध खड़ी बोली है। वह दोनों के बीच की है।"[२]

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का विचार है :—"लल्लूलाल जी के साथी सदल मिश्र थे। उनकी भाषा व्यावहारिक है उसमें न तो ब्रजभाषा का अनुकरण है और न तुकांत का लटका। उन्होंने अरबी फारसीपन को एकदम पृथक नहीं किया। इसका परिणाम बुरा नहीं हुआ क्योंकि इससे भाषा में मुहाविरों का सुन्दर उपयोग कर सके हैं और कुछ आकर्षण तथा रोचकता भी आगई है।"[३]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कहना है :—"मिश्र जी की शैली पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि उनकी शैली सरल तथा सुबोध है। उसमें क्लिष्टता तो नाममात्र को भी नहीं है। वे छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा अपने भावों को प्रकट करते हैं। लल्लूलाल की भांति लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग करने का उन्हें शौक नहीं है।........उर्दू की शब्द योजना इनमें बहुत मिलती है। इस विषय में वे इंशा की ओर झुक जाते हैं। 'देखने को मैं आया हूँ' 'निपट आश्चर्य मुझको लगा' 'द्वीपदानियों को पार होता है' 'सहज में', 'पापी सब हैं अटकते' आदि।"[४]

इस प्रकार हिन्दी के इन प्रथम चार आचार्यों की भाषा शैली का विश्लेषण कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह ऐसा काल था जब खड़ी बोली गद्य के विषय में किसी का दृष्टिकोण स्पष्ट और निर्भ्रान्त नहीं था। किसी के मस्तिष्क में उसका पूर्ण और वास्तविक चित्र नहीं था। सदासुखलाल और

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, ८ वां संस्करण, पृ० ४२२।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४७।

३. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२-२३।

४. साहित्य चिंतन, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० ९३-९४।

लल्लूलाल यदि संस्कृत की ओर झुके हुए थे तो सदल मिश्र और इंशाअल्ला खाँ उर्दू की ओर। प्रथम दो खड़ी बोली गद्य को उर्दू और बोलचाल की भाषा की छाया से बचाए रखना चाहते थे और शेष दो उसे उर्दू और बोलचाल की भाषा के निकटतम रखना चाहते थे। भाषा की एकरूपता के विषय में यह द्विधा यहीं समाप्त नहीं हो गई। वह आगे चलकर राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मणसिंह के रूप में जीवित रही। जीवित ही नहीं परिवर्धित भी हुई। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने इंशाअल्ला खां और सदल मिश्र की शैली में से सहज प्रचलित हिन्दी और संस्कृत के शब्द निकाल कर उसमें उर्दू अरबी और फारसी के शब्दों की भरती की और उधर राजा लक्ष्मणसिंह ने लल्लूलाल और सदासुखलाल की भाषा में आए हुए तद्भव शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेना पसन्द किया। इस प्रकार दो शैलियों ने एक निश्चित रूप तो ग्रहण किया किन्तु उनका अन्तर भी उतना ही अधिक बढ़ गया। खड़ी बोली गद्य के लिए उपयुक्त शैली की खोज अभी सफलता की सीमा से दूर थी। उसे भारतेंदु की प्रतीक्षा थी। जो इस खाई को पाटने के लिए साहित्य-जगत में प्रादर्भूत होने वाले थे।

हिन्दी गद्य के इन प्रथम चार आचार्यों के काल में तथा उनके बाद ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी गद्य को एक पग आगे बढ़ाया यह निर्विवाद है। ईसाइयों का उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था और इसलिये वे ऐसी भाषा के पक्षपाती थे जिसे जनसाधारण भली प्रकार समझले। ईसाई धर्म प्रचार-साहित्य की भाषा अत्यन्त चलती हुई सरल और सुबोध है। उसमें अरबी, फारसी या संस्कृत के क्लिष्ट और तत्सम शब्दों से बचने की प्रवृत्ति है। संवत् १८७५ के लगभग मिशनरियों की अनुवाद की भाषा कैसी थी इसका एक उदाहरण लीजिए :—

तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उसके पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परन्तु योहन यह कहके उसे बरजने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना आवश्यक है और आप क्या मेरे पास आते हैं। यीशु ने उसको उत्तर दिया कि जब ऐसा होने दे, क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरन्त जल के ऊपर आया और देखा उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूं।"[1]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण पृ० ४२४।

उपर्युक्त उद्धरण इस बात को स्पष्ट करता है कि ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार के साहित्य द्वारा हिन्दी-गद्य-शैली प्रगति कर रही थी। उपर्युक्त उद्धरण में भाषा का अत्यन्त सरल और प्रवाह पूर्ण रूप है। यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त उद्धरण की शैली लल्लूलाल और सदासुखलाल के दिखाए मार्ग पर चल रही है। इंशाअल्ला खाँ की भाषा से वह भिन्न है। इसके साथ बरजने 'नाई'' आदि में ब्रजभाषा का प्रभाव भी स्पष्ट है। ईसाइयों ने अपने धर्म प्रचार का साहित्य केवल खड़ी बोली गद्य में ही नहीं छापा था अपितु प्रायः सभी जनपदीय भाषाओं में उसे प्रकाशित किया था, उदाहरण के लिये ब्रजभाषा, बघेली, कन्नौजी, मगही, बीकानेरी, छत्तीसगढ़ी, गढ़वाली, जयपुरी, मारवाड़ी, मालवी, कुमायुँनी, मेवाड़ी या उदयपुरी आदि बोलियों में इस प्रकार का साहित्य उपलब्ध है।[1]

हिन्दी गद्य शैली को प्रगति और स्थायित्व देने वालों में आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद का नाम अविस्मरणीय है। स्वामी जी की गद्य शैली का एक उदाहरण लीजिए :—"राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार का एक मान यंत्र कलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोस और एक घंटे में सत्ताइस कोस जाता था वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि बिना मनुष्य के चलाये कलायंत्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते तो योरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।"[2]

स्वामी जी की संस्कृत के शब्दों को उनके तत्समरूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इस उद्धरण से अत्यन्त स्पष्ट है।

इधर तो हिन्दी गद्य अपनी विभिन्न शैलियों का अन्तर निरन्तर कम कर एक निश्चित शैली की ओर जो गतिमान या उन्मुख थी उधर उर्दू और हिन्दी का झगड़ा इसी बीच में उठ खड़ा हुआ और उसने हिन्दी गद्य की सहज प्रगति पर निश्चित रूप से दुष्प्रभाव डाला। शुक्ल जी ने लिखा है :—

संवत् १९०५ में यह सूचना निकली ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुलक की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है

---

१. साहित्य चिन्तन, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० १०६।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण पृ० ६५६।

हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।

"हिन्दी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। संवत् १६११ के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबन्ध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्यूलर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोध के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अंग्रेजों के बीच बड़ा मान था वे हिन्दी को एक गँवारी बोली बताकर अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते जा रहे थे। इस प्रान्त के हिन्दुओं में राजा शिवप्रसाद अंग्रेंजों के उसी ढङ्ग के कृपापात्र थे जिस ढंग के सैयद अहमद। अतः हिन्दी की रक्षा के लिये उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे बराबर इस संघर्ष में यत्नशील रहे इससे हिन्दी उर्दू का झगड़ा बीसों वर्ष तक भारतेंदु के समय तक चलता रहा।"[1]

ऐसा लगता है कि हिन्दी सेवा का निश्चय राजा शिवप्रसाद ने भावुकता में किया होगा क्योंकि उसका शुभारम्भ तो उन्होंने कर दिया लेकिन एक दृढ़-निश्चयी और चरित्रवान् व्यक्ति की भांति उसका अन्त तक निर्वाह नहीं किया। जनता की सेवा और राजभक्ति का कार्य राजा साहब एक साथ साधना चाहते थे पर बाद में जब अनुभव किया कि यह संभव नहीं है तो उन्होंने राजभक्ति को प्राथमिकता दे इस धर्म संकट से मुक्ति पाली। राजा साहब की आरम्भिक रचनाओं से कुछ उदाहरण लीजिए :—

'राजा भोज का सपना' से :—"वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पांव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र के तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

'मानव धर्मसार' से :—"मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रमाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनु जी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिए औषधि समझना, और वृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनु जी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने

---

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४३३।**

अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है कि खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिन्दू कहला के अपने मानव-धर्म-शास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी पर राजा साहब का अधिकार असाधारण है उनकी भाषा उनसे पूर्व की हिन्दी गद्य शैली का परिष्कृत और अधिक व्यंजक रूप उपस्थित करती है किन्तु हिन्दी भाषा भाषियों के दुर्भाग्य से राजा साहिब की यह सत्प्रवृत्ति चिरस्थाई नहीं रही और अधिकारियों के दबाव से उन्हें अपनी यह हिन्दीवादी नीति बदलनी पड़ी तथा अपनी भाषा को उर्दू का चोगा पहनाना पड़ा। शुक्ल जी ने राजा साहब के इस आकस्मिक नीति परिवर्तन के विषय में लिखा है :—"संवत् १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृति देख कर उन्होंने ऐसा किया अथवा अंग्रेज अधि-कारियों का रुख देख कर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे।"[2]

शुक्ल जी का अनुमान बिल्कुल ठीक है और उसके लिए यदि वे द्विधात्मक भाषा का प्रयोग न करते तो और भी अच्छा रहता।

राजा साहब की राजभक्ति की वहाँ चरम सीमा है जहां वे फारसी लिपि का तो समर्थन करते हैं और नागरी लिपि का विरोध :—

"शुद्ध हिन्दी चाहने वाले को हम यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।"[3]

राजभक्ति ने उन्हें क्या करने के लिये विवश कर दिया था इसका उदा-हरण राजा साहब की निम्नलिखित पंक्तियां हैं जहाँ वे हिन्दी सेवा के छद्म आवरण में उर्दू सेवा कर रहे हैं :—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४३७-३८।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नया संस्करण, पृ० ४३८।

३ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण, पृ० ६५१।

हम लोगों की जबान का व्याकरण (चाहे आप उसको उर्दू कहें चाहे हिन्दी) किसी क़दर कायम हो गया है। जो बाक़ी है जिस क़दर जल्द क़ायम हो जावे बेहतर। इस ज़बान का दरवाजा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा।.........अब इसे बंद करने की कोशिश करना सिवाय इसके कि किस कदर मूजिब हमारे हानि और नुक़सान का है और कैसा असम्भव है यह सोचना चाहिए।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण में हिन्दी शब्दों का प्रतिशत इतना कम है मानो यह किसी उर्दू लेखक की पंक्तियाँ हों।

राजा साहब ने अपने आश्रयदाताओं के आदेश पर एक इतिहास तिमिर नाशक लिखा था। उसकी भाषा ही नहीं उसकी विषयवस्तु भी प्रतिक्रियावादी थी। अंग्रेज सरकार ने उसको हिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों के स्कूल में पाठ्य पुस्तक के रूप में रख दिया था। तत्कालीन पत्रों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस पुस्तक का जनता द्वारा कड़ा विरोध हुआ था और कई स्थानों से सरकार को वह पुस्तक हटानी पड़ी थी। सन् १८८२ के हिन्दी प्रदीप में पं० हरीराम पाण्डे का सम्पादक के नाम भेजा गया एक पत्र छपा है जो इस आंदोलन पर प्रकाश डालता है :—

"आपने अपने अगस्त मास के अङ्क में राजा जी के बारे में जो कुछ लिखा है उसमें मुझे भी आपके पाठकों, नगरवासियों तथा हिन्दी के हितैषियों से यह छोटा सा निवेदन करने का साहस होता है। हमारे स्कूलों में राजा साहब का इतिहास-तिमिरनाशक बहुत प्रचलित हो गया है। यह जैसा अधम और निकृष्ट ग्रंथ है सब जानते हैं। क्या इसके उठाने का प्रयत्न नहीं हो सकता? बिहार से यह अनर्गल पुस्तक गर्दनिया दे निकाल बाहर कर दी गई है क्या यहाँ भी ऐसा यत्न नहीं हो सकता। कलकत्ते तक इस नीच पुस्तक की दुर्गन्ध पहुँच गई है। गत सप्ताह के 'उचित वक्ता' ने राजा के इस ग्रंथ का यथोचित आदर किया है। देश के सच्चे हितैषियों को चाहिए इस पुस्तक को शिक्षा विभाग से निर्मूल करने के अर्थ आन्दोलन कर इसके स्थान में पं० केशवराम भट्ट सम्पादक "बिहार बन्धु" का बनाया "हिन्दूस्तान का पूरा इतिहास" रखने के लिए सरकार से निवेदन करें। ऐसा पक्षपात रहित सरल ग्रन्थ हमारे बालकों को निस्सन्देह लाभदायक है। राजा साहब कृत यह इतिहास नहीं है वरन् अपने उच्च पद मिलने के अर्थ धन्यवाद है जिसमें हिन्दू मुसलमान बौद्ध

---

१. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण, पृ० ६५१।**

आदि सब की निंदा कर अंग्रेजों की खुशामद प्रधान धर्म रखा गया है। ऐसी जघन्य पुस्तक का प्रचार रहने से देश की बड़ी हानि है।"[१]

यह आलोचना उस अध्यापक की है जिसे उपर्युक्त इतिहास बच्चों को पढ़ाना पढ़ता था। इस पत्र से राजा शिवप्रसाद की स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन जनता का उनके विषय में क्या विचार था। वास्तव में राजा साहब ने राजभक्ति की वेदी पर अपनी प्रतिभा, देशभक्ति, स्वाभिमान आदि सब की बलि चढ़ा दी थी। इसलिये हिन्दी गद्य को एक पग आगे बढ़ाने के स्थान पर उन्होंने उसे पीछे खींचने का ही प्रयत्न किया।

सारांश यह कि गद्य-शैली के परिमार्जन के लिए हिन्दी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की अधिक ऋणी नहीं है। बाद की सर्वमान्य हिन्दी गद्य-शैली राजा साहब की शैली से मूलतः भिन्न थी। प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी अंग्रेज, हेनरी पिन्कौट की राजा शिवप्रसाद विषयक सम्मति बहुत अधिक महत्व रखती है और वास्तविकता पर प्रकाश डालती है। पिन्कौट साहब ने एक पत्र में भारतेन्दु बाबू को लिखा था—

"राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस वर्ष हुये उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी कैसी बातें अच्छी लगती हैं उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परमधर्म है। इसलिये बड़े चाव से उसने काव्य को और अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया। राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।[२]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं:—राजा शिवप्रसाद की भाँति अनावश्यक विदेशी शब्दों से अपनी भाषा सजाना उसकी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय न देकर उसके जातीय स्वरूप का मिटा देना कहा जायगा। अंग्रेजों ने जिस अदालती भाषा को आश्रय दिया उसकी शैली हिन्दी की जातीय शैली से कोसों दूर थी। राजा शिवप्रसाद उसी अदालती भाषा की ओर आकृष्ट हुए। बनारस अखबार और पुस्तकों द्वारा वे अपनी अरबी फारसी मिश्रित भाषा का प्रचार कर रहे थे।"[३]

---

१. हिन्दी प्रदीप, सम्पादक, बालकृष्ण भट्ट, सितम्बर सन् १८८२, पृ० २३।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९००), लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण पृ० १३५ से उद्धृत।

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९००), लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० १३५ से उद्धृत।

राजा लक्ष्मणसिंह :—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की अरबी फारसी गर्भित शैली की प्रतिक्रिया स्वरूप राजा लक्ष्मणसिंह अपनी शुद्ध हिन्दी वाली शैली लेकर आगे आए। सरकारी नौकर तो ये भी थे और अरबी फारसी विज्ञ भी परन्तु इनका विचार था कि उर्दू और हिन्दी दो पृथक भाषायें हैं जिनके बोलने वाले भी पृथक हैं क्रमशः मुसलमान और हिन्दू। इसलिये उन्होंने शुद्ध हिन्दी के रूप में जो शैली प्रस्तुत की वह बहिष्कारवाद से पीड़ित है। पहले तो राजा साहब का यह विचार भी विवादास्पद है कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है। जब आधार ही विवादास्पद हो तो आधेय के निर्विवाद होने की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। फल यह हुआ कि आधुनिक हिन्दी गद्य शैली के जनक होने का श्रेय राजा लक्ष्मणसिंह को नहीं मिल सका। मिल भी कैसे सकता था जबकि उनकी शैली हृदय की सहज अभिव्यक्ति न होकर एक प्रतिक्रिया का परिणाम थी। शैली तो श्वास प्रश्वास की भाँति सहज और अनायास होती है प्राणायाम की भाँति कृत्रिम, प्रयत्नसाध्य और अस्वाभाविक नहीं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा के विषय में लिखते हैं :—

"राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा आईन तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ज्ञान विज्ञान के उपयुक्त नहीं है। विशुद्धता का जो आदर्श उन्होंने अपने सामने रखा वह न तो भाषा विज्ञान सम्मत है न व्यावहारिक। सर्व-साधारण में व्यवहृत अरबी फारसी के शब्द भी हिन्दी भाषा के अंग बन गये थे। उनका प्रयोग करने में कोई हानि नहीं थी।"[1]

हरिऔध जी भी इसी मत के समर्थक प्रतीत होते हैं :—

"राजा शिवप्रसाद एक ऐसी भाषा को प्रचलित करना चाहते थे जो हिन्दू समाज के संस्कारों के बिलकुल ही प्रतिकूल थी, वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि जीवित भाषा का लक्षण ही यह है कि अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आकर वह आदान प्रदान से विरत न हो।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अधिकांश विद्वान् इस विषय में एक मत हैं कि राजा लक्ष्मणसिंह तक हिन्दी की सभी शैलियाँ एकांगी थीं और वे विभिन्न व्यक्तियों या वर्गों का ही प्रतिनिधित्व करती थीं। ऐसी शैली की

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण पृ० १३६।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध' द्वितीय संस्करण पृ० ६५३।

ऐतिहासिक आवश्यकता थी जो जन साधारण की भावनाओं को वाणी दे सकती और बोल चाल की भाषा के बिलकुल निकट होती। यह ऐतिहासिक कमी हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द ने पूरी की और अपनी इसी अभूतपूर्व एवं अद्वितीय विशेषता के कारण वे आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता कहलाए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हीं बातों को अत्यन्त स्पष्टता के साथ कहा है :—

"मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पण्डिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरवीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम था। भाषा का निखरा हुआ, शिष्ट सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।"[१]

शुक्ल जी भारतेंदु के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुये उन्हें द्विधाहीन भाषा में आधुनिक हिन्दी गद्य का प्रवर्त्तक स्वीकार करते हैं :—

"भारतेंदु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। और वे वर्त्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तक माने गए।"[२]

भारतेंदु से पूर्व का काल हिन्दी गद्य की प्रस्तावना का काल था उसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेंदु से हुआ। उर्दू और हिन्दी का झगड़ा समाप्त हुआ। नई हिन्दी का कलेवर हिन्दी और उर्दू के चरणों पर संतुलित होकर आगे बढ़ा। शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस विषय में अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किए हैं :—

"उर्दू के कारण अब तक हिन्दी गद्य की भाषा का स्वरूप भी झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। अब भारतेंदु अपनी मँजी हुई

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४४८।**

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४४८।**

परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्य रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।"

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र :—हिन्दी गद्य शैली की अस्थिरता के युग में भारतेंदु का उदय एक शीतल प्रकाश पुंज के सदृश हुआ। राजा शिवप्रसाद को उनकी राजभक्ति (या देश द्रोह) के लिये अंग्रेजों ने 'सितारे हिन्द' (भारत नक्षत्र) की पदवी से विभूषित किया था।[1] जनता ने इस चुनौती को स्वीकार किया और देश और भाषा के अनन्य सेवक हरिश्चन्द्र को भारतेंदु की उपाधि से विभूषित किया।[2] भारतेंदु नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि उनका मूल नाम हरिश्चद्र इसमें छिप सा गया। भारतेंदु को जनता का यह पुरस्कार उनकी अद्वितीय साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष में दिया गया था। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतेंदु जो कुछ लिख रहे थे वह जनता के लिए लिख रहे थे और इसीलिए उनका साहित्य, समाज में इतना सामादृत और प्रिय हुआ। भारतेंदु ने अपने पूर्ववर्ती राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द या राजा लक्ष्मणसिंह का अंधानुकरण नहीं किया अपितु स्वयं समाज के बीच जाकर लोगों की चिर प्रतीक्षित-शैली को जन्म दिया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है :—

"संवत् १९३० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरान्त 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी चन्द्रिका से प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कण्ठा पूर्वक दौड़ कर अपनाया उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिन्दी का उदय इसी समय से माना है।"[3] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा भी इसी तथ्य का समर्थन निम्नांकित शब्दों में करते हैं :—

"इस समय तक हम देख चुके हैं कि गद्य में दो प्रधान शैलियाँ उपस्थित थीं। एक तो अरबी, फारसी के शब्दों से भरी पूरी खिचड़ी थी जिसके प्रवर्त्तक

३. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १३५।

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १३४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५९।

राजा शिवप्रसाद जी थे और दूसरी विशुद्ध हिन्दी की शैली थी जिसके समर्थक और उन्नायक राजा लक्ष्मण सिंह थे। अभी तक यह निश्चित नही हो सका था कि किस शैली का अनुकरण कर उसकी वृद्धि करनी चाहिए। स्थिति विचारणीय थी। इस उलझन को सुलझाने का भार भारतेंदु हरिश्चन्द्र पर पड़ा।.... उनका विचार था कि एक ऐसी परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा का निर्माण हो जो पठित समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर आदर्श का स्थान ग्रहण कर सके। इस विचार से प्रेरित होकर बाबू साहब इस कार्य के संपादन में आगे बढ़े और घोर उद्योग के पश्चात् अंततोगत्वा उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित रूप दे ही डाला। भारतेंदु के इस अथक उद्योग के पुरस्कार स्वरूप यदि उन्हें 'गद्य का जन्मदाता' कहें तो अनुचित न होगा।"[१]

भारतेंदु से पूर्वसंग्रह या त्याग की प्रवृत्ति शैली में चल रही थी इसे वहिष्कार वाद की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। एक दल संस्कृत के शब्दों का वहिष्कार कर अरबी, फारसी के शब्द भरती करता था दूसरा अरबी, फारसी के शब्दों का बहिष्कार कर संस्कृत के तत्सम शब्द शैली में रखता था। भारतेंदु का मार्ग 'त्याग' का तो था ही नहीं भाषा शैली के सम्बन्ध में वे सदैव ग्रहण के पथ पर ही चलते थे। वस्तुस्थिति तब भी यह थी और अब भी है कि अरबी और फारसी के अनेक शब्द जनता की जिव्हा पर चढ़ गए हैं उन्हें विदेशी घोषित कर बहिष्कृत करने से अपनी ही हानि है। भारतेंदु इस तथ्य को समझते थे इसलिए बोलचाल में ग्रहीत अरबी, फारसी के शब्दों को इन्होंने निस्संकोच अपनाया। वास्तव में वे अपनी शैली को जनता की बोलचाल की भाषा के निकटतम ले जाना चाहते थे और वे इसमें सफल भी हुए। भारतेंदु की अरबी, फारसी शब्दों को ग्रहण करने की नीति के विषय में डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं :—

"उनके निबन्धों में हुज्जत, जमाना, बयान, सफ़र, कलम, रिवाज़, तलाश, दरख्त, सबूत, ग़रज, आदि जैसे शब्द निहायत बेतकल्लुफी से इस्तेमाल किये गए हैं। यही हाल बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों का भी है।"[२]

ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि भारतेंदु बाबू उर्दू को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसके विरुद्ध ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३-३४।

२. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ७५।

सिद्ध होता है कि वे तरन्नुम में जाकर उर्दू लिखते थे और ऐसी उर्दू कि राजा शिवप्रसाद की उर्दू को लोग भूल जाँय। भारतेंदु बाबू बहुत दिन राजा शिवप्राद के शिष्य रहे थे। हो सकता हैं यह उसका ही प्रभाव हो। अपने कथन के समर्थन के लिए हम यहाँ कुछ पंक्तियाँ भारतेंदु बाबू के 'खुशी' नामक निबन्ध से उद्धृत करेंगे :—

"हर बदिल ख्वाह आसूदगी को खुशी कह सकते हैं याने जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तिफाकिय: वगैर कोशिश किए बर आवे तो हमको खुशी हासिल होती है।........जिसकी तबियत तहकीक़ात की तरफ रूजूज है और जो लोग हर शय और हर फेल का सबब और नतीजा दरयाफ्त करने की खाहिश रखते हैं और यह भी जानना चाहते हैं कि इस दुनियां में जिन्दगी की हालत में इन्सान को किस चीज़ की ज्याद: जरूरत है। उन पर यह बात बखूबी रौशन होगी कि इस किस्म के खयालों की तहजीव के कायदों के पैरों पर रह कर दलीलों से सुलझाने में और वसबूत कामिल इस अस्र का तस्फिया करने में कैसे वक्त दरपेश होते हैं। चुनाचे जब हम खयाल करते हैं कि दुनिया में हमको किस खास चीज़ की जरूरत है और वह जरूरत लाजमी क्यों है तो दिल में मुखतलिफ वजूहात के साथ कई किस के खयाल पैदा होते हैं और मुख्तलिफ हाजतों के रफज करने की मुखतलिफ सूरतें दरपेश करती हैं मगर इस मौक़ज पर हम रूह की उस खास हाजत का जिक्र करेंगे जिसे जिन्दगी का वसूल और अक्ल का नतीजा कहना चाहिए याने खुशी।[१]

भारतेन्दु का यह उर्दू प्रेम आकस्मिक नहीं है। ये उर्दू के बहुत अच्छे शायर थे और 'रसा' उपनाम से उर्दू में कवितायें लिखते थे।[२] उर्दू में शायर अपनी प्रशंसा आप करने के बड़े शौकीन होते हैं भारतेन्दु भी इस प्रभाव से नहीं बचे हैं। आत्मश्लाघा से पूर्ण उनके दो शेर देखिए—

उड़ा लाए हो यह तर्जे सखुन किसके बताओ तो।
दमे तकदीर गोया बाग में बुलबुल चहकते हैं॥
'रसा' महवे फसाहत दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे।
जमाने में तेरे तर्जे सखुन की यादगारी है।[3]

---

१. भारतेंदु के निबन्ध, सम्पादक, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण पृ० २२१-२२।

२. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०५।

३. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०६।

भारतेन्दु बाबू की उर्दू कविताओं के कुछ और उद्धरण लीजिए :—

गुनह बख्शो रसाई दो 'रसा' को अपने कदमों तक।
बुरा है या भला है जो कुछ है प्यारे तुम्हारा है।[१]

दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर।
रो रहा है 'रसा-रसा' करके ।।[२]

श्री ब्रजरत्नदास ने अपने भारतेंदु हरिश्चन्द्र नामक ग्रंथ में भारतेंदु जी की अनेक उर्दू कवितायें उद्धृत की हैं जिनसे स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी उर्दू के एक सिद्ध शायर थे।

'भारतेन्दु बाबू को जब व्याख्यान देने के लिये बलिया बुलाया गया था तब विज्ञापन में उन्हें 'शायरे मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' कहा गया था। वाजिद अली शाह के शायर मिर्जा आबिर ने 'बागे आलम में मौत दिल है हवा' आदि उन पर कसीदा लिखकर भेजा था।[३]

भारतेंदु उर्दू-शायरी के बड़े प्रेमी थे। उन्हें 'अनीस' और 'वजीर' का काव्य विशेष प्रिय था।[४] इसके अतिरिक्त वे एक उर्दू साप्ताहिक भी निकालना चाहते थे जिसका विज्ञापन कवि वचन सुधा में छपा था। इस पत्र का प्रस्तावित नाम कासिद था :—

कासिद।
सातएँ दिन आवेगा ।।
नउ हितकारी, और विचित्र समाचार कहेगा ।।।

+ + + हरिश्चन्द्र

उद्यम कर्ता।[५]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उर्दू प्रेम उपेक्षा कर देने योग्य नहीं किन्तु भारतेन्दु बाबू हिन्दी में राजा शिवप्रसाद की भाँति कुख्यात नहीं हुए इसका भी कुछ कारण होना चाहिए।

हमारी समझ में इसका एक कारण स्पष्ट है, राजा साहब ने तो हिन्दी में उर्दू शैली का अवांछनीय प्रयोग किया और इस प्रकार हिन्दी के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया किन्तु भारतेन्दु बाबू ने जब उर्दू में लिखा तो

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०७।
२. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०८।
३. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ८०।
४. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ८०।
५. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ८०।

शुद्ध उर्दू में और हिन्दी में लिखा तो शुद्ध हिन्दी में। एक ही व्यक्ति की दो शैलियों से यह स्पष्ट है कि उर्दू के लिये एक शैली रूढ़ है और हिन्दी के लिये दूसरी।

भारतेन्दु की भाषा विषयक नीति और उसकी मौलिकता के विषय में डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है :—

"भारतेन्दु ने कोई नई भाषा नहीं चलाई। उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया। उनके पक्ष में तीन बातें महत्वपूर्ण थीं। उनकी भाषा सम्बन्धी नीति वही थी जो अवधी और ब्रज के पुराने हिन्दू-मुसलमान कवियों की थी। उर्दू के कवि कुछ अपवाद छोड़कर तुलसी, सूर, मीरा, रहीम, रसखान, आलम शेख, पजनेस, जायसी, पद्माकर, भूषण आदि की परम्परा से अपरिचित थे। इस परम्परा और उसकी भाषा नीति को भारतेन्दु ने अपनाया। यह भाषा नीति यह थी कि तत्सम संस्कृत के मुकाबले में, तद्भव शब्दों का प्रयोग करना, बोलचाल के अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार न करना। गैर बुनियादी शब्द भंडार के लिये संस्कृत का सहारा लेना। दूसरी बात उनके पक्ष में यह थी कि उन्होंने ग्रामीण या जनपदीय बोलियों का स्वभाव पहचाना और अपनी हिन्दी को गाँव के साधारण पढ़े लिखे लोगों के लिये सुलभ बनाने की कोशिश की। तीसरा बात उनके पक्ष में नागरीलिपि थी। सैकडों साल तक फारसी के राज भाषा बने रहने पर भी नागरी का लोप न हुआ था। गाँव के लोग ज्यादातर नागरी ही काम में लाते थे। इस लिपि के जरिए भारतेन्दु जनता के उस तमाम हिस्से को बटोर सके जो उर्दू न जानता था या जिसकी जातीय आवश्यकतायें उर्दू से पूरी न होती थीं।[1]

भारतेन्दु ने जिस समय लिखना प्रारंभ किया उस समय उनके समक्ष अनेक शैलियाँ थीं और सभी हिन्दी कहलाती थीं। इस विषय में भारतेन्दु बाबू ने अपने 'हिन्दी भाषा' नामक निबंध में लिखा है :—

"भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है कोई कहता है कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए कोई कहता है कि संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी निश्चित नहीं हो सकती।"

भारतेन्दु ने अपने इस कथन के समर्थन में बारह शैलियों के उदाहरण दिए

---

१. **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण,** पृ० ७८-७९।

हैं जो एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हुए भी हिन्दी कहलाते हैं। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

वर्षा वर्णन—

नं० १—जिसमें संस्कृत के शब्द बहुत हैं :—अहा पर कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है अनवर्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है और चतुर्दिक कुझ्झटिका पात से नेत्र की गति स्तम्भित होगई है। प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भाँति नर्तन करती है और वैसे ही वकावली उड्डीयमाना होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है मयूरादि अनेक पक्षिगण प्रफुल्लित चित्र से रव कर रहे हैं और वैसे ही दादुरगण भी पंकाभिषेक कुकवियों की भाँति कर्ण भेदक ढक्का झंकार सा भयानक शब्द करते हैं।

नं० २—जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं :—सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया पुल टूट गए बाँध खुल गए पंक से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष कूल समेत तोड़ गिराए। सर्प बिलों से बाहर निकले महा नदियों ने मर्यादा भंग करदी और स्वतंत्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चली।

नं० ३—जो शुद्ध हिन्दी है :—पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फेर में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा मैं कहाँ जाऊँ कैसी करूँ मेरी तो कोई ऐसी मुँह बोली सहेली नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊं कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।

नं० ४—जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है :—ऐसी तो अंधेरी रात उसमें अकेली रहना कोइ हाल पूँछने वाला भी पास नहीं रह रह कर जी घबड़ाता है कोई खबर लेने भी नहीं आता और न इस विपत्ति में सहाय होकर जान बचाता।

नं० ५—जिसमें फारसी शब्द विशेष हैं :—खुदा इस आफत से जी बचाए प्यारे का मुँह जल्द दिखाए कि जान में जान आए। फिर वही ऐश की घड़ियां आए शवोरोज दिलवर की सुहवत रहे रंजोगम दूर हो दिल मसरूर हो।

कलकत्ते की शोभा

नं० ६—जिसमें अँग्रेजी शब्द हिन्दी हो के मिल गए हैं :—वहाँ हौसों में हजारों बक्स माल रक्खे हैं—कम्पनियों के सैंकड़ों बक्स इधर से उधर कुली लोग लिये फिरते हैं। लालटेन में गिलास चारों तरफ बल रहे हैं। सड़क की

लैन सीधी और चौड़ी है। पाल की गाड़ी बग्गी चिरिट फिटिन दौड़ रही है। रेलवे के स्टेशनों पर टिकट बँट रहा है कोई फर्स्ट क्लास में बैठता है कोई सैकेण्ड में कोई थर्ड में बैठता है।[१]

इतने ही उद्धरण पर्याप्त हैं वैसे भारतेन्दु ने तो पूरबी, तथा काशी के उर्दू शिक्षित लोगों की हिन्दी दक्षिण के लोगों की हिन्दी आदि — १२ उदाहरण दिये हैं। लेकिन भारतेन्दु इन उदाहरणों में किसे हिन्दी का सच्चा प्रतिनिधि मानते हैं उसके विषय में उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए पर हाँ मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मैं यह कहूँगा कि नं० २ और ३ लिखने के योग्य हैं।[२]

स्पष्ट हुआ कि भारतेन्दु न तो संस्कृत वहुला हिन्दी के पक्षपाती हैं और न अरबी फारसी गर्भित हिन्दी के। उनका बीच का मार्ग है। डा० केसरी-नारायण शुक्ल ने लिखा है "सरल, सजीव, चलती हुई "मुहाविरेदार भाषा शैली के समर्थक वे थे"।[3]

भारतेन्दु का भाषा पर असाधारण अधिकार था। जिन विषयों को उन्होंने वर्णन के लिये चुना उनमें इतनी विविधता और भिन्नता है कि बहुत कम लेखकों का विषय वृत्त इतना व्यापक है। विषय की विविधता के कारण उनकी शैली भी विविधता पूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी शैली के विषय में लिखा है :—

"भारतेंदु जी में हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य निरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में प्रायः वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित साधारण फारसी अरबी के शब्द भी कभी-कभी पर बहुत कम आ जाते हैं।.......तथ्य निरूपण या वस्तु वर्णन के समय कभी-कभी उनकी भाषा में संस्कृत पदावली का कुछ अधिक समावेश होता

---

१. भारतेंदु के निबंध, सम्पादक, डा० केसरीनारायन शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ६४-६५।

२. भारतेंदु के निबंध, सम्पादक, डा० केसरीनारायन शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ६६।

३. भारतेन्दु के निबंध, सम्पादक, डा० केसरीनारायन शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ३१।

है" ।[१] शुक्ल जी आगे लिखते हैं :—"यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने समय के सब लेखकों में भारतेंदु की भाषा साफ सुथरी और व्यवस्थित होती थी। उसमें शब्दों के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते हैं और वाक्य भी सुसम्बद्ध पाए जाते हैं" ।[२]

भारतेंदु बाबू की व्यंग्यपूर्ण और गंभीर शैली का एक उदाहरण देखिए—

व्यंग्यपूर्ण शैली (कंकड़ स्तोत्र से)

"कंकड़ देव को प्रणाम है देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कंकड़ शिव शंकर समान है।........हे ऊभड़-खाभड़ शब्द सार्थकर्ता आप कोण मिति के नाशकारी हैं क्योंकि आप अनेक विचित्र कोण सम्बलित हो अतएव हे ज्योतिषारि आपको नमस्कार है।

हे शस्त्र समष्टि ! आप गोली गोला के चचा, छर्रों के परदादा, तीर के फल, तलवार की धार और गदा में गोला हो इससे आपको प्रणाम है" ।[३]

गम्भीर शैली—विवेचनात्मक (हिन्दी भाषा से)

"भाषाओं के तीन विभाग होते हैं यथा घर में बोलने की भाषा, कविता की भाषा और लिखने की भाषा, अब पश्चिमोत्तर देश में घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योंकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य नगरों में भी खत्रियों वा पछाहीं अगरवालों वा और पछाही जातियों के अतिरिक्त घर में हिन्दी कोई नहीं बोलते वरन् यहाँ पर तो कोस कोस पर भाषा बदलती है।"[४]

भारतेंदु बाबू की भाषा विषयक नीति से यह स्पष्ट है कि उन्होंने किसी शैली विशेष की नकल नहीं की अपितु विषय और भावों के अनुकूल एक मौलिक शैली को जन्म दिया और यह शैली उनके नाम से ही प्रसिद्ध हुई शुक्ल जी ने इसे हरिश्चन्दी हिन्दी का नाम दिया है—

"इस हरिश्चन्दी हिन्दी के आविर्भाव के साथ ही नए-नए लेखक भी तैयार होने लगे।"

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण पृ० ४६३-६४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६३-६४।

३. भारतेंदु के निबंध, सम्पादक, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ६४।

४. भारतेंदु के निबंध, सम्पादक, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ६१।

भट्ट जी ने भारतेंदु की इस परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने हिन्दी गद्य को एक सम्पन्न शैली दी। भट्ट जी मुहावरे और कहावतों के तो सम्राट थे। उन्होंने अनेक निबन्ध तो केवल मुहाविरों में ही लिखे हैं। सभी दृष्टियों से भट्ट जी ने हरिश्चन्दी हिन्दी को जीवित ही नहीं रखा उसे पुष्ट भी किया और उसका समुचित शृंगार भी किया। भट्ट जी की भाषा और शैली पर हम 'भट्ट जी की भाषा शैली' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से लिखेंगे। यहाँ यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि हिन्दी गद्य में निरन्तर परिष्कार हो रहा था हिन्दी अपने सधे हुए पैरों से धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी।

कविता में नए प्रयोग :— शुक्ल जी संवत् १९०० को रीतिकाल-समाप्ति की सीमा मानते हैं। इसके ठीक ७ वर्ष पश्चात् ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के युगांतरवादी कवि और गद्य लेखक भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने जन्म ग्रहण किया। यह तो ठीक है कि संवत् १९०० तक रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ अवसान की ओर जाने लगी थीं किन्तु यह भी सत्य है कि वे निर्मूल नहीं हो गई थीं। भारतेंदु बाबू की स्वयं की कवितायें देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि वे एक ओर तो सूर, तुलसी वाली भक्ति परम्परा को जीवित रखे हुए थे और दूसरी ओर रीतिकालीन प्रवृत्तियों का भी नवश्रृङ्गार अपनी रचनाओं में कर रहे थे। इस सम्बन्ध में प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से भारतेंदु की रचनाओं से एक दो उद्धरण देना समीचीन होगा :—

भक्तिकालीन परम्परा का उदाहरण—

(१) पियारो पैये केवल प्रेम में,
नाहिं ज्ञान में, नाहिं ध्यान में, नाहिं करम कुल नेम मैं।
नाहिं मंदिर में नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में।
हरीचन्द वह बांध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में।'[1]

रीतिकालीन परम्परा का उदाहरण :—

(१) सोई तिया अरसाय के सेज पै सो छवि लाल विचारत ही रहे।
पोंछि रुमालन सों स्रम सीकर भौंरन कौं निरुवारत ही रहे।।
त्यों छवि देखिवे को मुख तें अलकें हरिचन्द जू टारत ही रहे।
द्वै क घरी लौं जके से खरे, वृसभानु कुमारी निहारत ही रहे।।[2]

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास 'हरिऔध' द्वितीय संस्करण पृ० ५०८-५०९।

२. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३१३।

(२) सिसुनाई अजों न गई तन तें तऊ जोबन जोति बटोरै लगी ।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी ।।
बचि सामु जेठानिन सौं पियतें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी ।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी ।।[१]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारतेंदु बाबू एक ओर तो सूर और तुलसी के पार्श्व में बैठे दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर बिहारी, मतिराम औ रघनानंद की मंडली में। यह तो ठीक है कि भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र एक भक्त कवि थे। व्यक्तिगत जीवन में वे राधाकृष्ण के भक्त थे इसलिए उनके काव्य पर श्रृंगार का रंग अधिक गहरा है। राम भक्त कवियों में श्रृंगार मिलता भी है तो मर्यादित रूप में। श्रृंगार का मर्यादाहीन रूप कृष्णभक्त कवियों के प्रसंग में विचित्र और अस्वाभाविक नहीं लगता। इसलिये भारतेंदु ने भक्ति और श्रृंगार का वरदान परम्परा के रूप में ही पाया था। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रृंगार (वियोग-संयोग दोनों) की ओर भारतेंदु की विशेष रुचि है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि संस्कृत से अनुवादित उनकी रचनाओं में श्रृङ्गार परक काव्य का ही अनुवाद अधिक मिलता है। श्रृंगार में भारतेंदु की तल्लीनता इसी से प्रकट है कि उनका अनुवादित काव्य इतना अधिक सबल और मार्मिक है कि वह अनुवाद लगता ही नहीं है। भारतेंदु की अत्यधिक हार्दिकता के कारण वह मौलिक काव्य लगने लगता है। भारतेंदु ने गीत गोविन्द की अष्टपदी का 'गीत गोविन्दानन्द' नाम से अनुवाद किया है।[२]

उपर्युक्त उद्धरण इसलिये दिए गए हैं जिससे भारतेंदु की देशभक्ति और समाज सुधार सम्बन्धी कविता का उचित मूल्यांकन किया जा सके। यह तो ठीक है कि काव्यकला की पुरानी कसौटी पर भारतेन्दु के नवीन विचारों की कविता उत्कृष्ट प्रमाणित नहीं होती पर काव्य के भावपक्ष और लोक कल्याण की दृष्टि से उसका ऐतिहासिक महत्व है। भक्ति और रीतिकाल के कवियों की तुलना में श्रेष्ठतर भारतेंदु बाबू नवीन युगांतरकारी कविता के भी जनक होंगे यह कौन जानता था? भारतेंदु की ब्रजभाषा की कविताओं को पढ़कर कोई भी यह कहेगा कि भाषा के परिष्कार और व्यंजना की दृष्टि से वे भक्ति और रीतिकाल की कविता से दो पग आगे ही हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि अपने प्रिय विषय श्रृंगार को छोड़कर अन्य आधुनिक विषयों पर कविता लिखने

---

१. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास द्वितीय संस्करण, पृ० ३८० ।**
२. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास द्वितीय संस्करण, पृ० ३२० ।**

में भारतेन्दु बाबू को कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ा हो क्यों कि शृंगार की उनकी कविताओं की तुलना में अन्य सभी उनकी कवितायें प्रयत्नज प्रतीत होती हैं। लेकिन यही कम महत्व की बात नहीं है कि पुरानी परिपाटी और परम्परा का सहसा उल्लंघन कर भारतेन्दु ने एक नई पगडंडी तैयार करदी जिसने कालांतर में राजमार्ग का रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु यदि चाहते तो बिना सामयिक महत्व की कवितायें लिखे भी कवि-जगत में अमर हो सकते थे, लेकिन देश और भाषा के सौभाग्य से इस जन्मजात कवि के हृदय में देश प्रेम और क्रांति की भावना जन्म के साथ ही मिली। यदि भारतेंदु ने देश-प्रेम और राजनीति पर कवितायें न लिखीं होतीं तो रीतिकाल की आयु लगभग तीन दशाब्दी और बढ़ जाती। रीतिकालीन परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि होते हुए भी अपनी क्रांति-पूर्ण देश प्रेम की भावनाओं के कारण भारतेंदु ने रीतिकालीन कविता के अबाध प्रवाह को सहसा रोक दिया। भारतेंदु अपने युग के एक मात्र नेता थे। उनके समकालीन सभी प्रतिष्ठित हिन्दी लेखक उनके अनुयायी और भक्त थे। अपने नेता को क्रांति के कटंकाकीर्ण पथ पर जाते देख वे सब भी अर्थ और यश का मोह छोड़ उसके पीछे चल पड़े। क्रांतिकारियों की ऐसी अद्भुत मंडली विश्व के शायद ही किसी साहित्य में मिले। भारतेंदु का जितना अपने युग में सम्मान हुआ कितनों को इतना सम्मान प्राप्त होता है? लोगों ने उनके नाम से हरिश्चन्द्र संवत चलाया, 'हरिश्चन्द्राय नमः' लिखकर लेख प्रारंभ करना शुभ समझा गया। भारतेंदु बाबू का व्यक्तित्व सचमुच इतना महान है कि भारतेंदु का इतिहास ही भारतेंदु युग का इतिहास है भारतेंदु की प्रवृत्तियाँ ही भारतेंदु युग की प्रवृत्तियाँ है और उनकी नई कविता और नए विचार पूरे भारतेंदु युग के निर्विवाद रूप से प्रतिनिधि हैं। इसलिये नई कविता का विश्लेषण और निरूपण बहुत कुछ भारतेन्दु का विश्लेषण और निरूपण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के विषय में ठीक ही लिखा है :—

"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हूए नई भक्तमाल गूंथते दिखाई देते थे दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को

पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधि काल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ इसमें संदेह नहीं।"[१]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भारतेन्दु की देशभक्ति पूर्ण कविता के विषय में लिखा है :—

"भारतेन्दु को भारत के अतीत गौरव के लिये बड़ा गर्व था और इसी कारण वे उसकी दुर्दशा देखकर विचलित और अधीर हो उठते थे। जो व्यक्ति बहुत अधिक प्रतापवान होता है उसका अधः पतन उसके आत्मीय को उतना ही खलता है। वह उसकी बिगड़ी हुई दशा को देखकर स्वभावतः तिलमिला जाता है और इस दुर्दशा की जगह उसका अंत तक देखने का इच्छुक हो जाता है। भारत की प्राचीन महत्ता की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं 'भारत भाग्य' के ही मुख से एक स्थल पर कहलाया है—

हाय चित्तौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहिं मझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायौ।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायौ।

+ + +

तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु झट किन मथुरा कासी।[२]

अँग्रेजों के आतंक के कारण जनता भीत और त्रस्त थी। भारतेन्दु बाबू अंग्रेजों के वैभव के मिस उनके आतंक अत्याचार वाले रूप को इन शब्दों में व्यंजित करते हैं :—

कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा बल जल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६२।

२. हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह, परशुराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, पृ० १६०-६१।

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वाष्र्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० २८७।

भारतेन्दु का मन भारत की दुर्दशा देखकर अत्यंत दुखी है।

रोवहु सब मिलिके आवहु भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[1]

भारतेन्दु भारत के आर्थिक शोषण के रहस्य से अवगत थे इसलिये उन्होंने अनेक बार भारतवासियों के जगाने की चेष्टा अपनी कविता में की है। देखिए–

'सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल,
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगा जल।
धन विदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल,
जड़ समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकत कल।
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं कर सकत,
जागो जागो अब सांवरे, सब कोउ रुख तुमरो तकत।[2]

अँग्रेजी राज्य के साथ अँग्रेजी चेतना भी भारत में आई। कुछ लोग इसे भारत के सौभाग्य का स्वर्ण काल मानते हैं और भारत की सारी उन्नति का श्रेय अँग्रेजों को देते हैं लेकिन यदि यही बात होती तो भारतेन्दु बाबू इस उन्नति में 'दुर्दशा' क्यों देखते? सच तो यह है कि भारतेन्दु इस बात को निर्भ्रान्त रूप से जानते थे कि अंग्रेजी राज्य भारत के लिये एक भीषण अभिशाप है उन्होंने लिखा है :—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।
ताहू पर मंहगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख देत ईस हा हारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[3]

कुछ विद्वान भारतेन्दु पर अंग्रेज प्रशंसक होने का कलंक लगाते हैं। यदि भारतेन्दु की व्यंग्यपूर्ण रचनाओं का अभिधा परक अर्थ न लगाया जाय तो यह संदेह फिर उठे ही नहीं। ऐसा संदेह करने वालों को भारतेन्दु का बलिया वाला व्याख्यान एक सजीव उत्तर है। इस व्याख्यान में भारतेन्दु की विद्रोह की वाणी

---

१. **भारत दुर्दशा (१८८०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु नाटकावली, इण्डियन प्रेस, पृ० ५९७।**

२. **भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रबोधिनी, पृ० ६८४।**

३. **भारतेन्दु नाटकावली, सम्पादक, ब्रजरत्नदास, पृ० ५९८।**

निरावरण है, क्रांति की आग को इस भाषण में उन्होंने ज्यों का त्यों उगल दिया है। देखिए :—

"भाइयो राजा महाराजाओं का मुँह मत देखो, मत यह आशा रक्खो कि पण्डित जी कक्षा में ऐसा उपाय बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो आलस छोड़ो कबतक अपने (को) जंगली हूस मूर्ख बोदे डरपोकने पुकरवाओगे। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ को काँटा हो उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायंगे, दरिद्र न हो जायँगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायँगे तबतक कोई देश न सुधरेगा।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण के बाद यह कहना कि भारतेन्दु अंग्रेज समर्थक थे क्या महत्व रखता है यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'कविवचन सुधा' की संचिकाओं में ये क्रांति की चिनगारियाँ अभी तक सुरक्षित हैं। भारतेन्दु के जो विचार उनकी गद्य में व्यक्त हुए उनकी कविता में उससे दूसरे कैसे हो सकते थे। भारतेन्दु तो एक ही थे जो कविता में वही गद्य में।

हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतेन्दु ने साहित्य में दुहरी क्रांति की भाव के क्षेत्र में भी और भाषा के क्षेत्र में भी। उन्होंने साहित्य में स्वीकृत छंदों के अतिरिक्त उन छंदों में रचना करना भी वांछनीय समझा जो जनता में प्रचलित थे। भारतेन्दु लावनीबाजों की मंडली में जाते और डफ लेकर लावनी गाते। गद्य से बाहर पद्य में भारतेन्दु ने खड़ी बोली का सबसे मधुर प्रयोग लावनियों में ही किया है और सरसता में उनके कवित्त सवैया दोहा के बाद लावनियों का ही नंबर आता है। खड़ी बोली का यह चमत्कार पद्य में आजतक के कवि भी कम ही दिखा पाए हैं, इसका कारण यह है कि भारतेन्दु ने भाषा जनता से सीखी थी।[२]

भारतेन्दु अपनी एक लावनी में खिताब पाने वालों पर व्यंग्य करते हैं :—

इक्कीस तोप सलामी की अव्वल दर्जे का काम सभी।
क्रास बाथ इस्टार हुए महाराज बहादुर नाम सभी॥

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ४५।

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १५-१६।

जग जस पाया मुलुक कमाया किया ऐश आराम सभी ।
सार न जाना रहा भुलाना राम बिना बेकाम सभी ।।[१]

हरिऔध जी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी भारतेन्दु बाबू को स्पष्ट करने में सहायता देती हैं :—

उन्होंने होलियों, पर्वों, त्यौहारों और उत्सवों पर गाने योग्य सहस्रों पद्यों की रचना है। प्रेम रस से सिक्त ऐसे-ऐसे कवित्त और सवैये बनाए हैं जो बड़े ही हृदयग्राही हैं जितने नाटक या अन्य गद्य ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं उन सब में जितने पद्य आये हैं वे सब ब्रजभाषा में ही लिखे गए हैं। इससे प्राचीनता प्रेमी होने पर भी उसमें नवीनता भी दृष्टिगत होती है। वे देश दशा पर अश्रु बहाते हैं, जाति ममता का राग अलापते हैं, जति की दुर्बलताओं की ओर जनता की दृष्टि आकर्षित करते हैं, और कानों में वह मंत्र फूंकते हैं जिससे चिरकाल की बन्द आँखें खुल सकें। उनके 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' नामक ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। बाबू हरिश्चन्द्र ही वह पहले पुरुष हैं जिन्होंने सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य में देश प्रेम और जाति ममता की पवित्र धारा बहाई।"[२]

भारतेंदु ने अनेक मुकरियाँ भी लिखी हैं जिनमें अंग्रेजों के शासन में भारत का पतन और दुर्दशा व्यंग्य है। मुकरियों की भाषा बड़ी ही तीखी और प्रवाह पूर्ण है। पढ़ते ही पाठक के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह सरलता से दूर नहीं किया जा सकता। इन मुकरियों में भारतेंदु ने तत्कालीन सभी समस्याओं को वाणी दी है। कुछ मुकरियों का यहां उद्धृत करना समीचीन होगा :—

"सब गुरुजन को बुरौ बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।।
भीतर तत्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि साजन नहिं अंग्रेजी।।

तीन बुलाए तेरह आवैं।
निज-निज विपता रोज सुनावैं।
आंखौ फूटे भरा न पेट।
क्यों सखि साजन नहिं ग्रेजुएट।।

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३५।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण पृ० ५०६।

रूप दिखावत सरवस लूटै ।
फन्दे में जो पड़ै न छूटै ।
कपट कटारी जिय में हूलिस
क्यों सखि साजन नहिं सखि पूलिस ।।
नई-नई नित तान सुनावै
अपने जाल में जगत फँसावै ।
नित-नित हमें करै बल सून,
क्यों सखि साजन नहिं कानून ।।
भीतर-भीतर सब रस चूसै ।
हँसि-हँसि के तन मन धन मूसै ।।
जाहिर बातन में नहिं तेज ।
क्यों सखि साजन नहिं अंग्रेज ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेंदु ने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर साहित्य की पुरानी रीतिकालीन परम्परा को समाप्त कर एक नई और शुभ परम्परा का श्रीगणेश किया जिसमें देश प्रेम, जातिप्रेम और समाज सुधार के नवीन तत्व थे। भारतेंदु ने प्रयाग की हिन्दीवर्द्धिनी सभा में एक पद्यात्मक भाषण दिया था जो लगभग ६६ दोहों में था। इसमें भारतेंदु ने हिन्दी की महत्ता को स्पष्ट करते हुए हिन्दी भाषियों को हिन्दी भाषा की ओर प्रेरित किया था। ये दोहे भारतेंदु ने सभा में बैठ कर ही लगभग २ घंटे में लिख डाले थे जो एक ओर तो उनकी अदम्य प्रतिभा और कवित्व शक्ति के सूचक हैं दूसरी ओर उनके मातृ भाषा प्रेम के। ये दोहे भाषण रूप में हिन्दी प्रदीप के सन् १८७७ के सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर दिसम्बर के अंकों में छपे थे। उदाहरण स्वरूप कुछ दोहे उद्धृत करना समीचीन होगा :—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल ।।
पढ़े संस्कृत जतन करि पण्डित भे विख्यात ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत इक बात ।।
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुण होत प्रवीन ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन ।।[2]

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० पृ० ३८-३९ ।

२. हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, १८७७, पृ० ३४ ।

भारतेंदु अपने काल के साहित्यिक नेता थे इस लिए तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखकों ने उनका अनुकरण किया और रीतिकालीन परम्परा को तोड़कर सभी सामयिक महत्व के विषयों पर कवितायें कीं। इन कवियों ने प्रतापनरायण मिश्र बदरीनरायण चौधरी 'प्रेमघन' प्रमुख थे। यहाँ संक्षेप में हम इन कवियों की कविताओं की चर्चा करेंगे।

प्रतापनरायण मिश्र :—मिश्र जी भारतेंदु बाबू के अनुयायी और भक्त थे।[1] उस काल के अन्य प्रसिद्ध लेखकों की भांति ये भी बड़े देश भक्त और समाज सुधारक थे। देश की दुर्दशा को देख कर इनके हृदय को असह्य कष्ट होता था जो कि इनकी कविताओं से स्पष्ट है। अंग्रेजों के राज्य में देश के दारिद्रय का चित्र खींचते हुए मिश्र जी लिखते हैं :—

मंहगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली है,
कौन भाँति त्यौहार मनैये कैसे कहिये होली है।
सब धन ढोयो जात विलायत, रह्यो दलिद्दर छाई,
अन्न वस्त्र कहँ सब जग तरसै होरी कहां सुहाई।
भूखे मरत किसान तहूँ पर करहित डपट न थोरी है,
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति विचारी छोरी है।[2]

मिश्र जी ने 'ब्रेडला स्वागत' के नाम से एक कविता लिखी थी जो ऐतिहासिक महत्व की मानी जाती है उसकी कुछ महत्ता तो इसी से प्रकट है कि प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी अंग्रेज पिनकौट ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद कर इंगलेंड के एक पत्र में छपाया था। अंग्रेजी राज्य में भारत की दुर्दशा का ही इस कविता में विस्तृत वर्णन है :—

बहुतेरे जन द्वार-द्वार मंगनि बनि डोलहिं।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि तें बोलहिं।
बहुत लोक परदेस भागि, अरु भागि न सकही।
चोरी चंडाली कर बंदीगृह पथ तकहीं।
पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम कहावत।
दारिद दुरगुन पुंज अमित दुख हिय उपजावत।

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२।

२. आधुनिक काव्य धारा, डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ५२।

यह जिय धरकत यह न होय कहुँ कोउ सुनि लेई।
कछू दोष दे मारहिं अरु रोवन नहिं देई।[1]

मिश्रजी की तृप्यंताम् कविता भी बड़ी देशभक्ति पूर्ण तथा व्यंग्य पूर्ण है कवि अपने काल का वातावरण प्रस्तुत करता हुआ लिखता है :—

मँहगी और टिकस के मारे हमहिं छुधा पीड़ित तन छाय।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि लैवो वृथा दूध कौ नाम।
तुमहिं कहा प्यावें जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमिरिन-अलक उपमा लहि नाग देवता तृप्यंताम्।[2]

अंग्रेजी राज्य का सबसे अधिक लोमहर्षक चित्र और क्या हो सकता है :—

लैसन इनकम चुंगी चन्दा, पुलिस अदालत वरसा घाम।
सबके हाथन असन बसन जीवन संसयमय रहत मुदाम।।
जौ इनहू ते प्राण बचै तो गोली बोलति हाय धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम सब प्रकार बस तृप्यंताम्।।[3]

प्रेमघन :—बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु के अन्तरङ्ग मित्रो में से थे।[4] फिर वे ही इन सब विशेषताओं में पीछे क्यों रह जाते। किसानों की दुर्दशा पर वे लिखते हैं :—

दीन कृषक जन औरहु दया जोग दरसाहीं।
तिन के तन पर स्वच्छ वस्त्र लखियत कहुँ नाहीं।
मिहनत करत अधिक पर अन्न बहुत कम पावत।
जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जियावत।[5]

अंग्रेजी राज्य में भारत की दुर्दशा देख प्रेमघन का कवि हृदय भारत के अतीत का स्मरण करने लगता है :—

दुर्ग मांधाता तथा रोहिताश्व अब देखि।
कालिंजर चित्तौर त्यों दशा देवगढ़ पेखि।।

---

१. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, प० १४४।
२. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १४६।
३. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण पृ० १४७।
४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६१।
५. आधुनिक काव्य धारा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ५३।

पाय सकत आनंद को निरखि दशा अतिछीन।
विविध नगर कन्नौज से हाय आज छवि हीन॥[१]

'प्रेमघन' अनेक बातें कहना चाहते थे पर उनकी जिव्हा पर सरकारी प्रतिबंधों का ताला लगा था :—

'निज दुख व्यथा नहि कहिवे पावत कोउ मुँह खोली।'[२]

अंग्रेजी राज्य में पढ़े लिखों की क्या दुर्दशा थी उसका वास्तविक चित्र 'प्रेमघन' जी की निम्नांकित पंक्तियों में देखिए :—

ढूंढ़त फिरत नौकरी जो नहिं कोउ विधि पावत।
खेती हू करि सकत न दुख सों जनम वितावत॥
चलै कुदारी तिहि कर किमि जो कलम चलायो।
उठे वसूला घन तिन सों किमि जिन पढ़ि पायो॥[३]

विदेशी शासन में भारतीयों की गरीबी बेकारी, तथा निराशा का नग्न चित्र 'प्रेमघन' जी के शब्दों में कितना यथार्थ मार्मिक और स्पष्ट उतरा है :—

सूखे वे मुख कमल, केश रूखे जिन केरे।
वेश मलीन, छीन तन छविहत जात न हेरे॥
दुर्बल रोगी नंग धडंगे जिनके शिशुगन।
दीन दृश्य दिखराय हृदय पिघलावत पाहन॥[४]

अंग्रेजों द्वारा किए आर्थिक शोषण और जनता के पतन से भी प्रेमघन अनभिज्ञ नहीं हैं :—

पी प्रमाद मदिरा अधिकारी, लाज सरम सब घोली।
लगे दुसह अन्याय मचावन निरखि प्रजा अति भोली।
देश असेस अन्न धन उत्तम सारी सम्पत्ति ढोली।

यहाँ हमने मिश्र जी तथा प्रेमघन जी कविताओं से वे ही उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जो उनके राजनैतिक असंतोष तथा देशभक्त रूप को प्रकट करते हैं,

---

१. **आधुनिक काव्य धारा, डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ६३।**

२. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १५३।**

३. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १५४।**

४. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १५२।**

सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध भी भारतेन्दु बाबू, मिश्र जी तथा 'प्रेमघन' जी के यथेष्ट उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते थे किन्तु ऐसा जानबूझ कर नहीं किया गया क्योंकि एक तो इससे निबंध का आवश्यक कलेवर बढ़ता दूसरे क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील होने के लिये सामाजिक उद्धरणों से अधिक मूल्यवान हमें राजनीति सम्बन्धी उद्धरण लगे। समाज में सुधार की आवश्यकता पर बल देने वाले लेखकों की भारतेन्दु के युग में कमी नहीं थी पर केवल समाज सुधार कोई खतरे का काम नहीं था। वास्तविक खतरा तो राजनैतिक दृष्टिकोण अपनाने में था और यह गर्व का विषय है कि भारतेन्दु मंडल के अधिकाँश लेखक राजनैतिक रूप से सजग और प्रबुद्ध ही नहीं थे अपितु निडर भी थे मिश्र जी और 'प्रेमघन' भारतेन्दु के पश्चात् ऐसे लेखकों के प्रतिनिधि हैं। 'हिन्दी प्रदीप' उस काल का प्रतिनिधि पत्र था। अंग्रेजी राज्य के अंतर्गत भारत की व्यापक दरिद्रता, भूख और बेकारी को स्पष्ट करने वाली कवितायें इसमें बराबर छपा करती थीं। निम्नांकित कजरी इस प्रकार की कविताओं का प्रतिनिधित्व करती है :—

कलजुगवा खराब कैसे खेलों कजरी।
घर में अनाज नाहीं, भूखन को साज नाहीं, कोऊ सिरताज नाहीं
कपड़ा पुराना, कैसे खेलों कजरी।
सास का विसास नाहीं, ससुर की आस नाहीं, पंगति को त्रास नाहीं
सैंया बिलखान कैसे खेलों कजरी।
लोक में नियाव नाहीं, पंच में हियाव नाहीं, साधुता का भाव नाहीं
अकिल हैरान—कैसे खेलों कजरी।
बाह्मन कपूत भैले, मूढ राजपूत भैले, भूप यमदूत भैले,
रोवत किसान—कैसे खेलों कजरी।
दया गैली मया गैली, दुनिया से दया गैली खिलकत सब नई भैली,
स्वारथ भूला न—कैसे खेलों कजरी।
धन कहूँ रहा नाहीं, अन्न हूँ जुरात नाहीं, खेतिया के छीगे,
कहूँ लागे न ठिकान—कैसे खेलों कजरी।[1]

उपन्यास और कहानियाँ—

उपन्यास :—हिन्दी साहित्य की अन्य आधुनिक विधाओं के समान उपन्यास भी भारतेन्दु युग की ही देन है। भारतेन्दु से पूर्व 'उपन्यास' शब्द भी अपने प्रचलित अर्थ में अज्ञात था। कुछ विद्वान् लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरू' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं किन्तु राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु

---

१. **हिन्दी प्रदीप, अगस्त १८८, पृ० ११-१२।**

बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन चरित्र में उनकी आख्यायिका और उपन्यास रचनाओं में 'रामलीला' (गद्य-पद्य) 'हमीर हठ' (असम्पूर्ण अप्रकाशित) 'राजसिंह' (अपूर्ण) 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' (अपूर्ण) 'सुलोचना' मदालसोपाख्यान, शीलवती और 'सावित्री चरित्र' का उल्लेख किया है। 'सुलोचना' और 'सावित्री चरित्र' के सम्बन्ध में राधाकृष्णदास को संदेह है। 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' (गद्य उपन्यास) का उन्होंने 'सम्पादित, संगृहीत वा उत्साह देकर' बनवाए ग्रंथों में उल्लेख किया है। खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर द्वारा प्रकाशित 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' के १८८९ के संस्करण में वह भारतभूषण भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र लिखित 'कहा गया है।'[१]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' को मराठी से 'अनूदित सामाजिक उपन्यास' मानते हैं।[२] डा० वार्ष्णेय की यह मान्यता राधाकृष्ण दास और ब्रजरत्नदास के निम्नांकित कथनों पर आधारित हैं। श्री ब्रजरत्नदास ने अपने 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' नामक ग्रंथ में लिखा है :—

उपन्यास और आख्यायिका की ओर इनकी दृष्टि बहुत बाद में फिरी और अवस्था कम प्राप्त होने से यह इस ओर विशेष कुछ न कर सके। गद्यपद्यमय 'रामलीला' लिखी है जिसमें अयोध्याकाँड तक की लीला सन्निवेशित है। 'हमीर हठ' का एक परिच्छेद लिखा था पर उसे वे पूर्ण न कर सके। बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'राजसिंह' का अनुवाद अधूरा होकर रह गया इसे बाद को बा० राधाकृष्णदास जी ने पूरा किया था। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जगबीती' में अपना कटु अनुभव लिख रहे थे पर यह भी अपूर्ण रह गई। 'मदालसोपाख्यान' पूरा छप गया है। यद्यपि भारतेन्दु जी ने एक भी पूरा उपन्यास नहीं लिखा है पर एक पत्र से ज्ञात होता है कि इन्हीं के उत्साह दिलाने से उस समय श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने 'दीपनिर्वाण' तथा 'सरोजिनी' का उल्था किया और बाबू गदाधरसिंह ने कादम्बरी का संक्षिप्त तथा 'दुर्गेशनंदिनी' का पूरा अनुवाद किया था। पं० रामशंकर व्यास द्वारा 'मधुमती' और बाबू राधाकृष्णदास द्वारा 'स्वर्णलता' अनुवादित हुई थी। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' 'राधारानी', 'सौंदर्यमयी' आदि भी इसी प्रकार अनुवादित हुई थीं।[३] श्री राधाकृष्णदास के

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० २०१-२।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० २०३।

३. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० २३२-३३।

मत से भी 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' अनूदित है मौलिक नहीं।

उपन्यासों की ओर पहले इनका ध्यान कम था। इनके अनुरोध और उत्साह से पहले पहल 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद हुआ स्वयं एक उपन्यास लिखना आरंभ किया था जिसका कुछ अंश 'कविवचन सुधा' में छपा भी था। नाम उसका था 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती'। इसमें वह अपना चरित्र लिखना चाहते थे। अन्तिम समय में इस ओर ध्यान हुआ था। 'राधारानी' 'स्वर्णलता' आदि का उन्हीं के अनुरोध से अनुवाद हुआ। 'चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' को अनुवाद कराके स्वयं शुद्ध किया था। 'राणा राजसिंह' को भी ऐसा ही करना चाहते थे। अनुवाद पूरा हो गया था प्रथम परिच्छेद स्वयं नवीन लिखा, आगे कुछ शुद्ध किया था। नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' बड़े धूमधाम से आरंभ किया था परन्तु प्रथम परिच्छेद ही लिखकर चल बसे। इनके पीछे इसके पूर्ण करने का भार स्वर्गीय लाला श्री निवासदास ने लिया और उनके परलोकगत होने पर पं० प्रतापनारायण मिश्र ने, परन्तु संयोग की बात है ये भी कैलासवासी हुए और कुछ भी न लिख सके। यदि भारतेन्दु जी कुछ दिन और जीवित रहते तो उपन्यासों से भाषा के भंडार को भर देते। क्योंकि अब उनकी रुचि इस ओर फिरी थी।'[१]

डा० रामविलास शर्मा 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' को भारतेन्दु कृत ही मानते हैं :—

"साहित्य के सभी अंगों का विकास करने के विचार से भारतेंदु ने उपन्यास रचना की ओर भी ध्यान दिया। उनका उपन्यास 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' अधूरा न होकर अपने में पूर्ण उपन्यास है।"[२]

डा० रामविलास शर्मा इस उपन्यास की महत्ता स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं :—

'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' हिन्दी के यथार्थवादी कथा साहित्य की पहली कड़ी है। वह प्रेमचन्द के अभ्युदय से पहले की प्रत्यूषवेला है। उसका महत्व कथा साहित्य ही नहीं समूची भारतीय संस्कृति के लिए है।[३]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० २०२।

२. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा प्रथम संस्करण, पृ० १६५।

३ भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा प्रथम संस्करण, पृ० १७०।

हिन्दी के आदि उपन्यास साहित्य के विषय में जनसामान्य की धारणा है कि वह काल जासूसी और अय्यारी के उपन्यासों का था या फिर ऐसे काल्पनिक या अलौकिकता समन्वित उपन्यास लिखे जाते थे जिनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था किन्तु यह बात तथ्यों के बिल्कुल विपरीत है। यह अत्यन्त हर्ष और सौभाग्य का विषय है कि हिन्दी उपन्यासों की परम्परा उसके आरम्भ से ही अत्यन्त उज्ज्वल यथार्थवादी और जीवन के निकटतम है।

'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' एक सामाजिक उपन्यास है और केवल सामाजिक ही नहीं समस्या प्रधान भी। अपने विषय वैशिष्ट्य की दृष्टि से वह प्रेमचन्द के 'निर्मल' की पहली कड़ी ही कहा जायगा। इस उपन्यास की विषय वस्तु अत्यन्त स्वाभाविक, अलौकिक तत्वों से अस्पृश्य जीवन के खुले प्रागंण से ली गई है। हिन्दू समाज की सड़ी गली परम्पराओं के विरुद्ध यह सम्भवतः प्रथम साहित्यिक उद्घोष है। बहुविवाह और अनमेल विवाह की असामाजिक और अकल्याणकारी परम्परायें हिन्दू समाज के लिए अभिशाप ही सिद्ध हुई हैं। उसके विधान में कहीं ऐसी मूलभूत कमी है कि उसने सम्पूर्ण सामाजिक विकास को ही विषाक्त कर दिया है। भारतेंदु बाबू ने इस उपन्यास में बहुविवाह और अनमेल विवाह पर निष्ठुर व्यंग्य किए हैं इतने निष्ठुर कि शायद प्रेमचन्द भी उनसे इस विषय में दो पग पीछे ही ठहरेंगे। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' हिन्दी उपन्यास साहित्य का क्रान्तिकारी स्रोत है। इस उपन्यास का नायक पूर्णप्रकाश है जो एक सुदर्शन और सुशील युवक है। उसका प्रतिद्वंदी है ढुंढिराज जो एक अधेड़ व्यक्ति है और विवाह करना तथा दहेज लेकर अर्थ संचय करना ही उसका व्यवसाय है। भारतेंदु ने इस व्यक्ति का बड़ा ही स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण किया :—

"देखने में दीर्घाकार कृष्ण वर्ण और कृश था। अवस्था अनुमान चौंतीस बरस की। सिर के बाल दो एक पकने लगे हैं और सामने के दो दाँत भी गिर गए हैं। व्याह करना ही ढुंढिराज का रोजगार है। अब तक ग्यारह कन्या को व्याह कर चुके है अर्थात् इन सबों का कुमारी नाम मिटा चुके हैं। चन्द्रप्रभा को उद्धार करें तो पूरी बारह हों। ढुंढिराज बोले उपयुक्त दहेज मिले तो व्याह करने में कोई बाधा नहीं है और एक बात यह भी है कि वह आप स्त्री के भरणपोषण का भार नहीं लेंगे।"[1]

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १६५-१६६।

उपन्यास की नायिका चन्द्रप्रभा है जिसके पिता का नाम आनन्दविग्रह और माता का नाम गुणमंजरी है। भारतेन्दु ने पात्रों के नाम भी 'यथानाम तथा गुण' रखे हैं। 'चन्द्रप्रभा के माता-पिता उसके विवाह के विषय में अत्यन्त चिंतित हैं। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति हैं इसलिए जीवनयापन ही उनके लिये एक समस्या है दहेज उनके इस विचार को कार्यान्वित करने के मार्ग में एक बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न है। आनन्दविग्रह तो किसी भी शर्त पर अपने सिर का भार उतारने को तैयार है। पर गुणमंजरी लड़की को जानबूझकर जीवन भर के लिए संकट में नहीं डालना चाहती। आनन्दविग्रह तो ढुंढिराज के साथ चन्द्रप्रभा के पाणिग्रहण की स्वीकृति भी दे देते हैं किन्तु गुणमंजरी उनके इस निर्णय के विरुद्ध ऐसा विद्रोह करती है कि अन्त तक आत्मसमर्पण नहीं करती। और ऐसा प्रयत्न चुपचाप करती है कि ढुंढिराज का सारा षड़यंत्र असफल हो जाय। वह पूर्ण युवा पूर्णप्रकाश के साथ चन्द्रप्रभा की शादी कर देती है और प्रतिरोध करने वालों—आनन्दविग्रह और ढुंढिराज— को मुंह की खानी पड़ती है और उन्हें सफलता के बदले अपयश, भार और अपमान ही हाथ लगते हैं।

भारतेन्दु बाबू ने इस उपन्यास में हिन्दू समाज में तिरस्कृत नारी का बड़ा ही भव्य और अनुकरणीय चरित्र प्रस्तुत किया है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' के ये पात्र धनिया, सुमन, जालपा के अंकुर छिपाए हुए हैं। डा० रामविलास शर्मा 'गुणमंजरी' के चरित्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं :—

'.....भारतेन्दु की सहानुभूति भी खुल्लमखुल्ला इस असंतुष्ट और विद्रोही नारी के साथ है। गुणमंजरी न तो शरत् बाबू की महिलाओं की तरह घुलघुल कर मरना जानती है न वह यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि की महिलाओं की तरह चोरी से प्रेम व्यापार करना जानती है। वह भारतीय नवजागरण की देहरी पर शेष जनता के साथ अपने अधिकारों के लिये आत्मविश्वास के साथ पुरुष के सामने जा खड़ी होती है।'[1]

इसमें संदेह नहीं कि 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' अपने युग की तुलना में अत्यंत प्रगतिशील और प्रौढ़ कृति है परन्तु उसके विषय में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि एक तो उसकी रचना तिथि अज्ञात है और दूसरे अधिकांश विद्वान इसके भारतेन्दु कृत होने के विषय में एक मत नहीं है अपितु बहुमत इसके विपरीत है। स्वयं डा० रामविलास शर्मा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' से पूर्व प्रकाशित अपने 'भारतेन्दु युग' में इस उपन्यास को भारतेन्दु कृत नहीं मानते। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

---

१. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १६७।

'खड़ग विलास' प्रेम से 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' नाम का जो उपन्यास भारतेंदु के नाम से प्रकाशित हुआ था वह शिवनंदनसहाय के अनुसार किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है, भारतेन्दु ने उसमें जहाँ तहाँ संशोधन भर किये थे।'[१]

डा० शर्मा ने अपने परवर्ती ग्रंथ में अपना एतद्विषयक विचार किस आधार पर बदला यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। उपर्युक्त सामग्री के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उक्त उपन्यास अनूदित ही है भारतेन्दु का मौलिक उपन्यास नहीं। कहीं भी कोई प्रमाण इसके भारतेंदु कृत होने में सहायक नहीं होता। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए इसके अनूदित होने की संभावनायें ही अधिक हैं क्योंकि बंगला और मराठी आदि भाषाओं में उपन्यास पहले अस्तित्व में आए। पं० माधवप्रसाद मिश्र का तो कहना यह है कि उपन्यास शब्द और उसकी विषय वस्तु सब बंगला से हिन्दी में आई :—

'जो हो रिक्त हस्ता हिन्दी ने बंगला के सद्यपूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द को ही ग्रहण नहीं किया वरंच इसका बहुत सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी गहीयसी से मिला है। हिन्दी के प्राण प्रतिष्ठाता स्वयं भारतेंदु जी ने बंगला के उपन्यासादि के अनुवाद से हिन्दी के भंडार में वृद्धि की और उनके पीछे स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके साथ ही उक्त महानुभावों ने कृतज्ञतावश यह भी स्वीकार किया है कि जबतक हिन्दी भाषा अपनी इस बड़ी बहन बंगला का सहारा न लेगी तब तक वह उन्नत न होगी।'[२]

पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी बंगला भाषा की प्रशंसा उसकी नाटक और उपन्यास समृद्धि से प्रभावित होकर की है :—

'बंग भाषा में दुर्गेशनंदिनी प्रभृति शतशः उपन्यास एक से एक चढ़ बढ़कर हैं। बंग देशी जैसा और और बातों में उत्साह और तरक्की के ओर छोर तक पहुँचे हैं वैसा ही नाटक और उपन्यास लिखने में किसी से कम नहीं हैं।'[३]

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्र शुक्ल भी इस विषय में बंगला के इस ऋण को स्वीकार करते हैं :—

---

१. **भारतेंदु युग, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १९५।**

२. **माधव मिश्र निबंध माला, प्रथम संस्करण, पृ० १००-१०१।**

३. **हिन्दी प्रदीप, जनवरी, १८८२, पृ० १८।**

"नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग भाषा की देखा देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था।'[१]

इस प्रकार 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानने में कठिनाई स्पष्ट है।

डा० रामविलास शर्मा ने भारतेंदु की 'एक कहानी आपबीती कुछ जगवीती' की चर्चा उपन्यास के संदर्भ में ही की है जिससे उनका यह आशय स्पष्ट है कि यदि भारतेंदु की यह कहानी पूर्ण हो जाती तो यह उनका दूसरा उपन्यास होता। किंतु भारतेंदु की यह कहानी इसकी शिल्प सम्बन्धी विशिष्टता के कारण उपन्यास की सीमा का स्पर्श नहीं करती। उसका उठान ही उपन्यास का नहीं है। वैसे भी ऐसी किसी परिभाषा की कल्पना नहीं की जा सकती किसके आधार पर 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' और 'एक कहानी कुछ अपबीती कुछ जगबीती' एक सरल उपन्यास कहे जा सकें। दोनों के शिल्प में मौलिक अंतर है। प्रथम निश्चित रूप से उपन्यास है द्वितीय निश्चित रूप से नहीं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी इसे उपन्यास नहीं मानते :—

'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' के अपूर्णांश से प्रकट होता है कि वह कहानी न होकर सरल शैली में लिखा गया संस्मरण है।'[२]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी भारतेंदु को मौलिक उपन्यासकार होने की प्रतिष्ठा प्रदान नहीं करते और उनके एतद्विषक प्रयत्नों को मात्र अनुवाद तक सीमित मानते हैं।[३]

ऐसी दशा में हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार होने का गौरव किसे दिया जाय? विद्वानों का बहुमत यह गौरव लाला श्रीनिवासदास को देता है और उनके 'परीक्षागुरु' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानता है। 'परीक्षा गुरु' सन् १८८२ में प्रकाशित हुआ, लेकिन क्या वास्तव में 'परीक्षा गुरु' हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास है? यदि पं० बालकृष्ण भट्ट के 'रहस्यकथा' नामक उपन्यास की उपेक्षा कर दी जाय जो कि सन् १८७९

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५५।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण पृ० २०२।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५५।

नवम्बर से प्रकाशित होना आरम्भ हुआ तो भले 'परीक्षा गुरु' को यह गौरव मिले। परन्तु वास्तविकता यह है कि काल क्रम की दृष्टि से 'रहस्य कथा' उपन्यास हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास ठहरता है। यह आयु में 'परीक्षा गुरु' से लगभग ३ वर्ष बड़ा ठहरता है। इस तथ्य के प्रमाण में एक बात और कही जा सकती है कि लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' की बड़ी कठोर आलोचना पं० बालकृष्ण भट्ट ने उसके प्रकाशित होते ही की थी और उसे बड़ी कठिनाई से उन्होंने उपन्यास माना था। उन्होंने लिखा है :—

"हम लोग जैसा और और बातों में अंग्रेजों की नकल करते जाते हैं वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टान्त पर सीख रहे हैं। हाल में लाला श्रीनिवासदास जी का 'परीक्षा गुरु' नामक ग्रंथ जिसे हम उपन्यास ही गिनते हैं और जिसकी समालोचना से हमारे प्रिय शुभचिन्तक सा० सु० नि० के सुयोग्य सम्पादक महाशय हमसे कुछ अनमने से हो गए हैं अलबत्ता कुछ-कुछ अंग्रेजी नोविल के ढंग पर है परन्तु नोविल प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिए लिखे जाते हैं कि निरे स्कूलों में 'क' 'ख' सीखने वालों के लिये। ग्रंथकर्त्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते यखलाक या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते यदि ये सब ठौर-ठौर के अनुवाद निकाल दिए जांय तो (ओरिजनल पोर्शन) असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जायगा।"[१]

कदाचित् आज के आलोचक भी 'परीक्षा गुरु' की इतनी कठोर और यथार्थ आलोचना न करेंगे क्योंकि ऐसा करने से पहले वे तत्कालीन औपन्यासिक प्रगति के विषय में कई बार सोचेंगे, उसी संदर्भ में उसे परखने का प्रयत्न करेंगे। और इस प्रकार अपने पुरातन होने का लाभ 'परीक्षा गुरु' को सहज ही मिल जायगा किन्तु यदि भट्ट जी उस समय भी उक्त उपन्यास की उपदेश प्रधानता की आलोचना करते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उनके मस्तिष्क में उपन्यास का कोई अधिक निर्दोष चित्र है। भट्ट जी ने तो एक पूरा निबंध ही 'उपन्यास' शीर्षक से लिखा है।[२] जिसमें उन्होंने अपने उपन्यास के आदर्श को स्पष्ट कर दिया है और उसे अंग्रेजी के नोविल का ही दूसरा रूप माना है। ऐसी दशा में यह सोचने का प्रत्येक कारण है कि भट्ट जी 'रहस्य कथा' उपन्यास के रूप में यदि एक निर्दोष और अधिक आकर्षक उपन्यास की सृष्टि कर चुके थे तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। और यदि 'रहस्य कथा' उपन्यास का लेखक 'परीक्षा

---

१. **हिन्दी प्रदीप, जनवरी सन् १८८२, पृ० १८।**

२. **हिन्दी प्रदीप, जनवरी सन् १८८२ पृ० १७-१९।**

गुरु को उपन्यास कहने में कोई संकोच करे तो इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भट्ट जी के इस उपन्यास का विस्तृत वर्णन को उनके 'कथाकार रूप' के विश्लेषण के साथ एक पृथक अध्याय में करना ही अधिक समीचीन होगा। यहाँ तो प्रसंगवश उसकी चर्चा इसलिए की गई कि जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि 'परीक्षा गुरु' से पूर्व ही हिंदी के मौलिक उपन्यासों की परम्परा का श्रीगणेश हो गया था और वह भी भट्ट जी के द्वारा।

भारतेंदु की की प्रेरणा से उनके अन्य सहयोगी भी इस दिशा में प्रयत्नशील थे।[1] ऐसे महानुभावों में पं० रामशंकर व्यास, बाबू राधाकृष्णदास, श्री राधा चरण गोस्वामी, ठाकुर जगमोहनसिंह, तथा प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। उक्त महानुभावों ने मौलिक उपन्यास लिखने का भी प्रयत्न किया किंतु अधिकांश उपन्यासों का अनुवाद ही बंगला आदि प्रांतीय भाषाओं से किया। इस प्रकार भट्ट जी के समय तक हिंदी उपन्यास साहित्य समृद्धि की दिशा में अग्रसर होने लगा था।

कहानियाँ :—हिंदी की अन्य आधुनिक साहित्यक विधाओं की भाँति 'कहानी' के अंकुर भी हमें भारतेंदु युग में ही मिलते हैं। यद्यपि कुछ विद्वान् 'नासिकेतोपाख्यान' 'रानी केतकी की कहानी' तथा 'राजा भोज के सपने' को हिंदी कहानियों के विकासोन्मुख चरण मानते हैं। किंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में :—

"इंशा की 'रानी केतकी की बड़ी कहानी' न आधुनिक उपन्यास के अंतर्गत आयगी, न राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' या वीरसिंह का वृत्तांत आधुनिक छोटी कहानी के अंतर्गत।"[2]

शुक्ल जी का उक्त कथन युक्तियुक्त और न्यायसंगत प्रतीत होता है क्योंकि भारतेंदु युग से पूर्व की कथायें प्राचीन पौराणिक चेतना की वाहक थीं। उनमें आधुनिक समस्याओं एवं विचारों को वहन करने की सामर्थ्य नहीं थी जो कि बाद में आधुनिक कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता हुई। इसलिये 'रानी केतकी की कहानी' तथा 'राजा भोज के सपने' को हम आधुनिक कहानी की प्रारम्भिक कड़ियाँ नहीं मान सकते। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है :—

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० २०२।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण पृ० ५०३।

"इंशाअल्ला खां ने अपनी इस लम्बी कथा को 'कहानी' कहा है, यही कारण है कि हिन्दी के कुछ आलोचकों ने 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी की पहली कहानी माना है, लेकिन यह पूर्णतः अवैज्ञानिक है यहाँ उन्होंने कहानी का तात्पर्य केवल कथा से लिया है जैसा कि इस कथा ग्रंथ से ही स्पष्ट है, यह एक लम्बी और विस्तृत कथा है, जिसमें बार-बार पद्य का भी प्रयोग हुआ है तथा इसकी शैली से दास्तान और मसनवी का रूप स्पष्ट हो जाता है, कहानी का किंचित् मात्र भी नहीं।"[१]

आधुनिक कहानी अपनी जिन विशिष्टताओं के कारण आज साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण विधा है यद्यपि वे विशिष्टतायें भारतेंदु युग में भी पूर्ण रूप में नहीं मिलतीं किंतु वे अंकुरित होती अवश्य देखी जा सकती हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य आदि उसके सभी अंग यद्यपि तब परिपुष्ट नहीं हुए थे किन्तु वे सबके सब विकासोन्मुख अवश्य थे। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि भारतेंदु युग में उस काल के सभी प्रतिभाशाली लेखकों ने 'कहानी' की उपेक्षा की है और समस्याओं एवं विचारों के वाहक के रूप में उसे स्वीकृति नहीं दी है किन्तु इस स्वीकृति की उपलब्धि के लिये 'कहानी' ने अपना संघर्ष आरम्भ कर दिया था यह भी स्पष्ट है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने ठीक ही लिखा है :—

"इस समूची सृष्टि में भारतेंदु का व्यक्तित्व सदा अमर रहेगा। आधुनिक कथा साहित्य में उपन्यास और नाटकों की परम्परा की देन इन्हीं के व्यक्तित्व की देन है। इन्होंने कथा की दिशा में आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास क्यों नहीं किया इस पर आचर्श्य होता है।"[२]

भारतेंदु युग में यह तो ठीक है कि 'कहानी' ने 'कला' का आकार ग्रहण नहीं किया था किन्तु उसकी कलायें धीरे-धीरे उभर रही थीं और प्रकाश संचित कर रही थीं। श्रीयुत ठाकुरप्रसादसिंह की यह मान्यता युक्तियुक्त है कि :—

'भारतेंदु युग में यद्यपि कहानी कला जैसी वस्तु का प्रादुर्भाव भले न हुआ हो किन्तु लघु कथानकों की वस्तु में आचर्श्यजनक परिवर्तन उभर अवश्य आए थे। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' भारतेंदु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को दिया गया जवाब 'चूसा पैगम्बर'

---

१. **कहानियों की शिल्प विधि का विकास डा० लक्ष्मीनारायण लाल प्रथम संस्करण, पृ० ३८।**

२. **कहानियों की शिल्प विधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, प्रथम संस्करण, पृ० ४१।**

आदि रचनायें अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं, जिनकी कथावस्तु एकदम नवीन आधारों पर गठित हुई थी। यहाँ हम आधुनिक कथा को एक साथ ही महाकाव्यों, तथा पुराणों की परम्परा से अलग नवीन दिशा में बढ़ते देखते हैं। कलाकार की तटस्थता भंग हो गई है और वह मुखर भी हो गया है। पुरानी उपदेशात्मकता तथा गम्भीरतम आकृति की जगह स्वच्छ व्यंग्य का जन्म हुआ है जो इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्योक्ति पद्धति में कही गई कथा यद्यपि थी यमलोक की या स्वप्न लोक की किन्तु सचाई यह थी कि लेखक एक क्षण के लिये भी दुनिया के कटु यथार्थ से तटस्थ नहीं हुआ था।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु युग में 'कहानी' स्वप्न कथाओं के रूप में ही प्रकट हुई है। इस प्रकार की स्वप्न कथायें 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'हिन्दी प्रदीप' में बहुत निकला करती थीं। इन कथाओं में कहानी के कथावस्तु, चरित्र-चित्रण कथोपकथन, देशकाल उद्देश्य आदि तत्व अंकुरित होते स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भारतेंदु युग से पूर्व की कथाओं और इनमें स्पष्ट अंतर यह है कि वे केवल कौतूहल के तत्व पर आधारित थीं और इनका आधार कोई न कोई विशिष्ट उद्देश्य था। दूसरे शब्दों में पहले की कथायें यदि घोर काल्पनिक और कौतूहल पूर्ण थीं तो ये कथायें व्यंग्य गर्भित और सोद्देश्य थीं।

इन स्वप्नकथाओं का प्रारंभ बड़ा आकस्मिक कौतूहलपूर्ण मनोवैज्ञानिक और आकर्षक होता है और इनके अंत भी इन्हीं विशेषताओं से युक्त मिलते हैं। हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित पं० बालकृष्ण भट्ट की एक स्वप्न कथा की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

'कल रात को मैं अपने देश की दीन दशा पर पड़ा-पड़ा सोच रहा था इतने में घोर निद्रा ने आकर मुझे दबाया और यह एक अद्भुत स्वप्न देखने लगा कि एक सुन्दर नारी पृथ्वी पर पड़ी लोट रही है और एक नवयुवा उसके बगल में खड़ा है। सुन्दरी रो-रोकर यह कह रही है। सौभाग्य दीपक के बुझाने को प्रचंड पवन, सुखचन्द्रमा के ग्रसने को उत्पात केतु ग्रह, रे, दुर्घटना पिशाची तुझसे कोई बात दुस्साध्य नहीं है, इस चराचर विश्व में ऐसा कौन पुरुष होगा जो एक बार तेरी कराल डाढ़ का चबैना बन जंजाल में न पड़ा हो, चिरकाल तक निरंतर तेरी पाप दृष्टि किसी की वृद्धि नहीं देख सकती, दूसरे की उन्नति तेरे हृदय का शूल है तूने जब से जन्म धारण किया तब से किस भाँत किसी का सर्वनाश हो यही तूने सीखा, जिस्मे दूससे का कुछ अनिष्ट हो दिन रात तू इसी चेष्टा में भ्रमण किया करती है, रे दुष्टे तेरी दुराशा का अन्त नहीं है किस

बात से तू सन्तुष्ट रहती है यह तू ही जानती होगी। ऐसा भी कोई शोकजनक व्यापार है जिस्से तेरे पाषाण हृदय को कभी करुणा होती है।........(सुन्दरी उठकर) बेटा तुम कौन हो आओ। हम तुम्हें गले से लगावें। धन्य वह प्रसविनी जिसने तुम ऐसे अमूल्य रत्न को अपने गर्भ में धारण किया है, तात तुम्हारे समान असम साहसिक इस भूमंडल में कहीं न होंगे। यदि समस्त हिन्दू रमणी ऐसे ही स्वदेशानुरागी वीर पुत्र की माता होतीं तो क्या वीर प्रसू यह भारत जननी दासत्व की शृङ्खला से बद्ध रहती।.....नवयुवा :—जननी हम यह जानते हैं कि अब हमारा वह समय नहीं है। दुराचारी, क्रूरात्मा, प्रजाहिंसक, नृशंस यवनों ने भारत लक्ष्मी का मंदिर लुण्ठन कर हमारा सर्वनाश कर दिया। मा यवन दास हिन्दू कुल कलंक इन पशुओं की सहायता मैं नहीं चाहता, जिन्हें दास और असभ्य बने रहने का चिरकाल से अभ्यास पड़ रहा है वे क्या हमारी सहायता कर सकते हैं।"[1]

भारतेन्दु बाबू बहुत पहले ही सन् १८७५ में 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' लिख चुके थे। जिसमें कथावस्तु, कथोपकथन, पात्र (चरित्र-चित्रण) आदि तत्व स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' और 'एक कहानी आपबीती कुछ जगबीती' आदि उनकी रचनायें कहानी के बहुत निकट हैं। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' भी कहानी के गुणों से युक्त है। भारतेन्दु युग में कहानी स्वप्न कथाओं के आवरण में क्यों छिपी है इसका एक ही कारण समझ में आता है कि लेखक अंग्रेजी सरकार के आतंक और प्रेस एक्ट सम्बन्धी कठोर नियंत्रणों के कारण अपना देशप्रेम और विद्रोह की भावनायें व्यंग्य रूप में प्रकट करते थे और वह इन स्वप्न कथाओं में ही सबसे अधिक सरल और संभव था। भारतेन्दु युग में लिखी गई ये सभी स्वप्न कथायें जहाँ कहानी के अनेक गुणों, कथावस्तु, कौतूहल, कथोपकथन आदि से युक्त हैं वहाँ देशभक्ति की और विद्रोह की भावनायें भी इनमें घनीभूत हैं।

इन स्वप्न कथाओं की इस काल में प्रचुरता रही। इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज अपनी कथा-तृषा 'चोज' शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई छोटी-छोटी कथाओं से भी शांत करता था। 'चोज़' के मिस कही गई ये उपदेश प्रधान या उद्देश्यप्रधान कथायें 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'हिन्दी प्रदीप' में नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं। इन पत्रिकाओं का शायद ही कोई अंक हो जिसमें 'चोज़' की बातें न हों। इस प्रकार की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में छपी एक कथा देखिए :—

---

१. **हिन्दी प्रदीप, जून १८८२, पृ० ५-८।**

"दो जमीदार अपने गाँव से कहीं को चले जाते थे बाट में एक पचास साठ बीघे अच्छी भूमि का खंडला देखकर उनमें से एक ने कहा—भाई यह ठौर हमारे तुम्हारे हाथ लगे तो क्या करो ? बोला मैं तो अपने बंट की भूमि में फुलवारी लगाऊँ कहो तुम अपनी भूमि में क्या करोगे ? कहा मैं अपनी गायें भैंसे चराऊँगा। इसने कहा भला मानो या बुरा मैं तो अपनी फुलवारी के पास न चराने दूंगा। वह बोला तुम्हारा कुछ ठेका नहीं है मैं अपने ठाम में जो चाहूँगा सो करूँगा निदान इसी भाँति हुद्दा तुद्दी करके लगे हाथा पाई करने। इसमें कई एक बटोही जो इनको झगड़ते देख इकट्ठे हो गए थे उन्होंने बीच बिचाव करके इनसे पूछा कि तुम क्यों आपस में लड़ते हो इसका कारन कहो ? उन्होंने सब वृतांत कह सुनाया सुनते ही उनमें में एक मनुष्य बोला भाई तुम्हारी वही कहावत है सूत न कपास कोली से लठा लठी।"[१]

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'हिन्दी प्रदीप' में वार्तालाप के रूप में भी कथायें प्रायः प्रकाशित होती रहती थीं। इस प्रकार के संलाप प्रायः राजनैतिक तथा उद्देश्य गर्भित होते थे।

इस काल में बंगला से कहानियों का अनुवाद भी हुआ। सन् १८७९ में पं० सरयूप्रसाद मिश्र ने 'आख्यान मंजरी' के नाम से बंगला से कुछ छोटी कहानियों का अनुवाद किया था जिसका विज्ञापन 'हिन्दी प्रदीप' में निकला था।[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में 'कहानी' आकार ग्रहण कर रही थी और कथाओं के रूप में सामयिक समस्यायें तथा विचार अभिव्यक्ति पा रहे थे। तत्कालीन पत्र-पत्रिकायें पढ़ने से इन कथाओं के उज्ज्वल भविष्य की सूचना बहुत पहले ही हमें मिल जाती है।

नई आलोचना का सूत्रपात :—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो आलोचना की प्रवृत्ति मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों में से है। कुछ वस्तुओं से उसे सुख मिलता है कुछ से दुख, वह इस सुख और दुख की अभिव्यक्ति अपनी भाषा में अनायास ही करता है। दुःख सुख कथन की यह सहज प्रवृत्ति ही आलोचना की जननी है। प्राचीन साहित्य में आलोचना सूक्तियों में या पद्यबद्ध मिलती है। जैसे :—

सूर सूर तुलसी शशी उड्गन केशवदास,
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करें प्रकाश।

---

१. **हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, दिसम्बर, १८७८, पृ० ४०।**

२. **हिन्दी प्रदीप, अगस्त, १८७९, पृ० १६।**

अथवा

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

उपर्युक्त पंक्तियाँ आलोचना के प्रारम्भिक अंकुरों को प्रकाश में लाती हैं। लेकिन प्राचीन साहित्य में इसका क्रमिक विकास दिखाई नहीं देता। आज हम गुण दोष विवेचन की जिस पद्धति को आलोचना कहते हैं उसका वास्तविक प्रारंभ तो भारतेंदु युग से ही मानना चाहिए, और भारतेंदु युग में भी पण्डित बालकृष्ण भट्ट इसके जनक हैं। डा० रामविलास शर्मा ने भट्ट जी के आलोचक रूप के विषय में ठीक ही लिखा है :—

"उन्हें आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कहना अनुचित न होगा। भारत और यूरुप के साहित्यों की तुलना पहले पहल उन्होंने ही अपने लेखों में की है। वेदों की, कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्यों से तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी विद्वत्ता, विचार स्वाधीनता तथा शब्द कृपण शैली का बड़ा अच्छा उदाहरण है"।[1] भट्ट जी के साहित्य में वेदों से लेकर उनके समसामयिक साहित्य तक की आलोचना, यत्र तत्र बिखरी मिलेगी। भट्ट जी की आलोचक दृष्टि बड़ी पैनी निर्भ्रान्ति और यथार्थ थी। वे रस-शैली के समीक्षक नहीं थे और सदैव शाश्वत साहित्य की बात ही नहीं सोचते थे। साहित्य को जीवन से पृथक कर उसे लोकोतर रूप में देखने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की अपितु सदैव धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठ भूमि में ही उन्होंने साहित्य की समीक्षा की। कुछ लोग इस प्रकार की समीक्षा का गौरव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को देते हैं पर बहुत पहले भट्ट जी इस पद्धति का सूत्रपात कर चुके थे।" वेदों के विषय में भट्ट जी की युक्तियुक्त समीक्षा की कुछ पंक्तियाँ लीजिए :—

"हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी। बालकों के समान जिनका भाव भोलापन उदारभाव निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं, वेद जिनके हृदय की भाषा थी वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य केसमान समाज के आभ्यन्तरीन भेद वर्ण विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे, कणाद या कपिल के समान अपने-अपने शास्त्र के मूलभूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छान में दिन रात नहीं डूबे रहते थे, न कालिदास आदि कवि सम्प्रदायानुसार वे लोग कामिनी के विभ्रमविलास और लावण्य लीला लहरी में गोते मार-मार प्रमत्त

---

१. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्र० सं० पृ० ११७-१८।**

हुए थे, प्रातःकाल उदितोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे सादे जी ने बिना कुछ विशेष छान बीन किये इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझा और इसके द्वारा अनेक प्रकार का लाभ देख कानन स्थित विहंग कूजन समान कलकल रव से प्रकृति के प्रभात वन्दना का साम गाने लगे। जलभार पूर्ण श्यामला मेघमाला का नवीन सौंदर्य देख पुलकित गात्र हो कृतज्ञता उपहार स्तोत्र का पाठ करने लगे वायु जब प्रबल वेग से बहने लगा तो उसे भी एक शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि वे ही सब ऋक् और साम के सूक्त हो गए।"[1]

यह सचमुच सुखद आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी की आलोचना का प्रारम्भिक काल भी यथार्थवादी विचारधारा से ओतप्रोत है। वास्तविकता यह है कि यथार्थवादी विचारधारा उस काल तक एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गई थी। भट्ट जी बड़े ही उग्र और क्रांतिकारी विचारधारा के व्यक्ति थे, राजनीति के विषय में भी और सामाजिक विषयों में भी। भट्ट जी की उक्त समीक्षा सन् १८८१ की है जिसके लगभग दो वर्ष पश्चात् भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपना आलोचनात्मक प्रबन्ध, नाटक लिखा। विचार और समय दोनों की दृष्टि से भट्ट जी हिन्दी समालोचना में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं। 'वेद' पर भट्ट जी के कई निबन्ध हैं जिनमें उनकी यथार्थवादी विचारधारा का क्रमिक विकास स्पष्टतः देखा जा सकता है। सन् १८८० में इससे पूर्व भी भट्ट जी 'स्वामी दयानन्द' शीर्षक अपने निबन्ध में ऐसे विचार प्रकट कर चुके थे, जो अनेक व्यक्तियों के लिए आज भी आश्चर्य का विषय हो सकते हैं; तब की तो बात ही क्या। आज भी अनेक धर्मप्राण व्यक्ति उनके इन यथार्थ और उग्र विचारों के कारण उन्हें 'नास्तिक' कहने को तैयार हो जायेंगे। भट्ट जी वेदों को ईश्वर कृत या अपौरुषेय न मान कर मनुष्य कृत मानते हैं और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं।[2] भट्ट जी के इसी निबन्ध की यथार्थवादी विचारधारा और समीक्षा इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है :—

"मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्ही वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं, तब दूर की चीजों में खोजता है। इस लिए लोगों ने जब पहले कोई आश्चर्य वस्तु अर्थात् जिसका कारण वे नहीं समझ सके देखा तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र, बरुण, सूर्य आदि जो देवता

१. हिन्दी प्रदीप, जुलाई १८८१, पृ० १६-१७।
२. हिन्दी प्रदीप, मार्च सन १८८०, पृ० १८।

माने गए हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्यदेव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है। इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य-नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रमाण में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इससे पहले, सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि, औषधी और विद्युत आदि को भी ईश्वर कल्पना कर लिया। इसीलिए वेद के अनेक भागों में इन सबों के नाम का उल्लेख बार-२ किया गया है। क्रमश ज्यों-ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते सोचते मँजती गई तब वे सूर्य आदि को भी जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे।[1] और आगे चल कर भट्ट जी ने स्पष्ट लिख दिया है :—

सिद्ध हुआ कि वेद मनुष्य रचित हैं।[2]

आलोचना की यह युगांतरकारी पद्धति वास्तव में युग की देन है। भट्ट जी उन साहित्यकारों में से थे जो अपने युग की समस्याओं और विचारों को वाणी देना अपने साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। भारतेन्दु युग में समीक्षा या आलोचना की पद्धति योंही नहीं बदल गई। वास्तव में वह इसलिये बदली क्योंकि पुरातन पद्धति जन-मन को व्यक्त करने में असफल सिद्ध हो रही थी। श्रीयुत नन्ददुलारे बाजपेयी ने अपने "हिन्दी आलोचना" शीर्षक निबन्ध में ठीक ही लिखा है :—

"भक्तिकालीन समीक्षा और रीतिकालीन समीक्षा, दोनों ही अपने युग की काव्य रचनाओं का आकलन करने के लिये निर्मित हुई थीं और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी कर रही थीं। परन्तु हिन्दी साहित्य के आगामी विकास में इन पद्धतियों का त्याग अथवा आत्यंतिक संशोधन भी किया गया और समीक्षा की गई-विधियों का निर्माण होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी साहित्य में जो नवीन जीवन परिव्यास हुआ उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नए तथ्यों का आविर्भाव किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा। काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार पद्धति का प्रयोग चल सकता था परन्तु गद्य और भाषा सम्बन्धी नवीन निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस समय नवीन उपन्यास, नई कहानी और नए काव्य-अनुवाद भी होने लगे थे। जिनके

---

१. हिन्दी प्रदीप, मार्च सन १८८०, पृ० १८।

२. हिन्दी प्रदीप, मार्च सन् १८८०, पृ० १८।

विवेचन के लिये नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी। उपन्यास और नाटक आदि काव्य रूपों के विवेचन पृथक-पृथक आदर्शों को लेकर ही हो सकते थे।"[३]

समालोचना के प्रारंभ के विषय में डा० श्रीकृष्णलाल का निम्नांकित कथन तथ्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता :—

"हिन्दी में समालोचना का प्रारंभ बहुत देर में हुआ। सबसे पहले बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधरसिंह द्वारा अनुवादित 'वंग-विजेता' की समालोचना की।"[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि डा० श्रीकृष्णलाल को 'संयोगिता स्वयंवर' की भट्ट जी द्वारा की आलोचना का ज्ञान नहीं है। उक्त पुस्तक की भट्ट जी ने ही प्रथमत आलोचना की थी और उत्कृष्टता एवं निष्पक्षता की दृष्टि से भट्ट जी की आलोचना 'प्रेमघन' जी की तुलना में अधिक स्तुत्य है और इस विषय में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का निम्न मत ही अधिक माननीय है :—

"समालोचना के इस रूप के लगभग समान किन्तु कुछ विकसित रूप हमें भारतेन्दु की मृत्यु के बाद मिलता है। १८८५ में लाला श्रीनिवास दास ने 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक लिखा था। इस नाटक की बड़ी धूम मची और हिंदी के लगभग सभी प्रमुख पत्रों में उसकी आलोचना हुई। १८८६ में बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७) में 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की। उसमें उन्होंने नाटक की भाषा, कथानक का संगठन, कथनोपकथन आदि के गुण दोष दिखाते हुए निष्पक्ष रूप से विचार किया है। उसी वर्ष उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने आनंद कादम्बिनी (१८८१) में उसकी विस्तुत और कठोर आलोचना निकाली। बाबू गदाधरसिंह कृत 'बंग विजेता' के अनुवाद की भाषा सम्बन्धी आलोचना भी उनके पत्र में हुई। 'प्रेमघन' जी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की भाषा, प्रबंध, 'अंग्रेजी प्रभाव', शास्त्रीय नियमों और सिद्धान्तों की अवहेलना आदि बातों की कड़ी परीक्षा की। उनकी आलोचना संहारात्मक है। उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के प्रति कुछ अन्याय किया है क्योंकि ग्रंथ पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें दोषों के साथ-साथ कुछ गुण भी हैं जिनकी ओर आलोचक ने संकेत नहीं किया।"[२]

---

१. **आलोचना (इतिहास विशेषांक) अक्टूबर १९५२, पृ० १७५।**

२. **आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ३६४।**

३. **आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० १८०।**

डा० श्रीकृष्ण लाल अपने कथन के विषय में अधिक सचेत सम्भवत: इसलिये नहीं हैं क्योंकि उनकी उक्त पुस्तक में सन् १९०० से १९२५ तक के हिन्दी साहित्य का ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। और सन् १८८६ स्पष्टत: उनके अध्ययन काल की परिधि के बाहर पड़ता है।

यदि 'संयोगिता स्वयंवर' को छोड़ भी दें तो भी भट्ट जी के द्वारा की गई 'परीक्षा गुरु' उपन्यास की प्रसिद्ध आलोचना दिसम्बर सन् १८८२ में ही प्रकाशित हो चुकी थी।

डा० श्रीकृष्णलाल ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक प्रबंध में 'पुस्तक परीक्षा' के रूप में एक विशिष्ट स्तंभ के अन्तर्गत साहित्यिक पुस्तकों की आलोचना प्रारम्भ करने का श्रेय सरस्वती को दिया है।[1] जिसमें उनके विचार से 'पुस्तक परीक्षा' एवं आलोचना ईमानदारी के साथ की जाती थी। इसका प्रारंभ डा० लाल ने सन् १९०४ से माना है। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात तो लगभग २५-२६ वर्ष पूर्व ही पं० बालकृष्ण भट्ट ने कर दिया था। अक्टूबर सन् १८७७ के 'हिन्दी प्रदीप' के अंक में एक शीर्षक ही है—"चन्द्रसेन तथा सबके गुरू गोवर्द्धनदास के अभिनय की आलोचना।"[2] सन् १८७८ में लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक की भट्ट जी द्वारा की गई संक्षिप्त आलोचना देखिए :—

"ट्रेजेडी के किस्म का यह पहला नाटक है जो हिन्दी भाषा में रचा गया है। इसमें श्रृंगार, हास्य और करुण ये तीनों रस बहुत उत्तम रीति से निवाहे गए हैं। बीच-बीच सदुपदेश और लोकोक्ति इसमें इस ढंग से रखी गई हैं जिससे उन रसों में मानो जान पिरोह दी गई हो। रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्री भाव जीवन की स्वाभिभक्ति नाथूराम का माड़वारियों का सा बनियापन सुखवासीलाल की स्वार्थपरता सब बहुत अच्छी तरह से इसमें दिखाई गई हैं।"[3]

इस प्रकार बहुत पहले ही पुस्तक प्राप्ति स्तंभ के अन्तर्गत पुस्तक-समीक्षा का कार्य भट्ट जी ने प्रारंभ कर दिया था।

जहाँ तक आलोचना का सम्बन्ध है भट्ट जी ने उसे जन्म ही नहीं दिया उसका पोषण भी किया और समुचित विकास भी। भारतेन्दु युग के आरम्भिक दिनों में इस क्षेत्र में 'प्रेमघन' जी का नाम और लिया जा सकता है। पर इस

---

१. **आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ३६५।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८७७, पृ० १२।**

३. **'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८७८, पृ० १६।**

क्षेत्र में निश्चित रूप से वे भट्ट जी के बाद ही आए। भट्ट जी के आलोचक रूप की विस्तृत समीक्षा 'भट्टजी आलोचक रूप में' नामक अध्याय में की जायगी यहाँ तो प्रासंगिक रूप में ही उनकी आलोचना की चर्चा की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में आलोचना पुरातन रूढ़ियों का शास्त्रीय मार्ग छोड़कर युग समस्याओं तथा स्वच्छंदता की नई पगडंडी पर चलने लगी थी उस पगडंडी के राजमार्ग होने में अभी विलम्ब था।

भारतेन्दु युग से पं० बालकृष्ण भट्ट का घनिष्ठ सम्बन्ध—इस सम्बन्ध में आलोचकों के मत :—

भट्ट जी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आयु में ६ वर्ष बड़े थे किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में वे भारतेंदु का नेतृत्व स्वीकार करते थे। भट्ट जी का व्यक्तित्व भारतेंदु युग के लेखकों में इतना विशिष्ट और महान् है कि भारतेन्दु भी उसे ढक नहीं पाते। वे स्वयं भट्ट जी को अपने बाद उस काल का सर्वश्रेष्ठ लेखक मानते थे।[1] भट्ट जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे इसलिये उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से हिन्दी में सभी अंगों को पुष्ट किया। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये भट्ट जी के विषय में दी गई विभिन्न आलोचकों की सम्मतियों पर विचार करना समीचीन होगा।

श्री राधाचरण गोस्वामी की सम्मति : – राधाचरण गोस्वामी भारतेन्दु युग के लब्ध प्रतिष्ठ लेखकों में है। ये भारतेन्दु बाबू के व्यक्तिगत और अंतरंग मित्र भी थे। गोस्वामी जी भट्ट जी का अत्यंत आदर करते थे और उन्हें उस युग का महान् लेखक समझते थे। उन्होंने भट्ट जी को लिखे एक पत्र में अत्यंत व्यंग्यपूर्ण भाषा में उनकी महानता की सराहना की है और उन्हें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कोटि में ही रखा है :—

"आप तो बड़े हंस व्रत हैं, यही बहुत है कि आप जीते तो हैं। बाबू हरिश्चन्द्र के उपरान्त यदि कुल्हाड़ी लेकर कोई अकल के पीछे पड़ा है तो आप ही हैं। खेद है कि आपने घोंघा पुरोहितों की हाँ में हाँ नहीं मिलाई, न यजमानी धर्म व बनिया धर्म के पक्षपाती बनकर बाल्य विवाह को सराहा। आर्यसमाजी, ब्राह्म समाजी आदि नई रोशनी वालों को आपने वृथा कलंकित नहीं किया। हुक्काम की खुशामद और उनकी सम्मान भिक्षा के लिये कांग्रेस के बैरी बनकर आपने सम्पादक नाम पर काजल नहीं पोता। न बड़े-बड़े हाकिमों की कृपा दृष्टि और छोटे-छोटे अत्याचारी शासकों की कोप दृष्टि की आपने पर्वाह की। आपने जो लिखा दो टूक तलवार की धार लिखा। कहा सो पत्थर की लीक कहा।

---

१. **भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १४।**

यदि बाल विधवाओं के गले पर छुरी चलाकर विधवा विवाह के प्रतिकूल लिखते तो बहुत सी मंडली आपकी ग्राहक होती। यदि आप समुद्र यात्रा को रोक कर हिन्दू जाति को डुबाने पर लेख लिखते तो बहुत सी धर्म सभायें आपको स्थान देतीं।.......जो हो हम तो आपके काव्य मर्मज्ञ-उद्गम, प्रतिभाशाली, उद्भट और परच्छाया रहित लेख, सरस सुधामय वाग्धारा एवं अतल स्पर्शी विद्यानुराग प्रज्ज्वलित देश-वात्सल्य के प्रेमी हैं।"[1]

राजर्षि, श्रीयुत पुरूषोत्तमदास टंडन का मत :—भट्ट जी के शिष्य प्रसिद्ध साहित्यिक और नेता राजर्षि टंडन भी भारतेन्दु बाबू और भट्ट जी को एक साथ स्मरण करते हैं। टंडन जी भट्ट जी को अपना 'भाषा गुरु' मानते हैं।[2] उन्होंने 'अभ्युदय' में सन् १९१४ में भट्ट जी के विषय में निम्नांकित विचार प्रकट किये थे :—

"जिस सरस हास्यमयी प्रतिभा ने अपने मीठे ठठोल से कितनों ही को कुमार्ग से बचा लिया था, जिसने हिन्दी के बिखरे गंवारू शब्दों में जादू सी शक्ति भरकर सहस्त्रों हिन्दी बोलने वालों में जातित्व और भाषा प्रेम का संस्कार बोया था। उस प्रतिभा के चमत्कार का दर्शन अब हिन्दी पाठकों के भाग्य में नहीं। ....हिन्दी साहित्य के इतिहास में भट्ट जी सदा उन थोड़े से गिने हुए प्रतिभाशाली लेखकों में गिने जाँयेगे जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा के गद्य की नींव डाली है। भट्ट जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुसार उस समय हिन्दी गद्य को एक स्थिर स्वरूप दिया था।........छोटे-छोटे से फिकरों, चुटकियों और कहानियों द्वारा जिस प्रकार भट्ट जी ने नई सभ्यता की पोल खोली है वह सब आज भी पढ़कर चित्त प्रसन्न होता है। किन्तु आज हम उसका वास्तविक प्रभाव नहीं देख सकते। उन लेखों का काम हो गया। आज भी वे पढ़े जाने पर अच्छा प्रभाव डालते हैं किन्तु उनके पूर्ण अर्थ उसी समय के पढ़ने वालों के लिये थे। जब अंग्रेजीपन पढ़े लिखे लोगों में घुस उन्हें अंधा सा बना रहा था। बाबू हरिश्चन्द्र के लेखों में भी यही बात थी। वास्तव में इसी विचार समानता के कारण ही भारतेन्दु और भट्ट जी दोनों एक दूसरे के प्रेमी थे।"[3]

श्री वेंकटेश्वर समाचार (साप्ताहिक) के सम्पादक श्री लज्जाराम का मत :—

---

१. हिन्दी प्रदीप, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० ४६-४७।

२. तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का भाषण, संवत् १९८०, पृ० ९।

३. 'अभ्युदय, २५ जुलाई, १९१४।'

श्री लज्जाराम भट्ट जी के समसामयिक थे। प्रसिद्ध सम्पादक और साहित्यिक थे। साहित्यिक जगत में ये भट्ट जी के और भट्ट जी इनके विरोधी थे फिर भी श्री लज्जाराम का भट्ट जी विषयक मत भट्ट जी की महानता को ही प्रकाश में लाता है। भट्ट जी के विरोधी भी उनके प्रशंसक थे। लज्जाराम जी ने निष्पक्ष रूप से भट्ट जी के विषय में लिखा है :—

"चाहे अनेक बातों में 'हिन्दी प्रदीप' से मेरा मतभेद हो, चाहे उसके सम्पादक ने इसी मतभेद के कारण कई बार मुझ पर कटाक्ष किए हों, परन्तु में न्याय दृष्टि से कह सकता हूँ कि जो चमत्कार पं० बालकृष्ण भट्ट की लेखनी में है वह अन्य मासिक पत्रों में नहीं है। उनकी वर्णन शैली विलक्षण है। उनके लेख पढ़ने से हंसी की जगह हंसना और क्रोध की जगह क्रोध का मन में संचार होता है। उनके पत्र के पुराने फाइल को उठाकर मैं प्राय: पढ़ा करता हूँ। संस्कृत के एक नामी विद्वान साल भर में दो चार बार मुझसे 'हिन्दी प्रदीप' के फाइल मंगाकर पढ़ते हैं। उनके बीस पचीस वर्ष के लेखों के पढ़ने से अब भी वैसा ही आनंद आता है जैसा आजकल के अंक पढ़ने से। यह क्यों? यह इसलिये है कि भट्ट जी उस जमाने के लेखक हैं जिसमें हिन्दी को वर्तमान ढंग से चलाने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पैदा हुए थे।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों के लिखने के लगभग ८ वर्ष पश्चात् श्री लज्जाराम जी ने भट्ट जी के निधन पर फिर उन्हें इन शब्दों में श्रद्धांजली भेंट की :—

"उनकी भाषा उन्हीं की अपनी भाषा है, उस भाषा की व्यंग्यमयी छटा उन्हीं की निज की सम्पत्ति है। चरित्र बल की जिस अतुलनीय सम्पद् के बल से ब्राह्मण निर्धन होने पर भी धनाशालियों के पूज्य हैं, राजेश्वर राजाओं के भी गुरु हैं, भट्ट जी के चरित्र की वह तेजस्विता, वह सत्यप्रियता, वह निष्पापिता, वह धैर्यशीलता, वह मधुरभाषिता, वह विनय नम्रता, वह क्षमाशीलता ३३ वर्षों के 'हिन्दी प्रदीप' में चमक रही है। राजेश्वर की प्रभुता, धनवान की सम्पद्, विद्वान की विद्या, चरित्रवान का चरित्र मनुष्य समाज पर अवश्य ही अत्यधिक प्रभाव अधिकारी की मृत्यु हो जाने की दशा में भी रखे रहता है किन्तु भट्ट जी की तरह जो लेखक अपने को शुद्ध रूप से लेखों में ढाल सकता है वह अन्य सब जनों के गुणों का प्रभाव ध्वंस हो जाने पर भी लोक स्मृति से सर्वथा मिट नहीं जाता।"[२]

---

१. श्री बेंकटेश्वर समाचार (साप्ताहिक), २ जुलाई १९०६।

२. श्री बेंकटेश्वर समाचार (साप्ताहिक) ३१ जुलाई, १९१४।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल का मत :—श्री जायसवाल भट्ट जी को मौलिक और महान लेखक मानते हैं :—वर्तमान हिन्दी जिसे हम लोग बोलते और लिखते हैं थोड़े से लोगों की देन है जिनमें पं० बालकृष्ण भट्ट की गिनती है। उन्होंने अपने 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा बहुतों को लिखने की राह दिखाई। वह 'दीपक' शुद्ध हिन्दी की ही ज्योति से जलता रहा अन्य भाषाओं के जले तेल से कभी लेसा न गया। वह कभी किसी बीबी बेसेंट या बाबा जगद्गुरु के जूठे विचारों का ग्रामोफोन न हुआ। पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा जिस तरह शुद्ध हिन्दी थी जिसमें न मीडियम की नक़ल माध्यम से की जाती थी और न अंग्रेजी शब्द स्टैण्डर्ड का उल्था इयत्ता से किया जाता था। उसी तरह उनकी बातें उनके ही विचार की उपज थीं।"[1]

हिन्दी के महान् कवि श्रीधर पाठक की श्रद्धांजलि :—पाठक जी भट्ट जी के भक्तों में से थे उनकी भावनायें इस छप्पय में व्यक्त हूई हैं जो भट्ट जी की महानता की उद्घोषक हैं :—

जीवन तव अति धन्य सबहिं विधि अहो पूज्यवर,
अनु दिन अनुकरनीय चरित पावन प्रशस्य तर,
धनि स्वदेश शुचि प्रेम—नेम प्रिय प्रानहु सों पर,
सात्विक शुद्ध विचार सतत भारतोद्धार कर,
धनि 'हिन्दी प्रदीप' प्रकाशि जग मूरखता तमत्रास हर।
तव पुण्य नाम प्रिय भट्ट श्री बालकृष्ण जग में अमर ॥[2]

पं० सुन्दरलाल का मत :—भट्ट जी के सहयोगी 'भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रसिद्ध लेखक और प्रसिद्ध नेता पं० सुन्दरलाल ने भट्ट जी और उनके 'प्रदीप' के विषय में ठीक ही लिखा था :—

"विचार स्वातंत्र्य की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' को इस समय के सर्वोच्च पत्र पत्रिकाओं में स्थान दिया जा सकता है। भाषा के रस और लालित्य की दृष्टि से इस समय के किसी भी पत्र या पत्रिका को 'हिन्दी प्रदीप' के बराबर नहीं रखा जा सकता।"[3]

युग प्रवर्त्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मत :—द्विवेदी जी भट्ट जी को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे और उन्हें पूज्य मानते थे। द्विवेदी जी भट्ट जी की हिंदी सेवा और 'हिंदी प्रदीप' की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:—

१. पाटिलपुत्र श्रावण शुक्ल १०, वि० स० १९७१।
२. श्री गोपिका गीत की समुपस्थिति, श्रीधर पाठक, पृ० ७०।
३. विशाल भारत, जनवरी १९२८, पृ०२६।

"संस्कृत के सुपण्डित—कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के प्रोफेसर होकर भी तुमने हिन्दी का अनादर नहीं किया। 'हिन्दी प्रदीप' को निकाल कर बहुत कष्ट होने पर भी तुमने उसे बन्द नहीं किया। तीस बत्तीस वर्ष तक निकालते ही चले गए। इससे बढ़ कर मातृ-भाषा प्रेम और क्या हो सकता है?

प्रोफेसरी से भी पृथक होने पर तुमने हिन्दी की सेवा नहीं छोड़ी। पंगु हो जाने पर भी तुम उसी में निरत रहे यहाँ तक कि नेत्रों के धोखा देने पर भी तुम उस व्रत के व्रती बने ही रहे।"[1]

इससे लगभग ८ वर्ष पूर्व भी द्विवेदी जी 'हिन्दी प्रदीप' की प्रशंसा में निम्नांकित पंक्तियाँ लिख चुके थे :—

"इस समय हिन्दी में जितने समाचार पत्र निकल रहे हैं दो एक को छोड़ कर 'हिन्दी प्रदीप' सबसे पुराना है। मासिक पुस्तकों में तो यही सबसे ज्येष्ठ है। इसे निकलते २७ वर्ष हो चुके। जबसे यह निकलने लगा तब से कितने ही मासिक और साप्ताहिक पत्र निकले और अस्त होगए पर 'हिन्दी प्रदीप' जारी है। बीच-बीच में इस पर कितने ही अरिष्ट आए परन्तु टल गए। यदि यह पत्र किसी और भाषा में निकलता होता तो इसकी रजत-जुबली हो गई होती। पर अभागी हिन्दी के यह भाग्य कहाँ? 'प्रदीप' किसी तरह चलता है यही गनीमत है।"[2]

डा० श्यामसुन्दरदास का मत :—डा० श्यामसुन्दर दास भट्ट जी को भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सहयोगी एवं एक दक्ष पत्र सम्पादक तथा लेखक के रूप में स्मरण करते हैं :—

"इस काल में अनेक पत्र पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी थीं। हिन्दी का व्यवहार क्षेत्र अब अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदु जी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र सम्पादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भाव व्यंजना की सुन्दर और चमत्कार पूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ।"[3]

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का मत :—'हरिऔध जी का मत है कि भट्ट जी अपने समय के इतने प्रमुख साहित्यकार थे कि उनके समय के सभी प्रसिद्ध साहित्यकार उनसे प्रभावित हैं :—

१. सरस्वती, अगस्त १९१४, पृ० ४७३।
२. सरस्वती, अगस्त १९०६, पृ ३२६-३२७।
३. हिन्दी साहित्य, डा० श्यामसुन्दरदास, नवम संस्करण, पृ० ३३०।

"भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र के संचालक और सम्पादक भी थे। जहां इस पत्र द्वारा वे यह उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे कि शिक्षित लोगों का ध्यान हिन्दी साहित्य की ओर आकर्षित हो, वहां उन्हें इस बात का भी ध्यान बना रहता था कि 'हिन्दी प्रदीप' में हीन श्रेणी की साहित्य-सामग्री न निकले। अतएव उन्होंने व्यंग्यात्मक रोचक निबन्ध और शिक्षाप्रद उपन्यास आदि से ही उसका कलेवर भरा। पं० बालकृष्ण भट्ट के हृदय में देश की दुर्दशा के कारण बहुत अधिक पीड़ा थी इससे उनके व्यंग्यों में मर्मस्थल पर आघात करने की ऐसी शक्ति देखी जाती है जिसका प्रभाव उनके समसामयिक समस्त लेखकों पर पाया जाता है।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत :– आचार्य शुक्ल भट्ट जी को भारतेन्दु मंडल का प्रमुख व्यक्ति मानते हैं,[2] और उस काल में वे भट्ट जी को रूढ़ि एवं पुरातनता के विरोध का प्रतीक मानते हैं इससे भट्ट जी का प्रगतिशील रूप स्पष्ट होता हैं। शुक्ल जी लिखते हैं :—

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी होती थी जैसी खरी-खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन और पुरातन का वह संघर्ष काल था इससे भट्ट जी को चिढ़ाने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल पुराने बद्ध मूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी, चमत्कार पूर्ण होती थी।[3]

शुक्ल जी प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट की जोड़ी को हिन्दी का 'एडीसन' और 'स्टील' मानते हैं।[4]

बाबू ब्रजरत्नदास का मत :—भारतेन्दु बाबू के दौहित्र ब्रजरत्नदास जी भट्ट जी को भारतेन्दु बाबू के अन्यतम मित्रों में से मानते हैं :—

---

१. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण, पृ० ६६६।**

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ संस्करण, पृ० ४५०।**

३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५१-५२।**

४. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६७।**

'भारतेन्दु जी ने हिन्दी की सेवा के लिये जब हिन्दी प्रेमियों को उत्साहित किया और उस आव्हवान से जो मंडल उनको चारों ओर घिर आया था उसमें भट्ट जी अन्यतम थे।'[१]

भट्ट जी की निडरता और सत्यप्रियता के विषय में ये लिखते हैं :—

"अपनी प्रकृति के अनुसार भट्ट जी जो कुछ न्यायानुकूल तथा सत्य समझते उसे वह वेधड़क लिख डालते थे चाहे सारा संसार उसका विरोधी हो।"[२]

ब्रजरत्नदास जी भट्ट जी को भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मदाताओं में ही नहीं वरन् उन्नायकों में भी मानते हैं जिससे भट्ट जी के महत्व का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है :—

'हिन्दी प्रदीप' की फाइलें यदि उलटी जांय तो भट्ट जी के राजनीतिक विचार उसमें यत्र तत्र बिखरे हुए अवश्य मिलेंगे। वास्तव में भट्ट जी भारत की राष्ट्रीयता के जन्मदाताओं तथा प्रारंभिक उपासकों में से एक थे और उसके उन्नयन में इन्होंने यथाशक्ति पूर्ण भाग लिया।"[३]

डा० रामविलास शर्मा का मत :—भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में उनके जीवन की विषम और जटिल परिस्थितियों की दृष्टि से डा० शर्मा पं० बालकृष्ण भट्ट को सबसे अधिक महत्व देते हैं :—

"बालकृष्ण भट्ट का ३२ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' चलाना एक ऐतिहातिक घटना है। धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है।"[४]

डा० शर्मा भट्ट जी के विषय में आगे लिखते हैं :—"धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के प्रति भट्ट जी के विचारों को देखते हुए कह सकते हैं कि वह अपने युग के सबसे महान विचारक थे।"[५]

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का मत :—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा भट्ट जी को भारतेन्दु मंडल का विशिष्ट सदस्य मानते हैं और निबंधकार के रूप में उनका स्थान पहला मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे उन्हें गद्य काव्य का निर्माता भी मानते हैं।"[६]

---

१. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ५।
२. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ६।
३. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ११।
४. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १२२।
५. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १२२।
६. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४५।

भट्ट जी की शैली की विशिष्टता के विषय में डा० शर्मा लिखते हैं :—

"इस समय के प्रायः सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और भट्ट जी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्ट जी की भाषा में मिश्र जी की भाषा की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी हिन्दी भी 'अपनी ही हिन्दी' थी। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी मिश्र जी की ग्रामीणता की झलक उसमें नहीं मिलती। उनका वायुमण्डल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती थी। मुहावरों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। स्थान-स्थान पर मुहावरों की लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि भाषा में कांति ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया।"[1]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत :—डा० वार्ष्णेय भट्ट जी को 'हिन्दी का सर्वप्रथम निबन्ध-लेखक होने का गौरव देते हैं।[2]

प्रोफेसर जगन्नाथ 'नलिन'—भट्ट जी की अत्यधिक प्रशंसा करने वालों में से हैं, वे भट्ट जी को भारतेंदु बाबू से भी अधिक महत्व देते हुए लिखते हैं:—

"भारतेंदु युग के प्रौढ़ व्यक्तित्व ने पं० बालकृष्ण भट्ट में आकार पाया। गम्भीरता और व्यंग्य का प्रभावशाली मिश्रण भट्ट जी में है। इन जैसा गम्भीर लेखक, स्वाधीन विचारक और समाज चिंतक दूसरा कोई नहीं। भट्ट जी के समान लगन के पक्के और धुन के धनी साहित्य निर्माता आज भी कहां? भारतेंदु के बाद हिन्दी के सबसे बड़े हिमायती और साहित्य सृष्टा यही हैं। यदि परिस्थितियों को कसौटी मानें तो भारतेंदु से भी अधिक भाग भट्ट जी का है। भारतेंदु सोने के पालने में झूलते थे और भट्ट जी जीवन से जूझते थे। भारतेंदु ने अपनी आर्थिक सुविधाओं की सहायता से अनेक लेखक पैदा किए भट्ट जी ने अभाव की भट्टी में जलते हुए साहित्य निर्माण किया अपने को गला दिया।........भट्ट जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। तुलनात्मक आलोचना की नींव भी इन्हीं ने रखी जिस पर पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने

---

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४५।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, प० १५३।

तुलनात्मक आलोचना का भव्य भवन खड़ा किया। स्वाधीन विचार, अनाभिभूत भावना, प्राणवान व्यक्तित्व, सशक्त प्रभावशाली शैली, असीमित विषय क्षेत्र में विचरण, तर्कपूर्ण विवेचनात्मक पद्धति—सभी कुछ हमें भट्ट जी में मिल जाता है।"[1]

प्रो० नलिन का कहना है कि 'भारतेंदु युग में बालकृष्ण भट्ट से अधिक स्वाधीन और सतर्क विचारक और कोई व्यक्तित्व नहीं।[2] वे यदि भारतेंदु को युग का निर्माता मानते हैं तो बालकृष्ण भट्ट को युग श्रृङ्गारक।[3]

हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा आलोचक हो जिसने भट्ट जी के महान् व्यक्तित्व की प्रशंसा न की हो। फिर भी अभी भट्ट जी का वास्तविक अध्ययन नहीं हुआ है। भट्ट जी केवल साहित्यिक ही नहीं हैं वे युगांतरकारी विचारक भी हैं। भट्ट जी को हम भारतेंदु युग का 'मस्तिष्क' कह सकते हैं। निर्भीकता, देशप्रेम, साहित्यिक व्यंग्य, भाषा की चुस्ती और अभिव्यक्ति के कौशल में भारतेंदु युग में भी भारतेंदु को छोड़ कर और कोई उन्हें नहीं पाता। और अनेक बातों में तो वे भारतेंदु से भी दो पग आगे हैं।

---

१. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन', पृ० ६६।
२. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन', पृ० ६७।
३. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० 'नलिन' पृ० ६७-६८।

दूसरा अध्याय

जीवन वृत्त तथा चरित्र

भट्ट जी का जन्म :— पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म भारत के सुप्रसिद्ध तीर्थ तथा उत्तर प्रदेश के प्रमुख नगर प्रयाग (इलाहाबाद) में विक्रमी संवत् १९०१ अषाढ़ कृष्णा द्वितीया मध्यान्होत्तर वृष के सूर्य के २० अंश गत होने पर रविवार तीसरी जून को हुआ था।[1]

भट्ट जी के तृतीय पुत्र पं० महादेव भट्ट ने भट्ट जी की कुंडली इस प्रकार दी है :—

श्री संवत् १९०१ शा० १७६६, अषाढ़ कृ० २ रवि ४५, ३० मूल, में (४०-० शुम योग ५०-१६, कौल वकरणे इष्टम् १८—०, दिन मानम् ३३, ५७ ज्येष्ठ में) ४३-३० म जातम् ३४-३०, ययोगम् ५६-३० मूल नक्षत्र बाकी रहा २२-३० सिंह लग्नोदये जन्म[2]

उपर्युक्त कुंडली पं० महादेव भट्ट द्वारा लिखित अपने पिता की जीवनी में लिखी मिलती है। यह जीवनी व्यवस्थित और सम्पूर्ण प्रतीत नहीं होती

१. **हिन्दी प्रदीप, चित्रदर्शन, महादेव भट्ट, मई जून, १८९६ (जि० १९ सं० ९, १०) पृ० १६।**

२. **भट्ट जी के तृतीय पुत्र महादेव भट्ट ने भी अपने दो भाइयों श्री लक्ष्मीकांत भट्ट तथा सू चन्द भट्ट की भाँति अपने स्वर्गीय पिता पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी लिखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इन तीनों जीवनियों में व्यवस्थित और सम्पूर्ण जीवनी तो पं० लक्ष्मीकांत भट्ट की ही है किन्तु इन जीवनियों में भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जो पं० लक्ष्मीकांत भट्ट से छूट गए हैं।**

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, महादेव भट्ट, पृ० ७।

तथ्यों का संग्रह मात्र जान पड़ती है। (स्वर्गीय भट्ट जी के एक प्रिय शिष्य पं० मधु मंगल मिश्र के एक पत्र में इसका उल्लेख मिलता है[१])

पं० बालकृष्ण भट्ट का नामकरण संस्कार संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान और पं० मदनमोहन मालवीय के पितृव्य पं० गदाधर जी ने किया था।[२] किन्तु भट्ट जी के नाना पं० अनन्तराम मिश्र प्रेमवश उन्हें 'फुशुन' ही कहा करते थे।[३]

वंश परिचय :—पं० बालकृष्ण भट्ट के पूर्व पुरुष मालवा प्रान्त में उज्जयिनी या अवन्ती के पास शिप्रा नदी के तट पर रहने वाले मालवीय ब्राह्मण थे। मुसलमानी राज्य की डांवाडोल स्थिति में वे लोग कालपी के पास वेतवा नदी के किनारे जिटकरी गाँव में आ बसे। भट्ट जी के पितामह श्याम जी भट्ट विद्वान् एवं चतुर पुरुष थे। वे राजा साहब कुलपहाड़ के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर हो गए।[४] श्याम जी भट्ट के दो पत्नियाँ थीं जिनसे पाँच पुत्र हुए।[५] सबसे छोटे पुत्र का नाम बिहारीलाल था जिसको वे सबसे अधिक स्नेह करते थे। अपने अन्त समय में श्याम जी भट्ट अपनी सम्पूर्ण चल अचल सम्पति का अधिकारी या उत्तराधिकारी बिहारीलाल को ही बना गए।[६] इस प्रकार पं० बिहारीलाल भट्ट को पुष्कल धन सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' में[७] लिखा है कि पं० बिहारीलाल जिटकरी से आकर प्रयाग में रहने लगे। और इसका समर्थन रामबिहारी शुक्ल लिखित 'पं० बालकृष्ण भट्ट' नामक लेख में भी मिलता है

---

१. ता० २५-८-५४ को जबलपुर से मिश्र जी द्वारा महादेव भट्ट को लिखा गया पत्र।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट का जीवन, पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट, पृ० ८।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट का जीवन पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८।

४. सरस्वती, पं० बालकृष्ण भट्ट, ल० रामबिहारी शुक्ल, नव० १९१४ (भाग १५ सं० ५) पृ० ६३०।

५. हिन्दी कोविद रत्नमाला, संकलनकर्त्ता श्यामसुन्दर दास बी० ए०, संस्करण १९१४, पृ० २१।

६. सरस्वती, पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल नव० १९१४, पृ० ६३०।

७. हिन्दी गोविद रत्नमाला सं० कर्त्ता श्यामसुन्दरदास जी बी० ए० संस्करण १९२४ प० २१०।

जो सरस्वती में छपा।[1] किन्तु पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट (प० बालकृष्ण भट्ट के पुत्र) द्वारा लिखित पं० बालकृष्ण की अप्रकाशित जीवनी में पं० बिहारीलाल भट्ट की मृत्यु जिटकरी में ही दिखाई गई है और मृत्यु के उपरान्त उनकी पत्नी गंगा का इलाहाबाद अपने पितृ गृह में चला आना लिखा है।[2] पं० लक्ष्मीकांत भट्ट की जीवनी ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है क्योंकि एक तो पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी लिखने के वे अधिकारी लेखक थे दूसरे पं० बिहारीलाल भट्ट की पत्नी गंगादेवी का नामोल्लेख और किसी अन्य स्थान पर नहीं मिलता। विधवा हो जाने पर तथा पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण अपने को निरापद न समझ वे इलाहाबाद अपने पितृ गृह चली आई हों यह बहुत स्वाभाविक है।

प्रयाग आने पर और दोनों बच्चों के कुछ बड़े होने पर माता गंगादेवी ने उन्हें दुकान करा दी। दुकान इन्होंने चौक में चौदह आना मासिक किराए पर

---

१. सरस्वती, पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, नव० १९१४ पृ० ६३०।

२. "पं० बिहारीलाल पढ़े कम थे, समझते ज्यादा थे। कार्यकुशल थे, दक्ष थे और वाचाल थे। उनके सन्तोष के महल में निश्चिन्तता ताल दे नाच रही थी और पण्डित जी उसका आनन्द लूट रहे थे पर यह अवस्था बहुत दिन न रह सकी। एक दिन सहसा उनको बुखार आ गया।......" वह फसली बुखार न था मृत्यु का सन्देश था जिसकी दवा दुनियां के बड़े से बडे हकीम के पास भी न थी। चौथे दिन पं० बिहारीलाल अपनी स्त्री गंगा तथा दो बालक बेनी और जानकी को अनाथ छोड़कर सुरधाम सिधार गए।........ अभागी गंगा रो उठी।......उधर पारवारिक कलह ने गंगादेवी को वहाँ और ज्यादा दिन रहने के लिए सलाह न दिया। उन्होंने अपने सामान को मिट्टी के मोल निकाल कर रुपया खड़ा कर लिया। उन थोड़े से रुपयों को ईमान की तरह अपने पास रख और दोनों बालकों को अपने साथ ले गंगादेवी ने प्रयाग में अपने पिता के घर जाने का संकल्प किया। एक महीने की कठिन यात्रा को पार कर अनेक कष्टों को झेलती गंगादेवी दोनों पुत्रों को लेकर प्रयाग आ पहुँची। प्रयाग में उनका मायका अहियापुर मुहल्ले के एक प्रतिष्ठित तथा प्राचीन कुटुम्ब में था। इस परिवार के प्रायः सभी प्राणी सुसम्पन्न और विद्वान थे। पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २, ३।

ले ली ।[1] आरम्भ में इन्होंने कड़ुआ तेल बेचना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे घी, आटा इत्यादि भी रख लिया। दोनों बच्चे ईमानदार और पराक्रमी थे इसलिए थोड़े दिनों में ही दुकान जम गई और वे शहर के अच्छे दुकानदारों में गिने जाने लगे। दूकान की साख बढ़ती गई और गंगा देवी के दोनों पुत्रों ने उस साख में कभी धब्बा न लगने दिया। जो वैभव गंगादेवी जिटकरी में छोड़ कर आईं वही वैभव फिर इलाहाबाद में हो गया।[2]

थोड़े ही दिनों में दोनों भाइयों ने एक मकान खरीद लिया और उसी में सुख से रहने लगे। इलाहाबाद के अहियापुर मुहल्ले में यह मकान अब भी खड़ा है यद्यपि इसका रूप समय के साथ बदलता रहा है।[3]

इनके घर के पास ही एक मिश्र परिवार रहता था। गृहपति पं० अनन्त राम मिश्र एक प्रसिद्ध वैद्य थे। उसी घराने में पं० बेनीप्रसाद और पं० जानकी प्रसाद दोनों का विवाह हो गया। पं० बेनीप्रसाद भट्ट की स्त्री का नाम पार्वती देवी था। हमारे चरित्रनायक पं० बालकृष्ण भट्ट इन्हीं के सुपुत्र थे, और पं० जानकीप्रसाद भट्ट की पत्नी का नाम श्यामा देवी था दोनों आपस में चचेरी बहन थीं।[4]

पं० बेनीप्रसाद भट्ट के दो पुत्र हुए, (१) पं० बालकृष्ण भट्ट (हमारे चरित्र नायक) (२) पं० बालमुकुन्द भट्ट।

पं० जानकीप्रसाद भट्ट के दो पुत्र पं० रामरतन भट्ट, श्रीनाथ भट्ट तथा एक पुत्री तुलसा हुई।

दोनों भाइयों की सन्तानों में तुलसा अकेली लड़की थी अतः सब उसे बहुत अधिक प्यार करते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट अपनी इस चचेरी बहन को विशेष रूप से बहुत अधिक प्रयार किया करते थे। तुलसा के आने पर आप मजाक में उससे कहते, 'बताओ हम कब मरबै' इस पर वे झुँझलातीऔर आप कहते अच्छा

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) अक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) लक्ष्कीकांत भट्ट, प० ५।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५।

हमको असीसो कि अब हम जल्दी मरें।[१] तुलसा बहुत खीझतीं और उनके चिढ़ने में इन्हें बड़ा आनन्द आता।[२]

भट्ट जी का बाल्यकाल और प्रारम्भिक शिक्षा :—पिता तो इनके जन्म के हेतु मात्र थे वास्तव में पं० बालकृष्ण भट्ट का लालन-पालन उनकी ननसाल में ही हुआ [3] इनके नाना पण्डित अनन्तराम मिश्र इन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। नाना के घर का वातावरण शिक्षा और पठन-पाठन के अधिक अनुकूल था इस लिए विद्या-प्रेम इन्हें ननसाल से ही लगा।

पं० बालकृष्ण भट्ट के पिता व्यापारिक रुचि के व्यक्ति थे। वे स्वयं अशिक्षित थे इसलिये बालक बालकृष्ण को भी वे प्रारंभ से ही व्यापार में लगाना चाहते थे।[४] सच बात तो यह है कि बालक बालकृष्ण से उन्हें अधिक प्रेम भी नहीं था।[५] उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ननसाल में निरन्तर रहने के कारण बालक उनके घनिष्ठ सम्पर्क में नहीं आया। पं० बालकृष्ण भट्ट की माता बड़ी विदुषी महिला थीं।[६] वे इसे गौरव की बात नहीं समझती थीं कि उनका पुत्र पंसारी का बेटा कहलाए। इसलिए उन्होंने अपने बच्चे को शिक्षित बनाने का संकल्प कर लिया। उन्होंने घर पर ही बालक को स्वयं पढ़ाना प्रारंभ कर दिया और उसे हिन्दी तथा संस्कृत का साधारण ज्ञान करा दिया।[७] इस प्रकार अपने ननिहाल के सुसंस्कृत वातावरण में भट्ट जी १२ वर्ष की अवस्था तक संस्कृत ही पढ़ते रहे।[८] बालक बालकृष्ण प्रारंभ से

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) मूलचन्द भट्ट, पृ० ७।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट पृ० २८।

३. चित्र दर्शन, पं० महादेव भट्ट, प्रदीप, मई जून १८९६, पृ० २०।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित), लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १०।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित), लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १०।

६. हिन्दी कोविद रत्नमाला संक० कर्त्ता बाबू श्यामसुन्दरदास, संस्करण १९२४, पृ० २२।

७. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित), लक्ष्मीकांत, पृ० ९।

८. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, सरस्वती नवम्बर १९१४, पृ० ६३०।

ही बड़ा मेधावी और प्रतिभाशाली था। बारह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने एक काण्ड अमरकोष तथा तद्धितांत सिद्धान्त कौमुदी कंठस्थ करली थी।[१] इनकी धारणा शक्ति तो वास्तव में अद्भुत थी। जो बात इन्होंने दो चार बार सुनली फिर वह जीवन पर्यन्त इनके चित्त में स्थिर रही। इन्हें बचपन से ही कथा तथा पुराणादि श्रवण का अत्यधिक चाव था। जो सुनते थे उसे याद तो कर ही लेते थे साथ ही वक्ता के कहने की विशिष्ट तर्ज़ को यथावत नक़ल भी कर देते थे।[२]

भट्ट जी बाल्यावस्था से ही बड़े गंभीर स्वभाव के थे। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत इनके विषय में अक्षरशः चरितार्थ हुई। साधारणतः अल्पवयस्क बालक जिन खेलों को पसंद करते हैं उनसे ये प्रायः अपरिचित ही रहे।[३] हाँ इन्हें दो शौक अवश्य थे एक तो कबूतर उड़ाने का[५] दूसरा फुलवाड़ी लगाने का।[४] स्कूल से लौटने पर वे नित्य अपनी बाड़ी को सींचते थे और नए खिले एक एक फूल का हिसाब रखते थे। एक बार इनके मामा ने जो अवस्था में इनसे छोटे थे इनकी बाड़ी में से गुलाब का एक फूल तोड़ लिया। बालक बालकृष्ण ने स्कूल से लौटने पर फूल को गायब देख कुहराम मचा दिया, सारे घर को हिलाकर रख दिया। पं० लक्ष्मीकांत भट्ट के शब्दों में उस दिन उनके "मामा को ऐसा मालूम हुआ मानो उनकी नानी मर गई हो।"[६]

भट्ट जी की पूज्या माता बड़ी दूरदर्शिनी थीं। अपने युग में उन्होंने अंग्रेजी के अंकुरित होते महत्व को देखा और उसके भविष्य का भी मूल्यांकन अपने मन में कर लिया। उन्होंने सोचा कि अपने बच्चे को केवल संस्कृत पढ़ाने से वह 'पोंगा पण्डित' ही रह जायगा और युग के साथ अपने पैर मिलाकर नहीं चल सकेगा। यही सोचकर उन्होंने अपने पुत्र को स्थानीय मिशन स्कूल में दाखिल करा दिया। बालक प्रखर बुद्धि और प्रतिभाशाली तो था ही वह सदैव बाइबिल

---

१. **चित्र दर्शन, महादेव भट्ट, हि० प्रदीप, मई जून १८९६, पृ० २०।**
२. **पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ११।**
३. **चित्र दर्शन, महादेव भट्ट, हि० प्रदीप, मई जून १९१४, पृ० १९।**
४. **चित्र दर्शन, महादेव भट्ट, हि० प्रदीप, मई जून १९१४, पृ० १९।**
५. **पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ११।**
६. **पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ११-१२।**

की परीक्षा में प्रथम पुरस्कार का अधिकारी होता था। अंग्रेजी अध्यापक पादरी डेविड इस बालक से बहुत प्रसन्न था और पुस्तक तथा वजीफे आदि से इनकी सहायता किया करता था।[१]

जबतक स्नेहमयी जननी जीवित रहीं तब तक संसार की कठिनाइयों की कराल आंच बालक बालकृष्ण का स्पर्श न कर सकी। किन्तु उनकी आंखें बंद होते ही संकटों ने इस भोले मातृविहीन बालक को चारों ओर से घेर लिया। इनकी स्नेहशीला ममतामयी मा इनकी अठारह वर्ष की अल्पायु में ही[२] अपने भोले कोमल बालक का हाथ छोड़कर संग्रहणी के रोग में ६ महीने पीड़ित रह ३२ वर्ष की आयु में ही संवत् १९१८ में सुरधाम सिधार गईं।[3] और इस प्रकार बालक बालकृष्ण के लिये संसार अंधकारमय हो गया।

मां की मृत्यु के बाद का पं० बालकृष्ण भट्ट का जीवन कष्ट, करुणा, आर्थिक संकट और कठिनाइयों की एक लम्बी गाथा है। भट्ट जी को जो भी सुख मिला माँ के जीवित रहते ही मां की मृत्यु के बाद तो दुख और अभाव ही उनके चिर सहचर रहे।

माँ की मृत्यु के बाद इनकी मौसी ने इनकी देखरेख की। वे जन्म की विधवा थीं, बड़ी ही सीधी सादी। बालक बालकृष्ण को माँ की भाँति प्रेम करती थीं। घर की अवस्था अच्छी नहीं रही थी। नाना भी परलोक सिधार चुके थे। घर में इतना कड़ुआ तेल तक सुलभ नहीं था कि भट्ट जी पढ़ भी पाते। मौसी जब सो जाती तो बचा खुचा तेल ले आते और अध्ययन की अपनी अदम्य पिपासा को शांत करते। जगने पर मौसी बड़ी खीझतीं पर ये बुरा न मानते बल्कि उनको नाराज़ होते देख खूब हंसते।[४] भट्ट जी के एक प्रिय शिष्य माधव शुक्ल ने भट्ट जी की मृत्यु पर लिखी अपनी शोकांजलि में उनकी इस स्थिति की ओर इंगित किया है :—

पितृ वंश था धनी, सहोदर सुख करते थे।
आप अकेले मातुल गृह में ही रहते थे॥
पैसा था ही नहीं कहीं से तेल माँग कर।
भोजन कर इक समय रात भर जाग-जागकर॥

---

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १२।

१. हितकारिणी, मधुमंगल मिश्र, सितम्बर १९१४, पृ० २६४।

२. चित्र दर्शन, महादेव भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मई जून १९९६, पृ० २०।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २३।

ये वीर तपस्वी इस तरह।
निज लगा रहा उद्देश्य नित ।।
पर डिगा नहीं प्रण से कभी।
कष्ट सहन कर भी अमित ।।[१]

पं० बालकृष्ण भट्ट को अंग्रेजी अध्ययन के लिये प्रेरित करने वालों में एक पं० देवकरण शुक्ल भी थे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और कचहरी में मुलाज़िम थे। इन्होंने भट्ट जी को केवल प्रेरणा ही नहीं दी अपितु कुछ दिन भट्ट जी को पढ़ाया भी।[२]

भट्ट जी तिलक लगाकर मिशन स्कूल जाया करते थे। बालक बालकृष्ण की हिन्दू धर्म में यह निष्ठा पादरी डेविड को बहुत खलती थी।[३] पादरी लोग भारतीय बच्चों को सहज स्नेह करते हों सो बात नहीं थी उनका यह प्रेम भी अर्थगर्भित था। असल में सभी मिशनरी संस्थाओं का पहला उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था और दूसरे कार्य तो बाहरी दिखावे के लिये थे। इस विषय में अबतक ईसाई या मिशनरी संस्थाओं की नीति पूर्ववत् है। तिलक लगाने पर भट्ट जी का डेविड से कई बार विवाद हो जाता था लेकिन पं० बालकृष्ण भट्ट कभी भी ईसाईयों के फुसलाने या प्रभाव में न आए।

मिशन स्कूल के भट्ट ज़ी के सहपाठियों में एक नवयुवक गंगाराम चौबे भी थे। भट्ट जी की इनसे बड़ी मित्रता थी। चौबे जी उन व्यक्तियों में से थे जो ज्ञानप्राप्ति के लिये अपने पुरुषार्थ और परिश्रम से अधिक गुरु के आशीर्वाद में विश्वास रखते हैं। डेविड साहब की उन दोनों बालकों पर दृष्टि थी। जैसे भी हो वे इन्हें ईसाई बनाना चाहते थे। आंशिक रूप से डेविड साहब का षड़यंत्र सफल भी हो गया। वे गंगाराम चौबे को ईसाई बनाने में सफल हो गये। ईसाई होने के बाद गंगाराम चौबे रेवेरेंड गंगाराम के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे ईसाई हो जाने के बाद भी प्रेमवश भट्ट जी के यहाँ अपने बाल बच्चों को लेकर आया करते थे और कहा करते थे कि अब भी स्नान करने के पश्चात् मेरे मुख से गायत्री मंत्र अनायास निकल पड़ता है। रेवेरेंड गंगाराम ने एक बार हिन्दू होने की इच्छा प्रकट भी की किन्तु हिन्दू समाज का प्रवेश द्वार ऐसा विचित्र है

१. शोकांजलि, माधव शुक्ल, मर्यादा जून १९१४, पृ० १२७।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १४।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १२।

कि उसमें से बाहर जाने का मार्ग तो है अन्दर आने का मार्ग है ही नहीं। हिन्दू समाज ने गंगाराम को ग्रहण नहीं किया।[1]

डेविड पादरी अभी निराश नहीं हो गया था और पं० बालकृष्ण भट्ट को ईसाई बनाने की उसकी इच्छा अभी निर्जीव नहीं हुई थी। भट्ट जी मिशन स्कूल में एन्ट्रेंस तक पढ़े और उसके बाद डेविड पादरी ने अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति मिशन स्कूल में ही करादी। यह उसका अन्तिम दाँव था किन्तु फिर भी पं० बालकृष्ण भट्ट पर ईसाईपन का कोई रंग नहीं चढ़ा यह देखकर सभी ईसाई उनसे जलने लगे और नित्यप्रति के वादविवाद अधिक उग्र और तीखे होने लगे। यह देखकर पं० बालकृष्ण भट्ट ने मिशन स्कूल की नौकरी से त्याग पत्र दे दिया।[2]

इसके पश्चात् भट्ट जी पुनः संस्कृत का गंभीर अध्ययन करने में जुट गए और इन्होंने संस्कृत वाङ्मय विशेषकर साहित्य का खूब मंथन किया। पण्डित बालकृष्ण भट्ट के अगाध संस्कृत ज्ञान का बहुत कुछ श्रेय पं० मदनमोहन मालवीय के पूज्य पितृव्य श्रीयुत पं० गदाधर मालवीय को है। इन्हीं के योग्यता पूर्ण पथ-प्रदर्शन, सहायता और आशीर्वाद ने पं० बालकृष्ण भट्ट के संस्कृत अध्ययन का मार्ग अत्यंत सरल और सुखद बना दिया था।[3]

भट्ट जी का पारिवारिक तथा गृहस्थ जीवन :--पं० बालकृष्ण भट्ट को व्यापार विमुख देख पिता ने समझ लिया कि लड़का बिगड़ गया। बस एक ही मार्ग रह गया था कि लड़के की शादी करदी जाय। शायद सँभल जाय। इतिहास प्रसिद्ध स्थान कड़े के निवासी पं० माधवप्रसाद दुबे के यहाँ इनकी शादी निश्चित हुई। भट्ट जी के श्वसुर माधवप्रसाद दुबे आबकारी विभाग में दरोगा थे। कड़े में उनका बड़ा मान था। उनके चौदह सन्तान हुईं पर कोई जीवित न बची। बस एक लड़की रमादेवी जीवित बची थी जिसका पाणिग्रहण भट्ट जी के साथ हुआ। लेकिन आश्चर्य की बात यह कि दुबे जी के पचास वर्ष के होने पर उनकी स्त्री के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उनके घनिष्ठ मित्र मौलवी फरीदुद्दीन ने पण्डित जी से आग्रह किया कि क्यों न बच्चा उनके ही यहां उत्पन्न

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १४।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत, भट्ट, पृ० १५।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, सरस्वती नव० १९१४, पृ० ६३०।

हो और वहीं पले (दुबे जी के घर उत्पन्न हुई संतान बचती नहीं थी) ऐसा ही हुआ पुत्र मौलवी साहब के घर उत्पन्न हुआ और बालक अमरू खाँ बड़ा होकर अमरनाथ बन गया।[1]

भट्ट जी की पत्नी श्रीमती रमादेवी एक सीधी सादी, सुशील, गंभीर, सहिष्णु और पतिपरायण महिला थीं। भट्ट जी के दीर्घ नीरस, दुःखपूर्ण जीवन में ये ही सरसता का अव्यय स्रोत थीं। घर के नित्य नए झगड़ों की आँच ये भट्ट जी तक न आने देती थीं। सब कुछ स्वयं सह लेती थीं और मूक रहती थीं। भट्ट जी के साहित्यिक जीवन पर भी उनकी पत्नी का कम प्रभाव नहीं है। जीवन और साहित्य को भट्ट जी अलग मानते ही नहीं थे इसलिये उनके जीवन को ज्यों का त्यों साहित्य में ढूढ़ लेना अधिक कठिन नहीं है। भट्ट जी ऐसे परिवार में उत्पन्न हुए थे जहाँ स्त्रियों के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा दी गई व्यवस्था ही प्रमाण और अनुकरणीय समझी जाती थी। इस महिला के सेवा और प्रेम ने इस महान् साहित्य मर्मज्ञ और क्रांतिकारी विचारक को कितना प्रभावित किया होगा यह सरलता से जाना जा सकता है। गार्हस्थिक प्रेम और सुख की अभिव्यक्ति में भट्ट जी का अपना परिवार बोलता है। देखिए स्त्री और गृहस्थी के विषय में लिखी गई भट्ट जी की निम्नांकित पंक्तियाँ उनके व्यक्तिगत दाम्पत्य जीवन और गृहस्थी का प्रतिनिधित्व करती हैं।

"सती सुघर और शर्मिष्ठा कुलवन्ती स्त्रियों से शोभित गरीबी का घर भी रँजा पुजा मालूम होता है। गृहस्थी के सब सुख और शान्ति ऐसे ही घर में पाए जाते हैं। अच्छी रीति नीति साधु आचरण शिष्टता और भलमनसाहत का हृदय स्थल भी हम ऐसे ही घरों को पाते हैं। दिन भर के थके थकाए गृहस्थ को चैन की मीठी नींद ऐसे ही घरों में मिलती है।"[2]

संसार को सुख का घर बनाने का वास्तविक श्रेय स्त्रियों को ही है। इसलिये कई स्थानों पर भट्ट जी ने प्राचीन स्त्री-विद्वेषी स्मृतिकारों को कड़ी फटकार भी बताई है।[3]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १७।

२. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर ८९, पृ० १०।

३. "हमारे यहाँ के ग्रन्थकार और धर्मशास्त्र गढ़ने वालों की कुंठित बुद्धि में न जानिए क्यों यही समाया हुआ था कि स्त्रियाँ केवल दोष की खान हैं गुण इनमें कुछ हई नहीं इसीसे चुन चुन उन्हें जहाँ तक ढूँढ़े मिला केवल दोष ही दोष इनके लिख गए और जहाँ तक इनके हक में बुराई और अत्याचार करते

इसी सुखी दाम्पत्य जीवन का ही प्रभाव था कि भट्ट जी इस संसार को सुख का सार मानते थे और संसार को नश्वर या दुःख का सागर कहने वालों को फटकारते थे :—

"संसार सुख संदोह का परमोत्कृष्ट मंदिर है हम अपने कुढंग और कुचरित्र से अपवित्र कर अपने जीवन को दुःखपूर्ण कर रहे हैं।"[१]

पिता की यह आशा कि लड़का शादी के बाद सँभल जायगा सत्य सिद्ध न हुई। चाचा ने बड़े प्यार से समझाया कि बेटा दुकान पर बैठना प्रारंभ करो। पिता ने धमकी दी कि अगर पढ़ने लिखने का यह बुरा व्यसन छोड़कर दूकान पर न बैठोगे तो घर से निकाल दूँगा।[२] भट्ट जी दो चार दिन दूकान पर गए भी परन्तु उन्हें शीघ्र ही यह पता लग गया कि वे इसके लिये बनाए ही नहीं गए हैं। बिना बेईमानी और झूठ के व्यापार में उन्नति आश्चर्य की बात ही मानी जाती है। झूठ और बेईमानी की साधना कर आर्थिक उन्नति की चोटी पर पहुँचना भट्ट जी की पवित्र आत्मा को असह्य सा लगा। एक वक्त भोजन किन्तु साहित्य साधना करना ही उन्होंने चुना। पिता से स्पष्ट कह दिया कि उनसे यह सब कुछ नहीं होगा। भट्ट जी घर में रहते हुए भी बहिष्कृत से हो गए किन्तु इसका मूल्य चुकाना पड़ा उनकी निरीह पत्नी को जिसे नित्य ही तिरस्कार और अपमान के कड़ुए घूंट पीने पड़ते थे।

अन्त में भट्ट जी को व्यापार के लिए बिल्कुल अयोग्य समझ पिता ने छोटे पुत्र बालमुकुन्द भट्ट को दुकान पर भेजना प्रारम्भ किया। बालमुकुन्द भट्ट तो मानो इस काम के लिए बनाए ही गए थे। उन्हें विद्या से ऐसे ही चिढ़ थी जैसे पं० बालकृष्ण भट्ट को व्यापार से। बालमुकुन्द भट्ट के दुकान पर जाते ही उसकी रंगत ही बदल गई। उसी समय संयोग से दक्षिण में एक बड़ा दुर्भिक्ष

बना भरसक न चूके। और इन्हें हर तरह पर घटाया, कानून में इनका सब तरह का हक्क मार दिया। धर्म सम्बन्धों में इन्हें प्रधान न रखा।...मनु जिसके समान चोखा और हर एक समय में बरतने के लायक पक्षपात विहीन शास्त्र प्रणेताओं में दूसरा किसी का धर्म शास्त्र ऐसा नहीं है उन्होंने भी शूद्र और स्त्रियों की सब तरह पर रेढ़ मारा है।...कौन न कहेगा कि उनके धर्म शास्त्र में यह एक कलंक का टीका है।"

'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून ९१, पृ० २९।

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर ९५, पृ० १०।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १९।

पड़ा। बालमुकुन्द ने यहां से ६० सेर का चना खरीद कर उसको शोलापुर, विलारी आदि में ६ सेर का बेचा और लगभग १ लाख रुपया कमाया।[१] इसी समय रेलवे के अर्थी के ठेके तथा सट्टे आदि में उन्होंने १ लाख अलग पैदा किया।[२] फिर क्या था घर में बालमुकुन्द भट्ट की तूती बोलने लगी। शादी बालमुकुन्द जी की हो गई थी। अतः छोटी बहू घर की मालकिन बन गई। जितना अन्तर पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० बालमुकुन्द भट्ट में था[३] उतना ही अंतर उनकी पत्नियों में भी था।[४] घर में भट्ट जी निखट्टू और निकम्मे समझे जाते थे। घर में इनकी घोर उपेक्षा की जाती थी। ये बेचारे मिशन स्कूल की अध्यापकी से जो २०, २५ रुपया माहवार कमाते उसे अलग जमा करते जाते थे। कभी इनकी समझ में यह बात नहीं आई कि जिस घर में लाखों की सम्पत्ति है उसमें २०, २५ रुपया देने से क्या बढ़ जायगा पर घर वाले तो तिल को ताड़ बनाया ही करते थे। फिर भी भट्ट जी ने जो कुछ कमाया उससे एक मकान लेकर अपने पिता और चाचा को सौंप दिया। किन्तु पिता का परितोष इससे भी नहीं हुआ।[५]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २०।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, ६३१।

३. "सुतराम इस डंठरी के दोनों गुलाब सिंह वृत्ति वाले अवश्य हुए। एक बुद्धि तत्व के विकास में सिंह हुआ, दूसरा सांसारिक व्यौहार, धनोपार्जन इत्यादि में। अन्तर इन दोनों में केवल यह रहा कि एक के बुद्धि तत्व का विकास सदा देशोपकार अपनी हानि सहकर भी दूसरे को फायदा पहुँचाने की ओर था दूसरे की बड़ी सम्पत्ति भी इसके विरुद्ध थी।"

'चित्र दर्शन' महादेव भट्ट, 'हिन्दी प्रदीप', मई जून १८९६, पृ० १८।

४. घर में छोटी बहू आ चुकी थी देहात के एक दरिद्र की लड़की थी मायके से दूज के चांद की तरह आई और कुछ ही दिनों में यहाँ पूनों का चाँद बन गई। रंग गोरा गुलाब सा चेहरा, आँखों में मद मुख पर वही विषमय सौंदर्य, होंटों पर मुस्कराहट इस तरह खेलती थी जैसे लाल बादलों में बिजली पर हृदय कलुषित घोर तर काला ऐसा मालूम होता कालिमा कहीं स्थान न पा यहीं शरण ले लिया है घर में इस तरह रहने लगी जैसे फूलों में छिपी नागिन।"

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १९।

५. पं० बालकृष्ण, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३१।

घर के लोग भट्ट जी से जलते थे इसका कारण उनके रूढ़ि विरोधी क्रांतिकारी विचार भी थे। जब इनके पिता बेनीप्रसाद दूसरा विवाह करने को उद्यत हुए तो पं० बालकृष्ण भट्ट ने उनके पैर पकड़ लिए और ऐसा न करने की प्रार्थना की।[१] इसके अतिरिक्त वे बाल विवाह का खुलकर विरोध करते थे और विधवा विवाह का समर्थन। फलतः घर में वे क्रिस्तान, नास्तिक आदि नामों से प्रसिद्ध हो गए।[२] केवल उनकी ही नहीं उनके बच्चों तक की घर में उपेक्षा होने लगी।[3] जब वे घर में आते तो इशारे होने लगते, कानाफूसी होने लगती। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि अनुज बधू अपने जेठ पर ही व्यंग्य बाणों की वर्षा करने लगी फिर जिठानी की दशा का तो पूछना ही क्या।[४]

---

१. "कोई लड़का इतना बेअकल नहीं हो सकता कि अपने बाप को दूसरा विवाह करने से रोके जब वे मुगली जूता, तंजेब का कुर्ता, सिर पर सलमा और आँखों में सुरमा लगा दूसरे विवाह को चलने को तैयार हो गए। यह उनका पैर पकड़ कर बैठ गया। यह लड़का था या रेल का बन्द फाटक।"

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट पृ० २८।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १६१४, पृ० ६३१।

३. "छोटी बहू के बच्चे गुड़ियों की तरह सजे हुए चारों ओर किलकारी मार खेलते, बुलबुल की तरह चहकते फिरते थे। बड़ी बहू के बच्चे ऐसे हरे भरे पौधे थे जिनकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नसीब न हुआ हो। जो फूलना चाहते हों पर मुर्झा गए हों। छोटी बहू अपने बच्चों को मिठाइयाँ देती और संकेत द्वारा समझा देती कि बड़ी बहू के बच्चों की तरफ देख कर खाँय। बड़ी बहू के बच्चे कोई जापानी मोम के पुतले तो थे नहीं कि अपने भाई-बहनों को हस-हँस और उछल-उछल कर मिठाइयाँ खाते देखें और वैराग्य ले लें। मजा यह है कि जब वे उन्हें चिढ़ा-चिढ़ा कर ललचाते और खाते तो ये बच्चे भी बिरझा जाते और रो-रो कर सारे घर को सिर पर उठा लेते। पर वह अबला क्या करे। उसका हृदय अपने बच्चों के लिए ऐंठ-ऐंठ कर रह जाता था अपने बच्चों को मारती पीटती थी और कोसती। उसके पास एक पैसा न था कि रेवड़ी खरीद सके, घर में एक डली गुड़ न था कि थम्हा कर उन रोते हुए खिलौनों को चुप करा लेती।"

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २४।

४. "भट्ट जी रोज घर ही पर खाना खाते पर जैसे शत्रु के घर। मकान में पहुँचते मालूम पड़ता कि घर में साँड घुस आया है। चारों ओर से काना-

आखिर एक दिन तनाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और छोटी बहू ने जो घर की वास्तविक मालकिन थी स्पष्ट शब्दों में घोषणा करदी :—

"अब समझाने बुझाने से काम न चलेगा। सहते-सहते हमारा कलेजा पक गया। कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमावे और पैसे-पैसे को तरसे, तन ढांपने को वस्त्र तक न मिले कोई सुख की नींद सोए और हाथ बढ़ा के खाए। ऐसी अंधेर नगरी में अब हमारा गुजारा न होगा कह कर फूट-फूट कर रोने लगी और घर में कुहराम मच गया। यह कल्पना नहीं दैनिक घटना थी जिससे ऊब कर भट्ट जी को एक दिन घर छोड़ देना पड़ा।"[1]

भट्ट जी के पूरे साहित्य में संयुक्त परिवार और बाल्य विवाह के प्रति तीव्र घृणा बिखरी मिलती है इसका वास्तविक आधार उनका अपना ही घर था यह अत्यंत स्पष्ट है। तेतीस वर्ष की हिन्दी प्रदीप की संचिकाओं में शायद ही कोई अंक ऐसा हो जिसमें संयुक्त परिवार तथा बाल्य विवाह के विरुद्ध उनका लेख न हो। इस प्रकार के सब लेखों में लेखक का व्यक्तिगत अनुभव अभिव्यक्ति की तीव्रता के रूप में प्रकट होता है।

फसी होने लगती, कटु वाक्यों से उनका सत्कार होने लगता, ऊसर खेत है, धोबी का कुत्ता घर का न घाट का, इत्यादि। पर इन कटु वाक्यों को वह दूध के समान पी जाते। उन पर वाक्यों का कोई असर न होता। पर छोटे भाई की स्त्री उनकी ओर से निराश न हुई थी। ऐसा कोई विरला ही दिन जाता कि भट्ट जी को उनके तीखे बैन न सुनने पड़ते। यह विषैले शर कभी-कभी उनके हृदय में चुभ भी जाते किन्तु वह घाव रात भर से अधिक न रहता। भोर होते ही थकान के साथ यह पीड़ा भी जाती रहती। सबेरा हुआ हाथ मुँह धोया, संध्या पूजन किया और मित्रों की ओर चल खड़े हुए। घर की औरतें व्यंग्य वर्षा किया करतीं। बूढ़ा बाप पैंतड़ा बदलता ही रहता, भाई लोग तीखी निगाह से घूरते रहते, पर वह अपनी धुन के पक्के इन लोगों के बीच से इस तरह शान से चले जाते जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से निकल जाता पर इसका दण्ड उनकी धर्मपत्नी बेचारी को भोगना पड़ता। कड़ी महनत के घर के जितने काम होते सब उन्हीं के सिर थोपे जाते। उपले थापती, चौका बर्तन करती, आटा पीसती और इतने पर भी देवरानी तथा अन्य स्त्रियाँ सीधे मुँह से बात न करतीं और वाक्य बाणों से छेदा करतीं।"

पं बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २१।

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २५।

छोटे भाई और उसकी पत्नी से भट्ट जी को जीवन भर कष्ट मिला। भट्ट जी पर ही लिखे गए "चित्र दर्शन" नामक निबंध में उनके पुत्र श्री महादेव भट्ट ने स्पष्ट लिखा है :—

"सहोदर तथा तत्पत्नी दोनों ने इनको इतना क्लेश दिया और इतना इनका अपमान किया कि उसे लेखनी बद्ध कर दिखावें तो पढ़ने वाले चकित हो उठें। उनके दुःख की गाथा सुन पत्थर भी पसीज उठे "अपि ग्रावा रोदत्यपि रलति वज्रस्य हृदयम्" तब सचेतन का क्या कहना।.........लौकिकी गाथा 'भाई ऐसा मित्र नहीं भाई ऐसा शत्रु भी नहीं' बहुत ठीक है। जिन भाग्यवानों को भाई मित्र रूप है उनको स्वर्ग सुख भी तुच्छ है इनके से अभागे को भाई भी सौ शत्रु के एक शत्रु हुए।"[1]

भाई द्वारा भट्ट जी की उपेक्षा में उनके पिता का भी हाथ था। भट्ट जी इस बात को जानते भी थे इसलिये परिस्थितियाँ ऐसी बनती गईं कि भट्ट जी का युवा हृदय पुरातनता के प्रति विद्रोही बन गया। उस युग में भट्ट जी के समान उग्र लेखक और प्राचीनता के प्रति विद्रोही शायद ही दूसरा लेखक मिले। उस समय साफ और उग्र बात कहना ही भट्टपन समझा जाता था। माँ बाप तक के विरोध में सच्ची बात कहने वाले शायद भट्ट जी पहले व्यक्ति थे। रासबिहारी शुक्ल ने एक स्थान पर लिखा है :—

"आप अक्सर कहते थे कि हिन्दुस्तान के माँ बाप गोली मार देने लायक हैं जो अपने लड़कों की शिक्षा आदि का कुछ ख्याल न करके उनकी शादी बचपन में ही कर देते हैं मानो अपने लड़कों की शादी कर देना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है।"[2]

गृह त्याग और आर्थिक संकट :— वर्षों घर वालों की घृणा और उपेक्षा सहने के पश्चात् अपना समस्त धैर्य और सहिष्णुता चुक जाने पर अंत में एक दिन भट्ट जी ने अपना पितृ गृह छोड़ ही दिया। और निज की तीन सौ रुपयों की कमाई से खरीदे नए घर में चले आए। जिस घर में लाखों की सम्पत्ति हो उसके विषय में यह सोचना स्वाभाविक है कि पुत्र के अलग होते समय पिता ने कम से कम ८, १० हजार की सम्पत्ति तो दे ही दी होगी किन्तु पं० बालकृष्ण भट्ट के निष्कलंक और महान् जीवन में कलंक का यह टीका लगना नहीं था।

---

१. **'चित्र दर्शन' महादेव भट्ट, 'हिन्दी प्रदीप' मई जून १८९६, पृ० २१।**

२. **पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती', नव० १९१४, पृ० ६३१।**

घर से अलग होते समय उनके पास 'सिवा दो एक लोटे और निज के तथा बाल बच्चों के कपड़े' आदि के और कुछ भी न था।[1]

पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने अपने पिता की जीवनी में उनके गृह त्याग और तत्पश्चात् भयंकर आर्थिक संकट का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।[2] नए घर में पहुँचने पर दो ही तीन दिन में इस परिवार के भूखों मरने की नौबत आगई थी और भट्ट जी की माई ने समय पर इन लोगों का उद्धार किया। किन्तु दो चार दिन बीतने पर फिर वही समस्या सामने आगई और दरिद्रता तथा भूख मुँह फाड़ कर इस छोटे परिवार को समाप्त करने को तैयार हो गई। अबकी बार भट्ट जी के श्वसुर ने इस परिवार का उद्धार किया और महीनों तक के लिये इनके भोजन का प्रबंध कर दिया।[3]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० सुन्दरलाल, 'विशाल भारत', जून १९२८, पृ० २६।

२. "भट्ट जी तथा उनकी पत्नी ने बूढ़ी दादी को प्रणाम किया। चाची ने एक रुपये और गुड़ चावल से स्त्री की गोद भरी। और दो रुपये दे तिलक कर चाचा ने आशीर्वाद दिया। भट्ट जी पैर पकड़ रोने लगे मानो बेटी विदा हो रही हो। लड़की ने गठरी शिर पर रखी, लड़कों ने एक दूसरे का हाथ थामा। भट्ट जी के नेत्रों में बिछोह के आँसू थे और स्त्री की गोद में बच्चा। ये घर से निकल पड़े मानो कोई परिवार तीर्थ यात्रा के लिये निकल पड़ा हो। चारों ओर से आँखें झाँकती थीं। जिनमें प्रेम था और सद्भावना। भाई और बाप ने भी देखा पर बंद आँखों से जिनमें सहानुभूति न थी।... चिराग़ जलते जलते उस नए घर में पहुँच इस तीन रुपये की पूंजी वाले परिवार ने चार या पाँच दिन बड़ी मौज से काटे पर अब चले तो कैसे चले।

जीवनी (पं० बालकृष्ण भट्ट) अप्रकाशित लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ४९।

३. "एक जून खाकर ही रहने लगे। पर लड़कों का गरीबी तथा एक वक्त खाने से क्या सम्बन्ध है। इस समस्या को वे हल न कर सके और चिल्ला चिल्ला कर घर को शिर पर उठाने लगे। एक दिन इनकी (पं० बालकृष्ण भट्ट की) मासी आईं चूल्हा न जला था। छोटे छोटे बच्चे मारे भूख के बिलबिला कर रो रहे थे। आकर देखा उन्हें बड़ा दुःख हुआ और इन पर दया कर दो रुपये, एक अच्छा सा सीधा और दो चार बर्तन ला कर इन्हें दिए। जिससे इनका फिर दो चार दिन का काम चला। पर भट्ट जी के श्वसुर को जो जिला इलाहाबाद परगना कड़ा के एक धनी जमीदार थे जब सारा हाल मालूम हुआ,

रास बिहारी शुक्ल के लेख से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। वे लिखते हैं :—

"येन केन प्रकारेण ये किसी तरह गृहस्थी चलाने लगे भाग्यवश इन्हें इनकी सहधर्मिणी भी इनके दुःख सुख में साथ देने वाली मिल गई थीं। ये और इनकी पत्नी दोनों कई वर्ष तक काफी आमदनी न होने से एक ही जून खाकर रहते थे।........इधर इनके घर वाले लाखों की सम्पत्ति के मालिक बने हुए गुलछर्रे उड़ाते थे तब से यावज्जीवन भट्ट जी को आर्थिक क्लेश बना रहा। ऐसा कभी न हुआ कि भट्ट जी के पास सौ दो सौ रुपया नकद बना रहता।"[1]

जीवनयापन के लिये भट्ट जी को क्या क्या करना पड़ा, कितने कष्ट सहने पड़े यह सब वर्णनातीत है।

मिशन स्कूल की भट्ट जी की नौकरी पहले ही छूट गई थी। जब तक पितृ गृह में थे तब तक किसी प्रकार (चाहे अपमान के साथ ही सही) रोटी का प्रबंध तो था। किन्तु घर से अलग होते ही, रोटी की समस्या, बच्चों के पालन पोषण की समस्या और जीविका की समस्या आदि अनेकों समस्याओं ने उन्हें घेर लिया। भट्ट जी अकर्मण्य या पलायनवादी व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने कठिनाइयों की ओर कभी अपनी पीठ नहीं की सदैव छाती ही अड़ाई।

भट्ट जी को अपने जीवन में यदि कुछ सहायता और सुख मिला तो अपने मित्रों से घर के लोगों से नहीं। इनके पूज्य गुरु संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्रीयुत गदाधर जी ने भी इनकी बड़ी सहायता की। पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने अपने पिता की जीवनी में इन सबकी चर्चा की है।[2]

छकड़ों पर लादकर कुल सामान पहुँचा दिया जो महीनों के लिये इनके खाने पीने को काफी हो गया।"

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ४६-५०।

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, सरस्वती, नव० १९१४, पृ० ६३१।

२. गुरुवर की इन पर असीम कृपा थी जिनके ये आजन्म ऋणी रहे। इनको चिन्तित देख तथा कठिन दिन बिताते देख अपने यजमानों में इनको पूजा-पाठ में लगा दिया जिसको ये कुछ दिन निबाहते रहे और इसीके द्वारा इनको कर्मकाण्ड और ज्योतिष का अच्छा ज्ञान होगया। हितैषियों की कमी न थी। मुंशी रामप्रसाद, मुंशी ज्वालाप्रसाद तथा मुंशी हनुमान प्रसाद जो उस समय के प्रधान वकीलों में से थे और इनके सहपाठी भी थे, ने बहुतेरा इनको समझाया और जोर दिया कि कानून (लॉ) की पुस्तकें पढ़ इम्तहान दे डालें और

भट्ट जी के कुछ हितचिंतकों ने उन्हें कलकत्ता से स्टेशनरी का सामान लाकर यहाँ (इलाहाबाद में) बेचने का परामर्श दिया यह परामर्श भट्ट जी की समझ में आगया और वे दो चार बार कलकत्ते गए भी, सामान लाकर मित्रों में बेचा भी, किन्तु व्यापारी तो थे ही नहीं इसलिये शीघ्र ही 'सारी लागत मुनाफा हो गई और पेट में चली गई ।'[१] बाबू श्यामसुन्दर दास[२], रासबिहारी शुक्ल[३] तथा मधु-मंगल मिश्र[४] आदि सभी ने इस तथ्य का उल्लेख किया है ।

कुछ दिन भट्ट जी गुर्च का सत्त निकाल कर बेचा करते थे । कूटने छानने में बड़ा परिश्रम पड़ता था इसलिये थक जाते थे किन्तु थोड़ा सुस्ताने के पश्चात् फिर वही कार्य आरम्भ कर देते थे । यही नहीं स्थिति यहाँ तक जा पहुँची थी कि भट्ट जी की पतिपरायणा, सुशीला पत्नी को अपने आभूषण तक बच्चों के भरणपोषण के लिये बेचने पड़े थे । अपने पिता की जीवनी में पं० मूलचन्द भट्ट ने इसकी चर्चा की है ।[५]

घर पर तो नहीं पर दुकान पर अपने पिता और चाचा से मिलने भट्ट जी कभी-कभी चले जाया करते थे ।[६]

मित्रों ने सलाह दी कि अपने भाई से दो-ढाई सौ रुपये लेलो और कलकत्ते से इकट्ठा सामान खरीद लाओ तो अधिक लाभ रहेगा । पहले तो भट्ट जी की

वकालत शुरू करदें । पूजनीय पं० लक्ष्मीनारायण व्यास ने वैद्यक करने में पूरी सहायता करने का वचन दिया । पर.......जिसका मस्तिष्क साहित्य की गङ्गा में डूब गया है जिसका हृदय देश और समाज के रङ्ग में रँग चुका है उसके प्रति ये सब बातें करना पतिव्रता स्त्री के आगे प्रेम प्रकट करना था ।

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० २९ ।

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० १० ।

२. हिंदी कोविद रत्नमाला, प्रथम भाग, सङ्कलनकर्ता बाबू श्याम सुन्दर दास, संस्क० १९२४, पृ० २३ ।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल सरस्वती नवम्बर १९१४, पृ० ६३१ ।

४. " " मधुमङ्गल मिश्र बी० ए०, हितकारिणी, सित० १९१४, पृ० २६५ ।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) मूलचन्द भट्ट, पृ० ७ ।

६. " " " (अप्रकाशित) लक्ष्मीकान्त भट्ट, पृ० ५० ।

आत्मा ने स्वीकार नहीं किया किन्तु अपने बच्चों के नित्यप्रति के कष्ट का विचार कर भट्ट जी मन मारकर आखिर एक दिन अपने भाइं के पास चले ही गए और अपना आशय कहा। भाई ने कहा तुम कलकत्ते जाओ मैं अपने कलकत्ते वाले आढ़तिया को लिख दूँगा। वहाँ से तुम रुपया ले लेना और वहीं से जो कुछ सामान लाना हो ले आना।"[१]

भट्ट जी भोले भाले, निश्छल और सच्चे आदमी थे। छोटे भाई की बात पर विश्वास कर वे प्रसन्नता पूर्वक कलकत्ते चले गये। वहाँ जाकर आढ़तिए से उन्होंने रुपये मांगे उसने इस विषय में किसी भी प्रकार की सूचना से अनभिज्ञता प्रकट की और भट्ट जी से तीन चार दिन जबतक कोई सूचना आए प्रतीक्षा करने के लिये कहा। किन्तु जब कोई सूचना नहीं आई तो भट्ट जी ने स्थिति को स्पष्ट करने के लिये एक पत्र अपने भाई को लिखा।[२] पत्र का उत्तर आया अवश्य पर आढ़तिए के पास जिसमें सौ रुपये का सामान भट्ट जी को दिलाने के लिये

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५१।

२.

कलकत्ता
३० सितम्बर १८८३

प्रिय भाई बालमुकुन्द,

मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया हूँ। तुमने किस प्रकार से अपने मुँह से कहा था कि वहां से रुपये की तुमको भरपूर सहायता मिल जायगी। मैं कोई फाँसी तो तुम पर लगाए नहीं था जो अपनी जान छुड़ा मुझको इस तरह टरकाया। मैं केवल तुम्हारी बातों पर विश्वास करके बिना किसी प्रकार का रुपये का प्रबन्ध किए ही यहाँ चला आया। यहाँ आने पर मुझे रुपए देने से साफ इन्कार है। मैं अब तक आशा किए था कि कोई पत्र तुम अपने आढ़तिए को रुपये देने के विषय में लिखोगे। पर अब तक तुमने कुछ भी यहाँ नहीं लिखा। अब तुम्हीं बताओ कि मेरा काम कैसे चले। केवल तुम्हारी बात में आ मैं यहाँ अधर में लटका हुआ हूँ। खैर अधिक नहीं तो केवल दो सौ रुपये मुझे उधार यहाँ दिलवादो। फिलहाल हम अपना काम तो यहाँ चलावें। शेष कुशल है। पत्रोत्तर शीघ्र देना

तुम्हारा
बालकृष्ण

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५१।

लिखा था ।[१] भट्ट जी के सहज विश्वास और स्वाभिमान को यह बहुत बड़ी चोट थी उसे वे सहन न कर सके और बैठकर रोने लगे । संयोग से इनके एक बचपन के मित्र इन्हें वहाँ मिल गए और इनकी करुण कथा से द्रवित हो उन्होंने इन्हें यथेष्ट धन दे दिया जिससे अपना मनोनुकूल सामान खरीद ये इलाहाबाद लौटे ।

अबकी बार भट्ट जी ने बड़ी होशियारी के साथ काम चलाया । अपने मित्रों को जिन दामों पर चाहते सौदा बेचते और वे सहर्ष ले जाते । भट्ट जी ने अपना कर्जा चुका दिया शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे । कुछ धन संग्रह कर एक लड़की का ब्याह और एक लड़के का उपनयन संस्कार भी कर डाला ।[२]

"इस प्रकार ज्योतिष, वैद्यक और फुटकर रोजगार कुछ दिन लों इनका सहारा करते रहे ।"[3]

संस्कृत अध्यापन :— इस प्रकार गृहस्थी का भरण पोषण करते हुए तीन चार वर्ष बीत गए । इसी समय भट्ट जी के एक मित्र और हितैषी पं० शिवराखन शुक्ल जो इलाहाबाद के सी० ए० बी० हाई स्कूल के संस्थापक थे भट्ट जी के पास आए और उपर्युक्त स्कूल में संस्कृत के हैड पण्डित का पद स्वीकार करने की उनसे प्रार्थना की ।[४] पहले तो भट्ट जी की समझ में न आया पर डा० जयकृष्ण व्यास तथा अपनी पत्नी के विशेष जोर देने पर तैयार हो गये ।[५] यह संवत् १९४५ के लगभग की बात है ।[६]

---

१. उनसे कहो यहाँ चले आवें जो कुछ सौदा होगा यहाँ आने पर मन-माफिक यहीं से बैठे-बैठे मँगवा दिया जायगा । और जब यह न मानें और यहाँ आने पर राजी न हों तब जो जो सौदा ये कहें उन्हें रुपया न देकर १०० रुपया का सौदा ही खरीदवा देना ।

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५२ ।

२. ,, ,, ,, पृ० ५२ ।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमङ्गल मिश्र बी० ए०, हितकारिणी, सित० १९१४, पृ० २६६ ।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, सरस्वती, नव० १९१४, पृ० ६३२ ।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५३ ।

६. पं० बालकृष्ण भट्ट, हितकारिणी, मधुमङ्गल मिश्र, सित० १९१४, पृ० २६६ ।

अध्यापक के रूप में भट्ट जी:—सी० ए० बी० स्कूल में भट्ट जी की नियुक्ति १५ रुपया मासिक वेतन पर हुई थी। स्टेशनरी लाकर बेचने से भी उन्हें कुछ लाभ हो ही जाता था। गृहस्थी की गाड़ी स्निग्धता पूर्व चलने लगी, क्योंकि आर्थिक शुष्कता बहुत कुछ दूर हो गई थी।

इसी समय भट्ट जी के अनन्य मित्र मुंशी रामप्रसाद वकील ने जो कि स्थानीय कायस्थ पाठशाला के सभापति भी थे भट्ट जी से उक्त पाठशाला में संस्कृत के प्रधानाध्यापक का पद ग्रहण करने का आग्रह किया जिसे भट्ट जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब उन्हें वेतन २० रुपया मासिक मिलने लगा।[1] घर की हालत सुधर गई थी एक भैंस भी द्वार पर बंध गई थी।[2]

इसी समय भट्ट जी से एक भूल हो गई जिसके लिए जीवन भर उन्हें पछ-ताना पड़ा। उन्होंने अपने सबसे बड़े लड़के मूलचन्द भट्ट की शादी बाल्यावस्था में ही करदी। नव-वधू इतनी कर्कशा आई कि उसने आते-आते घर के सारे सुख को समाप्त कर दिया। भट्ट जी की इस भूल पर इनके पुत्र लक्ष्मीकान्त भट्ट ने उनकी जीवनी में इस प्रसंग में अपने पिता पर व्यंग्य भी किया है।[3]

इसके अतिरिक्त 'संतान' परिचय देते हुए भी पं० लक्ष्मीकांत भट्ट इस विषय में अपने पिता पर व्यंग्य करना नहीं भूले हैं। वे दूसरी संतान का परिचय देते हुये लिखते हैं :—

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५३।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५४।

३. "इन्ही दिनों इनके यहाँ बिरादरी की एक कुलीन स्त्री नित्यप्रति एक अष्ट वर्षीय कुमारी कन्या को लेकर आया करती थी। वह स्त्री सूरत में हिडिम्बा और सीरत में सूपनखा थी।······अभिप्राय इसका कुछ भी रहा हो उच्च कुल की बिल्ली निम्न कुल के चूहे पर झपटना जरूर चाहती थी। लोगों ने बहुत समझाया पर हाड़ मास की उत्तमता पर भट्ट जी ऐसे मोहे कि इस देवता दानव के सम्बन्ध को तोड़ सकने का साहस न कर सके। उसकी आठ वर्ष की कन्या के साथ इनके बड़े पुत्र का विवाह सानंद समाप्त हो गया।

इसी दिन से भट्ट जी के आनन्द का ह्रास होने लगा।······पैंतीस वर्ष की पुरानी हिन्दी प्रदीप की फाइल उठा लीजिए कोई भी अंक ऐसा न मिलेगा जिसमें बाल्य विवाह की दूषित प्रथा पर आँसू न बहाए हों कर्त्तव्यच्युत होकर जब स्वयं ही उसको कर डाला तब क्यों न इनको इसका उचित दंड मिले।"

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५४।

"दूसरे—एक पुत्र पं० मूलचन्द भट्ट । बड़े सज्जन धार्मिक और उदार और पूरे गृहस्थ थे । भट्ट जी के बलिदान के बकरा हो सदा अलग ही रहा करते थे । अब नहीं हैं ।"

इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि मूलचन्द भट्ट की स्थिति अपने पिता (पं० बालकृष्ण भट्ट) के घर में लगभग वही हो गई थी जो पं० बालकृष्ण भट्ट की अपने पिता के घर में थी । जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मूलचन्द भट्ट ने भी अपना पितृगृह छोड़ दिया था ।

कायस्थ पाठशाला में लगभग ६ वर्ष पश्चात् कालेज कक्षायें खुल गईं और भट्ट जी का पद अब संस्कृत प्रोफेसर का हो गया[1] और उनका वेतन भी बढ़ कर लगभग ५० रुपया मासिक हो गया ।[2]

भट्ट जी एक लोकप्रिय और सफल अध्यापक थे । विद्यार्थी उनमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे । कभी-कभी ये क्रुद्ध होते थे तो सम्पूर्ण कक्षा काँपने लगती थी । भट्ट जी के प्रिय शिष्य पं० मधुमंगल मिश्र ने भट्ट जी के अध्यापक रूप के विषय में एक रोचक संस्मरण 'हितकारिणी' में लिखा था ।[3]

'माडर्न रिव्यू' के भारत प्रसिद्ध सम्पादक रामानन्द चटर्जी ने विशाल भारत में भट्ट जी पर जो संस्मरण लिखा है । उसमें वे भी भट्ट जी के अध्यापक रूप पर प्रकाश डालना नहीं भूले हैं :—

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, हितकारिणी, सित० १९१४, पृ० २६६ ।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, विशाल भारत, जन० १९२८, पृ० २६ ।

३. ....विद्यार्थियों के साथ इनका बर्ताव भी विचित्र रहता था । कभी तो भैया बाबू, राजा कह के आदर देते थे और कभी पढ़ने में शिथिलता पाके ऊंचे स्वर से धर्षणा करते थे जिससे बिना पीटे ही होश डर के मारे ठिकाने आ जाता था । ..... जब एन्ट्रेंस की परीक्षा की फीस मांगी गई तब साल के अंत तक की फीस भी मांगी गई । मुझे भाई के साथ परीक्षा में बैठना था ।...... भट्ट जी ने कहा कि हैड मास्टर से कहो वे माफ कर देंगे । बाबू अवधबिहारी लाल जो हमारी स्थिति जानते थे बोले--"पण्डित परीक्षा की फीस तो तुम्हें देनी होगी, स्कूल की फीस हम माफ करते हैं ।" ऐसे हैडमास्टर और ऐसे गुरू कितने होंगे ।

पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी०ए०, 'हितकारिणी', सित० १९१४, पृ० २६६, ६७ ।

"विद्यार्थियों को मालूम था कि मैं पण्डित जी बात को सहज में नहीं टालता इसलिये वे किसी त्यौहार आदि पर छुट्टी की जरूरत होने पर पण्डित जी को सामने रख दल बाँध कर मेरे बैठने के कमरे में आते थे। मैं पण्डित जी को दलबल के साथ आता देख पहले से ही समझ जाता था कि क्या माजरा है। और हँसने लगता। पण्डित जी पास आकर कहते थे—"बाबू जी! लड़के बहुत घेरे फिरते हैं" इत्यादि। मैं कहता—"आपकी भी इसमें राय होगी। आपकी सम्मति है तभी तो लडके घेरे फिरते हैं।" तब पण्डित जी कहते—"अरे दिल्लगी मत करो।" उसके बाद छुट्टी वसूल कर चले जाते।"[1]

नौकरी से त्याग पत्र :—कायस्थ पाठशाला कालेज की नौकरी को भी भट्ट जी को एक दिन अपने देश प्रेम और स्वाभिमान की वेदी पर बलि चढ़ा देना पड़ा।

भट्ट जी के युग में देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष करने वालों के दो दल थे।" भट्ट जी बड़े गर्व के साथ अपने तईं उस दलका कहा करते थे जिसे उन दिनों 'राष्ट्रीय' अथवा 'गरम दल' कहा जाता था। लोकमान्य तिलक के वे पक्के भक्त थे।"[2] इन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार ने लोकमान्य तिलक को ३ वर्ष का कठिन कारावास का दण्ड दिया। यह दण्ड देश भक्तों की छाती पर एक मुक्का था और देश को खुली चुनौती थी। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक क्रोध और विक्षोभ की एक लहर दौड़ गई। इलाहाबाद भी उससे अप्रभावित न रहा। प्रयाग के बलुआघाट पर एक सभा हुई जिसके संयोजक श्री सुन्दरलाल जी थे। भट्ट जी ने उसमें ऐसा उग्र भाषण दिया कि सभी दंग रह गये। सुन्दरलाल जी ने अपने एक निबन्ध में इस घटना का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है।[3]

भट्ट जी को इस देश प्रेम का बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने सम्भवत: धमकाने या कुछ दण्ड की सूचना देने उन्हें बुलाया किन्तु डाइरेक्टर जैसे ही विषय की ओर उन्मुख हुआ वैसे ही—"राम, राम, राम! हमका अस नौकरी न चाही।" कहते हुए भट्ट जी उठ खड़े हुए और

---

१. **स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशालभारत', सन् १९२८,** पृ० २९८।

२. **पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल 'विशालभारत', जनवरी १९२८,** पृ० २६।

३. **पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशाल भारत' जनवरी १९२८,** पृ० २७।

बिना इजाजत चिक उठा कर बाहर निकल आये फिर डाइरेक्टर साहब की ओर रुख न किया।"[1] और न फिर कभी पाठशाला का मुख देखा। पाठशाला के प्रबन्ध समिति के लोगों ने बहुत समझाया कि आपका वेतन ५ रुपया कम किये दे रहे हैं थोड़े दिन बाद फिर वही कर दिया जायगा और आपका पद भी प्रोफेसर का रहेगा[2] किन्तु स्वाभिमानी भट्ट जी को यह सब कहाँ सहन था। लाख समझाने बुझाने पर भी न गए। पं० माधव शुक्ल ने भी अपनी भट्ट जी विषयक शोकांजलि में इसकी चर्चा की है।[3]

अप्रिय एवं दुखद घटनाओं की भट्ट जी के जीवन में कभी कमी नहीं रही। एक बार उनके भाई बालमुकुन्द भट्ट ने एक निकट के रिश्तेदार भल्लई जी[4] से कुछ रुपया कर्ज लिया और इसी बीच में व्यापार में दिवाला निकल जाने पर बालमुकुन्द ने अपने आप को दिवालिया घोषित कर दिया। भल्लई जी ने संयुक्त परिवार का लाभ उठाकर पं० बालकृष्ण भट्ट को भी मुक़द्दमे में लपेट लिया और दोनों भाइयों के विरुद्ध मुकद्दमा दायर कर दिया। भट्ट जी को पता लगा तो उनके पैरों की जमीन खिसक गई। कभी एक कौड़ी बालमुकुन्द से नहीं ली और संकट के समय इन्हें भी लपेट लिया। भट्ट जी बड़े घबड़ाये दौड़े-दौड़े भल्लई जी के वकीलों के पास गये और उनसे अपना कष्ट कहा। ये सभी लोग भट्ट जी के त्याग और चरित्र से परिचित और प्रभावित थे। उन्होंने भल्लई जी को मुकद्दमे में से भट्टजी का नाम वापस लेने के लिये विवश कर दिया और स्पष्ट कह दिया कि तुम ऐसा नहीं करोगे तो हम तुम्हारे मुकद्दमे की पैरवी नहीं करेंगे। घटना की सत्यता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि रामानन्द बाबू ने अपने भट्ट जी विषयक संस्मरण में इस घटना का मार्मिक वर्णन किया है।[5] यह स्मरणीय है कि पं० बालकृष्ण भट्ट बहुत दिनों तक

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशाल भारत' जनवरी १९२८, पृ० २८।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ७४।

३. हा भट्ट जी ! (शोकांजलि) 'माधव' शुक्ल मर्यादा जून १९१४, पृ० १२७।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत, भट्ट, पृ० ५९।

५. "पण्डित जी बड़े तेजस्वी पुरुष थे बड़े आदमी के लड़के होने पर मालूम नहीं किस वजह से आप युवावस्था में ही घर छोड़ कर चल दिये थे मेरे इलाहाबाद रहते हुए उनके कुटुम्बियों (शायद भाई वगैरह) के नाम

कायस्थ पाठशाला कालेज में रामानन्द चटर्जी के सहायक के रूप में कार्य कर चुके थे। रामानन्द बाबू जिन दिनों वहां प्रिंसिपल थे भट्ट जी संस्कृत प्रोफेसर थे।[१]

कायस्थ पाठशाला से अलग हो जाने के बाद भट्ट जी की आर्थिक स्थिति कितनी खराब हो गई होगी इसकी कल्पना करना भी कठिन है। जीविका का एक मात्र वही सहारा था वह भी समाप्त हो गया। भट्ट जी के मित्रों में वकील लोग अधिक थे और वे उनकी सहायता इसी रूप में कर सकते थे कि भट्ट जी का कोई मुकद्दमा हो तो उसमें पारिश्रमिक न लें। उन्होंने भट्ट जी से कहा—"तुम्हें कुछ भी खर्च न करना पड़ेगा, न दौड़ धूप ही करनी पड़ेगी तुम केवल वकालतनामे पर हस्ताक्षर करदो तुमको तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति का पूरा हिस्सा हम दिलाते हैं।"[२]

किन्तु उन लोगों की आशा के विरुद्ध और अपने चरित्र के सर्वथा अनुकूल भट्ट जी ने शान्त और अविचलित शब्दों में उत्तर दिया—"रुपया सब हमारे छोटे भाई का पैदा किया हुआ है। हम क्यों उसमें जबरदस्ती हिस्सा लें? हमें हराम की कौड़ी न चाहिये हमें यदि मिलना होगा तो हमारे बाहुबल से ही मिलेगा।"[3] और इस प्रकार निर्विकार भाव से उन्होंने एक लाख रुपये की

कोर्ट में एक बहुत ज्यादा रुपयों की नालिश हुई थी। उन लोगों ने न जाने किस वजह से पण्डित जी को भी अपने साथ लपेट कर अदालत में उन्हें कर्जदार साबित करना चाहा। इससे भट्ट जी बहुत ही क्रुद्ध हो गये उन्होंने कहा मैं तुम्हारे तमाम धन दौलत को छोड़-छाड़ कर युवावस्था से ही स्वयं परिश्रम कर और तकलीफें उठाकर बाल-बच्चों को पाल रहा हूँ और बड़ी मुश्किल से एक कुटिया बना पाया हूँ। इस पर भी तुम्हारी नीयत है।" इसके बाद वे पण्डित सुन्दरलाल आदि खास-खास वकीलों के पास गए और अपनी सब बातें कह सुनाईं। इस पर उन लोगों ने पण्डित जी के भाई बन्दों को बुला कर कहा, 'तुम लोग अगर भट्ट जी को लपेटोगे तो हम कोई भी वकालतनामा न लेंगे।" आखिर मुकद्दमे से भट्ट जी का नाम उन्हें निकाल देना पड़ा।"

स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशाल भारत', पृ० २६८।

१. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशाल भारत', पृ० २६६, २६६।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नव० १९१४, पृ० ६३१।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नव० १९१४, पृ ६३१।

सम्पत्ति ठुकरादी और तब जबकि उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय थी। श्री सुन्दरलाल तो इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी भी हैं उन्होंने इसकी चर्चा अपने भट्ट जी विषयक संस्मरण में की है।[1]

संतान :—भट्ट जी बहुसन्तानवान थे। उनके आठ संतान हुई ४ लड़के और ४ लड़कियाँ। भट्ट जी हँसी में कहा करते थे कि मेरी संतान रावण की संतान हैं। किन्तु अपनी सभी पुत्रियों और पुत्रों को ये अगाध प्रेम करते थे।

अपने पिता की 'गया' करते समय गया में इन्होंने जो तीन वर मांगे थे उनमें एक अपनी सन्तान के निर्मल चरित्र के विषय में भी था। तीनों वर निम्नांकित हैं :—

(१) पैतृक सम्पत्ति में से एक पैसा भी हमें न मिले।
(२) हमारे पुत्र कन्यादि सभी का चरित्र निर्मल रहे।
(३) हमारा एक पुत्र संस्कृत का विद्वान् हो।[2]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट में विद्या प्रेम के साथ-साथ त्याग की मात्रा भी अद्‌भुत थी। उन्होंने अपने चरित्र की इस अनुपम विशेषता का पहला परिचय पिता की मृत्यु के समय दिया। उस समय भट्ट जी की आयु ४९ वर्ष की थी पिता ने लगभग ४ लाख की सम्पति छोड़ी जिसमें आधा भाग चाचा के लड़कों का था और आधे में भट्ट जी और उनका छोटा भाई। अनेक मित्र और सम्बन्धियों के आग्रह करने पर भी भट्ट जी ने अपने पिता की सम्पत्ति में हाथ लगाने से इन्कार कर दिया। कारण यह बताया कि दूकान का सब काम छोटा भाई देखा करता था वही इस सम्पत्ति का अधिकारी है। छोटे भाई ने बड़ी नम्रता के साथ शहर के दो मकान और कुछ नकद भट्ट जी को देना चाहा किन्तु भट्ट जी ने कुछ भी स्वीकार न किया। हिन्दुओं में पूर्वजों की 'गया' करते समय प्रायः तीन वर माँगे जाते हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट ने जो वर अपने पिता की 'गया' के समय मांगे उनमें से एक यह था कि "मुझे अपने पिता की सम्पत्ति में से एक पैसा भी न मिले।

उस समय जब कि भट्ट जी ने एक लाख की पैतृक सम्पत्ति को इस प्रकार लात मार दी वह बड़ी कठिनाई के साथ गृहस्थी का खर्च चला रहे थे।"

पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशाल भारत' जनवरी १९२८, पृ० २५, २६।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६८।

संयोग से भट्ट जी की तीनों ही मनोकामनायें पूर्ण हुई। चौथे पुत्र जनार्दन भट्ट ने संस्कृत में एम० ए० कर अपने स्वर्गीय पिता की आत्मा का शान्ति प्रदान की।[1]

पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने अपने पिता की जीवनी में अपने सब भाई बहनों का परिचय दिया है परिचय में वे सबका व्यक्तित्व उभार कर रख सके हैं। इसलिये भट्ट जी की संतान का परिचय उनके पुत्र के शब्दों में उद्धृत करना ही अधिक संगत प्रतीत होता है:—

"भट्ट जी के आठ सन्तान हुईं चार लड़की और चार लड़के पहली सन्तान भट्ट जी की एक कन्या नाम है शिवदेवी घर में सब लोग दुलार से ट्टइयाँ कहकर पुकारते थे। बड़ी सीधी बड़ी सरल, छल कपट से कोसों दूर, मनों मिठाई पचा गई होगी पर एक बात नहीं पचा सकती। उम्र अरसठ वर्ष अभी जीवित है।

दूसरे—एक पुत्र पं० मूलचन्द भट्ट। बड़े सज्जन धार्मिक और उदार और पूरे गृहस्थ थे भट्ट जी के बलिदान के बकरा हो[2] सदा अलग ही रहा करते थे अब नहीं हैं।

तीसरे—पुत्र थे पं० महादेव भट्ट। क़द के छोटे अक़्ल के मोटे मिर्चा से तीखे और कुनैन से कड़ुए होने पर भी ईमानदारी में इम्पीरियल बैंक सचाई में युधिष्ठिर साहस में नेपोलियन बोनापार्ट और देशभक्ति में मैज़िनी से कम नहीं थे। लोग उनको सरकार कहकर पुकारा करते थे क्योंकि भारत सरकार के निकटस्थ सम्बन्धी और बड़े प्यारे थे। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ और नाटक के आचार्य थे। रोग से सदा ग्रसित रहा करते थे। पिता पुत्र में सदा यही बहस छिड़ी रहती कि कौन पहले स्वर्ग को पयान करेगा। पर गया जी के बरदान ने पुत्र को जाने न दिया और उन्हीं से अपने पिता का अन्तिम संस्कार कराया।

चौथा—एक पुत्र हुआ जो अजागल-कम्बलवत् निरा स्वार्थी निकम्मा कुल-कलंक और आवारा निकला। शायद अब भी है।[3]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारणी' सित० १९१४, पृ० २६८।

२. भट्ट जी ने अपने पुत्र मूलचन्द का विवाह बाल्यावस्था में ही कर दिया था जिसका परिवार के लिए अच्छा परिणाम न हुआ इसीलिये लक्ष्मीकांत भट्ट ने पिता पर व्यंग्य किया है।

३. यह परिचय विनम्रता वश स्वयं लक्ष्मीकांत भट्ट ने अपना दिया है। सच बात यह है कि भट्ट जी के पुत्रों में शैली का धनी इतना बड़ा दूसरा नहीं

पांचवी—एक लड़की हुई दुर्गादेवी नामकी और मिजाज की तुर्स पर दयालु जंगरैतिन और भगवद्भक्त है।

छठवीं—एक कन्या हुई जो ब्याह होने पर छोटी ही उम्र में मर गई। (सम्भवत) इसी लड़की की शादी मालवीय जी के पुत्र के साथ हुई थी। जो वहाँ बड़ी उपेक्षित और तिरस्कृत रही। भट्ट जी की जीवनी में एक स्थान पर लक्ष्मीकांत जी ने इसी लड़की के विषय में लिखा है :—

भट्ट जी ने अपनी एक लड़की की शादी मालवीय विरादरी के सबसे श्रेष्ठ पुरुष के लड़के से चौदह या पन्द्रह वर्ष की उम्र में करदी जिसका आन्दोलन उनके घर वालों ने 'भैंस का दान' कह कर किया और उस लड़की का ऐसा तिरस्कार हुआ कि उसको अपने जीवन का दान देकर ही शान्ति मिली। ईश्वर की मर्जी ही तो है उसी घर में अब कुँवारी लड़कियाँ एक से सत्ताइस तक का पहाड़ा गिन रही हैं।[1]

सातवां—एक पुत्र रत्न हुआ जो भट्ट जी के पुण्य की पताका आशीर्वाद का फल, सुयश का चिन्ह और उनके पाण्डित्व का गौरव निकला।

लक्ष्मी का जैसा अनादर और अपमान उन्होंने किया उतना सरस्वती का आदर न कर सके किस्मत के हेठे और बर्ताव के खरे होने के कारण समय कष्ट से बिता रहे हैं। (सम्भव है जब श्री लक्ष्मीकान्त भट्ट ने यह जीविनी लिखी हो तब श्री जनार्दन भट्ट कष्ट के समय बिता रहे हों पर आज तो वे अत्यन्त सुखी और संतुष्ट हैं।)

(यह विशेष महत्व की बात है कि स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट की सब संतानों में आज यही अकेले जीवित हैं। जीवन में निस्सन्देह उन्हें अत्यधिक कठिनाइयाँ अपने पिता की भाँति उठानी पड़ीं, परन्तु विगत १२-१३ वर्षों से

निकला जितने लक्ष्मीकांत जी। तत्कालीन अनेक पत्रिकाओं यथा सरस्वती, विशाल भारत, आदि में इनके लेख मिलते हैं। लक्ष्मीकांत जी एक प्रतिठिष्त हिन्दी लेखक थे। बैंक में नौकरी करते थे। इन्होंने अपनी एक पुत्री का विवाह मालवीय इतर ब्राह्मणों में कर दिया। मालवीय जी तथा उनके पुत्रों ने जाति बहिष्कृत कर दिया फिर क्या था लक्ष्मीकांत जी ने उनके विरुद्ध तूफान खड़ा कर दिया और अनेक पैम्फलेट निकाले जिनमें मालवीय जाति की कमियों का भंडाफोड़ कर दिया। इस संघर्ष से यह स्पष्ट है कि ये बड़े खरे, प्रगतिशील तथा जीवट के आदमी थे।

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट पृ० ५५।

वे दिल्ली के अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ नामक संस्था में वैतनिक मन्त्री हैं। बिड़ला बन्धु इस संस्था के प्रमुख संरक्षक हैं विशेष रूप से बिड़ला बन्धुओं में सबसे बड़े बाबू जुगलकिशोर बिड़ला की यह संस्था है जिसका कार्य विभिन्न संस्थाओं को लगलग १४००० (चौदह हजार) रुपया प्रति वर्ष धर्मार्थ दान करना है। वास्तव में यह सभी रुपया पं० जनार्दन भट्ट के हाथों ही दान होता है। बाबू जिगलकिशोर जी बिड़ला पं० जनार्दन भट्ट का अत्यधिक आदर करते हैं और इसी कारण स्वाभिमानी पिता का और भी अधिक स्वाभिमानी यह पुत्र वहाँ सेवा कर रहा है नहीं तो अतीत में अनेकों अच्छी से अच्छी नौकरियाँ वे स्वाभिमान हानि के आधार पर ही छोड़ चुके हैं। रूप और गुण में अपने पिता के वास्तविक प्रतिनिधि हैं।

पं० जनार्दन भट्ट एक प्रतिष्ठित हिन्दी लेखक रह चुके हैं। सरस्वती, विशाल भारत, विश्व मित्र, चाँद आदि सर्वोत्कृष्ट पत्रों में उनके शताधिक निबन्ध छप चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई उत्कृष्ट पुस्तकों का प्रणयन भी कर चुके हैं।

संयोग की बात है कि जिन-जिन महानुभावों ने भट्ट जी पर कुछ लिखने का प्रयत्न किया है उन्होंने भट्ट जी के पुत्रों में सबसे अधिक प्रशंसा पं० जनार्दन एम० ए० की ही की है।)

'आठवीं— सबसे छोटी सन्तान भट्टजी की एक कन्या सावित्री थी। गंगा जल के समान पवित्र, धोए फूल के समान सुन्दर और गार्गी के समान विदुषी थी। दु:ख के साथ लिखना पड़ता है कि इस असार संसार को छोड़ कर चली गई।"[1]

भट्ट जी की संतान का यह परिचय उनके सुपुत्र लक्ष्मीकांत लिखित उनकी जीवनी (अप्रकाशित) से उद्धृत कर दिया गया है। इस समय भट्ट जी की आठ सन्तानों में से केवल उनकी सातवीं संतान पं० जनार्दन भट्ट एम०ए० ही जीवित हैं।

हिन्दी प्रदीप सम्पादन :—सन् १८७७ सितम्बर के महीने में 'हिन्दी प्रदीप' का पहला अंक निकला। 'प्रदीप' के जन्म की कथा बड़ी रोचक है भट्ट जी के शब्दों में ही उसे उद्धृत करना असंगत न होगा :—

"वर्तमान हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता प्रात:स्मरणीय सुग्रहीत नामधेय बाबू हरिश्चन्द्र तथा दो एक उन्हीं के समकक्षों को छोड़ सुलेखकों का सर्वथा

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्रकाशित) लक्ष्मीकांत, भट्ट, पृ० ८१से ८३ तक।

अभाव था। भाषा-साहित्य-भास्कर पं० प्रताप का उदय भी तब नहीं हुआ था। श्री राधाचरण चंचरीक साहित्य मंजरी का मधुपान करते किसी कुसमावली में छिपे पड़े थे मधुप की प्रौढ़ दशा तक नहीं पहुँचे थे। तात्पर्य यह कि हिन्दी साहित्य का आकाश उस समय तक सब ओर से धुँधला था। उर्दू चाण्डालिन इतना आक्रमण किये थी कि हिन्दी को प्रकाश के लिए कहीं अवकाश ही नहीं था।''[१]

ऐसी विषम परिस्थितियों में 'प्रदीप' प्रकाशित हुआ। ''भाषा के ऐसे वात्सल्य में हिन्दी हितू और प्रेमी कतिपय छात्रों की मंडली हमारी जन्मदाता हुई। एक एक छात्र ने पाँच-पाँच रुपये चन्दा दे कुछ रुपये मूलधन की भाँति इकट्ठे कर प्रतिमास—एक मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया। और पुस्तकाकार इसे इसलिए रखा कि जिसमें पंसारियों को पुड़िया बाँधने के काम का न रहे वरन् जिल्द बाँध लोग रख सकें। पर फिर भी हमें सन्देह बना रहा कि लेख किसी काम का न हुआ तो यह पंसारियों ही के काम का रहेगा।''[२]

छात्र मंडली ने 'प्रदीप' को जन्म तो दे दिया किन्तु इस अग्नि मुख बालक का पालन पोषण करने में वह असमर्थ रही। देशी पत्रों के विरुद्ध तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र चलते ही यह बाल मन्डली भाग खड़ी हुई और दमन के झोंकों में 'प्रदीप' को अरक्षित छोड़ गई।[3] तब पं० बालकृष्ण भट्ट ने ही 'बाँह गहे की लाज' निबाही और 'दुसह दुर्जन वायु' से उसे सुरक्षित रखा। उन्होंने ही इसका पालन पोषण कर उसे युवा बनाया और यह ज्वालामुखी 'प्रदीप' ३३ वर्ष तक अंग्रेजी सरकार और भारतीय समाज की सड़ी गली रूढ़ि रीतियों के विरुद्ध आग उगलता रहा। प्रदीप का जन्म लेना, युवा होना और भारी तरुणाई में अकाल ही काल के गाल में समा जाना ये सब ऐतिहासिक महत्व की बातें हैं।

---

१. निज वृतान्त, पं० बालकृष्ण भट्ट, 'हिन्दी प्रदीप', दिस० १९०५, पृ० ३।

२. निज वृतान्त, पं० बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप दिस० १९०५, पृ० ३, ४।

३. ''मूड़ मुड़ाते ही ओले पड़े हमें प्रकट हुए देर न हुई थी कि प्रेस एक्ट का जन्म हुआ। प्रेस एक्ट का नाम सुनते ही छात्र मंडली छिन्न-भिन्न हो गई तो निज उन्नति के आगे हिन्दी उन्नति का उत्साह भङ्ग हो गया। कोई-कोई तो यहाँ तक दुम दबाए बैठे कि मानो उनसे बड़ा अपराध बना जो इसके लिये ५ रुपया चन्दा दे इनके मैम्बर बने और सोचने लगे कि इस पाप का प्रायश्चित

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' में एक बार 'हिन्दी प्रदीप' पर एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' के जन्म की घटना का उल्लेख किया था[1] और उसे उस काल का सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र घोषित किया था।[2]

'हिन्दी प्रदीप' के लिये यह गौरव की बात थी कि आधुनिक हिन्दी के पिता बाबू हरिश्चन्द्र की प्रेरणा और उत्साह से वह प्रकाशित हुआ।[3] इतना ही

किस भांति हो। जिसमें आगे को यह किसी के मुख से न निकल जाय कि छात्र दशा में यह भी हिन्दी के हितैषी थे और ऐसे एक पत्र के सहायक रहे जो अराजक विषय के लेख के लिये बदनाम था। अस्तु धीरे-धीरे जितने पहले इसके मैम्बर बने थे सब छोड़ बैठे, पर हम अंगीकृत का परिपालन जीवन का उद्देश्य मान प्रतिदिन इसे अधिकाधिक अपनाते ही गए।"

निज वृतान्त, पं० बालकृष्ण भट्ट, 'हिन्दी प्रदीप' दिस० १९०५, पृ० ४।

१. कोई ३० वर्ष हुए इलाहाबाद में कालेज के थोड़े से विद्यार्थियों ने हिन्दी की उन्नति के लिये 'हिन्दी वर्द्धिनी' नाम की एक सभा स्थापित की। कुछ दिनों तक इस सभा के मेम्बरों में हिन्दी की उन्नति का बड़ा जोश था। उसी जोश में यह निश्चय हुआ कि समाचार पत्र हिन्दी की उन्नति का सर्वोत्तम साधन है। सभा के कई एक मेम्बर धनाढ्य घराने के थे। उनको भी यह बात अच्छी लगी। पांच-पांच रुपये के हिस्से कर तत्काल ही थोड़ा सा रुपया इकट्ठा किया गया और यह ठहरी कि एक वर्ष तक पत्र अवश्य ही निकले। यदि पत्र के ग्राहक बढ़े और लोगों का मनोरंजन हुआ तो पत्र जारी रहेगा नहीं तो बन्द कर दिया जायगा।"

हिन्दी प्रदीप, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती अगस्त १९०६, पृ० ३२६।

२. इस समय हिन्दी में जितने समाचार पत्र निकल रहे हैं दो एक को छोड़ कर हिन्दी प्रदीप सबसे पुराना है। मासिक पुस्तकों में तो यही सबसे ज्येष्ठ है। इसे निकलते २७ वर्ष हो चुके जबसे यह निकलने लगा तबसे कितने ही मासिक और साप्ताहिक पत्र निकले और अस्त हो गए। पर 'हिन्दी प्रदीप' जारी है। बीच-बीच में इस पर कितने ही अरिष्ट आये पर टल गए यदि यह पत्र किसी और भाषा में निकलता होता तो इसकी रजत जुबली हो गई होती।

'हिन्दी प्रदीप' पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, सरस्वती अगस्त, १९०६ पृ० ३२६।

३. उसी समय बाबू हरिश्चन्द अपने किसी निज काम से प्रयाग आये हुये थे। वहाँ हिन्दी वर्द्धिनी सभा के मेम्बरों की उत्कृष्ट वासना हिन्दी की ओर देखकर

नहीं भारतेंदु बाबू ने अपने कर कमलों से प्रदीप के मुख पृष्ठ पर निरन्तर छपने वाली निम्नांकित पद्यबद्ध पंक्तियाँ भी लिखीं :—

शुभ सरस देश-सनेह-पूरित प्रगट ह्वै आनन्द भरै।
बचि दुसह दुरजन वायु सों मनि दीप सम थिर नहिं टरै
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब या में जरै
'हिन्दी प्रदीप' प्रकाशि मूरखतादि भारत-तम हरै।[१]

'हिन्दी प्रदीप' प्राय: विलम्ब से निकलता था इसका प्रमुख कारण प्रेस की अव्यवस्था थी। भट्ट जी की यह महत्वाकांक्षा उसके जीवन के साथ ही चली गई कि काश! उनके पास एक प्रेस होता।[२] इसके अतिरिक्त उस काल में पाठकों का अभाव था।[३] सरकार की नीति हिन्दी विरोधी थी हिन्दी पत्र संपादकों की आए दिन मजिस्ट्रेटों के सामने पेशियाँ होती थीं। भट्ट जी प्राय: मजिस्ट्रेटों के यहाँ तलब किये जाते थे।[४] खरी बात कहने का स्वभाव भी 'प्रदीप' के प्रसार में बाधक रहा भट्ट जी किसी की खुशामद या मुँह देखी बात कहना जानते ही नहीं थे। चाहे जब चाहे जिसके विरुद्ध लिख देते थे।[५] फलतः बने बनाये ग्राहक बिगड़ जाते थे। इसके अतिरिक्त आर्थिक कष्ट ने तो 'प्रदीप' की 'लौ' को सदैव अस्थिर रखा। कितनी ही बार लगता 'प्रदीप' अब बुझा अब बुझा किन्तु समय-समय पर हिन्दी-प्रेमियों के स्नेह-दान के कारण वह ३३ वर्ष तक प्रकाशित रहा। शायद ही 'प्रदीप' का कोई अंक होगा जिसमें भट्ट जी ने अपनी आर्थिक दुरवस्था का करुण चित्र न खींचा

वे बड़े प्रसन्न हुए और आप भी उसके मेम्बर हो गये। पत्र निकालने में यथा साध्य सहायता देने के लिये भी आपने आगे वचन दिया और 'कवि वचन सुधा' के बहुत से ग्राहकों की नामावली भेज दी—

'हिन्दी प्रदीप' पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, सरस्वती अगस्त १६०६, पृ० ३२७।

१. भारतेंदु मण्डल, ब्रजरत्नदास, संवत् २००६, प्रथम संस्करण, पृ० ५।

२. हिन्दी प्रदीप अक्टूबर से दिसम्बर १६०२, पृ० ३६।

३. ,, ,, ,, पृ० ३८।

४. निज वृतान्त पं० बालकृष्ण भट्ट, 'हिन्दी प्रदीप' दिसम्बर १६०५, पृ० ४।

५. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी से अप्रैल १६०४, पृ० १-३।

हो[1] और चन्दा न देने वाले कठोर हृदय पाठकों से चन्दे की करुण पुकार न की हो।[2] सच बात तो यह है कि भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' को अपने बाल बच्चों का पेट काट कर भी चलाते थे, उनकी स्वयं की आय अधिक नहीं थी इसलिए 'हिन्द-प्रदीप' हिन्दी जगत में महानतम त्याग का उत्कृष्टतम निदर्शन है। डा० रामविलास शर्मा ने उचित ही लिखा है :—

'बालकृष्ण भट्ट का ३२ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' चलाना एक ऐतिहासिक घटना है। धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं है।"[3]

भट्ट जी को नेत्र कष्ट रहता था फिर भी 'प्रदीप' देर सबेर से निकलता ही रहता था कुछ दिनों तो भट्टजी को बिल्कुल ही दिखाई देना बन्द हो गया तब कुछ महीने 'प्रदीप' बन्द रहा। अर्थाभाव के कारण भी प्रदीप कभी-कभी बन्द हो जाता था।[4] डाक्टरों ने भट्ट जी से काम करने के लिए सख्त मना कर दिया था। जैसे ही आँखों से थोड़ा दिखाई देने लगा भट्टजी ने पुनः 'प्रदीप' प्रकाशित कर दिया।[5]

---

१. "इसके पीछे हमने जो-जो क्लेश सहा उन सब गाई गीत के गाने से लाभ क्या? सबसे बड़ा क्लेश अर्थकृच्छ्रता है इसलिए बहुत दिनों से कई महीनों का एक साथ निकालना हमने प्रारम्भ किया कि नहीं कुछ तो पोस्टेज की किफायत हो होगी जिस पर बंगवासी ने हमारी भीतरी बातों को न जान कई बार आक्षेप किया। वह भी क्या करे लाचार हो सहना ही पड़ा। अब हम को अर्थकृच्छ्र यहां तक आ गया कि दांतों पसीने के परिश्रम के उपरांत भी जो कुछ हमें मिलता है वह बढ़ हुए कुटुम्ब के पोषण में खर्च हो जाने के बाद इतना नहीं उबरता कि हम इसे भी ठेलते जाँय जैसा अब तक करते रहे। अस्तु अब अपन प्रेमियों से अन्त समय में मिल भेंट उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारा कहा सुना हमें माफ करें।"

हिन्दी प्रदीप, जुलाई अगस्त १८६८, पृ० २८-२६।

२. ग्राहक जन आप लोग जो इस पत्र की आयुष्य चाहते हो तो द्रव्य से हमारी सहायता कीजिए नहीं तो अब इसका बोझ हमसे नहीं सँभाला जाता कहाँ तक घाटा उठाते जायँ। यदि आप लोगों नें इस बात पर ध्यान दिया तो दिया नहीं तो इतिश्री तो हुई है।

हिन्दी प्रदीप, जनवरी १८८०, पृ० २४।

३. भारतेंदु युग, डा० रामविलास शर्मा संस्करण १९५१, पृ० ११५।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५६।

५. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर से दिसम्बर १९०१, पृ० १-२।

तत्कालीन स्थानीय 'सिविल सर्जन डा० ओब्रैन साहब' तथा 'असिस्टेन्ट सिविल सर्जन बाबू नील रत्नबनर्जी' ने भट्ट जी के नेत्रों की चिकित्सा की थी और उनके नेत्र खोले थे।' भट्ट जी इन महानुभावों के बड़े आभारी थे और 'हिन्दी प्रदीप' के अपने एक लेख में भट्ट जी ने इन लोगों को हार्दिक धन्यवाद भी दिया है।[1]

आर्थिक दुरवस्था इतनी थी कि अपने दीर्घ सम्पादक जीवन में भट्ट जी को कभी कोरे कागज पर लिखना नसीब नहीं हुआ।[2] एक साधारण निब को वे वर्षों चलाते। कभी-कभी मक्खी निब में फँस जाती थीं और जब अक्षर अपेक्षाकृत बृहदाकार हो जातें तो भट्ट जी को पता चलता[3] बड़े झुंझलाते। उनका हस्तलेख वैसे ही अच्छा नहीं था और भट्ट जी के मित्रों की उनके हस्तलेख के विषय में बड़ी विचित्र राय थी।[4] भट्ट जी के लिखने में और भी अनेक बाधाएँ आती थीं लिखते समय कोई बच्चा समाचार देता कि घर में साग नहीं। है भट्ट जी झुँझला कर कहते कि "आग लगे हमरे मूड़े, यह रावण की सन्तान हमारे ही लिये थी। जाओ कुछ काम नहीं है तरकारी का बिना तरकारी के खायेंगे।"[5] जब 'प्रदीप' के द्वारा भट्ट जी हिन्दी और हिन्दुस्तान की सेवा कर रहे थे तब उनके घर की आर्थिक स्थिति यह थी कि यदि कहीं से 'प्रदीप' का चन्द आ जाता था तो घी आ जाता था नहीं तो परिवार के सब लोगों को

---

१. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर से दिसम्बर १९०१, पृ० १।

२. "पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जिस मनुष्य ने २८ वर्ष एक पत्रिका का सम्पादन किया उनने जीवन भर में शायद कभी एक पंक्ति भी कोरे कागज पर नहीं लिखी। वह अपने तमाम लेख इम्तहान की कापियों के दूसरी ओर अथवा समाचार पत्रों के फटे हुए रैपर्स पर लिखा करते थे।"

पं० बालकृष्ण भट्ट, ले० सुन्दरलाल विशाल, भारत जनवरी १९२८, पृ० २६।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट पृ० ५७।

४. "अपने जीवन में रिमों कागज लिख डाले होंगे पर हैन्डराईटिंग इनकी न सुधरी। हैन्डराईटिंग के विषय में इन्ही के एक मित्र की राय है कि जैसे स्याही में ४ या ५ भुनगा (एक प्रकार का कीड़ा) डाल दो और फिर उन्हें सफेद कागज पर रख दो तो वे कीड़े रेंगने लगेंगें और उनके टांगों के दाग इधर उधर फैल जायेंगे वैसे ही उनकी हैन्ड राईटिंग थी।

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) महादेव भट्ट, पृ० ५।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ५७।

सूखी रोटी खानी पड़ती थी ।[1] 'हिन्दी प्रदीप' इन सब बाधाओं के रहते हुए भी अपने समय का सर्वोत्कृष्ट पत्र था । सुन्दरलाल जी ने लिखा है :—

"आज कल के हिन्दी सम्पादकों के लिए उस समय के हिन्दी सम्पादकों की कठिनाइयों का अनुमान कर सकना अत्यन्त कठिन है । विचार स्वातन्त्र्य की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' को इस समय के सर्वोच्च पत्र पत्रिकाओं में स्थान दिया जा सकता है । भाषा के रस और लालित्य की दृष्टि से इस समय के किसी भी पत्र या पत्रिका को 'हिन्दी प्रदीप' के बराबर नहीं रखा जा सकता ।[2]

हिन्दी प्रदीप सन् १९०९ में अप्रैल के चौथे अंक के पश्चात् बुझ गया । माधव शुक्ल ने 'बम क्या है'[3] नामक एक कविता 'प्रदीप' में लिखी थी सरकार ने उसी पर ३ हजार रुपया जमानत माँगी,[4] भट्ट जी के पास तो भोजन तक के के लिए धन नहीं था तीन हजार रुपयों का प्रबन्ध कहां से करते ? अन्त में ३३ वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित रहने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के दमन के तीव्र झोंके से इसकी लौ सदैव के लिए निर्वापित हो गई ।

हिन्दी प्रदीप के बंद होने के बाद का भट्ट जी का जीवन— कायस्थ पाठशाला से भट्ट जी पहले ही त्याग पत्र दे चुके थे अब 'प्रदीप' भी बन्द हो गया । भट्ट जी के परिवार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी इसलिए उन्हें कुछ न कुछ तो करना ही था । भट्ट जी ने कालाकांकर से निकलने वाले साप्ताहिक 'सम्राट' नामक पत्र का सम्पादन दो मास तक किया ।[5] इसी बीच बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपनी देखरेख में तय्यार होने वाले काशी नागरी प्रचारिणी सभा के वृहत् हिन्दी कोष में काम करने के लिए भट्ट जी को काशी बुला लिया । उन्होंने कोष कार्य में वैतनिक रूप में सहायता देने का कार्य सहर्ष स्वीकार कर लिया ।[6] इसी बीच में बाबू श्यामसुन्दरदास की नौकरी काश्मीर में

---

१. पं० रुद्रदत्त शर्मा, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' १६ जनवरी १९५५, पृ० ३ ।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशाल भारत' जनवरी १९२८, पृ० २६ ।

३. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रथम संस्करण सं० २०१०, पृ० १५१ ।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, गणेशशंकर विद्यार्थी, 'प्रताप', २६ जुलाई १९१४ ।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३९ ।

६. भारतेंदु मण्डल, ब्रजरत्नदास प्रथम संस्करण सं० २००६, पृ० ७ ।

लगी। सारा कोष कार्यालय भी उनके साथ काश्मीर गया।[१] आपको भी विवश होकर काश्मीर जाना पड़ा। और वहाँ पाँच महीने भी कार्य नहीं कर पाए थे कि एक दिन काठ की सीढ़ी पर से पैर फिसल जाने के कारण इनका एक कूला उखड़ गया लेकिन वहाँ किसी ने इनकी समुचित देखभाल न की। पं० रामचंद्र शुक्ल अकेले ऐसे निकले जो इन्हें जम्मू से प्रयाग पहुँचा गए।[२] प्रयाग में भट्ट जी छः महीने तक शय्या पर पड़े रहे[३]। और बाद में भी बड़ी कठिनाई के साथ वैसाखी के सहारे चल पाते थे।[४] भट्ट जी के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने अपने पिता की जीवनी में उनकी उपेक्षा करने का दोषी श्यामसुन्दरदास को ठहराया है और उन पर खुल कर व्यंग्य किए हैं।[५] जब कोष कार्यालय पुनः काशी लौट आया तो भट्ट जी फिर कार्य करने के लिये बुला लिये गए किन्तु अब की बार भट्ट जी में और श्यामसुन्दरदास जी में कुछ खटपट हो गई और भट्ट जी को कोष कार्य छोड़ने के लिये विवश किया गया। भट्ट जी को यह अपमान मृत्यु पर्यंत खलता रहा।[६] लगता ऐसा है कि कोष कार्य में जनता के पैसे का अपव्यय बूढ़े भट्ट जी से न देखा गया और उन्होंने कोष–कार्य पद्धति

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधु मंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६७।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारीलाल शुक्ल, 'सरस्वती' १ नवम्बर १९१४, पृ० ६३९।

३. भारतेंदु मण्डल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण २००६, पृ० ८।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६७।

५. इधर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से एक हिन्दी शब्द कोष तैयार करने की आयोजना हुई। सम्पादक थे इसके बाबू श्यामसुन्दर दास। उनके आग्रह करने पर 'सम्राट' को छोड़ कर भट्ट जी को कोष विभाग में आना पड़ा ठीक साल भर काम करने के बाद बाबू श्यामसुन्दर दास की नौकरी काश्मीर में लगी। 'बाबा की फातिहा हलवाई की दूकान' जनता का रुपया था और बाबू श्यामसुन्दर दास सरीखा दूसरा योग्य पुरुष इस काम के लिए न मिल सका इस लिए देहली से दौलताबाद बसाया गया। 'जहाँ-जहाँ वाले मियाँ तहाँ-तहाँ पूँछ' की कहावत के अनुसार कोष विभाग भी उनके साथ वहीं गया। बाबू साहब की देख-रेख न होती तो भला कोष का काम कैसे होता?

पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८०।

६. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८०।

की कुछ आलोचना करदी जो बाबू श्यामसुन्दर दास को असहनीय लगी। लक्ष्मी-कांत भट्ट ने सीधे ही बाबू श्यामसुन्दरदास के ऊपर आक्षेप किया है।[1] पर यदि उसे हम किंचित पक्षपात पूर्ण भी मान लें तब भी रासबिहारी शुक्ल[2], तथा पं० मधुमंगल मिश्र[3] आदि के लेखों से उपर्युक्त तथ्य का समर्थन हो जाता है इसके अतिरिक्त ब्रजरत्नदास बी० ए० ने भी अपने भारतेंदु मंडल नामक ग्रंथ में इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[4]

---

१. "खैर, बाबू श्यामसुन्दर दास को फिर काशी लौटना पड़ा, काशी लौट आने पर द्वितीय साहित्य सम्मेलन के बाद उन्होंने फिर भट्ट जी का बनारस बुलाया। भट्ट जी की आर्थिक दशा उस समय भी अच्छी न थी अतः उन्होंने बनारस जाना स्वीकार कर लिया। बनारस में वे फिर कोश का काम डेढ़ वर्ष तक करते रहे परन्तु मृत्यु के छः महीने पहले उन वयोवृद्ध भट्ट जी के साथ कुछ ऐसा अशिष्ट और अनुचित व्यवहार किया गया जिसको कहते लज्जा आती है और पोल खुलती है जिससे भट्ट जी को कोष का काम छोड़कर फिर प्रयाग लौट आना पड़ा। इस बुरे वर्ताव से उनके हृदय को बड़ा धक्का पहुँचा और वह उसे याद करके सदा दुखित होते रहे। यह मिला उनकी हिन्दी सेवा करने का फल और कोष तैयार करने का पुरस्कार।...यह निश्चय है कि ऐसी सच्ची आत्मा को पीड़ा पहुँचाकर कोई प्राणी सुखी नहीं रह सकता चाहे वह भगवान श्याम सुन्दर ही क्यों न हों।

भट्ट जी की जीवनी (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८०।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४ पृ० ६३९।

३. जब सभा के प्राण के साथ कोष विभाग काश्मीर घसीटा गया तब "जहाँ जहाँ वाले मिया तहाँ तहाँ पूँछ" की कहावत को चरितार्थ करते आपको काश्मीर जाना पड़ा भट्ट जी को यह प्रिय न था। सर्वसाधारण के रुपयों को यों बहाना उन्हें बहुत बुरा लगा पर निरुपाय थे।"

पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६७।

४. सन् १९११ के नवम्बर में भट्ट जी पुनः बुलाए जाने पर काशी आए और प्रायः दो वर्ष तक कोष के सहायक सम्पादक रहे। किसी अशिष्ट व्यवहार के कारण ये दुखी हो इस कार्य को छोड़कर प्रयाग लौट गए।

भारतेंदु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, २००६, पृ० ८।

आखिर भट्ट जी कोष कार्य छोड़कर प्रयाग लौट आए। आर्थिक दशा शोचनीय थी हीं। काश्मीर में एक टांग से और बेकार हो गए, अध्ययनातिरेक से एक आँख पहले ही खो चुके थे। भट्ट जी के इस समय के कष्ट पूर्ण जीवन की कल्पना सहज ही की जा सकती है। उनके शिष्य माधव शुक्ल ने निम्नांकित पंक्तियों में भट्ट जी की वास्तविक दशा का चित्र खींचा है :—

"छूट गई नौकरी कमर जम्बू में टूटी।
फूट गई इक आँख वित्त की आशा छूटी।"[1]

रामनवमी का दिन था भट्ट जी जमुना स्नान करने गए। लौटे तो बुखार आ गया। उनके जीवन में यह दूसरी बार बुखार आया था और ऐसा आया कि उन्हें साथ लेकर ही गया।[2] आर्थिक विपन्नता इतनी अधिक थी कि अंग्रेजी दवा खरीदने की सामर्थ्य तक नहीं थी।[3] भट्ट जी खाट पर पड़े रहते थे, अध्ययन का शौक उन्हें अत्यधिक था इसलिये रामायण या महाभारत पढ़ते रहते[4] या समाचार पत्रों से समाचार दूसरों से पढ़वा कर सुनते रहते थे।[5] प्रयाग के उदीयमान साहित्यिक अभिरुचि के अनेकों नवयुवक भट्ट जी को पूज्य मानते थे और उनमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। बीमार भट्ट जी के चारों ओर इन्हीं श्रद्धालु नवयुवकों का जमघट रहता था। नित्य आने वालों में प्रमुख थे—रासी (रासविहारी शुक्ल) कृष्णा, पुरुषोत्तम (टंडन जी) रमा, माधव (शुक्ल) वेनी, ब्रजमोहन (कूल) मन्नी इत्यादि।[6] भट्ट जी की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी कि उनका एक पुत्र संस्कृत का विद्वान हो। 'गया' करते समय उन्होंने जो तीन वी मांगे थे यह उनमें से यह एक था।[7]

---

१. शोकांजलि (हा भट्ट जी) माधव शुक्ल 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२८।
२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८४।
३. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८४।
४. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८४।
५. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६७।
६. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८५।
७. भट्ट जी ने अपने पिता की गया करते समय निम्नांकित तीन वर मांगे थे।

१—अपने भाई से हमें हिस्से में कुछ भी न मिले।
२—दो हमारे पुत्र कन्यादि समीप हैं उनका चरित्र निर्मल रहे और किसी का विछोह अपने जीवन में हमें न सहना पड़े।

भट्ट जी की बीमारी की अवस्था में ही जनार्दन भट्ट की एम० ए० (प्रथम वर्ष) संस्कृत का परीक्षा फल निकला। लोगों ने यह शुभ समाचार जब भट्ट जी को सुनाया तो उन्हें विश्वास ही न हुआ किन्तु अपने विश्वास पात्र श्री ब्रजमोहन जी व्यास के कहने पर उन्होंने विश्वास किया। यह स्मरणीय है कि अर्थाभाव के कारण पं० जनार्दन भट्ट एम० ए० (अंतिम वर्ष) अपने पिता के सामने नहीं कर पाए उन्होंने अध्ययन छोड़कर अध्यापन का कार्य प्रेम महाविद्यालय बृन्दावन में किया[1] और कुछ धन संचय कर लेने पर उसके एक वर्ष बाद ही वे पूर्ण एम० ए० कर सके।[2]

भट्ट जी की दशा दिन प्रति दिन गिरती ही गई। एक दिन महामना मालवीय जो भट्ट जी के सगे समधी भी थे उनसे मिलने आए। मस्तिष्क की दुर्बलता और रोग की कठिनता के कारण भट्ट जी उन्हें पहचान नहीं पाए और अपने घर का ही कोई सदस्य समझ लघुशंका जाने की बात कही। मालवीय जी ने पास ही रखा मिट्टी का पात्र उठा लिया और उन्हें लघुशंका करानी चाही किन्तु इतने में भट्ट जी की पत्नी ने यह सब देख लिया और तुरन्त ही पात्र मालवीय जी से ले लिया।[3] मृत्यु से पूर्व भट्ट जी की हार्दिक इच्छा कुछ दान करने की थी। जनार्दन भट्ट का पहला वेतन १०, १५ दिन में ही आने को था पर भट्ट जी की यह अभिलाषा पूर्ण न हुई।[4] और भट्ट जी चल दिए। मृत्यु के समय पं० जनार्दन भट्ट[5] और मूलचंद भट्ट न आ सके।[6]

३—एक लड़का संस्कृत का विद्वान हो।

यह बड़े सुख और सौभाग्य का विषय है कि भट्ट जी की सभी इच्छायें पूरी हुई।

पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १९१४ पृ० २६९।

१. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ०० ८५।

२. पं० जनार्दन भट्ट ने स्वयमेव यह तथ्य मुझे बताया।

३. पं बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८६।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ८७।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ३ ८८।

६. तार मिला हृदयविदारक समाचार सुनते ही होश उड़ गए। हा शोक ! ईश्वरेच्छा। हम यहाँ से शुक्र के शाम को चलेंगे और सोमवार को प्रयाग

भट्ट जी की मृत्यु श्रावण कृष्ण १३ सं० १९७१ सोमवार (२० जुलाई १९१४) को[१] शाम को ४ बज कर ३५ मिनट पर हुई। मृत्यु के समय भट्ट जी ७० वर्ष और ३२ दिन के हो चुके थे।[२]

भट्ट जी की अर्थी के साथ नगर के शताधिक गण्यमान लोग थे। महामना पं० मदनमोहन मालवीय, बाबू पुरूषोत्तमदास टंडन तथा पं० कृष्णकान्त मालवीय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[३] भट्ट जी का दाह संस्कार प्रयाग की नागवासुकि घाट पर उनके सुपुत्र पं० महादेव भट्ट ने किया।[४]

भट्ट जी की मृत्यु का समाचार जिसने सुना वही अवसन्न रह गया। शीघ्र ही यह समाचार सम्पूर्ण नगर में और फिर सम्पूर्ण हिन्दी भाषा प्रदेश में फैल गया। संवेदना के तारों का तांता बंध गया। (अनेक तार परिशिष्ट में दे दिए गए हैं) उस काल के सभी प्रतिष्ठित पत्र पत्रिकाओं यथा पाटलिपुत्र,[५] आनन्द[६], अभ्युदय,[७] प्रताप,[८] वैंकटेश्वर समाचार[९] आदि ने उनके चित्र देकर मार्मिक लेख प्रकाशित किए। प्रसिद्ध साहित्यकारों यथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी[१०] तथा माधव शुक्ल[११] आदि ने भट्ट जी पर शोकांजलियाँ लिखी।

भारतेन्दु युग में भट्ट जी का जीवन सबसे अधिक त्याग और तपस्यामय रहा है वह हिन्दी प्रेमियों तथा साहित्य सेवियों के लिये प्रेरणा का अमर तथा अव्यय स्रोत है और निराशा की घड़ियों में प्रकाश स्तंभ के सदृश है।

पहुँचेंगे। तुम लोग सब काम संभालो जनार्दन समय पर मौजूद थे कि नहीं? मूलचंद बंगलौर।

पं० मूलचंद भट्ट द्वारा पं० महादेव भट्ट को दिया गया तार, ता० २२-७-१४।

१. भारतेंदु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण २००६, पृ० १२।
२. पं० बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, (अप्र०) लक्ष्मीकाँत भट्ट, पृ० ८७।
३. 'प्रताप' २६ जुलाई १९१४।
४. 'प्रताप' २६ जुलाई, १९१४।
५. श्रावण शुक्ला १०, संवत् १९७१।
६. श्रावण वदी ३०, संवत् १९७१।
७. श्रावण सुदी ३ संवत् १९७१।
८. २६ जुलाई सन् १९१४।
९. २ जुलाई सन् १९०६।
१०. 'सरस्वती' १ अगस्त १९१४, पृ० ४७२।
११. 'मर्यादा' जून १९१४, भाग ८ सं० २ पृ० १२५।

भट्ट जी का चरित्र

गम्भीर निडर और ईमानदार :—भट्ट जी उन महान् पुरुषों में से थे जो चरित्र को सर्वोपरि मानकर चलते हैं। रासबिहारी शुक्ल ने भट्ट जी के चरित्र सम्बन्धी विचारों के विषय में लिखा है—"वे कहा करते थे 'मनुष्य में चाहे विद्याधन, वैभव आदि कुछ भी न हो यदि वह चरित्र का शुद्ध है तो उसका जीवन बहुत ही आनन्दमय बीतेगा और वह समाज में श्रेष्ठ समझा जायगा।' कोई मनुष्य चाहे कैसा ही उच्च पदाधिकारी क्यों न हो और उसमें अन्य न जाने कितनी ही भली बातें क्यों न हों यदि वह दूषित और चरित्रहीन होता तो आप उससे बहुत ही घिनाते और उस पर कुछ भी श्रद्धा न करते।"[1]

भट्ट जी अपने निर्मल चरित्र के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। भट्ट जी के चरित्र की उच्चता एवं निर्मलता को स्पष्ट करने के लिये प्रसिद्ध सम्पादक रामानन्द चटर्जी ने अपने भट्ट जी विषयक एक संस्मरण में एक घटना की चर्चा की है। रामानन्द जी चटर्जी के शब्दों को यथावत् उद्धृत करना यहाँ असंगत नहीं होगा :—

"मेरे इलाहाबाद रहते हुए उनके कुटुम्बियों (शायद भाई वगैरह) के नाम कोर्ट में एक बहुत ज्यादा रुपयों की नालिश हुई थी। उन लोगों ने न जाने किस वजह से पंडित जी को भी अपने साथ लपेट कर अदालत में उन्हें कर्जदार साबित करना चाहा इससे भट्ट जी बहुत ही क्रुद्ध हो गए। उन्होंने कहा—' मैं तुम्हारे तमाम धन-दौलत को छोड़-छाड़ कर युवावस्था से ही स्वयं परिश्रम कर तकलीफें उठा कर बाल बच्चों को पाल रहा हूँ और बड़ी मुश्किल से एक कुटिया बना पाया हूँ उस पर भी तुम्हारी नीयत है।" उसके बाद वे पं० सर सुन्दरलाल आदि खास-खास वकीलों के पास गए और अपनी सब बातें कह सुनाईं। इस पर उन लोगों ने पण्डित जी के भाई-बन्दों को बुला कर कहा "तुम लोग अगर भट्ट जी को लपेटोगे तो हम कोई भी वकालतनामा न लेंगे।" आखिर मुकद्दमे से भट्ट जी का नाम उन्हें निकाल देना पड़ा। पण्डित जी के साथ औरों का मतभेद होने पर भी उनकी तेजस्विता, ज्ञानानुराग और निर्मल चरित्र के लिए उन्हें सभी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।"[2]

भट्ट जी के प्रिय शिष्य एवं तत्कालीन प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री माधव शुक्ल ने भट्ट जी के देहावसान पर एक विस्तृत 'शोकांजलि' लिखी थी उसमें

---

१. 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३९।

२. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशाल भारत' मार्च १९२२ पृ० २९८।

भट्ट जी के जीवन की प्रमुख-प्रमुख घटनाओं के साथ उनके चरित्र पर भी उचित प्रकाश पड़ता है। माधव शुक्ल के निम्नांकित छन्दों में हम भट्ट जी के वास्तविक चरित्र का स्पष्ट चित्र देख सकते हैं :—

"सबसे अद्भुत उच्च सुगुण उनमें चरित्र था।
चरितवान ही उनका सर्वस और मित्र था॥
निज पैतृक सम्पत्ति इसी के कारण छोड़ा।
स्वावलम्ब पर रहे किन्तु बन्धुत्व न तोड़ा॥
उस विपत समय में भी कभी
निज प्रण से वे हटके नहीं।
तज क्रियाशील आदर्श पथ
कहिं इधर-उधर भटके नहीं॥[1]

भट्ट जी बड़े निडर और स्वाभिमानी पुरुष थे। उनका सारा जीवन ही निडरता का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। तिलक के बन्दी हो जाने के पश्चात् उनका निडर और ओजस्वी भाषण उनकी इस विशेषता का जीता जागता प्रमाण है। श्री सुन्दरलाल ने उनके इस भाषण की चर्चा अपने भट्ट जी विषयक एक संस्मरण में की है।[2] स्वाभिमानी इतने थे कि उपर्युक्त उग्र भाषण के कारण आपको शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने बुलाया और तद्विषयक सफाई मांगी। भट्ट जी उसकी बात सुने बिना ही 'राम राम हमका अस नौकरी न चाही' कहते हुए उठ बैठे और फिर कभी डाइरेक्टर की शक्ल तक न देखी।[3] और इस स्वाभिमान की वेदी पर उन्होंने अपनी नौकरी की बलि दे दी जो कि उनके जीवनयापन का एक मात्र अवलम्ब थी। भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से, निडर होकर, अँग्रेजों और पराधीनता के विरोध में बत्तीस तेतीस वर्ष तक बराबर आग उगलते रहे। यह हम अपने 'भट्ट जी के राजनैतिक निबन्धों' में विस्तार से दिखायेंगे। सच्चाई और ईमानदारी में तो भट्ट जी जैसे महान् पुरुष विरले ही मिलेंगे। भट्ट जी उन महान व्यक्तियों में से थे जो अपने जीवन में मन वचन और कर्म का उचित समन्वय करके चलते हैं। अपनी आत्मा का

---

१. **'शोकांजलि', माधव शुक्ल, मर्यादा जून १९१४, पृ० १२५ पद सं० १९।**

२. **पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल, 'विशाल भारत', जनवरी १९२२, पृ० २७।**

३. **पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल, 'विशाल भारत', जनवरी १९२२ पृ० २८।**

हनन कर भट्ट जी ने अपने जीवन में कोई कार्य नहीं किया, उसके लिए फिर चाहे उन्हें बड़े से बड़ा त्याग क्यों न करना पड़ा हो। एक बार भट्ट जी जब जीविका के किसी साधन की खोज में थे। 'भारतमित्र' वालों ने उन्हें अपने यहां ७५ रुपया मासिक तथा अन्य अनेक सुविधाओं का लालच देकर बुलाना चाहा। सब बात तै होने पर उन्होंने भट्ट जी से कहा कि आपको आर्य सिद्धान्त स्वीकार करना होगा। भट्ट जी ने जीवन की विषम परिस्थितयों में भी सहज भाव से उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।[1] इसी प्रकार बम्बई के उच्च न्यायालय में चले एक मुकद्दमे (वाद) में गोसाइयों के भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ होने पर गोसाइयों के विरुद्ध लिखना प्रारम्भ कर दिया। ध्यान देने की बात यह है कि भट्ट जी स्वयं भी वल्लभी कुल के शिष्य थे और वल्लभ कुल की कंठी बाँधते थे। भट्ट जी ने कंठी उतार कर फेंकदी और 'प्रदीप' में गोसाईं सम्प्रदाय की खूब खबर ली फलस्वरूप गोस्वामी लोगों में बिकने वाली लगभग ५० 'प्रदीप' की प्रतियों की नियमित बिक्री से भी हाथ धो बैठे।[2] इतना सब कुछ सहने पर भी वे अपने चरित्र की सच्चाई से रंचमात्र भी विचलित न हुए। जिस व्यक्ति ने अपने भाग की लाखों की अपनी पैतृक सम्पत्ति स्वेच्छया छोड़दी हो[3] उस पर ऐसे साधारण लाभ हानि का प्रभाव हो भी क्या सकता था। भट्ट जी के निर्मल और उच्च चरित्र की भूरि भूरि प्रशंसा रामानन्द चटर्जी ने अपने एक लेख में की है।[4]

भोले, निर्लोभी और हँसमुख :—भट्ट जी का बालकों जैसा कोमल स्वभाव था। वे बड़े निश्छल और उदार पुरुष थे। राजर्षि टंडन की निम्नांकित पंक्तियाँ भट्ट जी के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डालती हैं :—

"लेख भी वैसे ही थे जैसा भट्ट जी का स्वभाव ऊपर से गालियाँ दे रहे हैं 'निगोड़ा' और 'पिशाच' तो अति प्यार के शब्द हैं, किन्तु गाली खाने वाला भी

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' १ नवम्बर १९१४, पृ० ६३४।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल, 'विशालभारत', जनवरी १९२८, पृ० २६।

३. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशालभारत' जनवरी १९२८, पृ० २९८।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' १ नवम्बर १९१४, पृ० ६३४।

जानता है कि उन बाल स्वभाव, शुद्ध पवित्रात्मा के हृदय में सिवा प्रेम और दया के किसी की ओर से बुरा भाव नहीं है।"[1]

भट्ट जी के कोमल बालकों जैसे स्वभाव तथा हास्य प्रियता के विषय में श्रीधर पाठक ने एक स्थान पर लिखा है :—

"हम आपके संसर्ग से आपके साथ इतने ढीठ हो गए थे कि जब आपसे मिलते थे 'प्रोनाम भट्टोजि', (का हो भड़जी) आदि अनेक विनोदात्मक सम्बोधनों से आपका अभिनन्दन करते थे और आप आशीर्वाद देते थे—'तुमरे मूड़े आग लगै, निबहुरियउ। और यह स्निग्ध संलाप हमें इतना प्रिय था कि हम उसके पुनः पुनराभिनयन निमित्त आपके निकट दौड़ दौड़ के पहुँचते थे। आपके सत्संग प्रसूत इस प्रकार के अगणित वाग्विनोद इन कानों के गहन गह्वरों में पुनः पुनः प्रतिध्वनित हो रहे हैं।"[2]

भट्ट जी के विषय में तो यह प्रसिद्ध है कि लोगों को उनकी गालियाँ भी इतनी अच्छी लगती थीं कि वे केवल गालिआँ सुनने के लिये ही भट्ट जी को चिढ़ाया करते थे।[3]

भट्ट जी के भोलेपन की माप बहुत कुछ रासबिहारी शुक्ल की निम्नांकित पंक्तियों से हो सकती है : –

"सरल स्वभाव आप ऐसे थे कि यदि कोई व्यक्ति किसी की बुराई आपसे करता तो आप झट विश्वास कर लेते और मौक़ा पाने पर उस मनुष्य को जिसके बारे में आपने बुराई सुनी थी खूब फटकारते जब वह अपनी सफाई करता और समझा देता कि यह बात सत्य नहीं है तब आप यही कहते कि हम क्या जानें फलाने मनुष्य ने हमसे ऐसा ही कहा था।"[4]

भट्ट जी के प्रिय शिष्य माधव शुक्ल की निम्नांकित पंक्तियों से भी उपर्युक्त तथ्यों का समर्थन होता हैं :—

थे जैसे ही खरे उसी विधि अति हंसोड़ थे।
खर्च वर्च में भी उदार वैसे हि अथोड़ थे।

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, पुरुषोत्तमदास टंडन, 'अभ्युदय' २५ जुलाई, १९१४।

२. गोपिका गीत (समुपस्थिति) श्रीधर पाठक, संवत् १९७३, पृ० १।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३८।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३९।

थे परम निष्कपट शुद्ध मन
सब कह देते निःशंक हो ।।
अति मुंह फट दबते नहिं कभी,
हो राजा चाहे रंक हो ।।[1]

भट्ट जी को लोभ तो छू तक नहीं गया था । त्याग और लोभ एक साथ रह भी नहीं सकते उनमें शत्रुता है । लोभ मनुष्य की संचय वृत्ति का जनक है संचय और भट्ट जी में क्या सम्बन्ध ।

श्री माधव शुक्ल ने ठीक ही लिखा है :—

"अति निर्लोभी परकार्यरत, दृढ़ निर्भय विद्याकुशल,
हा भारत गौरव भट्ट जी क्यों गए स्वर्ग कर शून्य थल ।[2]

परदुःखकातर परोपकारी एवं नम्र :—भट्ट जी बड़े परदुःख कातर व्यक्ति थे । दूसरे का कष्ट इनसे देखा नहीं जाता था । इनका एक शिष्य डिप्टी कलक्टर हो गया । वह इन्हें एक दिन अपना इजलास दिखाने ले गया वहाँ उसने एक अपराधी को किसी अपराध में १० बेंत की सजा दी । अपराधी यह सुनकर एकदम रो पड़ा । भट्ट जी से उसका रोना नहीं देखा गया और अपने शिष्य से बोले 'अबे इसे छोड़ दे वे' भट्ट जी के कहने से उसने कुछ बेंतों की सजा कम करदी ।[3]

भट्ट जी का एक मित्र वेश्यागामी हो गया । उसकी पत्नी बड़ी दुःखी थी उसने भट्ट जी से सहायता की भीख माँगी । भट्ट जी ने सब काम छोड़ कर अपने मित्र को सुधारा मित्र पत्नी का कष्ट दूर किया ।[4]

भट्ट जी के शिष्य मधुमंगल मिश्र बी० ए० ने अपने भट्ट जी विषयक संस्मरण में लिखा है कि अर्थाभाव से सतत पीड़ित रहने पर भी भट्ट जी दीन हीन विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता किया करते थे । एक बार स्वयं श्री मिश्र जी का परीक्षा शुल्क भट्ट जी ने अपने पास से दिया था ।[5]

---

१. शोकांजलि, माधव शुक्ल 'मर्यादा' जून सन् १६१४, पद नं० १५, पृ० १२७ ।

२. शोकांजलि, माधव शुक्ल, जून सन् १६१४, पद सं० ६, पृ० १२५ ।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट (अप्र० जीवनी) पं० महादेव भट्ट, पृ० ४ ।

४. ,, ,, लक्ष्मीकांत भट्ट, पृ० ३६ ।

५. ,, मधुमंगल मिश्र बी० ए०, 'हितकारिणी' सित० १६१४, पृ० २६७ ।

लेखकों की सहायता भी भट्ट जी यथाशक्ति किया ही करते थे। हिन्दी लेखकों की दशा उस युग में वैसे ही अच्छी नहीं थी। 'हितैषी' जी ने अपने एक लेख में इस बात की चर्चा की है कि पं० सरयू प्रसाद जी की सहायता भट्ट जी ने कई बार की थी।[1]

नम्रता की तो भट्ट जी सजीव मूर्ति थे। संस्कृत हिन्दी के प्रकांड विद्वान होने पर भी गर्व तो आपको छू भी नहीं गया था। छोटे छोटे लेखकों को बड़ा प्रोत्साहन देते थे और उनके लेखों को अपने से भी अच्छा बताते थे। आज के प्रतिष्ठित साहित्यकारों में इस प्रकार की नम्रता स्वप्न हो गई है।

स्वतन्त्र विचारक आत्मविश्वासी एवं प्रगतिशील विचारधारा के व्यक्ति :—

भट्ट जी किसी वाद या धर्म विशेष के संकीर्ण वृत्त में बँध कर चलने वाले नहीं थे। वे तो 'अच्छाई जहाँ भी दीखे ग्रहण करो' के पक्ष में थे। वे सनातन धर्म का भी विरोध करते थे और आर्य समाज की आलोचना भी उन्होंने की है। एक बार एक मनुष्य ने भट्ट जी से पूछ ही लिया—"आप किस मत के अनुयायी हैं? सनातन धर्म के या आर्य समाज के? भटट जी का उत्तर अप्रत्याशित अत्यन्त संक्षिप्त और उपयुक्त था—"बुद्धि के।"[2]

राजनैतिक, धार्मिक, तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में भट्ट जी अपना निश्चित मत रखते थे। वे किसी के दबाव या प्रभाव में आकर अपना मत बदलते यह तो कल्पनातीत था।

कुछ दिन 'हिन्दी प्रदीप' पं० मदनमोहन मालवीय के 'अभ्युदय' प्रेस से छपता था। भट्ट जी उग्र राजनैतिक लेख लिखने के आदी थे। मालवीय जी को यह पसन्द नहीं था। मालवीय जी ने "अभ्युदय" के तत्कालीन सम्पादक सत्यानन्द जोशी को आज्ञा दी कि छपने से पूर्व भट्ट जी के लेख देख लिया करो कि वे अधिक उग्र न हों। भट्ट जी को यह सब कुछ बिलकुल नही रुचा और उन्होंने "अभ्युदय" प्रेस से 'हिन्दी प्रदीप' छपाना बन्द कर दिया।[3]

भट्ट जी बड़े आत्मविश्वासी थे। 'प्रदीप' को कठिनाइयों के झंझावत में भी ३३ वर्ष तक प्रकाशित रखना आत्मविश्वास की ही चरमसीमा थी। भट्ट जी को अपने पाण्डित्य और असाधारण भाषाधिकार का ज्ञान था यह

---

१. **स्वर्गीय सरयूप्रसाद जी, "हितैषी" 'मर्यादा' जूलाई १९११, पृ० १२५।**

२. **पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४ पृ० ६३४।**

३. **" " (अप्र० जीवनी) पं० महादेव भट्ट पृ० ८।**

दूसरी बात है कि नम्रतावश उसे वे कभी प्रकट न करते हों । फिर भी 'प्रदीप' के पुराने पृष्ठों में उनका यह आत्मविश्वास यत्र तत्र बिखरा पड़ा है । 'प्रदीप' अपने सहयोगियों में सबसे पुराना था और विषय सामग्री की दृष्टि से भी सर्वोत्कृष्ट । निम्नांकित पंक्तियों में भट्ट जी का आत्मविश्वास बिलकुल स्पष्ट है :—

"किन्तु हिन्दी जिसके सहारे हमारा जीवन है उसे जब इस तरह दीन हीन दशा में प्राप्त देखते हैं तो अवश्य हमें भी वृद्ध जावालि बनने का घमंड होता है । और यही कहने का मन होता है कि अपने सहयोगियों में हम सबों में पुराने हैं ।"[१]

अर्थाभाव में भी 'हिन्दी प्रदीप' का स्तर जिस मनीषी ने गिरने न दिया उसके वाक्यों में आत्मविश्वास का यह ओज स्वाभाविक ही है :—

मस्तिष्क कितना ही कुण्ठित हो गया है तो भी पाठकों को रिझाने में फिर भी समर्थ हैं । मसल है कि दिल्ली सूनी हो गई तो भी सवा लाख सवार नकल सकते हैं । लेखनी गठीले से गठीला मजमून गढ़ने में कभी विकल नहीं होती किन्तु कलदार के गढ़ने में इसकी कोई कला नहीं चलती जिसके बिना कोई काम ही सिद्ध नहीं हो सकता विशेषकर ब्रिटिशसिंह के इस कड़े शासन में जो कुछ कहो सब कलदार ही है ।"[२]

भट्ट जी का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था । वे तिलक के गरमदल के अनुयायी थे धर्म, समाज, राजनीति में जहाँ जो कुछ सड़ा गला है भट्ट जी उसका विध्वंस चाहते थे और इस उपलक्ष में उन्हें नास्तिक, क्रांतिकारी विधर्मी, विक्षिप्त आदि न जाने कितने विशेषणों को इच्छा या अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ा था ।[3]

भट्ट जी उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो जनता की रुचि देख कर लिखते हैं । वे तो उन असाधारण व्यक्तियों में से थे जो जनता की रुचि शोधन तथा सुरुचि निर्माण का महत्कार्य भी करते हैं । भट्ट जी के विरोध के मुख्य विषय निम्नांकित थे इनसे भट्ट जी की प्रगतिशीलता स्वयं स्पष्ट हो जायगी :—

(१) बाल विवाह के कट्टर विरोधी ।[४]

(२) पेटार्थी ब्राह्मणों के विरोधी ।[५]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० १ ।

२. 'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० २-३ ।

३. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० २-३ ।

४. 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई, अगस्त १८८९, पृ० ३२ ।

५. 'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल से जून १८९१, पृ० ३१ ।

(३) बहु सन्तान विरोधी।[1]
(४) विदेश यात्रा के समर्थक।[2]
(५) सनातन धर्म विरोधी।[3]
(६) गोसाइयों के विरोधी।[4]
(७) तीर्थ विरोधी।[5]
(८) आर्य समाज, ब्रह्म समाज विरोधी।[6]
(९) पुराने रीति रिवाजों तथा रूढ़ियों के विरोधी।[7]
(१०) संयुक्त परिवार के विरोधी।[8]
(११) ढोंगी साधुओं के विरोधी।[9]
(१२) विधवा विवाह के समर्थक।[10]
(१३) बहु विवाह के विरोधी।[11]
(१४) स्त्रियों की शिक्षा तथा समानाधिकार के समर्थक।[12]
(१५) पर्दा प्रथा के विरोधी।[13]

यही नहीं कि धर्म और समाज के विषय में ही भट्ट जी की विचारधारा क्रान्तिकारी हो राजनीति के क्षेत्र में तो वे और भी अधिक उग्र और क्रांतिकारी थे। भट्ट जी विद्यार्थियों के राजनीति में भाग लेने के समर्थक थे। और भारतीय प्रजा के लिये शस्त्रों की मांग करने वालों में अग्रणी थे।[14] अपनी इस उग्रता

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट (अप्र० जीवनी) पं० महादेव भट्ट, पृ० १०।
२. ,, ,, ,, ,,
३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर २९१४, पृ० ६३५।
४. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८३, पृ० ३।
५. ,, फरवरी १८८०, पृ० १०।
६. ,, नवम्बर १८७९, पृ० १२-१३।
७. ,, जून १८८०, पृ० १७-१९।
८. ,, सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० १।
९. ,, सितम्बर १८७८, पृ० १२-१३।
१०. ,, जुलाई १८८०, पृ० ७-९।
११. ,, जुलाई, अगस्त १८८९, पृ०३०।
१२. ,, अप्रैल से जून १८९१, पृ०४८-२९।
१३. ,, जुलाई १८८२, पृ० १०।
१४. ,, अक्टूबर पृ० ४-६।

और प्रगतिशीलता के कारण उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े यह हम भट्ट जी के जीवन में दिखा चुके हैं।

दृढ़ उग्र और क्रोधी :— हिमाच्छादित शैलशृंगों के नीचे जैसे ज्वालामुखी छिपा रहता है ठीक उसी तरह शांत चित्त और सदा प्रसन्न रहने वाले भट्ट जी के अंतकरण में उग्रता और क्रोध छिपा रहता था। ऊपर से भोले, निश्छल और शांत दीखने वाले भट्ट जी अन्दर से बड़े ही दृढ़ उग्र और क्रोधी थे।

भट्ट जी की दृढ़ता की बात उन्हीं के शब्दों में कहना उचित होगा :—

'कहावत है रोटी खाइए शक्कर से दुनिया ठगिए मक्कर से।' हम ऐसे अभागे हुए कि हमसे सो न बन पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी समाज, दल या गोष्ठी में कदर पाने लायक न समझे गए न आगे कोई आशा है कि समझे जायेंगे। बल्कि अपना सब्ज कदम जहाँ ले गए वहीं से दुर दुराए गए कारण जिसका यही हुआ कि बहुत कुछ लोभ और लालच दिखलाने पर भी हम अपनी स्वच्छंद अनुमति प्रकाश करने से न हटे वरन् धवलागिरि के ऊँचे कंगूरे से डटे खड़े रहे जो न्याय और उचित समझ पड़ा उसी पर दृढ़ रहे 'न्यायात्पथ: प्रवचलन्ति पदं न धीरा' भर्तृहरि के इस सिद्धान्त को अपना शिक्षा गुरु बराबर मानते आए। संसार में लोकैषणा एक बहुमूल्य रत्न है। लोकैषणा प्रवीण जहाँ होंगे वही सर्वसम्मति हो सुख से जीवन पार करेंगे। दुर्दैववश वह हमें न आई।[1]

भट्ट जी को क्रोध प्राय: तब आ जाता जब लिखते समय घर के लोग घर में 'नमक तेल लकड़ी' के अभाव का समाचार उन्हें अचानक देते लेकिन वे दूसरे पर क्रोध न करके अपने ही ऊपर क्रुद्ध होते थे। रासबिहारी शुक्ल ने एक स्थान पर लिखा है :—

'भट्ट जी क्रोधी बड़े थे पर क्रोध उनका क्षणिक होता था। उस क्रोध से किसी दूसरे को कष्ट होता हो सो नहीं वरन वे अपना ही सिर पीट डालते थे।'[2]

भट्ट जी को क्रोध उस समय भी आ जाता था जब कोई उनसे उनके लगे हुए पान माँगता। उनका कहना था कि 'निवट जायेंगे तो कहाँ से लाऊँगा।'[3]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८०, पृ० ४–६।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३८।

३. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशाल भारत' मार्च १९२८, पृ० २९८।

भट्ट जी के सुपुत्र पं० महादेव भट्ट का कहना है कि सात्विक क्रोध की यह प्रवृत्ति उन्हें जन्म के साथ ही अपनी माता से मिली।[1]

भट्ट जी सम्पादक तो थे ही अनेकों का वे विरोध करते थे तो बहुत से उनका भी करते थे किन्तु जब भट्ट जी के स्वाभिमान और सम्मान पर चोट पहुँचाने वाली अभद्र बात कोई लिखता था तो वे भी क्रोध में आकर वैसा ही लिखते थे एक उदाहरण लीजिए, 'प्रयाग समाचार' के सम्पादक को भट्ट जी प्रत्युत्तर देते हैं :—

'एडीटर महाशय आप हम पर तो इतना कुढ़े पर अपना छिछोरापन तो पहले दूर कीजिए। नाट्यशाला को वंटाढार कर अब अखबार की धूर उड़ा रहे हो। सब रङ्ग रँगते हो पर चलती कोई नहीं अन्त को जो बात सच्च है प्रगट हो ही जाती है सब जानते हैं यह ग्रामीण हम लोगों के उस रेलवे थियेटर में नौकर था कत्थकों का काम किया करता था और हम तो स्वयं उसके कर्त्ता विधाता और अधिकारियों में से थे। जो कुछ हमने उसमें किया सब अपने मन से किया फिर भी 'घी वाले को घी शक्कर मूँजी को टक्कर'। हम तो भी धर्म के अवतार युधिष्ठिर हुए और तुम्हें तुम्हारे शील स्वभाव के सदृश वह दक्षिणा मिली कि बैरागी के भेष में वे भाव की खाते चाँद गंजी हो गई क्या भूल गए ? प्रयाग समाचार की कौन बड़ी कदर है और हमारी इसमें कौन सी हानि होगई जो पेट में कुर कुरी हो, हम तुम्हारे कर्त्तव्य में क्या विघ्न डाल रहे हैं तुम्हारा सिर तो आप ही व्यर्थ खुजला रहा है।[2]

भट्ट जी के व्यक्तित्व निर्माण में उग्रता का प्रतिशत तो ७५ प्रतिशत से भी अधिक बैठेगा। यों तो भट्ट जी व्यक्तिगत जीवन में भी बड़े उग्र थे और चाहे जिसे खरी खोटी सुना देते थे। किन्तु लिखित रूप में उनकी उग्रता का सबसे अधिक विस्फोट तीन चीजों के विरुद्ध हुआ है। (१) अंग्रेजी सरकार,[3] (२) राजा शिवप्रसाद[4] (३) हिन्दू समाज और उसकी रूढ़ियाँ।[5] व्यक्तिगत जीवन में भट्ट जी की उग्रता कहीं कहीं ही प्रकट होती थी वह तो वास्तव में उनके साहित्य

---

१. चित्र दर्शन, : 'हिन्दी प्रदीप' : महादेव भट्ट, मई जून १८६६, पृ० २०।

२. हिन्दी प्रदीप, जुलाई १८८२, पृ० ११।

३. हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८७८, पृ० ४–७।

४. हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८१, पृ० २८।

५. हिन्दी प्रदीप, जुलाई अगस्त १८८६, पृ० ३०–३४।

के माध्यम से ही प्रकट होती थी और पूरे भारतेन्दु युग में भट्ट जी की उग्रता की तुलना में कोई दूसरा लेखक नहीं टिकता ।

कर्त्तव्य परायण, संयमी एवं भगवद्भक्त :—भट्ट जी जिस कार्य को भी अपने हाथ में लेते थे कितनी ही कठिनाई आने पर भी वे उसे पूरा अवश्य करते थे । डा० 'श्यामसुन्दरदास' के सम्पादकत्व में जो वृहत् हिन्दी शब्द कोष निकला भट्ट जी भी उसमें सहायक थे । डा० 'श्यामसुन्दरदास' जब काश्मीर गए तो कोष सम्बन्धी कार्यालय को भी अपने साथ ले गए और भट्ट जी भी अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी वहाँ गए[१] क्योंकि एक बार जिस कार्य को उन्होंने हाथ में लिया उसे पूरा करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे । घोर आर्थिक कष्ट होते हुए भी उन्होंने ३३ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' को प्रकाशित रखा उनकी लगन और कर्त्तव्य परायणता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा ? डा० रामविलास शर्मा ने इस विषय में लिखा है : —

'बालकृष्ण भट्ट का ३३ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' चलाना एक ऐतिहासिक घटना है । धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है ।'[२]

माधव शुक्ल की निम्नांकित पंक्तियों से भी भट्ट जी की लगन एवं कर्त्तव्य परायणता पर समुचित प्रकाश पड़ता है :—

पैसा था ही नहीं कहीं से तेल मांग कर
भोजन कर इक समय रात भर जाग-जाग कर
ये वीर तपस्वी इस तरह
निज लगा रहा उद्देश्य नित ।
पर डिगा नहीं प्रण से कभी
कष्ट सहन कर भी अमित ।[३]

भट्ट जी बड़े नियम संयम से रहने वाले व्यक्ति थे । इलाहाबाद रहते आप नित्य प्रति गंगा-स्नान करते तथा बड़ी देर तक संध्या तर्पण गायत्री जप तथा प्राणायाम आदि करते ।[४] प्राणायाम के इस अभ्यास ने ही एक बार इनकी जीवन रक्षा की । एक बार रात्रि में दो गायें आपस में लड़ते लड़ते भट्ट जी से आ टकराईं भट्ट जी गिर पड़े और एक गाय अपने पैर इनके ऊपर रखकर

---

१. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण : पृ० ७ ।

१. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० ११५ ।

३. शोकांजलि, माधव शुक्ल, 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२७ ।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट (अप्र० जीवनी) मूलचन्द भट्ट, पृ० ७ ।

निकल गई किन्तु इन्हें जरा भी चोट न आई। प्राणायाम का अच्छा अभ्यास ही यहाँ इनका सहायक सिद्ध हुआ।[१]

भट्ट जी की अत्यन्त उग्र और क्रांतिकारी विचारधारा को देखकर ऐसा लगता है मानो भट्ट जी नास्तिक हों किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। भट्ट जी आस्तिक थे, भगवान के पक्के भक्त। नित्यप्रति पूजा पाठ करने वाले और अनीश्वरवादियों से चिढ़ने वाले। एक स्थान पर वे स्वयं लिखते हैं :—

'अभागे निरीश्वरवादी जिन्हें किसी आदि कारण का मान लेना मानो अपनी गांठ का कुछ गँवा बैठना है उस कल के बनाने वाले कारीगर का अस्तित्व स्वीकार न कर केवल कल ही के कायल हैं और प्रधान अथवा प्रकृति माया नेचर या स्वभाव आदि विविध नाम उसका धरा करते हैं।[२]

श्रीधर पाठक ने भी भगवद्भक्त भट्ट जी को अपनी श्रद्धांजली इन शब्दों में अर्पित की है :—

आप हमारे पितृचरणों की भाँति सदैव श्रीमद्भागवत का अनुशीलन किया करते थे और भगवद्भक्ति और स्वदेश वात्सल्य के अगाध अब्धि में अवगाहित दृष्टि पड़ते थे।[३]

विद्या प्रेमी तथा देश प्रेमी :—भट्ट जी के विद्या प्रेम की गहराई तो इसी घटना से स्पष्ट है कि उन्होंने इसके लिये जीवन के सम्पूर्ण सुखों एवं लाखों रुपये की पैतृक सम्पत्ति पर लात मार दी। वे सरस्वती के सच्चे उपासक थे लक्ष्मी से उन्हें प्रेम न था। सम्पूर्ण आकर्षण होते हुए लक्ष्मी उन्हें वरेण्य नहीं थी। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है :—

'शास्त्रकारों ने सरस्वती का वाहन हंस और लक्ष्मी का वाहन उलूक ठहराया है जिसका यही तत्व है कि धनवान लक्ष्मी के कृपापात्र होते हैं, इसलिये सदा से उल्लू होते आए और हंस के अर्थ हैं श्रेष्ठ इसलिये जो लोग केवल सरस्वती के कृपापात्र हैं वे सदा से आचरण और बुद्धि में श्रेष्ठ ही होते गए।"[४]

अध्ययन भट्ट जी के जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया था उसके बिना वे जीवित नहीं रह सकते थे। विद्याध्ययन में उन्हें जितना सुख मिलता

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधु मंगल मिश्र 'हितकारिणी' सितम्बर १९१४, पृ० २६७।

२. 'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल १८८८, पृ० ४।

३. 'गोपिका गीत' श्रीधर पाठक, प्रथम संस्करण, सम्वत १९७३, पृ० ६।

४. 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८८, पृ० ३।

था उतना अन्य किसी कार्य में नहीं। अपने एक लेख में भट्ट जी के विद्या प्रेम के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्री पुरुषोत्तमदास टंडन लिखते हैं :–

"विद्या प्रेमियों के लिये भट्ट जी की जीवनी सोने के अक्षरों में लिखने योग्य है। विद्या और विद्या प्रेम ही उनका धन था उसके लिये उन्होंने युवावस्था ही से अपनी पैतृक सम्पत्ति पर लात मार दी थी। और अंत तक केवल पढ़ना और लिखना ही उनके आनन्द की सामग्रियाँ थीं। तीन मास के ज्वर से पीड़ित होने पर भी मृत्यु के सात आठ दिन पूर्व वे अपने पुत्र को हिन्दी का एक लेख लिखा रहे थे वही पुरानी आदत के अनुसार हास्यपूर्ण लेख। और अंत तक मैं जब जब मिलता था वही पढ़ने लिखने की चर्चा थी। मुझे मृत्यु के दो ही दिन पहले की वह बात नहीं भूल सकती जब उन्होंने मुझसे कहा--"अब मेरा समय आगया मुझे विदा करो। मुझे अभी कई ग्रंथ पढ़ने की इच्छा थी किन्तु अब समाप्त होती नहीं दिखाई पड़ती।"[1]

भट्ट जी के विद्या प्रेम के विषय में रासबिहारी शुक्ल ने लिखा है :—

"आप जब कभी गृहस्थी के झंझट से ऊबते तब यही कहते—"हम चाहते थे कि हमारे कोई न होता और हम अकेले रहते, हमको ऐसा स्थान मिलता जहाँ सिवा पुस्तकों के और कुछ न होता और हम बैठे पढ़ा ही करते।"[2]

जब भट्ट जी बीमार पड़े तो उन्हें बीमार पड़ने का दुःख नहीं था, दुःख था बीमारी में न पढ़ पाने का।[3]

भट्ट जी अपने काल के सुप्रसिद्ध विद्वानों में अग्रगण्य थे। वेद, वेदांग, पुराण, दर्शन, साहित्य आदि सभी पर आपका अद्भुत अधिकार था।[4] श्री सुन्दरलाल भट्ट जी की विद्वता और गंभीर अध्ययन के विषय में लिखते हैं :–

"प्रयाग काशी आदि स्थानों में भट्ट जी की गणना संस्कृत साहित्य के उच्च कोटि के विद्वानों में की जाती थी, ज्योतिष के वह पूरे पण्डित थे। हिन्दी भाषा के सेवकों में उनका पद बहुत ही ऊंचा था। भट्ट जी स्वर्गीय भारतेन्दु

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, पुरुषोत्तमदास टंडन, 'अभ्युदय' २५ जुला० १९१४।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३४।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३४।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३४।

बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन थे दोनों में बड़ा प्रेम था और इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि भारतेंदु की मृत्यु के बाद हिन्दी के सुलेखकों में भट्ट जी का पद सर्वोच्च था।"[१]

अध्ययनातिरेक से भट्ट जी के नेत्र खराब हो गए थे। सिविल सर्जन ओब्रैन तथा सहायक सिविल सर्जन बाबू नीलरत्न बनर्जी ने इनकी नेत्र चिकित्सा की और इनके नेत्र खोल दिए साथ ही पढ़ने का कार्य बिलकुल बन्द करने का आदेश दिया।[२] भट्ट जी के लिये इससे बड़ा दंड और क्या हो सकता था? थोड़े दिन तक तो आज्ञा का पालन किया और फिर पूर्ववत् अध्ययन में जुट गए।

भट्ट जी के जीवन में विद्या प्रेम का स्थान अधिक ऊँचा था या देश प्रेम का इसका निर्णय करना कठिन है। सच तो यह है कि ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे। भट्ट जी की विद्या विद्या के लिये नहीं थी वह देश के लिये थी। देश की स्वतंत्रता के सामने उनके लिये सभी चीजें गौण थीं। उन्होंने अपनी जीविका की बिना चिन्ता किए वलुआ घाट पर क्रांतिकारी भाषण दिया और अपने जीवन की बिना चिन्ता किये सदैव अंग्रेजों के विरुद्ध लिखा। वे भारतीय राष्ट्रीयता के पिता हैं। श्री सुन्दरलाल ने अपने एक पत्र में भट्ट जी के सुपुत्र पं० जनार्दन भट्ट को लिखा था :—

जिस समय राष्ट्रीयता का कहीं निशान भी न था जिस समय आजादी का नाम लेना गुनाह था, स्वराज्य शब्द का उच्चारण भी अभी किसी के मुख से न हुआ था उस समय यह पवित्र अग्नि अहियापुर के एक कोने में उस अज्ञात किन्तु विशाल हृदय के अन्दर बड़े जोरों के साथ धधक रही थी और थोड़ा बहुत अपने आसपास के वायुमंडल को गरमाती रहती थी।[३]

भट्ट जी लोकमान्य तिलक के भक्त थे और अपने आपको 'गरमदली' कहते थे।[४]

भट्ट जी के देश प्रेम एवं उग्र राजनैतिक विचारधारा के विषय में रामानन्द चटर्जी लिखते हैं :—

---

१. **पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशालभारत' जनवरी १९२८, पृ० २६।**

२. **'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर से दिसम्बर १९०१, पृ० १-२।**

३. **पत्र, लेखक सुन्दरलाल, १८-६-२५ (असहयोग गंज जबलपुर) पृ० २-३।**

४. **पं० बालकृष्ण भट्ट, सुन्दरलाल, 'विशालभारत' जनवरी १९२८, पृ० २७।**

भट्ट जी बहुत ही पक्के स्वदेशी और राष्ट्रीय थे। वे अपने राजनैतिक विचारों को छिपाते न थे। और 'हिन्दी प्रदीप' में बहुत ही कड़े कड़े मन्तव्य और लेख देते थे। और इन्हीं सब कारणों से उन्हें कायस्थ पाठशाला की अध्यापकी छोड़ देनी पड़ी थी।[1]

माधव शुक्ल की निम्नांकित पंक्तियाँ भी भट्ट जी के देश प्रेम तथा उनके राजनैतिक विचारों पर प्रकाश डालती हैं :—

"हाय कौन है देश दशा पर रोने वाला।
देशभक्ति मधुछके लगा धुन में मतवाला।
जिसने सर्वस दीन देश हित त्याग किया हो।
मृत हिन्दी के हेतु जन्म निज वार दिया हो।"[2]

\+ \+ \+

नस नस जिसके भरे राजनैतिक विचार थे
प्रजापक्ष पोषण करते थे सब प्रकार से।
गवर्नमेंट पर निर्भय करते समालोचना,
होगा क्या परिणाम कभी यह नहीं सोचना।[3]

\+ \+ \+

वे कांग्रेस में सभी वर्ष यद्यपि जाते थे,
पर उसके उद्देश्य युक्ति से सम्मत नहिं थे,
वे कहते थे छोटों को बलवान बनाओ।
उनको शिक्षित करो व्यर्थ मत समय गंवाओ।[4]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भट्ट जी के जीवन में विद्याप्रेम और देश प्रेम का उचित समन्वय था। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं था उसके वृहत् वृत्त में सभी कुछ आ जाता था।

गुण ग्राहक, सहृदय तथा शिष्य वत्सल :— भट्ट जी स्वयं एक महान् लेखक और प्रसिद्ध विद्वान थे किन्तु साधारण और अप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं का वे ध्यान से पढ़ते थे और उनके गुणों की प्रशंसा करते थे।[5] परसन नामक

---

१. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशालभारत' मार्च १९२८, पृ० २९८।

२. शोकांजलि, माधव शुक्ल, 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२५।

३. शोकांजलि, माधव शुक्ल, 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२७।

४. शोकांजलि, माधव शुक्ल, 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२७।

५. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, काशीप्रसाद जायसवाल "पाटलिपुत्र" श्रावण शुक्ला १० वि० सं० १९७१।

कलवार जाति का एक अत्यंत साधारण व्यक्ति था। इनके प्रोत्साहन से वह लेखक हो गया। ये उसकी सदैव बड़ी प्रशंसा करते थे। परसन की मृत्यु पर उन्हें इतना दुःख हुआ मानो उनके ही परिवार का कोई आदमी उठ गया हो।[१]

भट्ट जी बड़े सहृदय व्यक्ति थे किसी का दुःख इनसे देखा न जाता था। जितना बन पड़ता दूसरे की सहायता अवश्य करते। यद्यपि छोटे भाई से झगड़ा हो गया था फिर भी भ्रातृ प्रेम-वश आप कभी कभी उनके यहाँ हो आते थे।[२]

अपने इन्हीं गुणों के कारण भट्ट जी बड़े लोकप्रिय व्यक्ति थे। वे अजात-शत्रु थे। सैद्धान्तिक रूप से मतभेद रखने वाले व्यक्ति भी उनकी योग्यता, तथा सच्चरित्रता का लोहा मानते थे। उनकी मृत्यु पर जिसने दो आंसू न बहाए हों उनका ऐसा शायद ही कोई परिचित व्यक्ति होगा।[3]

भट्ट जी अपने शिष्यों पर बड़ी कृपा रखते थे। उन्हें पुत्रवत स्नेह करते थे।[४] और भट्ट जी के शिष्य उनका कितना सम्मान करते थे यह उनके लिखे संस्मरणों से अत्यन्त स्पष्ट है, रासविहारी शुक्ल[५], माधव शुक्ल[६], पुरुषोत्तम दास टण्डन[७], काशीप्रसाद जायवाल[८], सुन्दरलाल[९], मधुमंगल मिश्र[१०], आदि के लिखे हुए संस्मरण अत्यन्त हृदयग्राही मर्मस्पर्शी और तथ्य पूर्ण हैं। इन सभी संस्मरणों के पढ़ने से भट्ट जी का एक भव्य वास्तविक और विशद चित्र हमारे

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल "सरस्वती" नवम्बर १९१४, पृ० ६३३।

२. ,, (अप्र० जीवनी), पं० महादेव भट्ट, पृ० ६।

३. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, "बैंकटेश्वर समाचार" (साप्ताहिक) ३१ जुलाई १९१४।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र "हितकारिणी" सित० १९१४, पृ० २६६-२६७।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३०।

६. शोकांजलि, 'मर्यादा' जून १९१४, पृ० १२५।

७. पं० बालकृष्ण भट्ट, 'अभ्युदय' २५ जुलाई १९१४।

८. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, 'पाटलिपुत्र' श्रावण शुक्ल १० वि० सम्वत् १९७१।

९. पं० बालकृष्ण भट्ट, 'विशाल भारत' जनवरी १९२८।

१०. पं० बालकृष्ण भट्ट, 'हितकारिणी' सितम्बर १९१४।

सामने उभर कर आ जाता है जो अपनी चरित्र की निर्मलता और उच्चता के कारण कैलाश शिखर के लिये भी ईर्ष्या का विषय हो सकता है।

तार्किक एवं कुशल वक्ता :—भट्ट जी का घर चुहल का अड्डा था।[1] वृद्ध युवा सभी गप्प सुनने और गप्प मारने के लिए भट्ट जी के यहाँ एकत्र होते थे।[2] ये कुशल वक्ता भी थे कभी कभी 'तर्क के लिए तर्क' भी करते थे। वाद विवाद में उस पक्ष का ये समर्थन करते जिसके वास्तव में ये विरोधी होते और उस पक्ष का विरोध करते जिसके वास्तव में ये समर्थक होते।[3]

भट्ट जी युवकों की संगति में अधिक उठते बैठते थे।[4] और युवकों द्वारा आयोजित सभाओं आदि के तो ये स्थायी सभापति थे। भट्ट जी की तो जीविका ही भाषण करना थी। प्रोफेसर होने के नाते इनका कुशल वक्ता होना स्वाभाविक ही था। श्री सुन्दरलाल द्वारा आयोजित सभा में सभापति पद से भट्ट जी द्वारा दिया गया उग्र भाषण ऐतिहासिक है। भाषण के बीच में सुन्दरलाल ने भट्ट जी का पल्ला खींच कर उनको भावी खतरे से सावधान करना चाहा पर भट्ट जी तो उन पर ही बरस पड़े 'हमारा पल्ला खींचते हैं, हमसे कहत हैं न कहो, कही काहे न, हिय में लगी आग कही काहे न।''[5]

भट्ट जी के व्यसन :—

(अ) विद्या व्यसन—भट्ट जी को सबसे बड़ा व्यसन विद्या का था यह हम पहले ही लिख चुके हैं। मृत्यु शैया पर पड़े भट्ट जी मृत्यु से भी अधिक कष्ट-कारक अनध्ययन को समझते थे। अपना अन्त समय निकट देख उन्होंने श्री पुरुषोत्तम दास टन्डन से कहा था :—

''अब मेरा समय आ गया मुझे बिदा करो। मुझे अभी कई ग्रन्थ पढ़ने की इच्छा थी किन्तु अब समाप्त होते नहीं दिखाई पड़ते।''[6]

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, 'हितकारिणी' सितम्बर १९१४।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३८।

३. भारतेन्दु मण्डल, ब्रजरत्नदास (प्रथम संस्करण) पृ० ११।

४. पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल 'विशालभारत' जनवरी १९२८, पृ० २८।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल 'विशाल भारत' जनवरी १९२८, पृ० २७।

६. पं० बालकृष्ण भट्ट, पुरुषोत्तमदास टन्डन 'अभ्युदय' २५ जुलाई १९१४।

(आ) लिखने का व्यसन—यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने के साथ लिखने का भी व्यसन हो पर भट्ट जी को तो ये दोनों ही व्यसन थे। लिखने के व्यसन के विषय में भट्ट जी ने स्वयं एक स्थान पर कहा है :—

"लिखने का नासूर जो दुर्व्यसन सा हमारे पीछे लग रहा है हमें चुप नहीं बैठे रहने देता। ख्याल के घोड़े दौड़ते ही रहते हैं। नई उपज का कोई लेख बन गया तो मनमयूर आनन्द निमग्न हो नाचने लगता है।"[1]

(इ) पान का व्यसन : भट्ट जी को पान खाने का भी बड़ा व्यसन था। वे दिन रात पान खाने वाले व्यक्तियों में से थे। जब कायस्थ पाठशाला कालेज पढ़ाने जाते तो बहुत से पान लगवा ले जाते और थोड़ी-थोड़ी देर बाद दिन भर खाते। कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल और प्रसिद्ध सम्पादक रामानन्द चटर्जी ने इनके विषय में लिखा है: —

"कालेज आते वक्त वे घर से एक भीगे कपड़े और केले के पत्ते में लपेट कर कुछ पान के बीड़े लगवा लाते थे और बीच-बीच में एक-एक बीड़ा निकाल कर खाया करते थे। जब कोई दूसरा उनसे पान मांगता और वे उस समय खुश मिजाज होते तब तो उनमें से सबसे छोटा पान ढूँढ कर दे देते। नहीं तो जब कोई उनसे पान मांगता तो वे बड़े बिगड़ते और मांगने वाले को गालियाँ सुनाते थे। उनका कहना था कि निबट जायेंगे तो कहाँ से लाऊँगा।"[2]

रासबिहारी शुक्ल की निम्नांकित पंक्तियां तो भट्ट जी के असाधारण पान प्रेम पर और भी अधिक प्रकाश डालती हैं :—

"पान का व्यसन आपको ऐसा था कि अच्छा से अच्छा पान कई तरह के मसाले डालकर खाया करते किसी समय आप बिना पान के न रह सकते। यहां तक कि रात को भी सोते-सोते अवश्य पान मुँह में रहता। प्राणान्त समय भी आपके मुँह में पान था। आपके पान खाने की लोग बहुत ही इच्छा रखते थे यहाँ तक कि लोग इनकी गाली खाते पर पान इनका जरूर खाते।[3]

(ई) मिठाई खाने का व्यसन :—भट्ट जी मधुर भोजन के बड़े प्रेमी थे। वे अच्छे से अच्छा भोजन करते और दूसरों को भी उदारता से कराते। मिठाई

१. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी, फरवरी १९०३, पृ० ३।

२. स्वर्गीय पं भट्ट जी, रामानन्द चटर्जी, 'विशाल भारत' मार्च १ २८ पृ० २९८।

३. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' न३० १९१४, पृ० ६३९।

खाने का हाल यह था कि अर्थाभाव में चीनी ही फाँक कर सन्तोष कर लेते थे। आपके प्रिय शिष्य मधुमंगल मिश्र ने एक स्थान पर लिखा है :—

"ब्राह्मणो मधुर प्रिय के न्याय से मिठाई से आपको बड़ी रुचि थी और नहीं तो थोड़ी सी चीनी ही फाँक लेते थे। कहते थे मिठाई के खाने से बुद्धि बढ़ती है।"[1]

मिश्र जी की इस बात का समर्थन रासबिहारी शुक्ल ने भी अपने भट्ट जी विषयक संस्मरण में किया है।[2]

(उ) इत्र का व्यसन :—त्यौहार आदि पर भट्ट जी एक दम स्वच्छ वस्त्र पहन कर निकलते और इत्र अवश्य लगाते। उन्हें देशी वस्त्र ही पसन्द थे। अँग्रेजी वस्त्रों से चिढ़ थी।[3]

(ऊ) कजली सोहर सुनने का व्यसन :—गाने में कजली और सोहर सुनने का भट्ट जी को बहुत शौक था।[4] लोक साहित्य और लोक संगीत की ओर उनका झुकाव बहुत अधिक था।

(ए) संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन और संग्रह का व्यसन :—भट्ट जी को संस्कृत भाषा से हार्दिक प्रेम था। सच तो यह है कि वे प्राथमिक रूप से संस्कृत ही के विद्वान् थे। हिन्दी सेवा तो उनके मातृभाषा प्रम का ही परिणाम था।[5] आपने प्राय: सभी संस्कृत काव्यों का मंथन किया था और दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह भी। यह संग्रह आज भी भट्ट जी के सुपुत्र पं० जनार्दन भट्ट के पास सुरक्षित है। भट्ट जी के संस्कृत प्रम का एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने गया में जो तीन वर माँगे थे उनमें से एक यह भी था कि मेरा एक पुत्र संस्कृत का विद्वान् हो।[6] भट्ट जी की यह इच्छा उनके सुपुत्र पं० जनार्दन भट्ट द्वारा पूरी हुई।

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र 'हितकारिणी' सितम्बर १९१२, पृ० २६८।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४ पृ० ६३९।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट (अप्र० जीवनी) मूलचन्द भट्ट, पृ० १।

४. ,, ,, ,, महादेव भट्ट, पृ० ७।

५. ,, महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' अगस्त १९१४, पृ० ४७३।

६. पं० बालकृष्ण भट्ट, मधुमंगल मिश्र 'हितकारिणी' सित० १९१४, पृ० २६८।

(ऐ) नाटक लिखने का व्यसन —भट्ट जी को नाटक लिखने और उनको अभिनीत करने का भी व्यसन था। वे अपने नाटकों को ही नहीं दूसरे लेखकों के नाटकों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत करते थे। यह व्यसन भी ऐसा था जिसके लिए भट्ट जी को वास्तव में बड़े कष्ट उठाने पड़े। भट्ट जी के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने एक स्थान पर लिखा है :—

भट्ट जी ने 'वेणी संहार' नाटक में युधिष्ठिर का पार्ट लिया था। नाटक में दुर्योधन का भेजा हुआ छद्मवेषी राक्षस आता है और पाण्डवों के मारे जाने का समाचार युधिष्ठिर को सुनाता है और अन्त में शोकाकुल युधिष्ठिर से अन्य पाण्डवों का श्राद्ध कराता है। इस कृत्य के कारण दूसरे रोज घर में अपने घर वालों द्वारा पिताजी को क्या ताड़ना सहनी पड़ी उसको सुन कर हँसी आती है और दुख भी होता है। अन्त में तङ्ग आकर एक दिन उनको घर भी छोड़ देना पड़ता है। यह वह समय था जब नाटक खेलना और देखना एक प्रकार की आवारगी समझी जाती थी।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने इन सात्विक व्यसनों के लिये भट्ट जी ने कितने कष्ट उठाए। समाज में नाटक खेलने और देखने की अप्रतिष्ठा होने पर भी न केवल उन्होंने अपितु उनके साथ ही उनके सुपुत्रों ने भी अनेक नाटकों में अभिनय किए। माधव शुक्ल लिखित 'महाभारत' नाटक में भट्ट जी के सुपुत्र महादेव भट्ट ने धृतराष्ट्र का अभिनय किया था।[२]

उस काल में और भी अनेक नाटक भट्ट जी के प्रोत्साहन से खेले गए।[३]

प्रयाग में स्थापित 'नागरी प्रवर्द्धिनी' सभा एवं 'हिन्दी नाटक समिति' के आप ही जन्मदाता थे। नवयुवकों में हिन्दी प्रेम जाग्रत कर उन्हें मातृभाषा सेवा में प्रवृत्त करना भट्ट जी के महान उद्देश्यों में से एक था।

भट्ट जी के नाटक प्रेम का एक और उदाहरण देना पर्याप्त होगा। काशी प्रसाद जायसवाल ने एक स्थान पर लिखा है :—

"सभा तो सोई सी दिखती है पर नाटक समिति जागती है। परीक्षाओं का समय होने के कारण जब नवयुवक नाटक खेलने से आनाकानी करने लगे तब

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य, पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, 'विशाल भारत' मार्च, १९२८, पृ० २८४।

२. हिन्दी नाट्य साहित्य, पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, 'विशालभारत' १९२८, पृ० २८६।

३. हिन्दी नाट्य साहित्य पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, 'विशालभारत' मार्च १९२८, पृ० २८५।

भट्ट जी ने कहा कि यदि तुम नाटक न खेलोगे तो मैं अपने आधे चेहरे में खड़िया और आधे में स्याही पोतकर रङ्गमंच पर खड़ा होकर कहूँगा कि नाटक नहीं खेला जायगा। अन्त को नाटक खेला गया और भट्ट जी सूत्रधार बने।'[1]

प्रयाग के रेलवे थियेटर के भी भट्ट जी 'कर्त्ता और विधाता थे'। भट्ट जी ने एक स्थान पर 'प्रयाग समाचार' के सम्पादक के विरुद्ध क्रोध में लिखते हुए कहा है :—

सब जानते हैं यह ग्रामीण हम लोगों के उस रेलवे थियेटर में नौकर था कत्थकों का काम किया करता था। और हम तो स्वयं उसके कर्त्ता विधाता और अधिकारियों में से थे।'[2]

भारतेंदु युगीय अन्य साहित्यकार और भट्ट जी :—भारतेन्दु युग के सभी लेखकों के साथ भट्ट जी के जीवन की तुलना करना अनावश्यक होगा क्योंकि इस युग के लेखकों की संख्या कम नहीं है, भारतेन्दु मंडल'[3] में ब्रजरत्न-दास ने यदि १७ लेखकों की चर्चा की है तो डा० श्यामसुन्दरदास ने स्वसम्पादित हिन्दी–कोविद–रत्नमाला प्रथम भाग[4] में ४० लेखकों की। यहाँ तो भारतेन्दु युग के निम्नांकित प्रतिनिधि लेखकों की तुलना ही भट्ट जी के साथ करना अधिक समीचीन होगा :–(१) लाला श्रीनिवासदास, (२) बदरीनारायण 'प्रेमघन', (३) पं० प्रतापनारायण मिश्र, और राधाचरण गोस्वामी।

लाला श्रीनिवासदास :—लाला श्रीनिवासदास का जन्म एक सम्पन्न वैश्य घराने में सन् १८५० में हुआ। लाला जी आयु में भट्ट जी से ७ वर्ष छोटे थे। श्रीनिवासदास जी के पिता मंगीलाल मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ राजा लक्ष्मण-दास के यहाँ मुनीमी का काम करते थे। सेठ की दिल्ली स्थित कोठी के ये प्रधान मुनीम, निरीक्षक एवं प्रबन्धक थे।[5] लाला जी के घराने पर लक्ष्मी की असीम कृपा थी।

लाला श्रीनिवासदास बाल्यावस्था से ही बड़े शीलवान, चतुर और प्रतिभा-शाली थे। इन्होंने थोड़ी अवस्था में ही हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, फारसी तथा

---

१. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, काशीप्रसाद जायसवाल, 'पाटलिपुत्र' शुक्ल १० सम्वत् १९७१।

२. 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८२, पृ० ११।

३. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण।

४. हिन्दी कोविद रत्न माला, संकलन कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, द्वितीय संस्करण।

५. भारतेन्दु मण्डल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पं० ४५।

संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।[१] जहाँ तक विद्या प्रेम का सम्बन्ध है भट्ट जी और लाला जी के जीवन में इस विषय में बड़ा सादृश्य है। माता पिता की सम्पन्नता के प्रकरण में भी दोनों में समानता है किन्तु लाला श्रीनिवासदास जैसी व्यवसाय या व्यापार पटुता भट्ट जी में नहीं थी। लाला जी की व्यापार पटुता के विषय में श्यामसुन्दरदास जी ने लिखा :—

लाला श्रीनिवासदास ने छोटी उम्र में बड़ी योग्यता प्राप्त करली थी। महाजनी कारोवार में तो इन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त करली थी कि केवल १८ वर्ष की अवस्था में दिल्ली की कोठी का सारा कारोबार हाथों हाथ सँभाल लिया।[२]

भट्ट जी को अपनी पैतृक दुकान पर बैठना विष जैसा लगता था। घर वालों के बहुत कहने सुनने पर भी वे कभी दुकान पर नहीं बैठे। घर छोड़ना तो उन्होंने स्वीकार किया पर दुकान पर बैठना नहीं। लाला श्रीनिवासदास के ऐहिक जीवन की सफलता का रहस्य उनकी व्यवसाय पटुता थी भट्ट जी में जिसका सर्वथा अभाव था।

भट्ट जी और लाला जी के जीवन में एक समानता और है और वह है हिन्दी प्रेम। जहाँ लाला जी ने व्यापारिक झंझटों में भी अपने हिन्दी-स्नेह को सूखने नहीं दिया वहाँ भट्ट जी ने मातृभाषा प्रेम के लिए सम्पूर्ण भौतिक सुखों को तिलांजलि दे दी।

संवत १९२१ में लालाजी ने 'सदादर्श' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया[३] किन्तु पूरी आर्थिक सुविधा होने पर भी वे इसे दो वर्ष से अधिक नहीं चला पाए।[४] पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (मासिक) का प्रकाशन सन् १८७७ में प्रारम्भ किया और घोर आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए, अपने बच्चों का पेट काटते हुए उसे ३३ वर्ष चलाया इस दिशा में भी भट्ट जी का परिश्रम, लगन, देश तथा भाषा प्रेम, तथा व्यक्तिगत सुख सुविधाओं के त्याग का परिमाण लालाजी से बहुत अधिक है।

---

१. हिन्दी कोविद रत्न माला, संकलन कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, दिसम्बर संस्करण, पृ० ४४।

२. हिन्दी कोविद रत्न माला, संकलन कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, दिसम्बर संस्करण, पृ० ४४।

३, भारतेंदु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ४८।

४. „ „ „ „ ।

भट्ट जी और लालाजी के जीवन में अनेक बातों में समानता होते हुए भी देश और मातृभाषा के प्रति भट्टजी का त्याग लालाजी की तुलना में बहुत अधिक है। लालाजी ने मातृभाषा-सेवा की, पर सुख के साथ। भट्ट जी ने अपने हृदय के रक्त से हिन्दी भाषा और साहित्य को सींचा।

लाला श्रीनिवासदास इस स्थिति में थे कि किसी को मोहर भेंट करते वहाँ भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के प्रायः प्रत्येक अङ्क में ग्राहकों से चन्दा तथा दान की भिक्षा मांगते थे।

लाला श्रीनिवासदास केवल ३३ वर्ष तक ही इस संसार का सुख भोग सके जबकि भट्ट जी को कष्ट और तपस्या से युक्त ७० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त हुई।

अपने इसी अलौकिक त्याग और अनुपम हिन्दी निष्ठा के कारण भट्टजी अपने युग के किसी भी साहित्यकार से बहुत ऊँचे है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :—पं० बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत १९१२ में एक प्रतिष्ठित रईस, महाजन, जमींदार और धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ।[1] प्रारम्भ में इनकी विदुषी माता ने इन्हें हिन्दी की कुछ शिक्षा दी।[2] भट्ट जी को भी प्रारम्भिक हिन्दी शिक्षा अपनी विदुषी माता से ही मिली थी। बदरीनारायण चौधरी रईस और जमींदार थे इसीलिए इन्हें घुड़सवारी, लक्ष्यभेद तथा शिकार का शौक स्वाभाविक था।[3] भट्ट जी के लिये ये सब बातें कल्पनातीत थीं क्योंकि इनका पितृगृह जाति से ब्राह्मण होता हुआ भी कर्म से वैश्य था।

'प्रेमघन' भट्ट जी की भाँति ही हिन्दी, संस्कृत, तथा अंग्रेजी आदि के अच्छे ज्ञाता थे। शिक्षा भी दोनों की लगभग बराबर रही। भट्ट जी हाई स्कूल की परीक्षा नहीं दे सके और प्रेमघन जी भी जिला स्कूल से पढ़ाई छोड़ कर बैठ गए।[4] प्रेमघन जी ने संस्कृत श्री रामानन्द पाठक नामक संस्कृत के विद्वान् से पढ़ी[5] और भट्ट जी ने मदनमोहन मालवीय के पितृव्य श्री गदाधर जी से।

---

१. हि० सा० का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६८।

२. भारतेन्दु मंडल ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ७९।

३. हिन्दी कोविद रत्नमाला, संकलन कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, द्वि० संस्करण पृ० ५४।

४. ,, ,, ,, पृ० ५५।

५. ,, ,, ,, ,,

प्रेमघन जी की साहित्य सेवा मानसिक विलास कही जा सकती है। भौतिक वैभव में रहकर संगीत प्रेम के साथ साथ[1] वे स्वान्तः सुखाय लिखते भी रहते थे। पर भट्ट जी की साहित्य सेवा बिलकुल दूसरे प्रकार की थी। भट्ट जी का साहित्यिक जीवन संघर्षों से भरा हुआ था। आर्थिक कष्ट से वे जीवन भर पीड़ित रहे। साहित्य भट्ट जी के लिए लक्ष्य नहीं अपितु साधन था। देश, समाज और धर्म में सुधार करने के लिये उन्होंने साहित्य को अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था। 'प्रेमघन' जी ने सम्पूर्ण भौतिक सुख और ऐश्वर्य का भोग करते हुए साहित्य सेवा की तो भट्ट जी ने सहज प्राप्य अपनी पैतृक सम्पत्ति को लात मार कर।

'प्रेमघन' जी की हर बात से रईसी टपकती थी।[2] भट्ट जी 'बड़े आदमी के लड़के'[3] होते हुए भी देश और भाषा के लिये सब कुछ त्याग चुके थे।

श्री ब्रजरत्नदास ने एक स्थान पर 'प्रेमघन' जी की रईसी की चर्चा करते हुए लिखा है— 'जब यह टहलते रहते तब भी एक सेवक पान की रिकाबी लिये हुए इनके पीछे पीछे लगा रहता था।.........एक बार प्रेमघन जी छत पर बैठे उपस्थित लोगों से बातचीत कर रहे थे। पास में रखा हुआ लेंप एकाएक भभकने लगा। 'प्रेमघन' जी ने नौकरों को कईबार आवाज़ दी पर स्यात् किसी ने सुना नहीं। अन्त में ग्लोब और चिमनी दोनों चूर हो गईं पर 'प्रेमघन' जी का हाथ बत्ती घटाने के लिये उस ओर बढ़ा तक नहीं।''[4] उधर भट्ट जी अपना कोई भी कार्य किसी से नहीं कराते थे छोटे से छोटा काम वे स्वयमेव कर लेते थे।[5]

'प्रेमघन' जी मूलतः कवि थे और भट्ट जी सुधारवादी गद्य लेखक। 'प्रेमघन' जी 'आनन्द कादम्बिनी' निकालते थे और उसका अधिकांश कलेवर भट्ट जी की भाँति स्वयं ही भरा करते थे।[6] उनकी इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए एकबार भारतेंदु जी ने उनसे कहा था :—

---

१. हिन्दी कोविद रत्नमाला, सं० कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, द्वि० संस्करण पृ० ५४।

२. हि० सा० का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६८।

३. स्वर्गीय पं० भट्ट जी, रामानंद चटर्जी, 'विशाल भारत', मार्च १९२८, पृ० २९८।

४. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ८०।

५. पं० बालकृष्ण भट्ट, रासबिहारी शुक्ल, 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३८।

६. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ८२।

"जनाव यह किताव नहीं है जो आप अकेले ही इरकाम फरमाया करते हैं।"

भट्ट जी को भी हिन्दी प्रदीप का अधिकांश कलेवर स्वयमेव भरना पड़ता था। कारण उस समय अच्छे लेखकों का अभाव था।

पूरी आर्थिक सुविधायें होते हुए भी 'आनन्द कादम्बिनी' आठ नौ वर्ष चल कर बन्द हो गई[1] इसलिये हर दृष्टि से ३३ वर्ष के दीर्घ जीवन प्राप्त 'हिन्दी प्रदीप' से उसकी कोई तुलना नहीं है।

भट्ट जी 'प्रेमघन' जी से आयु में ११ वर्ष बड़े थे। दोनों ही महानुभावों को इस संसार में दीर्घायु प्राप्त हुई। प्रेमघन जी ६८ वर्ष की अवस्था में परलोकगामी हुए[2] तो भट्ट जी ७० वर्ष की अवस्था में।

पं० प्रतापनारायण मिश्र :— पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म एक सम्पन्न ब्राह्मण घराने में संवत् १९१३ ई० में हुआ था।[3] मिश्र जी भट्ट जी से आयु में १२ वर्ष छोटे थे और भट्ट जी के सामने ही इनका देहावसान संवत् १९५१ में हो गया। मिश्र जी भट्ट जी का अत्यधिक सम्मान करते थे और इन्हें 'गुरू' कह कर पुकारते थे।[4] और भट्ट जी मिश्र जी को कितना प्रेम करते थे यह मिश्र जी के देहावसान पर भट्ट जी द्वारा लिखी शोकांजलि से प्रकट है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा :—

"नागरी हिन्दी के संकुचित समाज में ऐसा कौन होगा जिसे कान्यकुब्ज कुलकेतु पण्डित प्रताप मिश्र का संताप न व्यापा हो। प्रातःस्मरणीय बाबू हरिश्चन्द्र को जो हिन्दी का जन्मदाता कहें तो प्रताप मिश्र को निस्संदेह उस स्तनन्धया दुधमुँही बालिका का पालन पोषणकर्त्ता कहना ही पड़ेगा क्योंकि हरिश्चन्द्र के उपरान्त इसे अनेक रोग दोष से सर्वथा नष्ट न हो जाने से बचा रखने वाले यही देख पड़े।"[5] ध्यान देने की बात यह है कि भट्टजी प्रेमवश मिश्र जी को भारतेंदु के बाद दूसरा स्थान सहर्ष प्रदान करने उद्यत हैं जबकि वास्तविकता यह है कि भारतेंदु युग में स्वयं भारतेंदु अपने बाद भट्ट जी को दूसरा

---

१. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण पृ० ८३।

२. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ८३।

३. हिन्दी-कोविद-रत्न-माला, सं० कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, द्वि० संस्करण, पृ० ५८।

४. 'आनन्द' मिती श्रावण वदी ३० सं० १९७१।

५. 'हिन्दी प्रदीप' फरवरी से अप्रैल १८९४, पृ० ५१, ५२।

स्थान देते थे। डा० श्यामसुन्दर दास ने एक स्थान पर लिखा है "बाबू हरिश्चन्द्र कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नम्बर भट्ट जी का है।"[१]

भारतेंदु युग में भट्ट जी और मिश्र जी दोनों एक साथ स्मरण किये जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—

"पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।"

भट्ट जी और मिश्र जी के जीवन में कई समानतायें हैं। दोनों को नाटक लिखने और खेलने का बहुत शौक था।[२] मिश्र जी के राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक विचार भी भट्ट जी की ही भाँति सर्वथा स्वतन्त्र और वादों से परे थे।[३]

भट्ट जी की भाँति मिश्र जी भी योगाभ्यासी थे।[४] और भट्ट जी की भाँति ही आस्तिक और धार्मिक बिचारों के थे।[५] भट्ट जी यदि कजली और सोहर के प्रेमी थे तो मिश्र जी लावनी के।[६]

भट्ट जी की भाँति ही मिश्र जी भी मातृभाषा हिन्दी के पक्के पक्षपाती थे। हिन्दी सेवा में ही मिश्र जी ने भी अपना सारा जीवन लगा दिया।[७]

भट्ट जी की भाँति मिश्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा भी किसी मिशन स्कूल में ही हुई।[८] पर ईसाई धर्म का इन पर भी कोई रंग नहीं चढ़ा।

भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे तो मिश्र जी 'ब्राह्मण' के और आश्चर्य की बात तो यह कि 'प्रदीप' के ग्राहक भी २०० के लगभग थे और ब्राह्मण के भी।[९] ग्राहकों से चंदा वसूल करने में दोनों को एक जैसी कठिनाई का अनुभव

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६७।

२. हि० को० रत्नमाला, सं० कर्त्ता श्यामसुन्दरदास, पृ० ६०।

३. ,, ,, ,, ।

४. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ९८।

५. ,, ,, ,, पृ० ९९।

६. ,, ,, ,, ,, ।

७. ,, ,, ,, पृ० १०५।

८. ,, ,, ,, पृ० ९६।

९. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रथम संस्करण पृ० १८७।

हुआ ।[१] यदि 'हिन्दी प्रदीप' के प्रत्येक अंक में चन्दा-याचना मिलती है तो 'ब्राह्मण' के भी प्रत्येक अंक में चन्दा-याचना की इस प्रकार की पद्यबद्ध पंक्तियाँ प्रायः मिलती है :—

आठ मास बीतें जिजमान । अब तो करो दच्छिना दान
मांगत हमका लागे लाज । पै रुपया बिन चलै न काज ।
जो कहुँ देहौ बहुत खिजाय । यह कौनिऊँ भलमंसी आय ।
हँसी खुशी से रुपया देव । दूधपूत सब हमते लेव ।[२]

'प्रदीप' की चंदा-याचना देखिए :—

"गाहक जन पुनि तुमहि सों विनय करों कर जोर
ऐसो ही कछु कीजिए रहौं प्रकट चहुँ ओर
द्वै मुद्रा कछु होत नहिं एक पुरुष को मीत ।
पै वह दुइ दुइ दिहे से हम नित गइहैं गीत ।।"[३]

उपर्युक्त समानताओं के साथ साथ दोनों के जीवन में अन्तर भी बहुत था । मिश्र जी भी भट्ट जी की भाँति पत्रकार थे, किन्तु आर्थिक सम्पन्नता के होते हुए भी वे 'ब्राह्मण' को अधिक नहीं चला सके । मार्च सन् १८८३ में 'ब्राह्मण' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था और केवल चार वर्षों में ही अर्थात् १८८७ ई० में इसके बन्द होने के आसार स्पष्ट दिखाई देने लगे ।[४] अंत में खड़गविलास प्रेस के बाबू रामदीनसिंह ने इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर ले लिया[५] और मिश्र जी की मृत्यु के कुछ दिन पश्चात यह बन्द हो गया ।[६] मिश्र जी का जीवन भट्ट जी की तुलना में आर्थिक दृष्टि से अधिक सुख सुविधा सम्पन्न था । लेकिन भट्ट जी जहाँ आयु में भारतेंदु युगीन अन्य साहित्यकारों से बड़े हैं वहाँ त्याग, लगन और तपस्या में भी उन्हें कोई नहीं पाता ।

---

१. **समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रथम संस्करण पृ० १८७ ।**

२. **भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १०२ ।**

३. **हिन्दी प्रदीप, अगस्त १८७८, पृ० ३ ।**

४. **भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १०० ।**

५. **समाचार पत्रों का ईतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी; प्रथम संस्करण पृ० १८७ ।**

६. **भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १०० ।**

भट्ट जी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व रुग्ण हो गए थे या थोड़ा आँख का कष्ट उन्हें था किन्तु मिश्र जी का शरीर तो 'व्याधिमंदिरम्' था। ये प्रायः[१] बीमार बने रहते थे।[२]

मिश्र जी मूलतः कवि थे भट्ट जी गद्य लेखक। मिश्र जी कहावतों के प्रेमी थे तो भट्ट जी मुहावरों के। दोनों अपनी हिन्दी को 'हरिश्चन्द्री' हिन्दी कहते थे।

यदि जीवन की कठिनाइयों की कसौटी पर दोनों महानुभावों के चरित्र को कसा जाय तो भट्ट जी ही अधिक खरे उतरते हैं। देश और भाषा के लिए उनकी बराबर कष्ट भारतेन्दु युग में भी किसी साहित्यकार ने नहीं उठाया।

राधाचरण गोस्वामी :—राधाचरण गोस्वामी का जन्म सन् १८४६ में एक सम्पन्न गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था।[३] इनके पिता वृन्दावन में श्री राधारमण के मन्दिर के गोस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य थे।[४] आयु में ये भट्ट जी से लगभग १५ वर्ष छोटे थे। भट्ट जी का ये बड़ा आदर करते थे और उनके कट्टर समर्थक थे। यहाँ हम संक्षेप में दोनों के जीवन की तुलना करेंगे।

भट्ट जी और गोस्वामी जी के जीवन में अनेक समानतायें हैं। भट्ट जी की भाँति गोस्वामी जी को भी प्रारम्भिक शिक्षा अपनी विदुषी माता से मिली। वे इन्हें घर पढ़ने लिखने का अभ्यास कराया करती थीं।[५]

भट्ट जी की भाँति गोस्वामी जी ने भी किशोरावस्था में संस्कृत का अध्ययन किया।[६] यदि भट्ट जी ने संस्कृत गदाधर जी से पढ़ी तो राधचरण जी ने पं० उमादत्त से।[७]

भट्ट जी की भाँति गोस्वामी जी ने भी धर्म के संकीर्ण वृत से बाहर रह

---

१. भारतेंदु मण्डल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १००।
२. ,, ,, ,, ,, ६८।
३. हि० को० रत्न माला, सं० कर्ता श्यामसुन्दरदास, द्वि० संस्करण, पृ० ७०।
४. ,, ,, ,, ,, ,,
५. भारतेन्दु-मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १४१।
६. ,, ,, ,, ,,
७. ,, ,, ,, ,,

कर विशद अध्ययन किया फलस्वरूप इनके विचार भी अधिक उदार और परिष्कृत हो गए।[१]

दोनों महानुभाव भारतेन्दु के पक्के भक्त थे[२] अपने पिता के घोर विरोध करने पर भी गोस्वामी जी भारतेन्दु से छिप कर मिले।[३] भट्ट जी की भाँति धार्मिक विचारों के होते हुए भी ये समाज-सुधार के उग्र पक्षपाती थे।[४]

यह बड़ा मनोरंजक सत्य है कि भट्ट जी के 'हिन्दी प्रदीप' की भाँति गोस्वामी जी के 'भारतेन्दु' की भी लगभग २५० प्रतियाँ छपती थीं।[५] ग्राहक तो और भी कम थे। भट्ट जी की भाँति इन्हें भी अपने पत्र का अधिकांश कलेवर स्वयमेव भरना पड़ता था।[६]

भट्ट जी की भाँति गोस्वामी जी भी अपने निबन्धों तथा नाटकों के लिये प्रसिद्ध हैं।

अनेक समानतायें होते हुए भी इन दोनों महानुभावों के जीवन में अन्तर भी है :—

गोस्वामी जी अंग्रेजी पढ़ने के बड़े इच्छुक थे किन्तु यावनी भाषा के इस शिक्षा-समाचार ने इनकी शिष्य मंडली को विक्षुब्ध बना दिया और अपनी गुरु गद्दी संकट में देख इनके माता पिता ने इनकी अंग्रेजी शिक्षा बन्द कर दी। फिर भी इन्होंने छिपकर अंग्रेजी पढ़ने का प्रयत्न किया।[७] उधर भट्ट जी की माता बड़ी विदुषी और प्रगतिशील विचारों की थीं उन्होंने स्वयं अपने बच्चे को अंग्रेजी शिक्षा दिलाना आवश्यक समझा।

गोस्वामी जी ने उर्दू भी सीखी[८], किन्तु भट्ट जी ने उर्दू सीखने का कभी प्रयत्न नहीं किया। इन्हें उर्दू शब्दों तथा शेरों का जो ज्ञान था वह संगति का फल था। भट्ट जी स्वयं उर्दू नहीं जानते थे।

---

१. "भारतेन्दु मंडल" ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १४२।
२. ,, ,, ,, पृ० १४३।
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, पृ० १४४
५. ,, ,, ,, पृ० १४७।
६. ,, ,, ,, ,,
७. ,, ,, ,, पृ० १४१।
८. ,, ,, ,, पृ० १४२।

गोस्वामी जी 'भारतेन्दु' पत्र निकालते थे किन्तु आर्थिक सुविधा होने पर भी यह पत्र अधिक नहीं चला। गोस्वामी जी ने पाक्षिक रूप में इसका प्रकाशन सन् १८८३ में प्रारम्भ किया था किन्तु सन् १८९० में यह बन्द हो गया। सन् १८९१ से यह मासिक हुआ और सन् १८९२ के लगभग यह अन्तिम रूप से बन्द हो गया।[1] इस दिशा में भट्ट जी की समानता में कोई खड़ा नहीं होता। घोर अर्थाभाव होते हुए भी उन्होंने प्रदीप को ३३ वर्ष प्रकाशित रखा।

एक धार्मिक गद्दी का अध्यक्ष होने के नाते गोस्वामी जी की अपनी सीमाएँ थीं।[2] इसलिये ये धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों में इतने उग्र नहीं हो सके जितने भट्ट जी थे।

यहाँ हमने भारतेन्दु युग के ४ प्रतिनिधि लेखकों के जीवन से भट्ट जी के जीवन की तुलना की है। और भी अनेक लोग इस युग में हुए हैं। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि अपने समसामयिक लेखकों से भट्ट जी आयु में बड़े हैं तो वे त्याग, तपस्या और लगन में भी सबसे बड़े हैं। यों तो भारतेन्दु युगीन अन्य साहित्यकार भी हिन्दी सेवा को जीविका का साधन नहीं समझते थे फिर भी उसके लिये जितना कष्ट और पीड़ा भट्ट जी ने सही अन्य किसी ने नहीं। भूखों रह कर भी वे जीवन भर देश और साहित्य की सात्विक सेवा से विरत नहीं हुए। भट्ट जी निस्वार्थ भाव से सेवा करने वालों एवं त्याग करने वालों के लिये प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं।

---

१. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प० संस्करण पृ० १८९।

२. भारतेन्दु मंडल, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १५०

तृतीय अध्याय

भट्ट जी पत्रकार के रूप में

हिन्दी पत्रकार कला और हिन्दी प्रदीप :—'हिन्दी प्रदीप' का प्रथम अंक १ सितम्बर सन् १८७७ को निकला था। यों तो आज भी हिन्दी पत्रकार कला का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है फिर भट्ट जी का युग तो उसके आरंभ का युग था। यह कहा जा सकता है कि 'हिन्दी प्रदीप' से पूर्व 'हिन्दी पत्रकार कला' का कोई उज्ज्वल इतिहास नहीं था। सच बात तो यह है कि पत्रकारिता तब जन्म ही ले रही थी उसका पालन पोषण कर उसे युवा बनाने और सौंदर्य प्रदान करने का बहुत कुछ श्रेय 'हिन्दी प्रदीप' को है। भट्ट जी ने प्रदीप के प्रथम अंक में दो और पत्रों की चर्चा की है, १ काशी पत्रिका तथा २ हरिश्चन्द्र चन्द्रका की। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के जनक आधुनिक हिन्दी के पिता स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र थे किन्तु 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' उनके संरक्षण में अधिक दिन नहीं निकली इसलिये उसके उदित होने पर जिस जनमन-रंजनकारी प्रकाश से लोक विस्मय विमुग्ध हो उठा था उस चन्द्रिका का सुख वह अधिक दिन नहीं उठा सका वह चार दिन की चाँदनी ही रही। भट्ट जी ने प्रथम अंक में लिखा है 'पश्चिमोत्तर प्रान्त' में जो समाचार पत्र हिन्दी भाषा में पढ़ने देखने और कहने योग्य हैं और थे वे यही दो अर्थात् काशी पत्रिका और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका।"[1]

इनमें से भारतेंदु बाबू के संबंध विच्छेद कर लेने के कारण 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की दशा अच्छी नहीं थी और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के संरक्षण में निकलने वाली 'काशी पत्रिका' को भट्ट जी हिन्दी की पत्रिका ही नहीं समझते हैं। काशी पत्रिका के विषय में भट्ट जी लिखते हैं :—

"जिस दोरंगी शक्ल और भाषा में अब वह निकलता है, वास्तव में अब वह हिन्दी समाचार पत्र की गणना में किसी तरह नहीं हो सकता उसे तो

---

१. हिन्दी प्रदीप, १ सितम्बर १८७७, पृ० १–५।

गवर्नमेंट का एक विशेष पुरुष के द्वारा निज कार्य साधन करने का अस्त्र कहना चाहिए ।"[1]

वास्तव में "हिन्दी प्रदीप" भी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से निकला था ।[2]

उस काल के साहित्यिक स्पंदन के वास्तविक आधार भारतेन्दु बाबू ही थे । 'हिन्दी प्रदीप' के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि उसके आदर्श और उद्देश्य को प्रकट करने वाली निम्नांकित छंद बद्ध पंक्तियाँ उस युग पुरुष की लेखनी से ही प्रसूत हैं । भारतेन्दु बाबू ने 'प्रदीप' के मुख पृष्ठ पर छापने के लिये यह छंद लिखा था :—

"शुभ सरस देश सनेह पूरित, प्रकट ह्वै आनन्द भरै ।
बचि दुसह दुर्जन वायु सों मणिदीप सम थिर नहिं टरै ।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामें जरै ।
'हिन्दी प्रदीप' प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै ।[3]

इसमें संदेह नहीं कि विघ्न के भयंकर से भयंकर झोकों में भी 'प्रदीप' अपने प्रेरक के इस संदेश पर अटल और अविचलित रहा । और 'दुसह दुर्जन' वायु से बचकर ३३ वर्ष तक हिन्दी भाषा भाषी जनता के अज्ञानांधकार को दूर करता रहा ।

'हिन्दी प्रदीप' जिन परिस्थितियों में प्रकाशित हुआ था वे बड़ी विषम और जटिल थीं । देश-सेवा के स्नेह से जलते रहने का व्रत इस पत्र ने लिया था जो उस युग में महाशक्तिशाली ब्रिटिश सत्ता के लिए एक चुनौती था ।'प्रदीप' मानसिक विलास का साधन न बनकर रह जाय इस विषय में भट्ट जी सतत सचेत रहते थे । वे हिन्दी भाषी जनता को कुछ देना चाहते थे । वे लोकमत और लोक रुचि का निर्माण करना चाहते थे । एक ओर तो घोर अर्थाभाव दूसरी ओर जनता की कुत्सित प्रवृत्तियों एवं कुरुचि को जाग्रत कर अर्थलाभ करने से तीव्रतम घृणा, इतना ही नहीं क्या अच्छा है और क्या बुरा है जनता को समझाने की इस आदर्शवादी भावना ने इस पत्र के चलने में कितनी बाधायें डालीं आज हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते । लेकिन भट्ट जी कभी अपने व्रत से विचलित नहीं हुए और 'प्रदीप' को अर्थलाभ का साधन बनाने की बात स्वप्न में भी उनके मस्तिष्क में नहीं आई । भट्ट जी को सस्ती लोकप्रियता की इतनी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', १ सितम्बर १८७७, पृ० १-५ ।
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२ ।
३. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० १ ।

वांछा नहीं थी जितनी देश की वास्तविक सेवा करने की। इसलिये 'प्रदीप' का पहला अंक खतरे से भरी पृथ्वी पर पहला पग था। भट्ट जी ने पहले अंक में ही स्थिति स्पष्ट करदी थी :—

"हमारे पत्र को सरकार से द्रव्य सम्बन्धी सहायता की बहुत ही कम आशा है क्योंकि इस पत्र का रंग ढंग और भाषा आदि इस ढंग की नहीं है जो सरकार को पसन्द आवे। इसलिए केवल निजपरिश्रम और स्वदेशी बांधवों के अनुग्रह के भरोसे हम लोगों ने इसे मुद्रित करना आरंभ किया है।"[१]

देश के हितों का ३३ वर्ष तक अहर्निश पोषण एवं रक्षण करने तथा अपने युग के सभी पत्रों से ब्रिटिश सत्ता का अधिक निर्मम विरोध करने के पश्चात् अपने प्रभाव और आकर्षण की चरमसीमा पर पहुँचने पर भरी युवावस्था में हिन्दी का यह ऐतिहासिक पत्र असमय में ही असहिष्णु ब्रिटिश सरकार के अंधे दमन का ग्रास बन गया। 'हिन्दी प्रदीप' को बुझाकर ब्रिटिश सरकार ने अपना काला रूप प्रकट किया और आज जब वह इस देश से ही अपना मुँह काला कर गई है तो यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उसकी जड़ें कमज़ोर करने में 'हिन्दी प्रदीप' का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हाथ था।

'हिन्दी प्रदीप' के शरीर और आत्मा के गठन का प्रयत्न भट्ट जी का मौलिक प्रयत्न था। उस युग के अन्य जितने सहयोगी थे सभी अवस्था में 'हिन्दी प्रदीप' से छोटे थे। भट्ट जी ने एक स्थान पर स्वयं कहा है :—

"किन्तु हिन्दी जिसके सहारे हमारा जीवन है उसे जब इस तरह हीन दीन दशा में प्राप्त देखते हैं तो अवश्य हमें भी वृद्ध जावालि बनने का घमंड होता है। और यही कहने का मन होता है कि अपने सहयोगियों में हम सबों से पुराने हैं।"[२]

सच बात तो यह है फि भट्ट जी को अपना मार्ग आप खोजना था और 'हिन्दी प्रदीप' के द्वारा पत्रकार कला की परम्पराओं का सूत्रपात करना था एक नई लीक बनानी थी।

यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आधुनिकतम हिन्दी पत्रकार कला के ऊपर 'हिन्दी प्रदीप' का बहुत कुछ प्रभाव है।

'हिन्दी प्रदीप' में अनेक विषय रहते थे जैसा कि उसके मुख पृष्ठ की इन पंक्तियों से स्पष्ट है :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० १५।**

२. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० १।**

"विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राज सम्बन्धी इतिहास के विषय में।"[1]

जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है आज का नवीन से नवीन हिन्दी मासिक भी 'प्रदीप' से कुछ अधिक विशिष्टिता रखता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

'हिन्दी प्रदीप' आरम्भ में १६ पृष्ठ का ही निकलता था। उसके प्रथम अङ्क का विषय विभाजन देखिए :—

सम्पादकीय	पृष्ठ	१-५
भारतेंदु का लेक्चर	,,	५-७
धातु विषय	,,	७-९
कामकाजी वस्तु	,,	९-११
चन्द्रसेन नाटक	,,	११-१३
रूम रूस के युद्ध के विषय में	,,	१३-१४
सम्पादक की अनुमति	,,	१४-१५
समाचारावली	,,	१४-१५
विशेष विज्ञापन	,,	१५-१६

'हिन्दी प्रदीप' कितना रोचक और सारगर्भित निकलता था यह उपर्युक्त विषय सूची से स्पष्ट है।

'हिन्दी-प्रदीप' की एक प्रति का मूल्य केवल चार आने था। १ वर्ष का २ रुपये और छमाही का १ रुपया।[2]

यह विशेष ध्यान देने की बात है कि उस युग में पत्रकार का जीवन इतना सुख-सुविधापूर्ण नहीं था जितना आज। भट्ट जी के इस पत्र के २०० से अधिक ग्राहक कभी नहीं बने।[3] और इन ग्राहकों में से भी १०० से ऊपर कभी नियमित रूप से चन्दा नहीं देते थे। इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत अध्यापन के द्वारा भट्ट जी जो कुछ अर्जन करते थे वह सब इस 'प्रदीप' की भेंट चढ़ा देते थे।[4] स्वयं भूखे रह कर, बच्चों को भूखा रख कर भी अर्थ के अभाव में भट्ट जी ने 'प्रदीप' को कभी बुझने नहीं दिया उसके लिए उनके हृदय में अपार स्नेह था।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० १।**

२. ,, ,, १६।

३. **'विशाल भारत', पं० सुन्दरलाल, जनवरी १९२८, पृ० २६।**

४. ,, ,, ,, ,, ,,

उस युग में 'हिन्दी प्रदीप' का उत्तरदायित्व असाधारण था। उसे हिन्दी के इतिहास में एक ऐतिहासिक भूमिका सम्पादित करनी थी। इसलिए विभिन्न विषयों के विषय में उसे एक निश्चित एवं सुदृढ़ नीति अपनानी थी। भट्ट जी के समक्ष उस समय दो मुख्य उद्देश्य थे :—

(१) हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का समर्थन।

(२) देश भक्ति की भावना को जाग्रत कर देश को स्वाधीन बनाना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में अनेक बाधायें आती थीं। मुख्य रूप से ये बाधायें दो प्रकार की थीं :—

(१) सरकार स्वयं।

(२) सरकार के हिन्दुस्तानी पिट्ठू।

'हिन्दी प्रदीप' को इन दोनों से लोहा लेना था। भट्ट जी वास्तव में उस काल के देश भक्त पत्रों के पथ प्रदर्शक और नेता थे। इसलिए उन्होंने सभी पत्रकारों का, देशद्रोहियों एवं विदेशी सरकार के विरुद्ध एक होकर लड़ने के लिए आवाहन किया :—

'जिस ढर्रे पर ब्रिटिश गवर्नमेंट का राज्य चल रहा है उसमें बड़े-बड़े हाकिमों और बड़े-बड़े ओहदेदारों को अपनी मनमानी कर गुजारने में यदि कोई बात रोक सकती है तो पबलिक ओपीनियन सर्व साधारण का एकमत्य है। अतएव अखबार के एडीटरों का यह एक मुख्य काम या फर्ज है कि जब किसी हाकिम या राजकर्मचारी को किसी बात में बेजा भूल करते देखें सर्व साधारण पबलिक की ओर से उनको चैतन्य करदें।"[1]

उस काल में दो पत्र ऐसे थे जो सरकार के घोर चापलूस और समर्थक थे (१) काशी पत्रिका जिसके संरक्षक प्रसिद्ध अँग्रेज भक्त राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' थे। दूसरा 'पायोनियर' जो एँग्लोइंडियन लोगों के संरक्षण में था। ये लोग उस समय अपने को अँग्रेज ही समझते थे और भारत में जन्म लेने पर भी इंगलेंड को अपनी मातृ-भूमि मानते थे। इसलिए इन दोनों पत्रों का एक निश्चित दृष्टिकोण था। बिना देश की दशा और परिस्थिति देखे ये पत्र वही लिखा करते थे जिसे शासक पसन्द करें। भट्ट जी को ऐसे पत्र कब सह्य हो सकते थे। इसलिए 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में यदि किन्हीं पत्रों के लिए सबसे अधिक घृणा व्यक्त की गई है तो इन उपर्युक्त दोनों पत्रों के लिए। भट्ट जी जिस प्रकार देशद्रोह के समान (उभयनिष्ठ) अवगुण के कारण सर सैयद अहमद खाँ राजा शिवप्रसाद को एक साथ याद किया करते थे उसी प्रकार

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८८३, पृ० १८७।**

'पायोनियर' और 'काशीपत्रिका' का स्मरण उसी दुर्गुण के कारण वे एक साथ किया करते थे :—

"एक बार पायोनियर से किसी ने पूछा कि हिन्दुस्तानी पत्रों में कौनसा पत्र (लायक) राजभक्त है ताकि सरकारी फौज में जारी किया जाय उस पर 'पायोनियर ने अपनी राय 'काशी पत्रिका' की दी है। 'वाह तेहवारों में बड़ा तेहवार ललही छट्ट, अखबारों की गिनती में कौन 'पायोनियर' की परिणीता वधू 'काशी पत्रिका'। भला बड़ी बात, हिन्दी पत्रों में कोई तो लायक हुए जिसे पिया चाहे वही सुहागिन सही।"[१]

इसी प्रकार उन्होंने अन्य निम्नांकित पत्रों को भी सरकार या देशद्रोहियों की चापलूसी अथवा 'प्रदीप' पर व्यर्थ कीचड़ उछालने के लिए कई बार कड़ी फटकार बताई है :—

सार सुधानिधि[२]
प्रयाग समाचार[३]
कविवचन सुधा[४]
वंगवासी[५]
बेंकटेश्वर[६]

अपने युग के देखते हुए भट्ट जी के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचार अत्यन्त उग्र एवं क्रांतिकारी थे। रूढ़िवादी लोग ऐसे विचारकों के सदैव विरोधी रहे हैं। भट्ट जी के धर्म सम्बन्धी प्रगतिशील विचारों के कारण 'बेंकटेश्वर समाचार' ने भट्ट जी को अधार्मिक और नास्तिक न जाने क्या-क्या कह दिया। भट्ट जी ने उसका जो मुँह तोड़ उत्तर दिया है उससे उनकी प्रगतिशील विचार-धारा पर भी प्रकाश पड़ता है :—

"अब धर्म की रक्षा में कहीं से कुछ भी कोर कसर न बच रहेगी इसलिये कि अब इसके संस्थापक और सहारा देने वाले 'बेंकटेश्वर' मुस्तैद हुए हैं जिसके सम्पादक का ओर से छोर और नख से शिख तक हमसे कुछ छिपा नहीं है। हमारे पत्र का जो कुछ गौरव है वह बेंकटेश्वर ऐसों के मिटाए नहीं मिट सकता।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जून १८७८, पृ० १४।
२. 'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८८१, पृ० २२।
३. 'हिन्दी प्रदीप, जुलाई १८८२, पृ० ११।
४. 'हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८३, पृ० २१-२२।
५. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी से मार्च १८९७, पृ० ३५-३९।
६. 'हिन्दी प्रदीप' मई से जुलाई १९०४, पृ० १९-२०।

सम्पादक का अपनी स्वच्छन्द अनुमति प्रकाश करने में सकुचाना कैसा ? हमारी समझ में समाचार पत्र का यह कर्त्तव्य नहीं है कि अपने समाज में जो बिगाड़ है उसे बिगड़ा हुआ न कह कर उसकी प्रशंसा करता जाय और ग्राहकों के मन की कह अपनी पाकेट पूर्ण करे। अस्तु 'बेंकटेश्वर' का लक्ष्य केवल रुपया कमाना है। तब ऐसी कोई संशोधन की बात जिसमें लोग उनसे रूठ पत्र लेने से मुँह मोड़ बैठें उसे कब वे चाहेंगे कि उसका सुधार हो। ऐसों का सम्पादक बनाना ही अयुक्त है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भट्ट जी के मस्तिष्क में आदर्श सम्पादक का क्या चित्र था संकीर्ण विचार वाले एवं रूढ़िवादी आदमियों को वे इस कार्य के घोर अनुपयुक्त समझते थे।

कुछ ऐसे पत्र भी थे जिनके भट्ट जी प्रशंसक थे। पर उनकी प्रशंसा की अपनी निश्चित कसौटी थी वे उस पर कसकर ही हर वस्तु के गुणावगुणों का निर्णय करते थे। देश की स्वतन्त्रता की पुकार को जो पत्र जितनी ही अधिक अभिव्यक्ति देता था भट्ट जी उसे उतना ही अधिक आदरणीय समझते थे। उग्र लेख लिखने के कारण पत्र का सरकार द्वारा अविलम्ब बन्द कर दिया जाना उस युग की सामान्य घटना हो गई थी। इसलिए पत्र इस दिशा में फूँक फूँक कर पैर रखते थे और किसी प्रकार अपनी जीवन रक्षा किए हुए थे। उस काल के उग्र विचारों के लेखकों के लिए एक मात्र पत्र था 'हिन्दी प्रदीप'। भट्ट जी स्वयं अधिक से अधिक उग्र लिखते थे और नए लेखकों को इस दिशा में अत्यधिक प्रोत्साहन देते थे। यही कारण था कि उस युग के उग्र-लेखकों का समूह 'हिन्दी प्रदीप' के ही चतुर्दिक एकत्र हो गया था। प्रत्येक पत्र सरकार विरोधी लेख छापने से डरता था किन्तु अपने दीर्घ सम्पादक जीवन में भट्ट जी ने कभी किसी की चिन्ता नहीं की और कड़े से कड़े सरकार विरोधी देशभक्तिपूर्ण निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप' में छापे।

भट्ट जी जिन पत्रों के प्रशंसक थे वे निम्नांकित हैं :—

(१) स्टेट्समैन[2]

(२) हरिश्चन्द्र चन्द्रिका[3]

(३) आनन्द कादम्बिनी[4]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' मई से जुलाई १९०४, पृ० २०।**

२. **'हिन्दी प्रदीप' अगस्त १८७८, पृ० ३–५।**

३. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८७८, पृ० १–५।**

४. **'हिन्दी' प्रदीप' अप्रैल से जून १८९५, पृ० ४७–४८।**

(४) अमृत पत्रिका[1]

उपर्युक्त पत्रिकायें समय समय पर सरकार की भारत विरोधी नीति का विरोध करती रहती थीं।

'हिन्दी प्रदीप' के अस्तित्व में आने के कुछ काल पश्चात् ही अंग्रेज़ सरकार ने देशी पत्रों के लिए प्रेस एक्ट का कुठार तैयार कर लिया था। भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' के द्वारा उसका घोर विरोध किया। किन्तु अंत में जब पार्लियामेंट ने भी इसे स्वीकार कर लिया तो उन्हें बड़ा दुख और क्षोभ हुआ।[2]

हिन्दी का समर्थन और उर्दू का विरोध 'हिन्दी प्रदीप' की निश्चित नीति थी। भट्ट जी अपने अन्य सहयोगी पत्रों का सहयोग भी इस दिशा में लेने का बराबर प्रयत्न करते रहते थे। आज हिन्दी के इस वैभव के युग में हम इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि हिन्दी के इतिहास में एक ऐसा युग भी आया था जब इसके अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया था। सरकार खुले रूप में उर्दू का और मुसलमानों का पक्षपात कर रही थी इसलिए हिन्दी और हिन्दू उस समय का स्वाभाविक नारा बन गया था। भट्ट जी कभी भी सम्प्रदायवादी नहीं थे किन्तु अंग्रेजों के इस अनुचित पक्षपात का स्वागत करने वाले मुसलमानों पर वे प्रायः बरस पड़ते थे। भट्ट जी का कहना था कि जो भाषा कुंजड़े से लेकर विद्वान् तक बोलते हैं वह हिन्दी है और उर्दू वह भाषा है जो उर्दू फारसी शब्द बहुला है और जिसे अँग्रेजों का पृष्ठ पोषण प्राप्त है।[3]

इसी प्रकार 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के अनुसार हिन्दू और मुसलमानों में भेद डालने के लिए उन्होंने सरकार की कड़ी भर्त्सना की है।[4]

यद्यपि पैसे का संकट सदैव मुँह बाए खड़ा रहता था फिर भी भट्ट जी कभी अपने सिद्धान्तों से विचलित नहीं हुए। उदाहरण के लिए उन्होंने ३३ वर्ष के हिन्दी प्रदीप के लम्बे सम्पादन काल में एक प्रति में भी कभी कोई अश्लील विज्ञापन नहीं छापा और जो पत्र छापते थे उनका विरोध किया।[5]

उस काल में लेखकों की बड़ी कमी थी। पत्र का अधिकांश कलेवर सम्पादक को स्वयं भरना पड़ता था। जो थोड़े बहुत लेखक थे भी वे कानून से डरते थे और............क ख ग, एक देशभक्त एक देशहितैषी, मस्त मौला, आदि छद्म

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल से जून १८९५, पृ० ४७-४८।**
२. **'हिन्दी प्रदीप' अगस्त १८७८, पृ० ९।**
३. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८८२, पृ० १०।**
४. **'हिन्दी प्रदीप' फरवरी १८८७, पृ० २-४।**
५. **'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८९१, पृ० २०।**

नामों से लिखा करते थे। ऐसी स्थिति में सारा उत्तरदायित्व सम्पादक का रहता था। भट्ट जी के पत्र में छद्म नाम से लिखने वालों की कमी नहीं थी। लेकिन वास्तविक नाम से लिखने वाले भी बहुत थे। माधव शुक्ल की 'बम क्या है' कविता पर ही 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया था।

'हिन्दी प्रदीप' की एक विशिष्ट नीति थी हिन्दी सेवकों की उचित प्रशंसा करना। भारतेन्दु युग में एक सबसे बड़ी विशेषता जिसका आज नितांत अभाव है यह मिलती है कि हिन्दी के सभी लेखक एक दूसरे के बड़े प्रशंसक थे और जितना संभव हो सकता था एक दूसरे की अधिक से अधिक प्रशंसा करता था।

भट्ट जी ने प्रसिद्ध भारतेंदु युगीन लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र की मृत्यु पर जो शोकांजलि भेंट की है वह सचमुच मार्मिक है और लेखक के और स्वर्गीय आत्मा के सम्बन्धों की मधुरता पर प्रकाश डालती है।[1]

इस प्रकार भट्ट जी जैसे मनस्वी और उदारमना व्यक्ति के हाथ में रह कर 'हिन्दी प्रदीप' ने पत्रकार कला की उज्ज्वल परम्परायें स्थापित कीं और बहुत वर्षों तक वह हिन्दी पत्रकार जगत में प्रेरणा का अव्यय स्रोत बना रहा।

२. **भारतेंदु युग में हिन्दी पत्रकार कला का अभ्युदय** :—हिन्दी पत्रकार-कला का प्रारम्भ यों तो विद्वान ३० मई सन् १८२६ (संवत् १८८३) से मानते हैं।[2] जिस दिन हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र उदन्त मार्तंड निकला किन्तु हिन्दी पत्रकार कला का वास्तविक प्रारम्भ सन् १८६८ से माना जाता है जब कि भारतेन्दु बाबू द्वारा सम्पादित 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व हिन्दी में जितने भी पत्र निकलते थे उनकी कोई निश्चित शैली नहीं थी। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का 'बनारस अखबार' सन् १८४५ में निकला था। इसकी भाषा उर्दू की ओर झुकी हुई थी बहुत से लोगों ने भ्रमवश इस पत्र को हिन्दी का प्रथम पत्र समझ लिया था।[3] 'बनारस अखबार' की भाषा नीति के विरोध में श्री तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक सुधाकर (सन् १८५०) और राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजा हितैषी' (सन् १८५५) का प्रकाशन आरंभ किया। इन पत्रों की हिन्दी संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', फरवरी से अप्रैल १८९४, पृ० ५१–५२।

२. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्र० संस्करण, पृ० ९३।

३. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्र० संस्करण, पृ० ख (भूमिका)

होती थी। यह भी कहा जा सकता है कि 'सुधाकर' और 'प्रजा हितैषी' 'बनारस अखबार' की भाषा की प्रतिक्रिया के परिणाम थे। सच बात तो यह है कि भारतेंदु की 'कवि वचन सुधा' से पूर्व हिन्दी पत्रकारिता की कोई निश्चित नीति नहीं थी। उसके प्रकाशन ने पहलीबार हिन्दी पत्रकार-कला में भाषा संबंधी निश्चित, ठोस एवं व्यावहारिक नीति का श्रीगणेश किया।

'कवि वचन सुधा' पहले पाक्षिक था फिर साप्ताहिक हो गया अपने युग का यह सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र था। श्री राधाकृष्ण दास ने इस पत्र के विषय में लिखा है :—

'कवि वचन सुधा' का आदर सर्व साधारण में बढ़ता गया और इसके लेख ऐसे ललित होते थे कि यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय गिने ही हुए थे तथापि लोग चातक की भाँति टकटकी लगाए रहते थे और 'हाथों हाथ सब बँट जाता था यहाँ तक कि अब एक फाइल भी नहीं कहीं मिलती है।"[1]

कवि वचन-सुधा का उद्देश्य और आदर्श उसके मुख पृष्ठ पर प्रकाशित निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा :—

"खल गनन सों सज्जन दुखी मति होइ हरिपद मति रहैं।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहैं।
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंइ जग आनन्द लहैं।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।[2]

"सत्व निज भारत गहैं" में भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा नितांत स्पष्ट है।

डा० रामविलास शर्मा ने इस "पत्र" के विषय में लिखा हैं :—

"कवि वचन सुधा की फाइलें ढूँढ़ने पर मुश्किल से मिलेंगी और जो जहाँ तहाँ रद्दी में बिकने से बची रह गई हैं वे शीघ्र ही दीमक और बरसात के हवाले हुआ चाहती हैं। 'कवि वचन सुधा' ने साहित्यकारों की एक पूरी पीढ़ी को भाषा-साहित्य और देशभक्ति की शिक्षा दी थी निस्सन्देह इतना गौरव पूर्ण काम किसी सम्पादक या पत्रकार ने आज तक नह किया।"[3]

इसी पत्रिका के विषय में डा० रामविलास शर्मा ने आगे लिखा है :—

---

१. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्ण दास सन् १८९४, पृ० १२।

२. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्ण दास सन् १८९४, पृ० १२।

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, सन् १९५३, पृ० ९६।

कवि-वचन-सुधा का प्रकाशन आरम्भ करके भारतेन्दु ने वास्तव में एक नये युग का सूत्रपात किया। पत्र पत्रिकाओं ने हमारे जातीय जीवन को पहले कभी इतना प्रभावित न किया था और कोई भी पत्रिका हिन्दी की चोटी के लेखकों को प्रभावित करने का ऐसा निरपवाद श्रेय नहीं ले सकती जैसे कवि-वचन-सुधा। यह पत्रिका जनता का पक्ष लेने वाली जनता के हितों के लिए संघर्ष करने वाली राजनीति के पीछे चलने वाली इकाई नहीं, वरन् उसे मशाल दिखाने वाली सचाई थी। भारतेन्दु ने 'कवि-वचन-सुधा' के द्वारा हिन्दी में निर्भीक देशभक्त पत्रकार कला का आदर्श लोगों के सामने रखा। उनसे पहले लोगों ने पत्र निकाले थे लेकिन उनमें से कोई भी इस लगन से एक निश्चित उद्देश्य के लिए जमकर न लड़ा था। भारतेन्दु ने सत्य का और न्याय का पक्ष लिया। चाटुकारों, राजभक्तों और रूढ़िवादियों की उन्होंने जरा भी पर्वाह न की। 'कवि-वचन-सुधा' और 'हरिश्चन्द मैगजीन' जनता का शसक्त स्वर बन गईं। सरकार का उन्हें कोप भाजन पड़ा लेकिन देश सेवा का बीड़ा उठा कर उन्होंने इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया।"[१]

तत्कालीन ब्रिटिश सरकार इस पत्रिका की १०० प्रतियाँ आरम्भ में लेती थी।[२] लेकिन जब इस पत्र में देशभक्ति पूर्ण उग्र राजनैतिक निबन्ध निकलने लगे तो बड़ा आन्दोलन मचा।[3] कुछ सरकारी पिट्ठुओं ने इसमें निकले "मर्सिया नामक लेख पर सरकार से चुगली खाई। तत्कालीन छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया गया कि यह व्यंग्य पूर्ण निबन्ध आपको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। बस, फिर क्या था सरकारी सहायता तुरन्त बंद कर दी गई। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर केम्पसन साहब ने बिगड़ कर एक चिट्ठी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को लिखी। भारतेन्दु बाबू ने अपने उत्तर में उन्हें बहुत कुछ समझाया पर 'राजभक्तों' ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा। फलस्वरूप 'कवि वचन सुधा' ही नहीं 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा "बाला बोधिनी" की जो सौ सौ प्रतियाँ सरकार लेती थीं वे भी बन्द कर दी गईं।[४]

---

१. **भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ११७।**

२. **गुप्त निबन्धावली, सम्पादक झाबरमल शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३१५।**

३. ,, ,, ,, **पृ० ३१५।**

४. ,, ,, ,, **पृ० ३१६।**

अधिकारियों का ऐसा ओछा और निकृष्ट व्यवहार देखकर भारतेन्दु बाबू ने आनरेरी मजिस्ट्रेटी से उसी समय त्याग पत्र दे दिया[1] तथा सरकारी अधिकारियों से मिलना जुलना भी बन्द कर दिया भारतेन्दु की इस देशभक्ति पूर्ण प्रतिक्रिया ने कवि-वचन-सुधा को और भी लोकप्रिय बना दिया। भारतेन्दु युग के सर्व-श्रेष्ठ लेखक इस पत्रिका में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराना एक गौरव की बात समझते थे। पं० श्री राधाचरण गोस्वामी, बाबू गदाधरसिंह, बाबू काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवासदास, पं० बिहारीलाल चौबे, पं० सरयू प्रसाद, बाबू तोताराम वर्मा, मुंशी कमलाप्रसाद, पं० दामोदर शास्त्री, बाबू ऐश्वर्य नारायणसिंह, बाबा सुमेरसिंह, बाबा सन्तोषसिंह, बाबू गोकुलचन्द्र, बाबू नवीनचन्द्र राय आदि प्रसिद्ध लेखक इसमें लिखा करते थे।[2]

भारतेन्दु बाबू ने बाद में यह पत्र पं० चिन्तामणि राव घड़फले को सौंप दिया जिससे कि यह ठीक समय पर निकलता रहे। पत्र ठीक समय पर निकलने भी लगा पर जब भारतेन्दु बाबू ने इसमें लिखना छोड़ दिया तो यह निर्जीव और श्रीहीन हो गया। लार्ड रिपन के समय में 'इलवर्ट बिल' का आन्दोलन चला। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने उसका विरोध किया फलतः देश-वासियों की दृष्टि में वे गिर गये। दुर्भाग्यवश 'कवि-वचन-सुधा' ने भी उनका समर्थन किया और देशवासियों की दृष्टि में वह भी गिर गई।[3] बात यहाँ तक हुई कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर जब अनेक हिन्दी पत्रों ने महीनों तक काला बोर्डर देकर उनके विषय में लेख छापे छापे तब इस पत्र ने अपने जन्मदाता के लिये एक कालम भी काला न किया।[4] अन्त में सन् १८८५ में यह पत्र सदैव के लिये बन्द हो गया।[5]

सन् १८७३ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता में एक आकस्मिक एवं सुखद घटना है। जैसे सुन्दर लेख, जैसा सुन्दर कागज और छपाई इस मासिक पत्र की पहला पत्र होने पर भी थी वह अब तक किसी पत्र

---

१. गुप्त निबन्धावली, सम्पादक झावरमल्ल शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३१७।

२. ,, ,, ,, ,,

३. हिन्दी भाषा के सामायिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्ण दास सन् १८९४, पृ० १५।

४. ,, ,, ,, पृ० १६।

५. ,, ,, ,, पृ० १६।

में नहीं पाई जाती। लोग 'मैगजीन' देखने का तरसते हैं। स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी कहते थे कि जैसे उमङ्ग के जोरदार लेख मेरे और मेरे मित्रों के 'मैगजीन' में लिखे गये और छपे वैसे फिर न लिख सके।[1]

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' की आठ संख्याओं के पश्चात् इसका नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पत्रिका को ऐतिहासिक महत्व वाली तथा युगान्तरकारी बताया है। उनका कथन है कि नई हिन्दी इसी 'चन्द्रिका' से ढली :—

'हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी चन्द्रिका से प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा जिसको जनता ने उत्कंठा-पूर्वक दौड़कर अपनाया उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेन्दु ने नई सुधरी हुई हिन्दी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने कालचक्र नामक की अपनी पुस्तक में नोट किया है—'हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०।'[3]

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की १०० प्रतियाँ तत्कालीन अंग्रेजी सरकार भी लेती थी। लेकिन बाद में इस पत्रिका पर अश्लीलता का दोष लगाकर सरकार ने १०० प्रतियाँ लेना बन्द कर दिया।[4]

उदयपुर राज्य कौंसिल के सेक्रेटरी भारतेन्दु के पुराने मित्र पण्डित मोहन-लाल विष्णुलाल पण्डया 'मोहन चन्द्रिका' नामक मासिक पत्र निकालना चाहते थे। उन्होंने भारतेन्दु बाबू से कहा कि यदि आप 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मुझे दें तो 'मोहन चन्द्रिका' उसी में निकले। भारतेन्दु बाबू ने सहर्ष यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और सन् १८८० ई० में सम्वत् १९३७ मिती चैत्र शुक्ला १ को 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' 'मोहन चन्द्रिका' के साथ सम्मिलित रूप में निकलने लगी।[5]

---

१. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्णदास सन् १८९४, पृ० ३०।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५९।

३. ,, ,, ,, पृ० ४५९।

४. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्ण दास, सन् १८९४, पृ० ३०।

५. ,, ,, ,, पृ० ३०।

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' के प्रथम सम्मिलित अङ्क (ज्येष्ठ शुक्ल १ सम्वत १९३७) के अंतिम पृष्ठ पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के हस्ताक्षरों से निम्नांकित 'सूचना' निकली :—

सर्वदा मेरे शरीर के अस्वस्थ रहने के कारण चन्द्रिका के प्रकाश में आज तक अनेक व्याघात होते रहे। बीच में इन दिनों मेरे मित्र बाबू मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने 'मोहन चन्द्रिका' नामक एक मासिक पत्र इसी अभाव के दूर करने को निकालना चाहा और मुझको इस विषय में पत्र लिखा। मैंने यह सोचा कि एक अलग पत्रिका निकलने में उसकी उन्नति कैसी हो कैसी न हो इससे उत्तम यह होगा कि चन्द्रिका में ही क्यों न 'मोहन चन्द्रिका' मिलकर प्रकाशित हो। इस विचार को मैंने चित्त में दृढ़ निश्चय करके अपने मित्र से इस विषय में व्यवहार सम्बन्धी सब बातें पत्र द्वारा निबटा लीं और यही निश्चय हुआ कि आगे से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' एक साथ उदित हों।

इस हेतु इस सूचना द्वारा सर्व साधारण लोगों पर विदित किया जाता है कि आज से 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' सम्बन्धी सब व्यवहार और अधिकार पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया को प्राप्त हैं उसका स्वामित्व सम्पादकत्व आदि सब प्रकार का अधिकार आज से मैंने उनके हस्तगत कर दिया। आगे से चन्द्रिका के विषय में यावत् पत्र व्यवहार लोग उनसे रक्खें और जिनको इसका मूल्य आगे से देना हो वह लोग भी उनको देकर उनसे रसीद लें मुझसे अब कोई सम्बन्ध नहीं।

मिती वैशाख कृष्णा १४ ह० हरिश्चन्द्र[1]

श्रीयुत राधाकृष्ण दास जी ने अपने 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है कि संवत् १९३८ में इसके निकलने के एक वर्ष ही पश्चात् इसका रूप ही बदल गया और संस्कृत का मासिक पत्र 'विद्यार्थी' भी इसमें मिल गया।[2] राधाकृष्ण दास जी की उपर्युक्त सूचना या तो अनुमान पर आधारित है या अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर उन्होंने ऐसा लिख दिया होगा क्योंकि इस विषय में वास्तविकता तो यह है कि 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' के चार सम्मिलित अंक निकलने के पश्चात् उसी वर्ष अर्थात्

---

१. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका, चैत्र शुक्ल १ सं० १९३७ अंतिम (कवर) पृष्ठ०।

२. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्ण दास, सन् १८९४, पृ० ३१।

संवत् १९३७ में ही 'विद्यार्थी' इसमें सम्मिलित हो गया था। पाण्डया जी ने 'चन्द्रिका' के खण्ड ७ तथा पाँचवे अंक में लिखा है :—

'चन्द्रिका के मुखबंध ही से प्रिय पाठकगण देखेंगे कि आज देववाणी का 'विद्यार्थी' नामक पत्र भी 'चन्द्रिका' में मिल गया जिससे गंगा यमुना के संगम में सरस्वती भी मिलगई 'विद्यार्थी' नामक एक संस्कृत पत्र बांकीपुर में प्रतिमास श्रीयुक्त पं० दामोदर शास्त्री के प्रबन्ध से छपता था शास्त्री जी के श्रीनाथ द्वारा में रहने से अब उसके प्रबन्ध में हानि होती थी इसी से शास्त्री जी की इच्छा से उस पत्र को भी इसमें मिला दिया।"[1]

"चन्द्रिका" का उद्देश्य उसके मुख पृष्ठ पर छपे निम्नांकित छन्दों से स्पस्ट हो जाता है :—

विद्वत्कुलामलस्वान्त कुमुदामोददायिका।
आर्य्याज्ञानतमोहन्त्री श्रीहरिश्चन्द्र चन्द्रिका ।।
कविजन कुमुदगन हिय विकासि चकोर रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै ।।
उद्यम सुऔषधि पोखि विरहिन तापि खल चोरन दरै।
हरिश्चन्द्र की यह चन्द्रिका परकासि जग मंगल करै ।।[2]

जब 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' 'मोहन चन्द्रिका' से संयुक्त हुई तो अंतिम पंक्ति में निम्नांकित परिवर्तन कर दिया गया :—

"हरिश्चन्द्र मोहन चन्द्रिका परकासि जग मंगल करै :"[3]

'चन्द्रिका' बीच में एक बार बंद हुई किन्तु इस पत्रिका पर अपने असीम प्रेम के कारण भारतेन्दु बाबू ने 'नवोदित्य हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से उसे एक बार फिर प्रकाशित किया किन्तु ५ जनवरी १८८५ को भारतेन्दु का देहावसान हो गया और इस पत्रिका का तीसरा अंक उनके कनिष्ठ भाई बाबू गोकुलचन्द्र जी ने प्रकाशित किया।[4] इसी बीच में पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने उन्हें पत्रिका छापने के विरुद्ध एक नोटिस दे दिया और पत्रिका पर

---

१. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका', श्रावण शुक्ल १ संवत् १९३७, पृ० १।

२. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', सितम्बर सन् १८७९, मुख पृष्ठ।

३. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका', चैत्र शुक्ल १ संवत् , १९३७ मुख पृष्ठ।

४. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्णदास, सन् १८९४, पृ० ३१।

अपना पूरा कानूनी अधिकार बताया फलस्वरूप 'चन्द्रिका' सदा के लिए अस्त हो गई।[1]

भारतेन्दु युग में अनेक पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों एवं अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों से निकलने वाले अधिकांश हिन्दी पत्रिकाओं के प्रेरणादाता एवं सहायक स्वयं भारतेन्दु ही थे। डा० रामरतन भटनागर ने ठीक ही लिखा है :—

"उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी।"[2]

भारतेन्दु युग में निकलने वाली विभिन्न पत्र पत्रिकाओं की संख्या श्रीयुत राधाकृष्ण दास जी ने अपने 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' में १३६ दी है।[3] इनमें से यद्यपि अधिकांश पात्रों को अल्पायु ही प्राप्त हुई थी किन्तु कुछ पत्र बड़े तेजस्वी और दीर्घायु भी थे।

यह एक अत्यन्त सुखद सत्य है कि हिन्दी की पत्रिकारिता का आरम्भ त्याग और तपस्या से हुआ। भारतेंदु हिन्दी पत्रकारिता के जनक हैं और उन्हें आरंभ में सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा किन्तु भारतेन्दु बाबू ने "आनरेरी मजिस्ट्रेट का भार उसी दम अपनी गरदन पर से उतार कर फ़ेंक दिया।"[4]

भारतेन्दु युग में पत्रकारिता की उन्नति का अनुमान इसी तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि इस युग में (सन् १८७३ से १६००) निकलने वाली पत्र पत्रिकाओं की संख्या ३००-५० से ऊपर थी।[5]

भारतेन्दु युगीन पत्र पत्रिकाओं की चर्चा जिस किसी ने भी की है उसने 'हिन्दी प्रदीप' को बड़े सम्मान के साथ याद किया है।

हिन्दी प्रदीप के विषय में श्री राधाकृष्ण दास जी ने लिखा है :—

---

१ हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्णदास, सन् १८९४, पृ० ३१।

२. 'आलोचना', जनवरी १९५३, पृ० ३३।

३. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्णदास सन् पृ० ५८-६८।

४. गुप्त निबन्धावली, सम्पादक झाबरमल्ल शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३१७।

५. 'आलोचना', जनवरी १९५३, पृ० ३३।

"चन्द्रिका" और "बालावोधिनी" का साथ देने और हिन्दी भाषा की पुष्टता साधन के अभिप्राय से सन् १८७७ की १ सितम्बर को प्रयाग से पं० बालकृष्ण भट्ट जी ने हिन्दी भाषा का अद्वितीय पत्र 'हिन्दी प्रदीप' निकाला। यह पत्र जिस स्वाधीन भाव और गौरव के साथ निकला आज तक वैसे ही अचल स्थिर है। यद्यपि ग्राहकों की कमी तथा नादिहन्दी और किसी किसी की कठोर दृष्टि से इस पर कई हवा आईं परन्तु यह पं० बालकृष्ण सरीखे दृढ़ पुरुष के हाथ में रहकर कब हिल सकता था? महाराणा सज्जनसिंह जी ने इस पत्र के गुणों पर रीझ कर इसकी अर्थ से सहायता की थी। भारतेन्दु जी का प्रेम इस पत्र पर बहुत विशेष था।"[1]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी 'हिन्दी प्रदीप' को ऊँचे पत्रों में स्थान देते हुए एक स्थान पर लिखते हैं :—

"भारतेन्दु के पत्रों तथा 'हिन्दी प्रदीप' को छोड़कर अन्य पत्र 'ब्राह्मण' जैसे ही थे जिसका 'स्टेण्डर्ड' बहुत ऊंचा नहीं था।[2] डा० रामविलास शर्मा भी भारतेंदु युग में 'हिन्दी प्रदीप' को अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्र स्वीकार करते हैं :—

"इलाहाबाद से बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' निकाला जो दीर्घकाल तक हिन्दी की सेवा करता रहा यह पत्र स्वाधीन विचारों का समर्थक और अपने समय के श्रेष्ठ पत्रों में था। जिस लगन से अनेक कष्ट सहते हुए वर्षों तक भट्ट जी ने इसे चलाया उसका मूल्य आंकना कठिन है उनकी दृढ़ता और अध्यवसाय आदर्श हैं।"[3]

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि भारतेन्दु मंडल के अधिकांश लेखक उस समय के प्रसिद्ध पत्रकार भी थे। भारतेन्दु युग में हिन्दी एवं हिन्दी साहित्य के विकास प्रचार और प्रसार में पत्रकारिता का बड़ा हाथ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में २७ पत्रिकाओं की एक तालिका दी है।[4] इसमें उल्लखित अधिकांश पत्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तिगत मित्रों

---

१. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, राधाकृष्णदास सन् १८९४ पृ ३२।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४८, पृ० १६३।

३. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ० २६।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५६-४५७।

के हैं जो उन्हीं की प्रेरणा से निकले थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन पत्रिकाओं के विषय में लिखा है :—

"इनमें से अधिकांश पत्रिकायें तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गई पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-साधन और हिन्दी की सेवा की है। जैसे 'बिहार बन्धु', 'भारत मित्र', 'भारत जीवन', 'उचित वक्ता', 'दैनिक हिन्दोस्थान', 'आर्य दर्पण', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप'।"[1]

अब संक्षेप में कुछ विचार तत्कालीन पत्रकारिता के स्तर एवं कठिनाइयों पर भी कर लिया जाय।

कवि वचन सुधा :—'कवि वचन सुधा' शुद्ध साहित्य पत्रिका न थी १८७२ के अङ्कों पर छपा रहता था :—A bimonthly journal of literature news and Politics वह साहित्य समाचार और राजनीति की पत्रिका थी पत्रिकारिता के प्रति भारतेन्दु का दृष्टिकोण अराजनीतिक न था। 'कवि वचन सुधा' योरप के नए ज्ञान विज्ञान से हिन्दी पाठकों को परिचित कराती थी। १७ सितम्बर १८७२ के अङ्क में शीतला प्रसाद का लिखा हुआ योरप देश में नवीन विद्वानों के मत के अनुसार इन्द्री और उनके विषयों का वर्णन' नाम से लेख छपा है। इसी अङ्क में पंजाब का एक समाचार छपा है पंजाब प्रान्त में शवों को दग्ध करने को लकड़ी नहीं मिलती इससे शवों को वैसे ही फेंक देते हैं क्योंकि वहाँ लकड़ी का दुष्काल पड़ा है।[2]

सारांश यह कि छोटी से छोटी और गंभीर से गंभीर बात 'कवि वचन सुधा' में मिल जायगी।

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका :—'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के मुख पृष्ठ पर निम्नांकित वाक्य अंकित रहता था जो उसकी विषय सम्बन्धी विशदता एवं विविधता स्पष्ट करता है :—

'नवीन प्राचीन संस्कृत भाषा और अङ्गरेजी में गद्य पद्य मय काव्य, प्राचीन वृत्ति राज्य सम्बन्धी विषय, नाटक विद्या और कला पर लेख, लोकोक्ति इतिहास, परिहास गद्य और समालोचना संभूषिता।[3]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४५६–४५७।

१. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' डा० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण पृ० ९९।

२. 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नवम्बर सन् १८७८, मुख पृ०।

'हिन्दी प्रदीप' अपने युग की पत्रकारिता से भी सभी दृष्टियों से दो पग आगे था । विषय विविधता की दृष्टि से तो कोई भी तत्कालीन पत्र उसके सम्मुख नहीं टिकता । 'हिन्दी प्रदीप' के मुख पृष्ठ पर यह वाक्य अंकित रहता था :—

'विद्या, नाटक, इतिहास, साहित्य, दर्शन, राज्य सम्बन्धी इत्यादि के विषय में हर महीने की पहली को छपता है ।'[1]

लेकिन उसके अतिरिक्त, भूगोल, ज्योतिष, कृषि, स्वास्थ्य एवं विज्ञान सम्बन्धी लेख, जीवन चरित्र, शिक्षा, सम्बन्धी लेख, तथा कपड़े साफ करने से लेकर बर्तनों पर कलई आदि करने तक के सभी विषय रहते थे । सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक समस्याओं पर जितने स्पष्ट सारगर्भित और खरी भाषा में निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप' में निकलते थे उतने शायद ही किसी पत्र में निकलते हों ।

'प्रदीप' के जनवरी सन् १८९८ के अङ्क में निम्नांकित लेख प्रकाशित हुए थे :—

(१) अकाल और महामारी का तेरहवाँ कांग्रेस ।
(२) किसी पाठक का प्रकाशनार्थ एक पत्र ।
(३) बया ।
(४) खगोल निरूपण ।
(५) धन्य हो प्रभुवर प्रजा के प्राण रक्षक धन्य हो ।
(६) नलदमयन्ती नाटक ।
(७) प्राप्त गन्थों की आलोचना ।[2]

प्रदीप के अप्रैल सन् १८९८ के अंक में प्रकाशित विषय सूची--

(१) श्रीमत् शंकराचार्य और गुरू नानिक शाह ।
(२) खगोल निरूपण ।
(३) चन्द्रमा, मंगल, वृहस्पति, शनैश्चर ।
(४) सर सैयद अहमद ।
(५) मन के गुण ।
(६) अलीगढ़ गजट की एक तान ।
(७) नलदमयन्ती ।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी फरवरी, १८९८, मुख पृष्ठ ।
२. ,, ,, ,, ,,

'सार सुधा निधि', 'भारत मित्र' 'भारत बन्धु' 'ब्राह्मण', 'उचित वक्ता' 'प्रयाग समाचार' 'भारतमित्र' 'हिन्दोस्थान' 'बिहार बन्धु' आदि उस समय के प्रसिद्ध पत्र हैं और उस काल की पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं।

'भारतेन्दु युग' राजनैतिक दृष्टि से पत्रों के लिए एक कठिन परीक्षा का युग था। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट सम्पादकों के सिर पर नङ्गी तलवार की भाँति लटका रहता था। पत्रों के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं।

दैनिक पत्र तो उस काल में सफलतापूर्वक चल ही नहीं सकते थे क्योंकि उन्हें अँग्रेजी एजेंसी द्वारा समाचार ग्रहण करने में कठिनाई होती थी और अँग्रेजी समाचार पत्र समाचार पहले ही छाप लेते थे।[1]

सम्पादक अनेक कारणों से सही समाचार भी पत्रों में नहीं दे पाते थे एक बार मारवाड़ गजट के सम्पादक ने एक स्त्री को एक जागीरदार द्वारा जला देने का समाचार छाप दिया तो बेचारे को बाद में त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा।[2]

पत्र निकालने की आज्ञा भी उस काल में बड़ी कठिनाई से मिलती थी।[3] सरकार की दृष्टि देशी समाचार पत्रों के सम्पादकों की ओर हमेशा टेढ़ी रहती थी।

पुलिस का आतंक भी तत्कालीन पत्रों के सम्पादकों के लिये कितनी बड़ी कठिनाई थी आज उसका अनुभव हम ठीक-ठीक नहीं कर सकते। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने पत्रों के केन्द्र स्थान काशी में इसी प्रकार के पुलिस आतंक की चर्चा अपने एक लेख में की है।[4]

पत्र तो तब चलें जब उनके लिये पाठक हों। भारतेंदु युग में अधिकांश पत्रों की ग्राहक संख्या २०० से अधिक नहीं होती थी।[5] अपने समय के सर्वश्रेष्ठ पत्र 'हिन्दी प्रदीप' के ही केवल २०० ग्राहक थे और उनमें भी समय पर चन्दा वसूल करना एक समस्या थी। प्रायः सभी पत्रों की उस समय यही हालत थी। पत्र संचालन उस काल मे 'जीविका' का साधन न होकर सेवा का एक कंटकमय पथ मात्र था।

---

१. **गुप्त निबंधावली, सम्पा० झाबरमल शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३३९।**
२. ,, ,, ,, ,, ३६३।
३. ,, ,, ,, ,, ३६५।
४. ,, ,, ,, ,, ३९१।
५. ,, ,, ,, ,, ४२४।

उपर्युक्त कठिनाइयों में भी भारतेंदु युग के साहित्यिक कभी घबराए नहीं। उन्होंने उन परिस्थितियों में जो अधिकतम तथा सर्वोत्तम किया जा सकता था किया। डा० रामरतन भटनागर ने तत्कालीन सम्पादकों के विषय में ठीक ही लिखा है :—

"बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानंद मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई नहीं देते। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।"[1]

डा० रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु युगीन पत्रकार कला और पत्रकारों के विषय में ठीक ही लिखा है :—

"इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उस युग के समर्थ पत्रकारों ने कलकत्ता लाहौर और बम्बई के त्रिकोण में हिन्दी पत्रों का एक जाल सा बिछा दिया। इनमें बहुत से पत्र शीघ्र ही निकल कर बन्द होगए इसका कारण संचालकों की अक्षमता उतनी न थी जितनी परिस्थितियों की कठोरता थी। फिर भी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'हिन्दी प्रदीप' 'सारसुधा निधि', 'हिन्दोस्थान' आदि उस समय के श्रेष्ठ पत्र हैं जो आज भी हमारे लिए अनेक बातों में आदर्श हैं। पत्रों के इस जाल को बिछाने में भारतेन्दु का कितना हाथ था यह ठीक-ठीक जाँचना कठिन है। उत्साहित वह सभी को करते थे और लेख भी बहुतों को भेजते थे। पत्र साहित्य की परम्परा न होते हुए भी उसने थोड़े ही वर्षों में जो उन्नति की उसका एक मात्र कारण लेखकों की धुन थी।.........यदि उस युग के साहित्यकों ने यह लगन और फक्कड़पन न प्रकट किया होता तो निश्चय ही वे परिस्थितियों के नीचे कुचल दिए गए होते। यह खेद की बात है कि उनके त्याग और परिश्रम से लाभ उठा कर उस युग के पत्र साहित्य ने वैसी उन्नति नहीं की जैसे उसे करनी चाहिए थी।"[2]

भट्ट जी के पत्रकार जीवन की कठिनाइयां :—आज तो पत्रकारों को धन और यश सभी कुछ प्राप्त है किन्तु हिन्दी पत्रकारिता को जन्म देने वाले भारतेंदु युगीन लेखकों के काल में पत्रकार कला इन सभी आकर्षणों से रहित थी।

---

१. **'आलोचना', जनवरी १९५३, पृ० ३४**

२. **'भारतेन्दु युग', डा० रामविलास शर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०।**

फिर भी जिन महानुभावों ने इस कंटकाकीर्ण मार्ग में पैर रक्खे उनके समक्ष दो ही उद्देश्य थे। (१) भारतवर्ष की सेवा या देशभक्ति, (२) हिन्दी सेवा।

भट्ट जी भी आधुनिक पत्रकार कला के उन्हीं पूर्वजों में से हैं। उस समय देशी भाषा के पत्रों पर सरकार की वैसे ही गिद्ध दृष्टि थी उस पर ये पत्र देश-भक्तिपूर्ण उग्र सामग्री से भरे रहते थे, जनता को जाग्रत करने और सङ्गठित करने का प्रयत्न करते थे। अतः वे पत्र सरकार को फूटी आँख भी न भाते थे। उस काल के पत्रकार जीवन की सही सही कठिनाइयों की कल्पना करना भी आज कठिन है। वातावरण उनके अनुकूल नहीं था। फिर भी हिन्दी पत्रकारिता का अंकुर जो एक बार फूटा तो अनेक निस्वार्थी और तपस्वी लोगों के स्नेह कणों से अभिसिंचित हो आज वह महान वृक्ष का रूप ग्रहण करता जा रहा है किन्तु आज भी हमें कृतज्ञ उन लोगों के प्रति ही होना पड़ेगा जिन्होंने इसके दुर्दिनों में इसकी रक्षा की और संसार के 'आतप-रोष' से इसे बचाए रखा।

भट्ट जी ने जब 'हिन्दी प्रदीप' का भार अपने ऊपर लिया तब उनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और देश का वातावरण तो बिलकुल भी इसके अनुकूल नहीं था।

अर्थाभाव :—'हिन्दी प्रदीप' का जन्म एक गरीब ब्राह्मण (पं० बालकृष्ण भट्ट) के घर में हुआ और दरिद्रता ने जीवन भर उसका साथ नहीं छोड़ा। यह तो भट्ट जी का 'हिन्दी' और 'प्रदीप' के प्रति अगाध स्नेह ही था जिसनेउसे ३३ वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित रखा और जब ३३ वर्ष बाद प्रदीप' बुझा भी तो स्नेह की कमी के कारण नहीं अपितु ब्रिटिश सरकार के दमन के तीव्र झोंकों के कारण।

लगभग २१ वर्ष तक हिन्दी जगत् को प्रकाशित करने के बाद भी 'हिन्दी प्रदीप' की स्थिति क्या थी वह भट्ट जी के इन शब्दों से प्रकट हो जाती है :—

"हाय ! हम संसार से क्यों उठे जाते हैं इसे याद कर छाती दरकती है जिस पौधे को हम बड़ा परिश्रम और बड़े बड़े क्लेश सहकर बनाए रहे सो सींचने वालों की अनपेक्षा से बराबर मुरझाता हुआ आज जड़पेड़ से निर्मूल हुआ चाहता है। हाय ! हमारे लिए दशों दिशा शून्य होगईं सब ओर अंधकार छा गया कोई इतना पूछने वाला न रहा कि तुम क्यों और कैसे अब तक रहे और क्यों अब उठे जाते हो। क्या हम से देश का कुछ उपकार साधन नहीं बन पड़ा ? क्या हिन्दी के भण्डार गृह में हमने एक तिनका भी कभी नहीं भरा ? अफसोस इने गिने हिन्दी रसिकों का मनोरंजन करने वाला उन्हें प्रसन्न रख

उनकी दन्तावली का विकास करा देने वाला अब कोई न रहा और हो भी तो हमें क्या। हमें तो यह जगत् जीर्णारण्य सब ओर से अंधकार पूरित हो गया। कोने अंतरे हिन्दी के हितू कहीं कोई हों तो हमें क्या हमारे काम तो न आए। इसके पीछे हमने जो जो क्लेश सहा उन सब गाई गीत के गाने से लाभ क्या? सबसे बड़ा क्लेश अर्थकृच्छ्रता है। इसीलिए बहुत दिनों से इसे कई महीनों का एक साथ निकाला हमने आरम्भ किया कि कुछ नहीं तो पोस्टेज की किफायत तो होगी। जिस 'बंगवासी' ने हमारी भीतरी बातों को न जान कई बार आक्षेप किया वह भी क्या करें लाचार हो सहना ही पड़ा। अब हमको अर्थकृच्छ्र यहां तक आ गया कि दांतों पसीने के परिश्रम के उपरान्त भी जो कुछ हमें मिलता है वह बढ़े हुए कुटुम्ब के पोषण में खर्च हो जाने के बाद इतना नहीं उबरता कि हम इसे भी ठेलते जांय जैसा अब तक करते रहे। अस्तु अब अपने प्रेमियों से अंत समय मिल भेंट उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारा कहा सुना हमें माफ करें और जिनका हमसे जो कुछ बाकी हो लिख भेजें चुकता करने की फिकर में लगें। हमारा जिनसे जो कुछ चाहिये उसके मिलने की अब क्या उम्मेद रही। मसल है मां होती तो मौसी को झीखते। हमारी कदर करने वाले और समय से चुकता कर देने वाले जितने लोग चाहिये उतने होते तो हमारी यह दशा क्यों होती कि २१ वर्ष तक रहे अब उच्छिन्न हुए जाते हैं। यदि अब भी हमारा यह विलाप किसी के मन में असर करता और हमारे सहायक कोई खड़े हो जाते तो कुछ दिनों चलने की हम फिर हिम्मत बांधते। पर काहे को ऐसा होना है। इस्से अब हमारी इति है।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में जहां हिन्दी और देश सेवा की अदम्य लालसा है वहाँ आर्थिक विवशता का मर्मभेदी करुण चीत्कार भी है। भट्ट जी उन दिनों कायस्थ पाठशाला कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे वेतन ५० रुपया के लगभग था। बाल बच्चों का पेट काट कर भी वे 'प्रदीप' को प्रकाशित किए हुये थे। परंतु आर्थिक कष्ट की भी एक सीमा होती है। आर्थिक कष्ट संसार का भयंकरतम कष्ट है। अर्थाभाव मनुष्य की सारी विशेषताओं को ढंक देता है और उसे निष्प्रभ एवं उत्साहहीन बना देता है।

२१ वें वर्ष का यह 'प्रदीप' का संकट अन्त में टल गया था मिर्जापुर की ना० प्र० सभा ने आर्थिक सहायता के द्वारा 'प्रदीप' को बुझने से बचा लिया था। भट्ट जी लिखते हैं :—

---

१. 'हिंदी प्रदीप,' जुलाई अगस्त १८९८, पृ० २८–२९।

"केवल ना० प्र० सभा के उद्योग और सहाय ने हमारे में फिर से जान पिरोहा और पहले के ऋरण से हमारा उद्धार कर हमें उठाय खड़ा किया अब तो कुछ दिनों के लिये हम फिर अजर अमर हुए आगे देखा जायगा।"[१]

पाठकों का अभाव :—भट्ट जी के पत्रकार जीवन में आर्थिक कठिनाई के पश्चात् सबसे बड़ी कठिनाई थी पाठकों का अभाव और यह दो प्रकार का था। एक तो वैसे ही 'हिन्दी प्रदीप' की ग्राहक संख्या कभी २०० से आगे नहीं बढ़ी और उसमें भी आधी संख्या से अधिक ने कभी चन्दा ठीक समय पर नहीं दिया या बिलकुल ही नहीं दिया।

भट्ट जी बहुत अधिक परिश्रम करके तो 'हिन्दी प्रदीप' का कलेवर भरते थे और अधिक से अधिक खतरा उठाकर भी उग्र और देशभक्तिपूर्ण लेखादि लिखते थे किन्तु 'गुरण ग्राहकों' का बड़ा अभाव था। देखिए भट्टज का क्षोभ इन पंक्तियों में कैसा प्रकट हुआ है :—

"हमारे समान ऐसा मंद बुद्धि दूसरा कौन होगा कि जिस बात के बन्द हो जाने के लिए सरकार ने प्रेस एक्ट जारी कर दिया उसे न मान सरकार से बुरे बनते हैं। रुपया जो आज दिन ऐसा प्यारा हो रहा है हमें उसका घाटा सहते सहते घट्टा पड़ गया है। सबेरे से उठ लिखने के लिये नई नई बात सोचते रहते हैं जिसमें अब भी यह पत्र ग्राहकों को मनरंजन हो पर इस सबका परिणाम कुछ भी नहीं। शून्य में से शून्य गया हाथ लगा शून्य। महाजन वर्ग या और इतर जन जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा नहीं है वे अभीतक न समझे कि अखबारों से क्या फाइदा है। जिन्हें फाइदे का ज्ञान है अर्थात् शिक्षित मंडली वे देशी भाषा के समाचार पत्रों के पढ़ने में अपनी हतक इज्जत समझते हैं। जिसमें यह पत्र हिन्दी का ठहरा जिसके जानने वाले दस में से एक होंगे और उसके पूरे रसिक तो कदाचित सौ में भी एक हों या नहीं। पाठकों का यह हाल है, और हम चाहते हैं कि देश भर को आज ही आलिम और पण्डित बनादें जिसमें अखबार पढ़-पढ़ लोगों में उत्तेजना बढ़े।"[२]

यद्यपि आर्थिक दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' भट्ट जी के लिए 'बोझा' बन गया था किन्तु मातृभाषा में दृढ़ भक्ति और अनुराग के कारण वे इसे ढोते रहे[३] नहीं तो पाठकों संख्या तो इतनी कम थी कि उसका चलना सम्भव नहीं हो रहा था।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८९६, पृ० २।**

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८०, पृ० १८।**

२. ,, **सितम्बर १८९०, पृ० १।**

भट्ट जी बड़े उत्साही जीव थे। 'प्रदीप' से उन्हें आर्थिक लाभ हो यह तो वे स्वप्न में भी नहीं सोचते थे इतना अवश्य सोचते थे कि हमें घाटा उत्तरोत्तर कम होता जाय। उन्होंने २४ पृष्ठ के प्रदीप का मूल्य घटाकर १ रुपया ११ आना वार्षिक कर दिया था जिससे कि गरीब से गरीब आदमी इतना दे सके और उनका तो कहना यहाँ तक था कि यदि इसके ५०० ग्राहक हो जाँय तो मय डाक महसूल के इसका मूल्य मात्र १ रुपया वार्षिक कर दिया जाय।[१]

यदि पाठकों का इतना अभाव न होता तो भट्ट जी 'प्रदीप' को पाक्षिक और साप्ताहिक तक कर देना चाहते थे।[२] भट्ट जी को जन्म भर यही शिकायत रही कि देश में हिन्दी के जानने और पढ़ने वाले बहुत कम हैं।[३]

भट्ट जी तो चाहते थे कि अपने पत्र के द्वारा वे जनता में सुरुचि का निर्माण करें, उसे विद्याप्रेमी बनायें। पर यह सोचकर वे सदैव बड़े दुखी रहते थे कि पढ़ने वाले भी तो मिलें कोई पढ़ने वाले ही न हों तो क्या किया जाय[४]।

चन्दा वसूली में कठिनाई :— पत्र छापने के लिए कागज, छपाई, और श्रमिकों को पारिश्रमिक देने की आवश्यकता होती है, इन सब बातों के लिये पैसा चाहिए यदि पैसा न होगा तो अच्छे से अच्छे लेख लिखे रह जायेंगे प्रेस में उन्हें छापेगा कौन ? चन्दा वसूली की कठिनाई भट्ट जी के जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई थी। जब तक अपने वेतन का पैसा रहता वे चिंता न करते पर उन्हें वेतन भी कितना मिलता था ? बाल बच्चों की भी पूर तो पड़ती नहीं थी। हमेशा ही आर्थिक संकट बना रहता था।[५] ग्राहक भी ऐसे चिकने घड़े थे कि लाख कहो पर उन पर बूँद एक न ठहरती थी। भट्ट जी उन्हें तरह-तरह की धमकी देते थे, उनसे प्रार्थना करते थे उनकी स्तुति करते थे पर कौन सुनता है ? आखिर उन्हें एक उपाय सूझा जो लोग चन्दा नहीं देते थे वे उनका नाम छापने लगे। थोड़े दिन तो इसका असर हुआ फिर ग्राहक इसके भी अभ्यस्त हो गए। भट्ट जी बड़े परदुःखकातर व्यक्ति थे उन्हें चिन्ता हुई कि ये ठग ग्राहक कहीं अन्य पत्र सम्पादकों को भी न ठग रहे हों। उन्होंने तुरन्त 'हिन्दी प्रदीप' में 'एडीटरों के लिये सूचना' प्रकाशित की इससे ग्राहकों की बेईमानी पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है :—

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी १८९९, पृ० ३।
२. ,, जनवरी फरवरी १९०१, पृ० १–३।
३. ,, ,, ,, पृ० २।
४. ,, जुलाई १८८६, पृ० २१।
५. ,, जुलाई अगस्त १८९८, पृ० २६।

"हम अपने सहवर्गी एडीटरों को सूचित किये देते हैं कि आप लोग इन मनहूस, कंजूस कौड़ी चूस, लोगों से खबरदार रहो और कभी भूल से उन्हें न पतियाना। ऐसों के न ईमान का प्रमान न इनको अपनी बात का कुछ लिहाज। हम नहीं जानते इनके समान नराधम पापिष्ठ नास्तिक कोई दूसरा मनुष्य इस सृष्टि में पैदा हुआ होगा। क्योंकि हम लोग सदा सबकी भलाई में तत्पर रहते हैं और अपनी बड़ी-बड़ी हानि सहकर देश के उपकार के लिए राजकर्मचारियों से बराबर भिड़ खड़े होते हैं ऐसे महोपकारी को जुल देना क्या कोई साधारण पाप है। यद्यपि ऐसों का नामोच्चारण महापाप है। क्योंकि 'कथापि खलुपापा नाम श्रेयसंयतः' तथापि अपने सहयोगी लोगों के उपकारार्थ हमें उनका नाम गोत्र उद्घाटन ही करना पड़ा।

मदनमोहन जबलपुर, भवानी प्रसाद हैडमास्टर मंडला, मोहनलाल शाह रानीखेत, बिसेसर दयाल सिगनेलर, बाँदीकुई स्टेशन, रनछोरीलाल, सुखाल, बच्चूलाल मिस्मर कलकत्ता, एन० पी० घोष स्कूल इन्सपैक्टर जबलपुर। अभी और बहुतेरे हैं। जिसका कीर्तन दूसरे अंक में करेंगे। इन लोगों ने लिख कर पत्र मंगाना शुरू किया बहुतों के पत्र अब तक हमारे पास मौजूद हैं। कितनों को फाड़ कर रद्दी में फेंक दिया। और कई साल तक बराबर आशा ही आशा में पत्र भेजते रहे पर अन्त को निबुआ नोन चटा दिया तब हार मान उनके साथ हमें 'शठस्य शाठ्यं, करना पड़ा। अभी जिनसे कुछ आशा पाई जाती है उन्हें अमानत में रख छोड़ा है कभी को उन्हें भी प्रकाश कर देंगे।"[१]

एक दो वर्ष नहीं, दस पांच वर्ष नहीं अपने ३३ वर्ष के दीर्घ पत्रकार जीवन में भट्ट जी को सदैव यह कष्ट बना ही रहा। केवल 'प्रदीप' ही नहीं तत्कालीन अन्य पत्र भी ग्राहकों की इसी कंजूसी और बेईमानी की महामारी के शिकार थे :—

"संसार में अभी बहुत से बड़ाई में ताड़ और खजूर से भी बड़े-बड़े सच्चे, बड़े ईमानदार बड़े बात के धनी, बड़े कदरदाँ बड़े शरीफ, बड़े पुण्यजन पड़े हैं। क्या कहें अफसोस होता है। यह झूठा संसार ऐसों ही के पुण्य और ईमानदारी तथा सच्चाई और शराफत से थमा है। नहीं तो अब तक कभी का रसातल रसीद हो गया होता। हर्ष इतना ही है कि हमारे इन महामहिम महापुरुषों की ईमानदारी और सच्चाई का बेहयाई भी साथ दिये है इसी से सर्वथा मिथ्या होकर भी यह संसार हमारे वेदान्त वाले वेदान्तियों को सच्चा समझ पड़ता

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' दिसम्बर १८८२, पृ० १३।**

है। मिता यह बड़ा गुप्त रहस्य है कहो तो कही डालें और अपने सहयोगी ब्राह्मण देव की भाँति एक-एक का पत्रा खोल सबों का भन्डा श्राद्ध करते चलें। रंज केवल इतना ही है कि हमारे इस भन्डा श्राद्ध में ओछे छिछोरे टुच्चे लुच्चे बहुत कम कोई दोही एक होंगे वरन् गरुप्रापन और इज्जतदारी के ढोंके के ढोंके एक के ऊपर एक ढेर के ढेर जमा हैं। सेठ साहूकार और छोटे मोटे जमीदार ताल्लुकेदारों की तो गिनती ही क्या है बड़े-बड़े नामी राजा महाराजा भी उसी इज्जतदारी के ढेर में चुने हुये हैं। किरानगीरी वाले साधारण आबू-बाबू की कौन कहे सम्पादक और एडीटर भी उस भन्डा श्राद्ध से न बचेंगे।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि साधारण मध्यम श्रेणी के लोग ही नहीं बड़े बड़े राजा महाराजा तक पत्र तो मंगाते थे पर चंदा नहीं भेजते थे।

तत्कालीन सभी पत्रों में सामान्य रूप से प्राप्त ग्राहक स्तुति का एक उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। सम्पादक ग्राहकों की कितनी खुशामद करते थे यह इसका उदाहरण है :—

"हम आरंभ में कह चुके हैं आप हमारे जीवन हैं सर्वस्व हैं। हम पर आपका छोह हमारे लिए सौ करोर असंख्य धन है। हमें कोई दूसरा सहारा नहीं, शरण नहीं वसीला नहीं। तो हे अशरण शरण हमारी न कुछ विशेष सहायता कीजिए तो वार्षिक कर की भाँति अपना अपना दाम तो भेज दीजिए। आप सहज ही में मूठी ढीली कर दीजिए तो हम क्यों बारबार कृपणवत् याचना करें और प्रतिमास एक पैसे का कार्ड खराब कर पाव आने का नुकसान सहा करें। इसलिए प्रार्थना है कि वर्ष पूरा हो गया अवश्य हमारी सुध लीजिए।"
परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ किम्बहु।[2]

ग्राहकों की इसी नियमित बेईमानी और कंजूसी के कारण भट्ट जी को सदैव बड़ा घाटा उठाना पड़ता था।

प्रेस का संकट :—भट्ट जी के पत्रकार जीवन की एक बड़ी कठिनाई यह भी थी कि 'हिन्दी प्रदीप' का कोई अपना प्रेस नहीं था। प्रेस स्थापित करने की लालसा को भट्ट जी अपने साथ ही ले गए। उन्हें 'हिन्दी प्रदीप' के छापने का प्रबन्ध कभी किसी प्रेस में कभी किसी प्रेस में करना पड़ता था। फलस्वरूप 'हिन्दी प्रदीप' कभी समय से नहीं निकलता था और लगभग हर अंक में भट्ट जी को विलम्ब के लिए क्षमायाचना करनी पड़ती थी :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून पृ० ४३।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८९२, पृ० २४।**

"हम बड़े शोच के साथ इस बात को आप लोगों पर प्रकट करते हैं कि इस बार निस्संदेह इस पत्र के निकलने में बड़ा ही विलम्ब हुआ। इसका कारण केवल प्रेस की असावधानता है। जिससे हम लोगों को लाचार होकर छपने का प्रबन्ध प्रयाग नगर छोड़कर अन्यत्र करना पड़ा। इसलिए अपने ग्राहकों से हमारी यह प्रार्थना है कि वे हम पर क्षमा करें और आगे प्रबन्ध हम लोग प्रेस का उत्तम कर लेवेंगे तब आशा है कि बराबर नियत समय पर यह पत्र निकलता जायगा।"[1]

नियमित रूप से छपने में विलम्ब हो जाने के लिये 'बंगवासी' आदि पत्रों ने 'प्रदीप' पर व्यंग्य भी किए थे जिससे भट्ट जी को मर्मांतक व्यथा हुई थी।[2] भट्ट जी ने भरसक प्रयत्न किया कि 'प्रदीप' ठीक समय पर निकल सके पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि न तो धन ही उनके पास था और न प्रेस।

भट्ट जी ने प्रेस के संकट की बात सन् १८७७ में 'प्रदीप' के दूसरे ही अङ्क में लिखी थी देखिए लगभग २६ वर्ष बाद भी वह संकट ज्यों का त्यों बना रहा :—

जैसा हमारा संकल्प है कि निज का प्रेस हो जाता तो बहुत तरह की झंझटों से बच नियत समय पर अपने रसिक पढ़ने वालों से मिला करते और पत्र में चिर स्थायित्व आ जाता। ऐसा सौभाग्य कहाँ कि इस अपने उद्योग में कृतकार्य और सफल मनोरथ हों न यही होगा कि पत्र सम्पादक बनने के हौसिले को तिलाजंली दे किसी विषय पर कुछ लिखने से मुँह मोड़ चुप हो बैठ रहें। क्योंकि लड़कपन से इसका चस्का पड़ा हुआ है जो अब दिनी होने से नासूर हो गया। यावज्जीवन किसी भाँति पुरने वाला नहीं मालूम होता अन्त में परिणाम यही होगा कि ऐसे ही फिसलते हुए चले जायेंगे मसल है नकटा जिया बुरे हवाल।"[3]

प्रेस एक्ट का संकट :—देशी समाचार पत्रों के मूलोच्छेदन के लिए सन् १८७८ के लगभग सरकार ने प्रेस एक्ट बनाया था यह 'प्रदीप' के लिये ही नहीं सभी तत्कालीन हिन्दी पत्रों के लिए संकट था विशेष कर उनके लिए जिनका स्वर देशभक्ति का था। कुछ भी सरकार के विरुद्ध लिखा सरकार ने पत्र बंद किया। इन कानूनी कठिनाइयों से बचते हुए पत्रकार जीवन बिताना एक सतत संघर्ष बन गया था और विचारों की अभिव्यक्ति के मार्ग में बड़ी भारी बाधा

---

१. **'हिन्दी प्रदीप'**, **अक्टूबर** १८७७, पृ० १६।
२. " **जुलाई अग०** १८९८, पृ० २९।
३. " **जनवरी फरवरी** १९०३, पृ० २।

थी। कोई भी सरकार विरोधी बात निकलने पर मजिस्ट्रेट पत्रों पर मुकद्दमे चला देते थे और अभियोग लगाने वाला मजिस्ट्रेट ही मुकदमे का निर्णायक होता था फिर पत्र के बचने की क्या आशा ?[१]

सरकार का हिन्दी पत्रों के प्रति कड़ा रवैया :— देश द्रोही और खुशामदी लोग सभी देशों में सभी कालों में हुए हैं फिर भारतवर्ष ही इसका अपवाद कैसे हो सकता था ? इस प्रकार के लोगों का एक व्यापक वर्ग भट्ट जी के युग में भी था। ये लोग सरकार को यही परामर्श दिया करते थे कि हिन्दी पत्र जनता को विद्रोह के लिए संगठित कर रहे हैं अतः उनमें से अधिकांश को तुरन्त बन्द किया जाए। सरकार ऐसे लोगों की बात पर विश्वास करती थी और फिर बात भी बहुत कुछ ठीक थी। फल यह हुआ कि सरकार ने हिन्दी पत्रों का जीना दूभर कर दिया। नित्य किसी न किसी पत्र से भारी जमानत मांगी जाती थी जिसे जमा न करने पर पत्र अपने आप बन्द हो जाता था। जब तक भट्ट जी जिए सरकार का यह रवैया उनके पत्रकार जीवन के लिए सदैव एक आसन्न संकट ही बना रहा और 'प्रदीप' का अंत ही इसी संकट के कारण हुआ। साधारण सी बात पर सरकार ने 'प्रयाग समाचार' पत्र बन्द कर दिया उसी पर भट्ट जी लिखते हैं :—

"सम्पादक प्रयाग समाचार का बुरा परिणाम देख हम लोगों को एक प्रकार की विभीषिका उत्पन्न हो गई। जब हम लोगों के लिखने पर हाकिमों की इतनी कद रहती है किसी बहाने हम लोगों को पकड़ पावें और अपना चिर-काल संचित क्रोध प्रकट कर दिखावें तो हम लोगों को चाहिए कि या तो महा टेढ़े इस संपादकीय कृत्य से हाथ धो बैठें या सब कहना छोड़ दें। न हो तो हमारे हुजूर लोग चाहे जो कर गुजरें उनकी खुशामद ही करते जांय। यह कौन सी नीति है कि चोर से कहो कि चोरी करे शाह से कहो जागता रहे। वहां कहने को हम लोगों को आजादगी भी दी गई है और बर्ताव में कुछ लिखते पढ़ते हैं तो कद पैदा होती है।[२]"

सरकार द्वारा पत्रों पर कर :— वैसे ही हिन्दी पत्र घाटे में चलते थे उस पर भी सरकार ने इन पर आय कर लगा दिया। नीम कड़ुआ उस पर भी गिलोय चढ़ी एक तो वैसे ही ग्राहक चन्दा नहीं देते थे उस पर भी टैक्स और लगा दिया गया। विशेष कर 'प्रदीप' जैसे पत्र पर जो सदैव घाटे में चलता था। इस पर कर का अर्थ था कि इतना रुपया और प्रतिवर्ष भट्ट जी अपनी जेब से दें।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई १८७८, पृ० २।
१. ,, मार्च १८८७, पृ० १८–१९।

इस प्रकार की बाधायें अर्थाभाव से पीड़ित पत्रकारों के लिए तो बहुत बड़ी बाधायें थीं। बहुत कहने सुनने पर भी सरकार ने पत्रों को कर मुक्त नहीं दिया।

"हम अपने शरीर का रक्त सुखाय सुखाय न जानिए किस तरह इस पत्र को चला रहे हैं उसमें भी हजार हजार उजर माजरा पेश करने पर भी १० रुपये टिकस (टैक्स) हमें देना ही पड़ा। पत्र से हमें कुछ आमदनी होती हो इसकी तो चर्चा चलाना ही व्यर्थ है किन्तु हमारी दो वर्ष की भी कुल आमदनी जोड़ी जाय तब भी हम १० रुपया टिकस देने योग्य न ठहरेंगे। टिकस उगाहने वाले बिना पहले से किसी तरह की इत्तिला दिए हमारे दरवाजे पर मलिकुल मौत से आही तो गये और ऐसा दबाया कि देना ही पड़ा।"[1]

उग्र एवं प्रगतिशील विचार पत्र की बिक्री में बाधक :— किसी भी प्रकार की सफलता की परिभाषा आसानी से नहीं की जा सकती! कुछ विचारक फल के आधार पर सफलता का आकलन करते हैं और कुछ प्रयत्नों के आधार पर। स्वयं महात्मा गांधी कहा करते थे कि वह सफलता स्पृहणीय है जो सात्विक साधनों का परिणाम हो। भारतीय राजनीति का प्रकांड आचार्य चाणक्य साधनों को महत्व ही नहीं देता था उसका कथन था हमें सफलता चाहिए साधन चाहे कुछ भी हो। भट्ट जी के जीवन की सफलता भी परिणाम में नहीं उनके सत्प्रयत्नों में है। भट्ट जी सफलता के साथ साथ साधनों की सात्विकता के समर्थक थे। 'इसमें सन्देह नहीं कि भट्ट जी को अपने जीवन में कोई बड़ी भौतिक सफलता तो नहीं मिली किन्तु अपने सात्विक प्रयत्नों के बल पर हिन्दी साहित्याकाश में वे ध्रुव की भाँति अटल स्थान के अधिकारी हैं।

भट्ट जी पहले देशभक्त थे बाद में कुछ और इसलिए देश और भारतीय जनता का हित उनकी दृष्टि में सर्वोपरि था। इसलिए यदि सरकार से उन्हें सहायता की कोई आशा नहीं थी तो यह स्वाभाविक ही था। 'प्रदीप' के प्रथम अंक में ही उन्होंने सहायता के लिए जनता से पुकार की थी और कह दिया था कि 'इस पत्र का रंग ढंग और भाषा उस ढंग की नहीं है जैसी सरकार चाहती है।'[2] यदि भट्ट जी सरकार विरोधी ही होते तो शायद काम चल भी जाता किन्तु वे तो भारतीय समाज के सुधार का दृढ़ संकल्प लेकर ही निकले थे इसलिए रुढ़िवादी पाखंडी लोगों की पोलें[3], भारतीय हतवीर्य राजा महाराजाओं

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८८, पृ० १–३।

२. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० १–५।

३. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १९०४, पृ० १९–२०।

तथा जमींदार जागीरदारों की आलोचना,[1] तथा भारत के विभिन्न मतमतान्तरों की पोलें[2] ये नित्य अपने पत्र में खोला करते थे। और यह रोचक बात है कि भट्ट जी के व्यंग्य-बाणों के लक्ष्य उनके बहुत से ग्राहक ही बनते थे, अनेकों धार्मिक संस्थायें, भारतीय राजा महाराजा, जमींदार ताल्लुकेदार आदि 'हिन्दी प्रदीप' मंगाते थे और अपना भंडा फोड़ होते देख पत्र लेना छोड़ देते थे। फिर भी भट्ट जी कभी भी अपने सिद्धान्तों से विचलित नहीं हुए। वे उन सम्पादकों में से नहीं थे जो जनता की कुत्सित प्रवृत्तियों को जाग्रत कर निम्न श्रेणी की रचनायें प्रकाशित कर अपनी जेब भर लेते। ये तो अपने पत्र के द्वारा जनता का सुधार करना चाहते थे उसे मानसिक दृष्टि से शिक्षित और प्रबुद्ध बनाना चाहते थे। पर जनता इतनी शिक्षित और प्रगतिशील नहीं थी कि इस क्रांति दूत का समुचित स्वागत कर सकती भट्ट जी ने स्वयं लिखा है :—

"रोटी खाइये शक्कर से दुनिया ठगिए मक्कर से, हम ऐसे अभागे हुए कि हमसे सो न बन पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी समाज दल या गोष्ठी में कदर पाने लायक न समझे गए न आगे कोई आशा है कि कभी समझे जायेंगे। बल्कि अपना सब्ज कदम जहाँ ले गये वहीं से दुरदुराए गए कारण जिसका यही हुआ कि बहुत कुछ लोभ और लालच दिखाने पर भी हम अपनी स्वच्छन्द अनुमति प्रकाश करने से न हटे।"[3]

यही नहीं आर्य समाज तथा अन्य समाजों एवं प्रचारिणी नाम धारिणी संस्थाओं की अपने उग्र लेखों में भट्ट जी ने खूब खबर ली।[4] फल यह हुआ कि ग्राहक संख्या उत्तरोत्तर कम ही होती गई बढ़ी तो कभी नहीं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जनता की अशिक्षा 'धर्मभीरुता' रूढ़िवादिता, पाखंड आदि तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता के मार्ग में बाधक ही थे। आश्चर्य तो इसी बात का है कि हिन्दी पत्रकारिता के आदि युग के ये सम्पादक अपने युग से बहुत आगे थे।

पाखंडी, धर्म के ठेकेदारों को अप्रसन्न करने के लिए इन पंक्तियों से अधिक तीखी बात और क्या कही जा सकती है :—

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर १८७९, पृ० १२—१५।
२. 'हिन्दी प्रदीप' मार्च अप्रैल १९०३, पृ० ९—१५।
एक अनाथ बालक, अप्रकाशित।
३. 'हिन्दी प्रदीप, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० १-२।
४. 'हिन्दी प्रदीप' जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० १-३।

"काशी के पण्डितों की एक व्यवस्था बेंकटेश्वर ने दी है पहले तो काशी के पण्डितों की व्यवस्था रुपये पर बिका करती है जैसा रुपया खर्चो वैसी व्यवस्था ले लो। दूसरे यह कि काशी वाले किसी संशोधन की बातों के प्रतिकूल होने के सिवाय कभी अनुकूल हुए हैं ?"[१]

एक स्थान पर भट्ट जी अपने पत्रकार की असफलता स्वीकार करते हुए कहते हैं --

"न हमसे चार चार आने पर कालम का कालम पातकी से पातकी की भौआ भर तारीफ गाई जाय, न किसी दूसरे तरह की चापलूसी या धूर्तता हमें याद है प्रत्युत हम तो कोरे सम्पादकीय कृत्य पर लक्ष्य किए हुए राजा अथवा प्रजा के बीच अन्यायकारी को तीखी व्यंग्योक्ति का सूजा चुभोया करते हैं तब क्या मीठा देख हमारी ओर किसी की श्रद्धा हो न जानिए क्या समझ हमारा बेड़ा देव ही पार लगाता है।"[२]

आँखों का कष्ट :—भट्ट जी को आँखों का कष्ट प्रायः बना रहता था और कभी कभी तो उन्हें बिलकुल ही दिखाई नहीं देता था। भट्ट जी के पत्रकार जीवन की अनेक कठिनाइयों में से एक यह भी थी।[3]

तत्कालीन पत्रों की बुरी दशा :—'हिन्दी प्रदीप' की ही ऐसी दशा नहीं थीं अन्य पत्रों का भी यही हाल था लेकिन अन्तर इतना है कि बाधाओं के अनवरत झोंकों में भी 'हिन्दी प्रदीप' ३३ वर्ष तक टिका रहा किन्तु अनेकों पत्र दो दो दिन चलकर बंद हो गए। उनके बंद होने का एक कारण यह भी था कि कोई भी संचालक घाटे में पत्र क्यों चलाता ? भट्ट जी की बात दूसरी थी उन्हें हिन्दी सेवा और लिखने का नासूर था इतना त्याग हिन्दी के लिए हर व्यक्ति कर भी नहीं सकता था। भट्ट जी एक स्थान पर स्वयं लिखते हैं : —

"हमारे देखते देखते न जानिए कितने चार दिन की चाँदनी समान देशी तथा अंग्रेजी पत्र थोड़े दिन के लिए उठे तो बड़े जोर शोर के साथ पर अणु-मात्र संकीर्णता में पड़ गाय बजाय गए और ऐसे अस्त हुए कि नाम तक उनका उच्छिन्न सा हो गया। किन्तु हम सब संकीर्णता झेल कर भी राम रसरा टेंघते ही जाते हैं।"[४]

भट्ट जी हिन्दी पत्रकारिता के उन उन्नायकों एवं पोषकों में से हैं जिन्होंने

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' मार्च अप्रैल १६०३, पृ० ११।**

२. ,, **फरवरी १८८७, पृ० १–२।**

३. ,, **जनवरी से मार्च १८६३,** पृ० १।

४. **'हिन्दी प्रदीप' अक्टबर से दिसम्बर १८८८, पृ० १–३।**

उसके अंकुरित होते समय तन मन धन से उसकी सेवा तथा रक्षा की और अपने हृदय का रक्त दान कर जिसे पल्लवित किया। हिन्दी पत्रकारिता के गौरवमय पथ पर आज भी इन मनीषियों के चरण चिह्न प्रकाश विकीर्ण कर रहे हैं और इस पथ पर आने वालों को सत्य, न्याय, त्याग और निर्भयता का अमर संदेश दे रहे हैं ऐसे मनीषियों में पं० बालकृष्ण भट्ट निस्सदेह शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं।

सम्पादन कला :—भट्ट जी की सम्पादन कला को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सामग्री संचय (२) सामग्री वितरण। काव्य शास्त्र की भाषा में हम इसे पत्रकार कला का क्रमशः भाव पक्ष और कला पक्ष भी कह सकते हैं।

सबसे प्रथम तो यह बात है कि कोई सम्पादक किस प्रकार की सामग्री का संचय करता है। सम्पादक के ज्ञान और अनुभव की बहुत कुछ परीक्षा सामग्री संचय में हो जाती है। यदि सम्पादक का ज्ञान विस्तृत और अनुभव लम्बा है तो वह अनेक रुचिकर विषयों का संग्रह कर सकता है। केवल साहित्यिक सामाजिक, राजनैतिक या वैज्ञानिक विषयों के एकांत संचय से इस बात का डर रहता है कि पाठक ऊब न जाय और यदि पाठक ऊब ही गया तो कोई पत्र क्या चलेगा? इस दृष्टि से जब हम 'हिन्दी प्रदीप' की परीक्षा करते हैं तो वह इस कसौटी पर खरा उतरता है। उसके मुख पृष्ठ पर दी हुई निम्नांकित पंक्तियां ही इस बात की घोषणा करती हैं कि यह पत्र विविध रोचक विषयों से पूर्ण हैं और इसका सम्पादक अनुभवी और बहुज्ञ है :—

"विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, साहित्य, दर्शन, राज सम्बन्धी इत्यादि के विषय में।"[१]

'हिन्दी प्रदीप' के मुख पृष्ठ पर अंकित उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल शोभावर्द्धन के लिए ही नहीं थीं अपितु 'हिन्दी प्रदीप' के विषय पक्ष की वास्तविक प्रतीक थीं। भट्ट जी की बहुज्ञता को देख कर आश्चर्य होता है उपर्युक्त पंक्ति में बहुत से ऐसे विषयों को तो चर्चा भी नहीं हैं जिन पर भट्ट जी बराबर लेख लिखते रहे। जैसे कृषि, शिक्षा, भूगोल तथा विज्ञान आदि।

अब रह गया दूसरा पक्ष सामग्री वितरण का यह भी कम महत्व पूर्ण पक्ष नहीं है। सामग्री वितरण का पत्रकार कला में वही स्थान है जो काव्य में कलापक्ष का है। सामग्री का वितरण इस मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाना चाहिए कि पाठक ऊबे नहीं। इस विषय में यों तो आजतक पत्रकार कला के

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८७७, पृ० १।**

कुछ निश्चित नियम नहीं हैं और इस विषय में विद्वानों का मतैक्य भी नहीं है कि विषय क्रम पत्रों में कैसा रहे। कुछ लोग इस पक्ष में है कि एक विषय से सम्बन्धित सामग्री एक साथ छाप दी जाय कुछ लोगों का मत है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाठक एक विषय की बहुत सी सामग्री एक ही स्थान पर पढ़कर ऊब सा जाता है। अतः एक विषय के बाद रचना, दूसरे विषय की होनी चाहिए। कम से कम भट्ट जी ने दूसरी पद्धति पसन्द की है। वे एक ही विषय की सब रचनाओं को एक साथ नहीं रखते। भट्ट जी के 'हिन्दी प्रदीप' का सामग्री वितरण पक्ष असाधारण रूप से आकर्षक है। अब यहाँ विस्तार में 'हिन्दी प्रदीप' के दोनों पक्षों पर विचार करेंगे :—

सामग्री-संचय पक्ष :—भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादन में असाधारण परिश्रम करते थे। उन्हें अपने ऊपर बड़ा आत्म विश्वास था, निम्नांकित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

"मस्तिष्क कितना ही कुंठित हो गया है तो भी पाठकों को रिझाने में फिर समर्थ है। मसल है कि कितनी ही दिल्ली सूनी हो गई तो भी सवा लाख सवार निकल सकतें हैं। लेखनी गठीले से गठीला मजमून गढ़ने में कभी विकल नहीं होती।" [1]

सामयिक और स्थाई साहित्य :—'हिन्दी प्रदीप' में सामयिक साहित्य और स्थाई साहित्य दोनों प्रकार की रचनायें रहती थीं। भट्ट जी योग्य व्यक्तियों से कालिदास के मेघदूत तथा बाल्मीकि रामायण के अनुवाद कराते थे और उन्हें धारावाहिक रूप से 'हिन्दी प्रदीप' में छापते थे। संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य मेघदूत का अनुवाद श्रीमद्विजय राघव गढ़ाधीश श्री ठाकुर सरजूप्रसाद जी के आत्मज श्री ठाकुर जगमोहन सिंह'[2] ने किया है जो अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा बाल्मीकि रामायण का अनुवाद प्रसिद्ध इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल ने दोहा तथा चौपाई छन्द किया है[3] ये दोनों अनुवादित ग्रंथ धारा वाहिक रूप में 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुए थे।

नाटक उपन्यास :—नाटक तथा उपन्यास तो 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी द्वारा तथा अन्य लेखकों द्वारा लिखित अनेकों भरे पड़े हैं और वे साहित्य की मूल्यवान सम्पत्ति हैं। भट्ट जी के कई नाटक तथा उपन्यास तो पुस्तकाकार रूप

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० २–३।**

२. **'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर १८७७, पृ० ८–९।**

३. **'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १८७७, पृ० ९।**

में प्रकाशित भी हो चुके हैं जिनकी विशेष चर्चा उनके 'कथाकार रूप में' नामक अध्याय में की जायगी ।

कवित्त संग्रह :—भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' को अधिक से अधिक रोचक बनाने के प्रयत्न में रहते थे और सामयिक तथा प्राचीन कवियों की मार्मिक चुनी चुनी कविताओं का संग्रह 'प्रदीप' में करते थे । 'प्रदीप' में भारतेन्दु बाबू की कुछ ऐसी भी रचनायें छपीं जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुईं ।

भाषा परिष्कार :—भट्ट जी के युग में खड़ी बोली गद्य शैशवावस्था में थी और एक निश्चित रूप ग्रहण कर रही थी । भाषा परिष्कार के लिये तथा शुद्ध भाषा लिखने की दृष्टि से भी प्रदीप में भट्ट जी पर्याप्त सामग्री देते थे यह अनेकों रूपों में होती थी उदाहरणार्थ :—

एक अर्थ वाले दुहरे शब्द :—

हिन्दी—आवागमन, लेनदेन, भाई बन्धु, हेलमेल, रेलपेल, रंगढंग, हेर फेर, धूपछाँह, देसविदेस आदि ।

उर्दू—जोश खरोश, थुक्का फजीहत, रोजबरोज, नामनिशान, गुमशुद, दीदशुनीद, दस्तबदस्त आदि ।

संस्कृत—चर्वितचर्वण, पिष्टपेषण, कालकूट, यत्रतत्र, यथायथा, तथा-तथा अहरह, आलवाल आदि ।[1]

उपयुक्त विशेषण :—

भुजा का :—मृणाल, कमनीय, दण्डदोर्दण्ड, शाल प्रांशु आदि ।

मुख का :—चन्द्रानन, अरविन्दानन, विकच पंकजदत्तहास्य, आस्यकमल आदि ।

नासिका :—शुक तुण्ड, नासिका आदि ।

गमन :—गजराज गमन, मराल गमन, (निंदा में) चींटी की चाल, जनवासे की चाल ।

निद्रा :—श्वान निद्रा, कुम्भकरण निद्रा आदि ।[2]

मुहावरे तथा लोकोक्तियां :—

कौड़ी—गाड़ी जोहत की; घोड़ी—हिमायत की; रोटी—दाँतकाटी; बेटी—ब्याह वरी; हाकिमी—गरम की ।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८८१, पृ० १२-२४** ।

२. **'हिन्दी प्रदीप' अक्टबर से दिसम्बर १८८७, पृ० २५-२६** ।

भात छूटै साथ न छूटै। जिस्की सेग उसी की देग। गुजर गई गुजरान क्या झोंपड़ी क्या मैदान। दाता की नाव पहाड़ चढ़ै। घड़ी में घर जलै अढ़ाई घरी भद्रा। आदि[1]

मनोरंजक सामग्री :—भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' में पर्याप्त मनोरंजक सामग्री भी छापते थे पर उसकी विशेषता यह होती थी कि वह निम्न श्रेणी की और सस्ती न होकर सोद्देश्य और ज्ञानवर्द्धक होती थीं। मनोरंजन और सत्साहित्य की मित्रता बड़ी विरल है। किन्तु इसका जितना सुन्दर समन्वय भारतेन्दु युग में मिलता है उतना अन्य किसी युग में नहीं। तत्कालीन प्रसिद्ध लेखक गोस्वामी राधाचरण इस प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करने में विशेष सिद्धहस्त थे। ऐसी मनोरंजक सामग्री का उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा :—

स्वर्ग क्या है ? विलायत।

महापाप का फल क्या—हिन्दुस्तान में जन्म होना।

महापापी कौन—देश भाषा के अखबारों के एडीटर।

हिन्दुस्तानियों का दिली दुश्मन कौन—'पायोनियर' साहब।

अवनति की चरम सीमा क्या—लड़कपन का ब्याह।[2]

यद्यपि उपर्युक्त उत्तर बाहर से देखने पर मज़ाक जैसे लगते हैं पर वे हैं सभी सत्य और सोद्देश्य। इसी प्रकार नए नए शब्दों की मनोरंजक व्याख्या देखिए :—

पुलिस—भलेमानुसों की फजीहत की तदवीर।

अदालत—मुद्दई मुद्दालह दोनों को भिखमंगा कर देने का उपाय।

चुंगी—व्यापार में नफा चट कर जाने वाली डाइन।

प्रेस एक्ट—मुँह में मारे रोने न दे आदि।[3]

इस प्रकार की मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत करने वालों में राधाचरण गोस्वामी, पुरुषोत्तमदास टंडन, परसन, महादेव भट्ट, तथा स्वयं भट्ट जी प्रमुख थे।

जैसा कि आजकल के कुछ प्रमुख पत्रों में रहता है भट्ट जी तब भी 'हिन्दी प्रदीप' में कुछ ज्ञानवर्द्धक सामग्री 'काम काजी वस्तु' शीर्षक के अन्तर्गत देते थे। इसमें वे बातें रहती थीं जो अत्यन्त साधारण और उपयोगी हैं किन्तु सर्व-

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर** १८८५, पृ० २१–२३।

२. ,, **सितम्बर** १८७६, पृ० ५–६।

३. ,, **जून** १८७६, पृ० ७–८।

साधारण जिनसे अपरिचित रहते हैं। उदाहरण के लिये ऐसे विषय इस शीर्षक में रहते थे :—

(१) मखमल या सूती कपड़ों पर से तेल मिटाना। (२) किताब या और किसी कागज से तेल का धब्बा मिटाने की रीति। (३) कागज़ पर लिखा हुआ मिटाने का उपाय। (४) साबुन बनाने का एक सहज उपाय। (५) लैम्प का धूँआ बन्द करने की रीति आदि।[१]

पीपा या बाल्टी टपकने की बन्द करने की 'प्रदीप' में दी हुई सरल युक्ति देखिए :—

"चूना और लोहे का मोर्चा अलग-अलग आग में बालकर ठंडा होने पर कपड़छन कर डालो दोनों को मिलाय शीशी में काग लगा बन्द कर रखदो। जब जोड़ना हो तो पानी में उसे घोल छेद पर लगा दो कभी न टपकेगा।"[२]

अश्लील सामग्री का बहिष्कार :—अपने पत्र को उच्चकोटि का बनाए रखने तथा उसकी प्रतिष्ठा रखने के लिये भट्ट जी ने उसमें न तो कभी अश्लील विज्ञापन ही दिये और न अन्य कोई अश्लील सामग्री।[३] यद्यपि ऐसा करना भट्ट जी के लिए बड़े संकट का विषय था किन्तु वे सच्चे और पक्के सिद्धान्तों के व्यक्ति थे इसलिए इस अग्नि-परीक्षा में वे सदैव खरे निकले।

पुस्तकों की प्राप्ति :—'प्रदीप' में लेखक अपनी पुस्तक आलोचना के लिये भेजते थे भट्ट जी सदैव उसकी स्वीकृति, धन्यवाद और आलोचना 'प्रदीप' में छापते थे। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जान पहचान या द्वेषवश भट्ट जी ने आलोचना अच्छी बुरी लिखी हो। वे तो आलोचना सदैव उपलब्ध कृतियों के आधार पर लिखते थे और फिर उसमें लिहाज किसी का नहीं करते थे।

सामग्री वितरण पक्ष

आकर्षक शीर्षक :—पत्रकार-कला में किसी समाचार, लेख या आलोचना को आकर्षक शीर्षक देना सबसे अधिक महत्व का विषय समझा जाता है। शीर्षक पाठक को एकदम आकृष्ट कर लेता है। पाश्चात्य देशों में तो यह कला आज अपनी चरम-सीमा को पहुँच रही है। वहाँ के अधिकांश समाचार पत्र ऐसे हैं जिनमें आकर्षक शीर्षक के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। 'हिन्दी प्रदीप' इस विषय में अपने युग के पत्रों का मार्गदर्शक था। शीर्षक देने में भट्ट जी बड़े पटु थे। संस्कृत और हिन्दी का उनका ज्ञान अगाध था। उर्दू साहित्य का कुछ

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल १८८०, पृ० २१–२२।**

२. ,, **फरवरी १८७८, पृ० ४–५।**

३. ,, **नवम्बर १८८५, पृ० २१–२३।**

ज्ञान भी उन्हें संगति द्वारा हो गया था। इसलिए प्राय: उनके लेखों और अग्र-लेखों के शीर्षक पद्य में ही हुआ करते थे जैसे उर्दू कविता में शीर्षक :—

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या क्या
बदलता है रंग आसमाँ कैसे कैसे।[१]

संस्कृत कविता में शीर्षक :—

नरपति हितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके,
जनपद हितकारी त्यजंतेपार्थिवेन।
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने,
नपति जनपदानां दुर्लभ कार्यकर्ता।[२]

हिन्दी कविता में शीर्षक :—

कहीं कहीं गोपाल की गई चौकड़ी भूल।
काबुल में मेवा किए ब्रज में किए करील।।[३]

भट्ट जी के अधिकांश शीर्षक लोकोक्तियों में मिलेंगे। भट्ट जी का लोकोक्तियों पर असाधारण अधिकार था। उन्हें हिन्दी मुहावरों तथा लोकोक्तियों का जितना ज्ञान था उसके आधार पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आज का बड़े से बड़ा हिन्दी विद्वान् भी उनके लेखों से हिन्दी सीख सकता है। आज की हिन्दी शैली अंग्रेजी शैली से अत्यधिक प्रभावित है और धीरे धीरे वह अपना स्वाभाविक और वास्तविक रूप छोड़ रही है। भट्ट जी मुहावरे और लोकोक्तियों के तो जैसे सम्राट हैं। और ये लोकोक्तियाँ और मुहावरे ही बिना किसी विषय के भी लेख में सरसता उत्पन्न कर देते हैं। देखिए भट्ट जी का लोकोक्तियों में एक शीर्षक :—

"चने रहे तब दाँत न थे दाँत हुए तो चने नहीं।"[४]

समाचार देने का ढंग :—भट्ट जी समाचार भी इस शैली में देते हैं कि पाठक का ध्यान हठात् उधर खिंच जाता है जैसे :—

"इंगलैंड के लोगों ने गप्प उड़ाई है कि बहुत से मरहठे राजे रूसियों से छुपा छुपी मिले हुए हैं।"[५]

समाचार के साथ अपनी सम्मति भी :—आधुनिक पत्रकार-कला में भी समाचार के साथ सम्पादक की सम्मति लगी रहती है या यों कहा जाय कि

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' जनवरी से अप्रैल १८९६, पृ० ५५।**
२. ,, **दिसम्बर** १८८२, पृ० १।
३. ,, **जून १८७८, पृ० १।**
४. ,, **मई १८७८, पृ० ३।**
५. ,, **सितम्बर** १८७१, पृ० १५।

सम्पादक समाचार अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही ग्रहण करता है और अपने विचारों का रंग देकर ही उसे व्यक्त करता है चाहे वह कितना ही तटस्थ रहने का प्रयत्न क्यों न करे। उदाहरण के लिए आज अगर बाजार में दो चार आदमियों में झगड़ा हो जाय और दैवयोग से उसमें हिन्दू मुसलमान दोनों हों तो संभवत: विभिन्न विचारधारा के पत्र उस तथ्य को निम्न रूपों में ग्रहण करेंगे।

मुस्लिम लीगी पत्र—भारत में अल्प संख्यकों का कत्लेआम।

हिन्दू सभाई पत्र—मुसलमानों की गद्दारी।

कांग्रेसी पत्र—शहर में मामूली झगड़ा, आदि।

भट्ट जी भी समाचारों को अपने निश्चित विचारों के अनुसार ही ग्रहण करते थे और अपना रंग देकर उन्हें व्यक्त करते थे इस प्रकार अधिकांश स्थलों पर समाचार के साथ साथ उनकी सम्मति या आलोचना भी मिलेगी। जैसे निम्नलिखित समाचार में केवल समाचार देने की तटस्थता का प्रयास भी है साथ-साथ आलोचना भी व्यंग्य है :—

"सरकार एक फैमिन टैक्स और भी लगाया चाहती है। यह टैक्स केवल हिन्दुस्तानियों से लिया जायगा अंग्रेजों से नहीं और जिन्होंने मदरास के दुष्काल में चंदा दिया है वे मत समझें कि हम छुट जायेंगे।"[१]

समाचारों में साहित्यिक पुट :—भट्ट जी की सम्पादन कला की एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि वे नीरस से नीरस, शुष्क से शुष्क विषय को भी सरस करके लिखते हैं। सामान्य समाचारों को भी साहित्यिक भाषा के परिच्छद में प्रस्तुत करने की भट्ट जी में अद्भुत क्षमता है। उदाहरण के लिए भट्ट जी कलकत्ता हाई कोर्ट में चलने वाले एक मुकद्दमे का समाचार देना चाहते हैं देखिए वे उसे किस साहित्यिक आवरण एवं सरस रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हैं :—

"इन दिनों कलकत्ता के हाईकार्ट में एक ऐसा नए किस्म का मुकद्दमा हुआ है जिसे सभ्यता का पूरा नमूना कहना चाहिये क्योंकि उस मुकद्दमे से परम सभ्य जनों के रहन सहन और रीति वर्ताव का सब रहस्य प्रकट हो गया। ....खैर यहाँ तक तो सभ्यता प्रकाशक महानाटक की प्रस्तावना हुई अब इसके और-और अंक गर्भांकों पर कान दीजिए। इस नाटक का खेल खेलने की रंग भूमि कलकत्ता की हाईकोर्ट है। सिलहट जिला के एक मुंसिफ बाबू योगेन्द्रनाथ बी० एल० और बाबू उपेन्द्रनाथ नायक प्रतिनायक हैं। सुशिक्षिता और प्रमत्त कामोद्बोधक यौवन शालिनी क्षेत्रमनी दासी इसकी मुख्य नायिका है। डिप्टी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १८७७, पृ० ११-१२।**

मजिस्ट्रेट बाबू ईश्वरचन्द्र मित्र उपनायक। सिवा इसके इसमें चेट-चेटी विदूषक आदि कई एक पात्र कुपात्र भरे हैं।"[१]

व्याज निन्दा और व्यंग्य :—व्याज निन्दा अलंकार का कविता में तो प्रयोग होता ही है किन्तु गद्य में उसका इतना सुन्दर प्रयोग तथा उपयोग शायद ही किसी ने किया हो जितना भट्ट जी ने। भट्ट जी का पत्रकार जीवन आज से बिल्कुल भिन्न था तब तो जरा-जरा सी बात पर सरकार भारी से भारी जमानत माँग लेती थी, हर पन्द्रहवें दिन मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित होना पड़ता था और सरकार पर छींटाकशी करने के पुरस्कार स्वरूप घुड़कियाँ खानी पड़ती थीं। सरकार का खुल्लम-खुल्ला विरोध करना बहुत बड़े खतरे की बात थी किंतु भट्ट जी जैसे संपादक से बिना शासन के खिलाफ लिखे रहा भी कैसे जाय। अतः इस काल के सभी लेखकों ने एक अद्‌भुत उपाय निकाला। वे व्याज निन्दा का अबाध उपयोग करने लगे बाहर से लगता था सरकार की प्रशंसा हो रही है पर ध्यान से पढ़ने पर पता लग जाता था कि सरकार के विरुद्ध जहर उगला जा रहा है। वाक्यों का विन्यास ऐसा होता था कि वे कानूनी पकड़ में आ नहीं सकते थे और इसी नीति के बलपर वे निर्भय सरकार के विरुद्ध लिखते चले जाते थे। भट्ट जी लिखना चाहते हैं कि अँग्रेज़ों के भयंकर आर्थिक शोषण के कारण भारत तबाह हो गया है, दरिद्रता यहाँ घर बना कर पैठ गई है, पर वे कितनी सफाई के साथ लिखते हैं देखिए :—

"जब पास पूँजी थी तब नित की लूटमार राज बेराजी से उसकी रखवाली करने वाला कोई न रहा जब अँग्रेजी राज्य की छाया में सब ओर से आराम और किसी तरह की बाधा नहीं है तो पास सांग घोंधी नहीं ठुकती।"[२]

भट्ट जी के व्यंग्य का भी चमत्कार देखिये। विचित्रता यह है कि वे जिस भाव को व्यक्त करने के लिए जिस विपरीत शब्द का प्रयोग देते हैं वह अपना कोषार्थ छोड़ उतनी ही तीव्रता से उस स्थान पर वांछित अर्थ की व्यंजना करता है। भट्ट जी भारतीयों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध उत्तेजित कर रहे हैं पर शब्दावली देखिए बिलकुल दूसरे प्रकार की है :—

"इस बात को हमें कभी न भूलना चाहिये कि हम हिन्दुस्तानी हैं और इसीलिए गढ़े गए हैं कि दैवी कोप, मानुषी कोप, राजकीय कोप सब बैठे-बैठे सहैं क्यों पुरविले में हमने ऐसा पाप कमाया कि ऐसी जगह पैदा हुए जो सबों के कोप का केन्द्र है। तुम कब से बड़े महन्त बन बैठे ? क्या वह चमरनक दूर

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर** १८७८, पृ० १३।

२. " " " पृ० ३।

हो गई कि हजारों वर्ष से विदेशियों की लात खाते-खाते गर्द खोरे हो गए थे। मालिक अपने दास को जैसे चाहता है वैसे रखता है। इसमें किसी का साझा है। तुम्हारे जान माल की बखूबी रक्षा है। सुबू से साँझ तक में किसी न किसी तरह खाने को मिल ही जाता है बस और चाहिये क्या। तुम्हारे पास अधिक रुपया होगा तो सिवा फजूल खर्ची और खुराफात के दूसरी बात न सूझेगी। हम सब तुम्हारे ही फाइदे की बात कर रहे हैं। तुम्हें वृति देते हैं, ज्ञान देते हैं, हैवान से आदमी बनाते हैं। हर तरह की आशाइस और तुम्हारे आराम ही की हमें सदा फिकर रहती है। बस अब चुप रहो बोलोगे तो मुँह में पाओगे।"[1]

मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद सामग्री :—'गपाष्टक' शीर्षक के अन्तर्गत भट्ट जी मनोरंजक और शिक्षाप्रद सामग्री देते थे।[2] आज के पत्र भी यह स्तम्भ किसी न किसी रूप में रखते हैं जिसमें हास्य के चुटकुले रहते हैं। 'प्रदीप' को इस स्तम्भ के प्रतिष्ठित करने का श्रेय है। 'प्रदीप' में से यदि इस प्रकार के चुटकुले इकट्ठे किए जाँए तो एक बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है।

मजाक में सत्य बात कहना :—भट्ट जी अपनी बात सफाई के साथ कहने में बड़े सिद्धहस्त थे वे हास्य और विनोद के आवरण में गम्भीर से गम्भीर बात कह जाते थे। जैसे 'उन्होंने हर एक आदमी का एक एक मोटो सिद्धान्त निराला होता है।' शीर्षक लेख में निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं :—

"जैसे पण्डितों का मोटो केवल दक्षिणा है, स्वामी दयानन्द का सिद्धान्त प्रतिमा पूजन को जड़पेड़ से उच्छेद करना है, नई फैशन का सिद्धान्त अंग्रेजी फ़ैशन के सजावट की गुड़िया बनना है, सरकार का सिद्धान्त हिन्दुस्तान की नस नस दुहना है।—अदालत के कुत्ते तथा वकील बैरिस्टरों का सिद्धांत कफन खसोट है, सूम नादेहन ग्राहकों का सिद्धांत साल भर पत्र मंगय दाम के लिए हमें खिझाना है, हमारे रईस और अमीरों का सिद्धांत ऐयाशी और भाँड़ पतुरिए हैं, रजवाड़ों का सिद्धांत वैभवोन्माद से उन्मत्त हो देहाराम है।"[3]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इस प्रकार के बाहर से अगम्भीर लगने वाले भट्ट जी के लेख कितने गम्भीर होते थे और इनके द्वारा वे राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों की खूब खबर लेते थे। उनकी इस विशेषता ने उनकी पत्रकारिका में भी पर्याप्त योग दिया है।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' फरवरी** १८८०, पृ० ९-१०।
२. ,, **अप्रैल** १८७९, पृ० १६।
३. ,, **अक्टूबर** १८८१, पृ० १३-१४।

समाचार स्तम्भ :—पाठक कहीं सामयिक समाचारों एवं राजनैतिक घटना चक्र से अपरिचित न रह जायें इसलिए भट्ट जी 'प्रदीप' के अंतिम पृष्ठ पर समाचारावली शीर्षक के अन्तर्गत महीने भर के प्रमुख समाचार दे देते थे।[1] इससे वास्तव में पत्र का आकर्षण बढ़ जाता था और समाचारोत्सुक जनता के एक बड़े भाग का संतोष इससे हो जाता था। आज भी बहुत से पत्र जैसे 'विशालभारत', 'सरस्वती' आदि इसी पद्धति को अपनाए हुए हैं।

'हिन्दी प्रदीप' के लेखक :—

भट्ट जी ने जिस युग में लिखना प्रारंभ किया था वह आज के युग से अनेक दृष्टियों से सर्वथा भिन्न था। उस युग में एक लेखक का जीवन घोर दरिद्रता तथा अभावों का जीवन था। लेखों से आर्थिक लाभ की बात तो उस युग में आकाश कुसुमवत् थी। आज तो लोग केवल लिखकर ही जीवन-यापन कर सकते हैं और अच्छी तरह भी किन्तु उस युग में तो लोग 'अपना घर जलाकर' ही इस मार्ग में पैर रखते थे। दूसरे शब्दों में उस युग में वही व्यक्ति लेखक का जीवन स्वीकार करता था जिसे साहित्य के प्रति उत्कट प्रेम हो जिसे बिना लिखे चैन न पड़ता हो और जिसे भूखों मरने से डर न हो। भट्ट जी ऐसे ही लेखक थे; लेखक ही नहीं ऐसे लेखकों के नेता थे। भट्ट जी की वाणी-विचार एवं लेखों से प्रभावित होकर तत्कालीन युवकों एवं साहित्य प्रेमी जनों का समूह एक चुम्बकीय आकर्षण से उनकी ओर खिंच आया था। भट्ट जी ने जितने लेखकों का निर्माण किया है यद्यपि उनमें से अधिकांश से हिन्दी-जगत् अपरिचित है किन्तु हमारा तो विषय ही उन लोगों के व्यक्तित्व का पुनरुद्घाटन है। भट्ट जी ने जितने अच्छे लेखकों का निर्माण किया एवं जितने अपटु लेखकों को सिद्धहस्त लेखक बना दिया वास्तव में यह एक सुखद आश्चर्य है।

'हिन्दी प्रदीप' के लेखकों को सुविधा के लिये दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग वह है जिसका निर्माण भट्ट जी ने स्वयं किया अर्थात् वे लेखक जिन्हें भट्ट जी यदि प्रेरणा एवं प्रोत्साहन न देते तो वे लेखक होते ही नहीं। दूसरा वर्ग उन लेखकों का है जो भट्ट जी के विचारों से प्रभावित थे, उनके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित थे और उन्हें अपना पथ प्रदर्शक मानते थे अर्थात् जिनमें प्रतिभा तो थी किन्तु जिन्हें मार्गदर्शन की आवश्यकता थी और भट्ट जी ने इनका सफल पथ प्रदर्शन किया भी।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८७७, पृ० १४-१५।**

'हिन्दी प्रदीप' में कुल १३८ लेखकों ने लिखा है किन्तु उन सबके विषय में ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। इनमें भी अधिकांश लेखक ऐसे हैं जिनका 'हिन्दी प्रदीप' की प्रतियों में एक ही लेख मिलता है। जिनके अधिक लेख मिलते हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है। किन्तु इस छोटी संख्या के विषय में भी सम्यक् परिज्ञान के सूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं।

प्रथम वर्ग के वे लेखक, जिन्हें लेखक बनाने का एकांत श्रेय पं० बालकृष्ण भट्ट को है, निम्नांकित हैं—

(१) बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन या 'अगमसरन'। (२) माधवप्रसाद शुक्ल। (३) मदनमोहन शुक्ल, (४) पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, (५) वेणीप्रसाद शुक्ल। (६) रासबिहारी शुक्ल, (७) पं० ब्रजमोहन कूल, (८) महादेव भट्ट, (९) परसन, (१०) पं० हरिमंगल मिश्र, (११) पं० मधुमंगल मिश्र, (१२) पं० गयाप्रसाद मिश्र, (१३) बाबू रतनचंद प्लीडर हाई कोर्ट, (१४) विश्वेश्वरानंद, (१५) श्रीकांत पाठक, (१६) सावित्री देवी, (१७) वेणीप्रसाद शुक्ल, (१८) डा० जे० के० व्यास।

दूसरे वर्ग के वे लेखक-जिन्होंने यद्यपि स्वतंत्र रूप से लिखना प्रारंभ किया, किन्तु जो उचित मार्गदर्शन के लिए भट्ट जी के ऋणी हैं, ये हैं :—

(१) राधाचरण गोस्वामी, (२) पं० सरयूप्रसाद मिश्र, (३) जगमोहन वर्मा, (४) राधामोहन गोकुल जी, (५) भगवान दीन, (६) महावीरप्रसाद द्विवेदी, (७) पं० मदनमोहन मालवीय, (८) श्रीधर पाठक, (९) द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, (१०) अम्बिकादत्त व्यास, (११) भीमसेन शर्मा, (१२) जगदंबाप्रसाद प्रयाग, (१३) सूर्यकुमार वर्मा (ग्वालियर), (१४) शंकरप्रसाद मिश्र (रायपुर) (१५) काशीप्रसाद (मिर्जापुर) (१६) गदाधरसिंह, (१७) ठा० जगमोहनसिंह।

भट्ट जी के समसामयिक केवल दो लेखक ऐसे हैं जिनका भट्ट जी अत्यंत आदर करते थे। एक तो थे पं० गदाधर जी। ये भट्ट जी के गुरु थे अतः भट्ट जी उन्हें पितृतुल्य पूज्य मानते थे। दूसरे थे भारतेंदु हरिश्चन्द्र। भट्ट जी इनका भी बड़ा आदर करते थे यद्यपि यह स्मरणीय है कि आयु में भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र, भट्ट जी से ६ वर्ष छोटे थे इसलिए ये स्वयं भी भट्ट जी का बड़ा आदर करते थे। उनके आपस के इस व्यवहार को मित्रता कहा जा सकता है। पर साथ ही भारतेंदु बाबू की असाधारण प्रतिभा एवं हिन्दी के लिए उनके सर्वस्व त्याग तथा उनकी अखंड विद्वत्ता से भट्ट जी इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्हें श्रद्धेय तक लिखते थे।

अब यहां 'हिन्दी प्रदीप' के कुछ प्रमुख लेखकों पर विचार करना समीचीन होगा।

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन या 'अगमसरन' :— 'हिन्दी प्रदीप' के 'अगमसरन' (ए० एस०) आज के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, भूतपूर्व कांग्रेस सभापति, तथा भारत-ख्याति के नेता, राजर्षि टंडन जी ने स्वयं इन पंक्तियों के लेखक को बताया कि ये 'हिन्दी-प्रदीप' में 'अगम सरन' नाम से लिखते थे। टंडन जी प्रारम्भ में उर्दू-फारसी के विद्यार्थी थे हिन्दी की ओर इन्हें उन्मुख करने का श्रेय पं० बालकृष्ण भट्ट को ही है। एक भेंट में टंडन जी ने इन पंक्तियों के लेखक से कहा—'हिन्दी की लौ पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने ही मुझे लगाई थी तबसे अबतक वही काम तो कर रहा हूँ।' भट्ट जी की चर्चा होने पर वे गद्गद कण्ठ होकर बोले "भट्ट जी देवता आदमी थे, उनसे अधिक निश्छल निष्कपट और भोला व्यक्ति मैंने जीवन में नहीं देखा, अब तो वह पीढ़ी ही खतम हो गई, अब ऐसे आदमी कहाँ होते हैं ?' यह कहते कहते टंडन जी की आँखें तरल हो उठी थीं।

टण्डन जी ने भट्ट जी के विषय में एक लेख अभ्युदय में लिखा था। यहां कुछ पंक्तियाँ 'अभ्युदय' से उद्धृत करना असंगत न होगा। देखिए निम्नांकित पंक्तियों में शोक जैसे लहरें मार रहा है, श्रद्धा जैसे उमड़ी पड़ रही है :—

"हा आज हिन्दी का पुराना देदीप्यमान 'प्रदीप' बुझ गया आज उसकी अवधि पूरी हो गई और अन्धकार में मार्ग दिखाने वाला उसका तेज सदा के लिए लुप्त हो गया। जिस सरस हास्यमयी प्रतिभा ने अपने मीठे ठठोल से कितनों ही को कुमार्ग से बचा लिया था जिसने हिन्दी के बिखरे गंवारू शब्दों में जादू सी शक्ति भरकर सहस्रों हिन्दी बोलने वालों में जातित्व और भाषा प्रेम का संस्कार बोया था उस प्रतिभा के चमत्कार का दर्शन अब हिन्दी पाठकों के भाग्य में नहीं। जिनका भट्ट जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था जिनके लिये वे गुरु और शिक्षक थे उनके शोक की चर्चा पत्रों में नहीं हो सकती। वह शोक व्यक्तिगत है और हृदय में अङ्गार के समान दवा रहेगा।"[1]

टंडन जी का घर भट्ट जी के पास ही था अतः टण्डन जी घण्टों भट्ट जी के पास बैठते थे और विभिन्न विषयों पर वाद विवाद होता था। यह स्मरणीय है कि भट्ट जी के परिचय या मित्र वृत्त में नवयुवक लोग ही अधिक थे।[2]

---

१. 'अभ्युदय', ता० २५ जुलाई १६१४, सचित्र लेख।

२. पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री सुन्दरलाल, 'विशाल भारत', जनवरी १६२८ पृ० ८।

नवयुवक सबके सब उग्र राष्ट्रवादी गरम दल के थे जैसे कि भट्टजी स्वयं थे। भट्ट जी जबरदस्ती नवयुवक लोगों से लेख लिखाते थे और जब वे लिखकर लाते थे तो अत्यधिक प्रशंसा करते थे। कहते थे—"अबे! तें तो बहुत अच्छा लिखत है, हमसे भी अच्छा लिखत है।" टण्डन जी भी इसके अपवाद नहीं थे। वे लिखकर लाते थे भट्ट जी उनकी पीठ ठोकते थे। फल यह हुआ कि टण्डन जी हिन्दी लिखने लगे और बहुत अच्छी हिन्दी। उन्होंने स्वयं बताया कि "जब मैं एल०एल०बी० की परीक्षा दे रहा था तब भट्ट जी के कहने से मैंने बन्दर महाकाव्य लिखा।"[१] टंडन जी ने गद्य पद्य सब लिखना आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही अच्छे लेखक बन गये। इसके लिए वे निश्छल हृदय से भट्ट जी का ऋण स्वीकार करते हैं।

'हिन्दी प्रदीप' की सम्पूर्ण प्रतियों में टन्डन जी की केवल बारह रचनायें (लेख कविता आदि) मिलती हैं। यदि स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान का वह सारांश भी टन्डन जी के नाम में मान लिया जाय जो इन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में भेजा था तो उपर्युक्त संख्या तेरह हो जायगी।

टन्डन जी की निम्नांकित रचनायें 'हिन्दी प्रदीप' में प्राप्त हैं—

(१) कवि की प्रतिभा[२], (२) स्वतन्त्रता (कविता)[३], (३) एक अनौखी म्यूजियम[४], (४) दसहरे की भेंट[५], (५) भट्ट मोक्ष मूलर[६], (६) देश की अवनति[७], (७) बहस करने के जुदे-जुदे ढंग[८], (८) करतूती कहि देत आप कहिये नहिं साई[९], (९) एक पत्र[१०], (१०) काहिलों की जिन्दगी और उनकी दिनचर्या,[११] (११) बन्दर महाकाव्य,[१२] (१२) पढ़ने वालों की समझ की परख।[१३]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १९०५, पृ० १७ से २१ तक।
२. „ मई १८९९, पृ० १८ से २४ तक।
३. „ अप्रैल, मई, जून, १९००, पृ ३०-३२।
४. „ जुलाई, अगस्त, १९००, पृ० २७-३५।
५. „ अक्टूबर १९००, पृ० ११-१३।
६. „ „ „ १३-१६।
७. „ मार्च अप्रैल १९०३, २१-२७।
८. „ „ „ २७-३०।
९. „ मई, जून, जुलाई, अगस्त, १९०३, पृ० ५७-६३।
१०. „ „ „ १९०४, पृ० ४२-४६।
११. „ मई १९०५, पृ० १२-१६।
१२. „ अगस्त १९०५, पृ० १७-२१।
१३. „ „ „ १३-१४।

'हिन्दी प्रदीप' के अधिकांश लेखकों पर पं० बालकृष्ण भट्ट की शैली की छाप अत्यन्त स्पष्ट है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि भट्ट जी प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं को अपनी रुचि के अनुसार संशोधित कर लेते हों। यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि 'हिन्दी प्रदीप' के लेखकों के विचार भी भट्ट जी से मिलते थे इसका स्पष्ट कारण यही है कि भट्ट जी के मित्र या शिष्य लोग ही अधिकतर 'हिन्दी प्रदीप' में लिखते थे इसलिए दृष्टि-कोण में समानता अत्यन्त स्वाभाविक है। उपर्युक्त बातों के टंडन जी भी अप-वाद नहीं हैं।

भाव और भाषा की दृष्टि से प्रत्येक लेखक की रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, १–विचार पक्ष, २–भाषा शैली पक्ष। यहाँ टंडन जी की रचनाओं पर हम इसी आधार पर विचार करेंगे।

टंडन जी के निबन्धों की विचार भूमि :—यह वह समय था जब अंग्रेजों के विरुद्ध जन-मन में असंतोष की ज्वाला सुलग रही थी। सत्तारूढ़ अंग्रेज लिखित या मौखिक रूप से अपने विरुद्ध कोई भी बात नहीं सह सकते थे। दमन चक्र जोरों पर था। ऐसे कुसमय में भी जिन लोगों के हृदय में देश प्रेम की पवित्र ज्वाला प्रज्ज्वलित हो रही थी वे बिना अंग्रेजों के विरुद्ध लिखे मानते न थे, हाँ उन्होंने अभिव्यक्ति की पद्धति में थोड़ा परिवर्तन कर लिया था। वे शासन के विरुद्ध अभिधा में न लिखकर व्यंजना में लिखने लगे थे जिससे सरकार के कानूनी प्रहार से वे बच जाँय। इन व्यंग्यपूर्ण लेख और कविताओं से 'एक पंथ दो काज' सिद्ध होते थे। एक तो कानूनी प्रहार से रक्षा रहती थी दूसरे ये व्यंग्य जन-मन में लगी असंतोष वन्हि को सुलगा कर और भी प्रज्ज्वलित कर देते थे।

टंडन जी की 'बन्दर सभा महाकाव्य'[1] नामक कविता में, अंग्रेजी राजनीति का भंडाफोड़ किया गया है। अंग्रेजों को बन्दरों के रूप में असभ्य एवं संस्कृति विहीन चित्रित किया गया है। तथा उन्हीं के मुख से जो गर्वोक्तियाँ उन्होंने कहलवाई हैं उनसे अंग्रेजों के वास्तविक रूप का उद्घाटन हो जाता है। अंग्रेजों का नग्न रूप पाठक के सामने आ जाता है और फलस्वरूप उसके हृदय में अंग्रेजों के प्रति घृणा का बीजारोपण हो जाता है, जो इस प्रकार के काव्यों एवं लेखों से क्रमशः अंकुरित और पल्लवित होता रहता है। इस प्रकार लेखक का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। अंग्रेजी अदालत में न्याय पैसों के मोल बिकता है, अंग्रेजी राज्य में देश का आर्थिक शोषण होता है। कुछ गद्दार भारतीय अंग्रेजों से मिल जाते हैं; उन पर भी लेखक ने चुटकी ली है। अंग्रजों की वीरता की पोल भी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अगस्त १६०५, पृ० १७–२१।**

उसने खोली है। 'फूट डालो और राज्य करो' का अवलंबन यदि अंग्रेज न करते तो भारत में अंग्रेजी राज्य का इतिहास भिन्न ही होता। अंग्रेज जितने, अत्याचारी और निष्ठुर हैं यह भी इस कविता से स्पष्ट हो जाता है किन्तु यह सब कहा लेखक ने व्यंग्य के आवरण में है। कविता बड़ी ही प्रवाह पूर्ण, देशभक्ति के भावों से युक्त तथा तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर उचित प्रकाश डालने वाली है। यह स्मरणीय है कि भारतीय जनता अंग्रेजों को बन्दर ही कहती रही है।

अपनी 'स्वतन्त्रता'[1] नामक कविता में टण्डन जी ने स्वतन्त्रता देवी का आह्वान किया है। समाज में श्रेणी भेद (वर्ग भेद) का विरोध किया है। तथा अपनी पुरानी भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी ममता भी व्यक्त की है। भाषा के प्रवाह की दृष्टि से तथा व्यंग्य का जहाँ तक सम्बन्ध है यह कविता 'बन्दर सभा महाकाव्य' के टक्कर की नहीं है। छन्द एवम् गतिभङ्ग सम्बन्धी बहुत-सी अशुद्धियाँ इसमें हैं। लगता है कविता लिखने का लेखक का यह प्रथम प्रयास है फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कविता देशभक्ति के उच्च भावों से ओतप्रोत है।

टण्डन जी ने अपने लेखों में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक दोषों पर खूब व्यंग्य किए हैं। उनका दृष्टिकोण एक सहिष्णु हिन्दू एवम् भारतीय संस्कृति प्रेमी का है जो मन वचन कर्म से एक होने में विश्वास रखता है तथा पाखंडों से घृणा करता है। अपने 'मोक्षमूलर' नामक लेख में 'मोक्षमूलर' के विचारों से अपनी सहमति प्रकट करते हुये वे लिखते हैं :—'मोक्षमूलर की सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि लोग संस्कृत पढ़ें और हिन्दूशास्त्रों को समझने का यत्न करें। अब सबसे बड़ा काम जो हम कर सकते हैं जिसमें उनकी आत्मा को आनन्द मिले वह यही है कि इस उनकी बड़ी इच्छा के पूर्ण करने का यत्न करें। और संस्कृत के प्रचार करने में तत्पर हों।'[2]

ईसाइयों पर, ईसा और धर्म की आड़ में राजनीति-प्रभावप्रसार ही जिनका लक्ष्य रहता है टंडन जी ने बड़ी बड़ी चुटकियां ली हैं। वे अपने "दशहरे की भेंट" नामक लेख में लिखते हैं :—

"परन्तु एक बात बड़ी विचित्र देखने में आई। ईसाई मत जो कि यही कहता है कि एक दूसरे को प्यार करो और किसी को दुःख मत दो जहां फैलाया गया वहां केवल लड़ाई से और लड़ाई के उपरान्त जो पीड़ा मनुष्य

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल, मई, जून सन् १६००, पृ० २०–३२।**

२. ,, **अक्टूबर सन् १६००, पृ० १६।**

जाति पर होती है कोई बाकी न रही। जहां ईसा के मतानुयायी लोगों का राज्य है वहां भी बर्ताव में ईसा के सिखाने के विरुद्ध रीति प्रचलित है। ईसा ने सिखलाया है सब मनुष्य बराबर हैं। ईसाई राज्यों में क्या देखा जाता है कि जो ईसाई हो वह चैन उड़ावे, खूब शराब पिया करे और जो बेचारे गरीब आफत के मारे ईसाई नहीं है वे खाने तक को न पावें। जहाँ जहाँ ईसाइयों ने अपना मत चलाया है वहाँ यही बहाना रक्खा है कि हम मनुष्य को मनुष्यत्व सिखलाते हैं क्योंकि जीसस ने हम लोगों को जीवों की दशा सुधारने को भेजा है। तो क्या सुधार हम यही समझें कि जो लोग जीत लिए जाँय उनके घर में आग लगादी जाय, उनका धन छीन लिया जाय उनके स्त्री और बालक सताए जाँय, यदि वे अपने देश के वास्ते लड़ें तो ट्रेटर्स कह फाँसी पर चढ़ाये जाँय जैसा अभी चीन के युद्ध में और अफरीका में देखा गया है। उसी भूमि में जहाँ लाखों शव पड़े हैं, जहां खून की नदियाँ बह रहीं हैं, लाखों विधवा और बालक अनाथ हो दारुण दुःख में सहायता की प्रार्थना कर रहे हैं, खूब गुलछर्रे उड़ाते हुए शराब की बोतल ढुलकाई जाँय। इसी का नाम सुधार और हमदर्दी है।"

इसके अतिरिक्त हास्य की प्रवृत्ति इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों में से है। टन्डन जी ने कितने ही हास्य परक लेख लिखे हैं। सम्पादक को 'प्रेरित पत्र' में वे डाक्टरों का मजाक उड़ाते हुए लिखते हैं :—

मैं शहर अबोध नगर की अंधी गली में घूम रहा था कि एक बड़ा भारी साइनबोर्ड मुझे एक कोठे के ऊपर देख पड़ा उसमें लिखा था—डा० ए० पी० ब्लौकहैड एम०बी० एफ० आर० सी० एस० एडनवर्ग एफ० एम० के० सी० एस० आई० सी० लन्दन एंड न्यूयार्क ऐटसैट्रा।

'इन लम्बी चौड़ी उपाधियों को देख मेरे जी में उक्त महाशय के दर्शन की अभिलाषा उत्पन्न होगई। मैं खट खट[1] कर ऊपर चढ़ गया तो सबके पहले जो वस्तु द्वार पर ही मुझे देख पड़ी वह एक मनुष्य के शरीर का पंजर था। पहले तो मैं देखते ही चौंककर पीछे हट गया परन्तु यह सोचकर कि यह तो डाक्टरों की कार्यवाही का चिन्ह ही है और यही याद दिलाने के लिए द्वार पर रखा गया है कि हमारी देहली जिसने नापा और हमारे फेर में आया उसका यही हाल होता है।'

× × ×

'मैंने यह सोचा कि अब डाक्टर साहब का इम्तिहान लेना चाहिये यह

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर सन् १९००, पृ० १२।

विचार मैं बोला—'डाक्टर साहब आपने कहा कि मैं हर तरह की बीमारी दूर करता हूँ मुझे इश्क की बीमारी है आप इसकी क्या दवा बतलाते हैं। डाक्टर साहब सिर पर हाथ धर सोचने लगे और थोड़ी देर बाद एक काग़ज़ पर कुछ लिखने लगे और बोले अच्छा मैं आपके वास्ते नुशखा लिखता आप इससे अलबट अच्छा हो जायगा। उन्होंने काग़ज़ मुझे दे दिया उसकी नक़ल में नीचे देता हूँ।

वास्ते मिष्टर शुक्राचार्य इश्क़ का नुस्खा

घृणा—८ औंस, दृढ़ प्रतिज्ञा—८ पौंड, बुद्धि—२ ग्रेन, धैर्य—२ पौंड, तजुरबा—२ औंस।

इन सब द्रव्यों को बीस पौंड जीवट का पानी में मिलाकर उसमें २ पौण्ड लापरवाही का मिश्री डालकर, बदचलनी का आँच का जोश दो आधीरात के वख़्त रोज उसका ३ औंस के हिसाब से सेवन करो साल भर में बीमारी दूर हो जायगा।"[१]

इसके अतिरिक्त तत्कालीन कवियों, उपन्यासकारों तथा आलोचकों पर भी टंडन जी ने बड़े ही मार्मिक व्यंग्य किए हैं। इस काल के साहित्य पर इन व्यंग्यों से प्रकाश पड़ता है कि कवितायें, आलोचना, उपन्यास आदि कितने नीचे स्तर के होते थे और उनकी विषय सामग्री कितनी आपत्तिजनक होती थी। उनका 'करतूती कहिदेत आप कहिये नहिं साईं'[१] इस दृष्टि से पठनीय निबन्ध है। यह स्मरणीय है कि यह एक प्रकार की व्याज स्तुति है जो पं० बालकृष्ण भट्ट के गुणों पर लिखी गई है। पं० बालकृष्ण भट्ट को, कवि, उपन्यासकार, आलोचक और सम्पादक के नाते धनार्जन में सफलता नहीं मिली उसका कारण यह था कि उनमें वे अवगुण नहीं थे जो उपर्युक्त लेख में वर्णित हैं। खरी भाषा तथा रूढ़ि विरोध के कारण कभी भी 'हिन्दी प्रदीप' की संख्या संतोषजनक नहीं रही यह भी उपर्युक्त लेख से व्यंग्य है।

यह बात नहीं है कि टन्डन जी ने गम्भीर लेख ही न लिखे हों। 'कवि की प्रतिभा' तथा 'भट्ट मोक्षमूलर' आदि निबन्ध जो कि आरम्भ में सूची में दिये जा चुके हैं उनके साहित्यिक तथा गम्भीर निबन्ध है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई, जून, जुलाई सन् ११०४, पृ० ४३ तथा ४५।

नोट—पं० जनार्दन भट्ट ने बताया कि उपर्युक्त रचना पर सरकारी चेतावनी मिली थी और यह निबन्ध राजनैतिक समझा गया था।

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई, जून, जुलाई १९०३, पृ० ५९, ६०, ६१, ६२।

टन्डन जी पर अँग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। वे लेखों के बीच-बीच में अनेकों अंग्रेजी लेखकों की रचनायें उद्धृत करते हैं।

चूँकि टन्डन जी विचारों की दृष्टि से भट्ट जी के अनुयायी थे इसलिये भट्टजी की सभी विचार सम्बन्धी विशेषतायें उनमें मिलती हैं।

भाषा तथा शैली :--टन्डन जी की भाषा और शैली भट्ट जी से बहुत कुछ मिलती है। अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत सभी भाषा के शब्दों का अबाध प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है। 'दशहरे की भेंट' नामक निबन्ध में देखिए अँग्रेजी का कितना अधिक प्रयोग है :—

"है न यही बात आप कदाचित हमसे शेक हैन्ड्स करलें पर गले मिलना ! तोवा ! तोवा ! बाई जिन्गो, बल्गर नोनसेंस बहुत अच्छा साहब आप जैसा कहें वैसा ही सही।"[1]

कहीं-कहीं उर्दू शब्दों का एकदम बाहुल्य मिलता है जैसे—"आप यह तो जानते ही हैं कि मैं शोहरए अ.फाक हूँ। और मेरी मुलाकात का इश्तियाक बहुतों को रहा करता है।[2]

किन्तु कहीं-कहीं भाषा बड़ी सरल, भावपूर्ण तथा चमत्कार युक्त हो गई है, देखिए :--

"एक बार हम हुक्का पीते-पीते ऊँघने लगे और सो गए। नैचा हाथ से छूट गया और एक लात जो लगी तो चिलम और हुक्का दोनों कलाबाजियाँ खा गए। हमारे इस निरादर से कोयलों की देह में भी आग लग गई और वे क्रोध से लाल हो कर्कशा स्त्रियों की तरह बिखर गये।"[3]

कहावतों का बाहुल्य भी इनकी रचनाओं में मिलता है जो कि उस काल की विशेषता है। इसके अतिरिक्त, 'उस्से' 'स्मर्ण' 'सत्ता' 'उस्में' 'इन्में' आदि शब्द पुरानी वर्त्तनी में मिलते हैं। कहीं-कहीं पण्डिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं जैसे :—

"जिस्का एक सिरा हाथ में लिए न जानिए क्या गोल गोल शब्दों में बक रहे हैं।"[4]

कहीं कहीं भाषा में आलंकारिकता भी दृष्टिगोचर होती है। सुन्दर उपमा का एक उदाहरण देखिए :—"किसी का पैदा होना, किसी का परलोक सिधारना,

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर सन् १६००, पृ० ११।
२. " मई " १६०५, पृ० १६।
३. " " " " १५।
४. " जुलाई, अगस्त सन् १६००, पृ० ३१।

किसी का तख्त पर बैठना, किसी का उस पर से उतरना, राज्य या पृथ्वी के लिए किसी का लड़ना, किसी का सुलह कर लेना इत्यादि झुण्ड के झुण्ड व्यर्थ की बातों की याद करते करते दिमाग उनका उसी गेंद के समान चकराया करता है जिसे वे क्रिकेट में नित्य खेला करते हैं।"[१]

इस प्रकार भट्ट जी की प्रेरणा एवं उचित निर्देशन में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने बहुत अच्छे लेख एवं कवितायें लिखीं तथा उस काल के लेखकों में अपना अच्छा स्थान बना लिया। भट्ट जी के विचार और शैली से टंडन जी के विचार तथा शैली में इतनी समानता है कि उनमें भेद करना बड़ा कठिन कार्य है। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि भट्ट जी उनके लेखों को जब संशोधित करते होंगे तो उन्हें अपने मनोनुकूल बदल लेते होंगे।

माधव शुक्ल :—

पं० बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८७७ में हिन्दी नाट्य समिति की स्थापना की थी। यह नाट्य समिति वास्तव में नागरी प्रवर्द्धिनी सभा की ही एक शाखा थी जिसके सभापति पं० बालकृष्ण भट्ट स्वयम् थे। इस नाटक समिति का मुख्य कार्य था हिन्दी के नाटकों को अभिनीत करना। इस नाटक-मण्डली में प्रयाग के प्राय: सभी प्रतिभाशाली युवक सम्मिलित होगये थे। इनमें से प्रमुख थे :— पं० माधव शुक्ल, मुर्लीधर मिश्र, रासबिहारी शुक्ल, पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पं० महादेव भट्ट और सत्यानन्द जोशी (सम्पादक 'अभ्युदय')।

इनमें भी विशेष रूपेण उल्लेखनीय नाम पं० माधव शुक्ल का है। यद्यपि ये शिक्षित तो अधिक नहीं थे पर थे बड़े प्रतिभाशाली। भट्ट जी के ये निकट के सम्बन्धी थे अर्थात् भट्ट जी के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट के ये सगे साले थे। भट्ट जी की इन पर बड़ी कृपा रहती थी। पं० माधव शुक्ल उन्हें अपना गुरु मानते थे।

माधव शुक्ल ने कविता बड़े विचित्र ढङ्ग से लिखना प्रारम्भ किया। होता यह था कि जिस नाटक का अभिनय करना होता था उसके लम्बे सम्वादों को संक्षिप्त पद्य में आबद्ध करना पं० माधव शुक्ल का उत्तरदायित्व था। अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह ये बड़े कौशल एवम् सफलता के साथ करते थे। भट्ट जी ने जब इनके संवादीय पद्य पढ़े तो बड़े प्रभावित हुए और इन्हें कविता लिखने के लिए प्रेरित किया और इतना अधिक प्रोत्साहन दिया कि इन्हें कवि बनाकर ही छोड़ा। भट्ट जी इन्हें प्यार में 'राष्ट्र कवि' कहते थे और 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित इनकी काव्य-पुस्तकों के विज्ञापन में भट्ट जी ने इन्हें

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मार्च, अप्रैल सन् १९३०, पृ० २१।**

'राष्ट्र कवि' ही कहा है। भट्ट जी का प्रोत्साहन निष्फल न जाय उसकी सम्मानरक्षा हो जाय इसके लिए माधव शुक्ल भी काव्य सृजनार्थ कृतसंकल्प हो गए और अंत में एक बहुत ही सफल कवि बन गए।

विशेष बात यह है कि माधव शुक्ल एक बहुत अच्छे अभिनेता तथा नाटककार भी थे। इन्होंने स्वयं महाभारत नाटक लिखा जो कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठवें अधिवेशन पर सफलता पूर्वक खेला गया और बड़ा लोकप्रिय हुआ। डा० सोमनाथ गुप्त ने अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक प्रबंध में इनकी चर्चा की है। वे लिखते हैं :—

"यद्यपि इन्होंने केवल दो नाटक लिखे—सीय स्वयंवर (सन् १८९८) और महाभारत पूर्वार्द्ध (सन् १९१६)। परन्तु नाटक साहित्य की उन्नति के लिए इन्होंने बड़ा प्रयास किया। 'सीय स्वयंवर' छपा नहीं पर 'महाभारत' के कारण इनकी पर्याप्त ख्याति हुई।"[1]

इनका कार्यक्षेत्र केवल प्रयाग ही तक सीमित नहीं था। लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ते में जाकर इन्होंने नाटक मंडलियों की स्थापना की।'[2] भट्ट जी ने इन्हें नाटक के जिस पवित्र कार्य में लगाया था उसकी उन्नति का प्रयत्न ये जीवनपर्यंत करते रहे।

'हिन्दी प्रदीप', 'मर्यादा', 'सरस्वती', 'विशालभारत' आदि प्रतिष्ठित पत्रों की पुरानी संचिकाओं में इनकी कवितायें छिपी पड़ी हैं। इनकी कविताओं के के कई संकलन प्रकाशित भी हुए।

बहुत कम कवियों की भाषा इतनी प्रवाहपूर्ण एवं प्रसादगुण विशिष्ट होगी जितनी इनकी। भट्ट जी की मृत्यु पर इन्होंने जो एक लम्बी शोकपूर्ण कविता लिखी थी उसको पढ़कर पाठकों की आँखों में आज भी आँसू भर जाते हैं। उस कविता से भट्ट जी के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा और भक्ति का परिचय मिलता है। भट्ट जी से इनकी निकटता एवं प्रगाढ़ता सिद्ध करने के लिए यहां उस कविता के कुछ उद्धरण देना समीचीन होगा: –

पर्वत सम यह वज्र हृदय पर गिरा कहां से।
घोर दुःखमय स्रोत हाय फट पड़ा कहां से।।
सुधामयी यह कल्पलता क्यों कर मुरझानी।
किस पापी ने फेर दिया आशा पर पानी।।

---

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, ले० डा० सोमनाथ गुप्त दूसरा संस्क० पृ० १७२।

२. 'आनंद' (लखनऊ) मिती श्रावण वदी ३०, सं० १९७१।

हा गोठिल तलवार यह
किस कुटिल क्रूर जल्लाद की।
कर आज हमें संहार निज,
इच्छा पूरी कर सकी ॥१॥

\+ + +

हा सब ही के मीत, वृद्ध, बालक, युव प्यारे।
पूज्य पाद ऋिषि देव ! आज किस लोक सिधारे॥
हुआ कौन अपराध हाय ! हम भाग्यहीन से।
जिस कारण हम तड़प रहे जलहीन मीन से॥[1]

माधव शुक्ल पहले कवि थे बाद में कुछ और। गद्य तो उन्होंने लिख ही नहीं (नाटकों को छोड़कर)। 'हिन्दी प्रदीप' में भी उनकी जितनी रचनायें प्रकाशित हुई वे सब पद्यबद्ध हैं। 'हिन्दी प्रदीप' की सम्पूर्ण प्रतियों में उनकी केवल बारह कवितायें प्रकाशित मिलती हैं।

(१) सामयिक बर्ताव की कुंडलियाँ[2]। (२) श्रीयुत लाजपतराय[3]। (३) सच्चा साधु[4]। (४) कवितायें[5]। (५) वीरबन्धु आदि कवितायें[6]। (६) वृद्ध भारत और दिवाली आदि कवितायें[7]। (७) मनुष्य के जन्म लेने का उद्देश्य[8]। (८) फूट[9]।

---

१. हा भट्ट जी, (शोकांजलि) ले० माधव शुक्ल 'मर्यादा' जून सन् १९१४, पृ० १२५।

विशेष—यह कविता बाईस छन्दों में लिखी गई एक बहुत लम्बी कविता है इससे भट्ट जी के जीवन, चरित्र, एवं स्वभाव आदि पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। भट्ट जी के राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक एवं साहित्यिक विचारों के स्पष्टीकरण के लिए इस कविता से अधिक प्रामाणिक सामग्री नहीं हो सकती। पं० माधव शुक्ल, पं० बालकृष्ण भट्ट के निकटतम् एवं प्रियतम व्यक्तियों में से थे। इसलिए जहाँ उनके भावों में शोक का आवेश है वहाँ स्वर में सत्य की झंकार भी है।

२. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी, १९०७, पृ० १६-१८।
३. ,, जुलाई १९०७, पृ० १२-१३।
४. ,, अगस्त १९०७, पृ० १३-१४।
५. ,, सितम्बर १९०७, पृ० ९-१०।
६. ,, अक्टूबर १९०७, पृ० ११-१३।
७. ,, नवम्बर १९०७, पृ० ७-१०।
८. ,, दिसम्बर १९०७, पृ० १८-२१।
९. ,, जनवरी १९०८, पृ० ८-११।

(९) बम क्या है[१]। (१०) दिवालियों की दीवाली[२]। (११) युधिष्ठिर द्रौपदी[३]। (१२) भारत भविष्य और बसंत[४]।

उनकी सबसे पहली कविता जनवरी सन् १९०७ में 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुई। यह उनकी हास्य रस पूर्ण कुण्डलियाँ थीं। इसके बाद तो बराबर इनकी कवितायें 'हिन्दी प्रदीप' में निकलती रहीं। पं० जनार्दन भट्ट का कहना है कि श्री माधव शुक्ल की 'बम क्या है ?' कविता पर ही 'हिन्दी प्रदीप' से तीन हजार रुपये की जमानत मांगी गई जिसके देने में असमर्थ होने के कारण हिन्दी प्रदीप' असमय ही में बुझ गया। पं० जनार्दन भट्ट के इस कथन का समर्थन श्री अम्बिकाचरण वाजपेयी द्वारा लिखित 'समाचार पत्रों का इतिहास' नामक पुस्तक से भी हो जाता है।[५]

यद्यपि पं० माधव शुक्ल ने विभिन्न शीर्षकों से कवितायें लिखी हैं किन्तु दो मुख्य भावनायें उनमें अन्तर्सूत्र की भाँति व्याप्त हैं। एक तो स्वतन्त्रता प्राप्ति[६] की भावना तथा दूसरी अतीत प्रेम[७] अथवा पुरातन-संस्कृति-प्रेम की भावना। कवि का धर्म स्वतन्त्रता प्राप्ति रह गया है और ईश्वर भक्ति भी वह पराधीनता दूर करने के लिए करता है।[८] कवि अंग्रेजों से उनकी साम्राज्य-वादी मनोवृत्ति से अत्यन्त घृणा करता है और उन्हें अन्यायी घोषित करता है।[९] जहाँ बोलने और लिखने पर भी प्रतिबन्ध हो वह अच्छा शासन कैसे कहा

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १९०८, पृ० ३७-३८।
२. ,, कार्तिक संवत १९६६ पृ० ४।
३. ,, पौष संवत् १९६६, पृ० १२-१३।
४. ,, माघ सवत् १९६६, पृ० २०-२१।
५. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, प्रथम संस्करण पृ० १५१।
६. अरु स्वतन्त्रता नष्ट देश में जो नर फिर उपजै हैं।
माधव कहत धन्य या जग में अन्त स्वर्ग पद पै है।।
'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १९०७, पृ० ९।
७. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर १९०७, पृ० १२।
८. हे विभो भारत को पहले की तरह भरपूर कर,
शीघ्र ही सर्वस्वहारिणि 'दासता' को दूर कर।
'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १९०७, पृ० १२।
९. को निर्भय ह्वै व्यथा देश की भारत राज सुनै है।
ब्रिटिश राज्य के क्षुद्र न्याय से ताको फल यह पै है।।
'हिन्दी प्रदीप', भैरवी-सितम्बर १९०७, पृ० ९।

जा सकता है। इसलिए कवि क्रांति का आवाहन करता है और सशस्त्र क्रांति में भाग लेने वाले बंगालियों की प्रशंसा करता है। अंग्रेजों से मिल जाने वाले पंजाबियों को उनकी गद्दारी पर धिक्कारता है तथा यू० पी के निष्क्रिय लोगों को उनके आलस्य एवं कायरता के लिए फटकारता है।[1] वह धार्मिक भावनाओं को उभाड़ते हुए सच्चे साधुओं का आवाहन करता है किन्तु सच्चे साधु की परिभाषा उसकी अपनी है। सच्चा साधु वह है जिसका धर्म या व्रत देश को स्वतन्त्र कराना ही हो।[2]

अंग्रेजी कुशासन के परिणाम स्वरूप देश में फैली दरिद्रता, भुखमरी एवं बीमारियों का लेखक ने मार्मिक भाषा में वर्णन किया है।

इस भीषण दरिद्रता की ज्वाला में जनता की सांस्कृतिक अभिरुचियाँ भी भस्म हुई जाती हैं, त्यौहार त्यौहारों के शव मात्र रह गये हैं। दिवाली आ गई है और पं० माधव शुक्ल के शब्दों में घर की दशा यह है :—

"जब होंय चार पैसे तब सूझती दिवाली।
ह्याँ किस बिना पै खेलें जब पेट ही है खाली॥
एक ओर भूख डायन हमको सता रही है।
बच्चों के दुख की आहें सीना जला रही हैं॥
है तन पै एक लंगोटी मैली फटी अधूरी।
औरत के पास धोती सो भी नहीं है पूरी॥[3]

शुक्ल जी हिन्दी भाषा के भक्त हैं उनका विचार है कि हमारे देश की उन्नति हिन्दी की उन्नति से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है।[4]

शुक्ल जी ने कई स्थान पर उर्दू का विरोध किया है।[5]

शुक्ल जी उस दुष्काल में भी भारतीय स्वाधीनता के विषय में बड़े आशावादी थे। उनकी प्रायः सभी कविताओं में यह आशावाद व्यक्त हुआ है

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १९०७, पृ० ११।
२. ,, अगस्त १९०७, पृ० १४।
३. ,, कार्तिक संवत् १९६६, पृ० ४।
४. तम न ह्वोइगो दूर बिन 'एक भाषा' रबि उगे।
सुगम भाव भरपूर 'हिन्दी तासे उचित है॥ १॥
है हिन्दू संतान निज उन्नति यदि चहत है।
तो सब मिलकर ध्यान हिन्दी की उन्नति करहु॥ २॥
'हिन्दी प्रदीप' हिन्दी की उन्नति, जनवरी १९०८, पृ० १०।
५. 'हिन्दी प्रदीप' नागरी विनय, दिसम्बर १९०७, पृ० २१।

जब प्रकृति में नव वसन्त आयेगा तो फिर भारत में स्वतन्त्रता क्यों न आयगी।[1]

शुक्ल जी ने एक कथात्मक लम्बी कविता 'युधिष्ठिर को द्रौपदी का प्रोत्साहित करना' के नाम से लिखी है उसे खण्ड काव्य तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि उनमें प्रबन्ध काव्य लिखने की क्षमता विद्यमान थी।

शुक्ल जी की भाषा बड़ी ही प्रवाह पूर्ण एवं प्रसादगुण विशिष्ट है। एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

वे पग जो मणि पाद पीठ रक्खे जाते थे।
और नृप मस्तक मौलि गंध से बस जाते थे।।
वही मृगों से चरे हुए कुश के खूँटी पर।
पड़ते पड़ते छिन्न हो गए अहो शान्तिघर।।[2]

शुक्ल जी की भाषा में ब्रजभाषा का भी पुट रहता है।[3] इनकी भाषा बड़ी मधुर और अनुप्रासयुक्त होती है। भाषा पर शुक्ल जी का असाधारण अधिकार है और निश्चित रूप से वे एक रस सिद्ध कवि हैं।

उस युग को देखते हुए निश्चित रूप से शुक्ल जी एक प्रगतिशील निडर एवं राष्ट्रीय कवि थे, अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति की तो इन्होंने हमेशा ही मजाक उड़ाई।[4]

इनके विचारों पर भट्ट जी के विचारों की छाप बिल्कुल स्पष्ट है।

मदनमोहन शुक्ल :—

ये इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के बी० ए० के छात्र थे। प्रयाग में रहने के कारण तथा मालवीय होने और भट्ट जी के दूर के सम्बन्धी होने के कारण ये भट्ट जी के निकट परिचय में आए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों का एक 'मौरल सीकर्स क्लब' था जिसके ये प्रमुख सदस्य थे। बहुत अच्छे वक्ता थे। इस क्लब के सदस्य पं० मदनमोहन मालवीय के लड़के और पं० जर्नादन भट्ट जी भी थे। यह क्लब प्रायः सभायें एवं गोष्ठियाँ आयोजित करता था।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', भारत का भविष्य और वसन्त, माघ सम्वत १९२९, पृ० २१।**

२. **,, , पौष सम्वत् १९६६, पृ० १२।**

३. **शत्रु वधन हित वही तेज अब घोर धारिए।**
'हिन्दी प्रदीप' पौष सम्वत् १९६६, पृ० १३।

४. **'हिन्दी प्रदीप', कुण्डलियाँ, जनवरी सन् १९०७, पृ० १६-१७।**

विद्यार्थियों के अनुरोध पर पं० बालकृष्ण भट्ट को प्रायः इन गोष्ठियों का सभापतित्व स्वीकार करना पड़ता था। मदनमोहन शुक्ल एक प्रतिभाशाली छात्र थे और राष्ट्रीय (गरम) विचारों के थे।[1]

भट्ट जी द्वारा प्रेरित किए जाने पर इन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में लेख लिखना प्रारम्भ किया। इनके केवल निम्नलिखित निबंध 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में उपलब्ध हैं।

(१) नए दल की नई तान।[2] (२) प्रजा में शान्ति,[3] (३) कांग्रेस का प्रेसीडेन्ट कौन हो ?[4] (४) परिवर्त्तन,[5] (५) जातीय कर्त्तव्य और उसके साधन,[6] (६) आगे क्या होने वाला है।[7] (७) मिन्टो मार्ले रिफार्म और हिंदू मोडरेट्स।[8] (८) मन की मौज।[9]

मदन मोहन शुक्ल के सभी निबन्ध निरपवाद रूप से राजनैतिक हैं। 'हिंदी प्रदीप' में इतने उग्र, राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत विस्फोटक निबंध शायद ही किसी दूसरे लेखक ने लिखे हों। मदनमोहन जी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी थे अतः उनके निबन्धों में, जोश, सुलझापन, विवेचना का वैज्ञानिक आधार और अध्ययन का गाम्भीर्य सर्वत्र स्वाभाविक रूप से मिलता है।

इन्होंने अपने लेखों में नरम दली (मोडरेटस) लोगों की बड़ी निन्दा की है। उनकी विचार पद्धति की कड़ी आलोचना की है और गरमदली लोगों का निडर होकर समर्थन किया है। इनका कहना है कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और अंग्रेजी का राजनैतिक बहिष्कार करना हमारे देश के लिए आवश्यक है। अब तक के शोषण और दमन का प्रतिशोध हमे अंग्रेजी से लेना चाहिए। हम उन्हें माफ नहीं कर सकते।[10]

---

१. जनार्दन भट्ट, अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा-सङ्घ, सब्जीमण्डी, दिल्ली।

२. 'हिन्दी प्रदीप', मई सन् १६०७, पृ० ५–१४।

३. ,, जून सन् १६०७, पृ० ६–१३।

४. ,, सितम्बर सन् १६०७, पृ० १६–२३।

५. ,, अक्टूबर मन् १६०७, पृ० १४–१८।

६. ,, नवम्बर सन् १६०७, पृ० ११–१४।

७. ,, कार्तिक १६६६, पृ० ५–१०।

८. ,, अगहन पृ० १०–१७।

९. 'हिन्दी प्रदीप' माघ १६६६, पृ० १७–१८।

१०. 'हिन्दी प्रदीप' मई, १६०७, पृ० ५–१४।

मदनमोहन जी अंग्रेजों के जानी दुश्मन हैं। वे शाँति के समर्थक नहीं हैं अपितु प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक आधार पर वे अशांति या क्रान्ति का समर्थन करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि राजभक्ति और देशभक्ति का निर्वाह एक साथ असंभव है। इसलिए देशभक्त बनकर क्रांति के द्वारा अंग्रेजों का तख्ता उलट देना चाहिए। अंग्रेज धोखेबाज हैं उन्होंने हमारी जबान पर ताला लगा दिया है।[1]

मदनमोहन जी को कांग्रेस में आस्था नहीं है। उनका कहना है कि एक अंग्रेज इस संस्था का जनक है और इसके अनुयायी अपने को शांतिवादी कहते हैं, उनका जनता से कोई सम्पर्क नहीं है, उनमें स्वयं कोई जोश नहीं है। विना जोश और ताकत के स्वराज्य मिलेगा कैसे ? जोश और ताकत जनता में रहते हैं। कांग्रेस जनता से अलग जा पड़ी है इसलिए उसका नेतृत्व बदलना चाहिये। तिलक जैसे व्यक्ति को काँग्रेस का सभापति बनना चाहिए जो जनता में जोश उत्पन्न कर सके और उसका सदुपयोग कर सके। अंग्रेज सरकारहमारे जोश को समाप्त करना चाहती है, इतिहास इस बात का साक्षी है कि कौमी जोश और इस प्रकार की सरकार में एक दिन टक्कर होना अनिवार्य है।[2]

दमन विद्रोह का दमन नहीं करता अपितु उसे उभाड़ता है। जिस प्रकार मिल मालिक मजदूरों को अत्यधिक शोषण कर उन्हें हड़ताल आदि के लिए बाध्य कर देते हैं फलस्वरूप कारखाने टूट जाते हैं उसी प्रकार अंग्रेजों ने दमन के द्वारा भारतीयों को उत्तेजित कर दिया है। "इतिहास को देखने से पता लगता है कि कोई भी शासनकर्त्ता शासितों का वध कर बिना उसका वध हुए बचा नहीं। सैकड़ों स्वार्थान्ध झूठे अगुआ कत्ल कर डाले गए इसलिए कि उन्होंने भी प्रजा का खून किया था।" शासक जातियों का दमन ही क्रांति की ज्वाला उत्पन्न करता है जिसमें वे स्वयं भस्म हो जाते हैं।[3]

जब संपूर्ण जाति शहीद होने को कमर कस ले तो फिर उसे स्वतन्त्र होने से कौन रोक सकता है।[4]

मदनमोहन जी शुक्ल ने उन मुसलमानों के प्रति अत्यन्त घृणा व्यक्ति की है जो अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति के आसान शिकार बन जाते हैं। अंग्रेजों के राज्य में तो रिप्रेशन और रिफार्म दोनों साथ साथ चलते हैं।

---

१. ,, जून १९०७, पृ० ९–१३।
२. ,, सितम्बर १९०७, पृ० १९–२३।
३. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १९०७, पृ० १५-१८।
४. ,, नवम्बर १९०७ पृ० ११-१४।

"लोगों की समझ का फेर है कि अंग्रेजों की सुधार की बातों पर विश्वास कर लेते हैं। कांग्रेस का नेतृवर्ग भी अस्थिर बुद्धि वाला है वह अंग्रेजों के झांसे में बड़ी जल्दी आ जाता है। वास्तव में सब समस्यायें तो राज्य कांति से ही सुलझेंगी जो राज्य क्रान्ति का विरोध करते हैं वे 'बर्क' की भांति बुद्धि भ्रष्ट हैं"[1]

मदनमोहन जी राष्ट्रीय दल की ओर से कहते हैं—"नया राष्ट्रीय पक्ष तो पहले से ही कह रहा था कि सच्चा राजनैतिक हक दुनिया की किसी भी प्रजा को कभी दिया नहीं गया है वरन प्रजा ने हमेशा अपनी योग्यता सिद्ध करके लिया है।" अंग्रेज हिन्दू मुसलमानों के बीच की खाई चौड़ी करते हैं इसमें उनका स्वार्थ है। एक पक्ष को अपनी ओर मिलाकर वे शाश्वत शासन का स्वप्न देखते हैं। मदनमोहन जी अंग्रेजों की इस बात के लिए घोर भर्त्सना करते हैं कि उन्होंने चुनाव-कार्य में भी अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगा दिए हैं। गवर्नर जनरल जिसे चुनाव के अयोग्य समझेंगे वह खड़ा नहीं हो सकेगा। इसलिए "लाजपत, अरविंद, तिलक, अश्विनी, इत्यादि देशभक्तों को तो सरकार ने यों निकाला।" मिण्टो मार्ले सुधार की ओर जो आशान्वित दृष्टि लगा नरमदली नेता बैठे थे लेखक उन्हें धिक्कारता है "गलती हमीं लोगों की है जो निष्प्रयोजन आशा लगाए बैठे थे और अब आशा भङ्ग होने पर बक बक करते हैं।"

मदनमोहन जी इस राष्ट्रीय संग्राम में मुसलमानों को भी अपने साथ आने के लिए कहते हैं। इतिहास की ओर ध्यान आकर्षित हुए वे कहते हैं कि जहाँ आपस में फूट होती है वहाँ दुर्भाग्य स्थायी रूप से जमकर बैठ जाता है। इनका कहना है—"सच्चा देशभक्त अपने पुराने गौरव सभ्यता और पुरुषों की प्रतिष्ठा करने वाला हिन्दू हो व मुसलमान इस रिफार्म को देखकर अपनी आधुनिक अवस्था पर बिना विलाप किए और आँसू बहाए न रहेगा।[2]

लेखक "मोडरेट्स" को राष्ट्रवादी युवकों की उन्नति में बाधक मानता है[3] किन्तु उसे विश्वास है कि अशान्ति बताती है कि क्रांति युग दूर नहीं है और एक दिन हमारी कड़ियाँ अवश्य टूट कर गिर जायेंगीं।

मदनमोहन जी शुक्ल की भाषा का स्तर इस युग को देखते हुए आश्चर्य जनक रूप से उन्नत है। उनके निबंध इतने व्यवस्थित, और श्रृङ्खलापूर्ण हैं कि आज के प्रतीत होते हैं। भाषा में कहीं कहीं "न जानिए" आदि शब्द मिलते हैं नहीं तो वह विचारात्मक निबंधों के सर्वथा योग्य ही है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', कार्तिक १९६६ संवत्, पृ० ५-१०।
२. ,, अगहन १९६६, पृ० १०-१७
३. ,, माघ, १९६६, पृ० १७-१८

युवावस्था में ही अचानक इनका देहांत हो गया इसलिए हिन्दी अपने एक उदीयमान लेखक से शीघ्र ही वंचित हो गई।

परसन :—

परसन कटरा प्रयाग का रहने वाला तथा जाति का कलवार था।[1] कलवार उन दिनों अस्पृश्य माने जाते थे किसी प्रकार परसन पं० बालकृष्ण भट्ट के संपर्क में आया। यह युवक शिक्षित तो अधिक नहीं था पर प्रतिभावान् था। इसने कुछ रचनायें लिखकर भट्ट जी को दिखाई भट्ट जी ने इस युवक की बड़ी प्रशंसा की इसे बड़ा प्रोत्साहन दिया। और उसकी रचनाओं को संशोधित कर 'हिन्दी प्रदीप' में छपने लगे। परसन लेखक बन गया। पं० बालकृष्ण भट्ट 'परसन' को बड़ा प्रेम करते थे, जब वह घर आता था तो बड़े प्यार से उसे अपने पास तख्त पर बैठालना चाहते थे पर बड़ी हठ करने पर भी वह आकर देहरी में बैठ जाता था और तख्त पर आदरवश बैठता नहीं था। 'हिन्दी प्रदीप' के कुछ अंकों में तो 'परसन' ने इतना अधिक लिखा कि 'हिन्दी प्रदीप' का आधा आधा कलेवर कभी कभी उसकी रचनाओं से ही भरा रहता था। किन्तु यह उदीयमान युवक अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा। इसकी रचनायें 'प्रदीप' के जुलाई अगस्त १८९० के अङ्क के पश्चात् एक दम बंद हो गई ऐसा प्रतीत होता है कि अगस्त के बाद ही उसकी मृत्यु होगई भट्ट जी 'परसन' की याद करके दुखी होते थे इसकी चर्चा काशीप्रसाद जायसवाल ने इन शब्दों में की है :—

'परसन' नामक युवक 'हिन्दी प्रदीप' में पहले लिखा करता था। बाद वह न रहा। भट्ट जी उसकी याद कर ऐसे दुःखी होते जैसे उनका ही कोई प्राणी उठ गया हो।"[2] रासबिहारी शुक्ल ने भी इस बात की चर्चा की है कि भट्ट जी परसन के लिए इतने दुःखी होते थे मानों उनका कोई आत्मीय उठ गया हो।[3]

परसन बहुत अच्छा हास्य लेखक था। इसके व्यंग्य बड़े गूढ़ और मार्मिक होते हैं, इसकी निम्नांकित रचनायें 'प्रदीप' की संचिकाओं में उपलब्ध हैं :—

(१) लाग,[4] (२) जानते हैं,[5] (३) प्रेरित (लेख),[6] (४) गवर्नमेंट की गेंहूँ

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर सन १८८८, पृ० ५।
२. 'पाटलिपुत्र', श्रावण शुक्ला १० वि० १९७१।
३. 'सरस्वती' नवम्बर १९१४, पृ० ६३३।
४. 'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर सन् १८८८, पृ० ४-५।
५. ,, ,, पृ० १०-१२।
६. ,, ,, पृ० ८-१२।

पर विकट दृष्टि,[1] (५) बार,[2] (६) परस्पर ठग उपन्यास[3]।

(७) लोकोक्ति और उसके प्रत्युदाहरण।[4]

(८) जानबूझ अजगुत करै तासों कहा बसाय।
जागत ही सोवत रहे तेहि को सकै जगाय।[5]

(९) परम स्वतन्त्र न सिर पै कोई····,[6] (१०) बारहखड़ी,[7] (११) नहीं सूझत[8] (१२) बहुत है,[9] (१३) समस्या पूर्ति के शेष[10] (१४) दूसरी बारहखड़ी,[11] (१५) टेक[12] (१६) भ्रम या भरम,[13] (१७) लाला,[14] (१८) अच्छा है,[15] (१९) पानी पानी पाती,[16] (२०) पल युग क्षण कल्पान्त सम किस किस समय किन किन को,[17] (२१) न्याय संग्रह,[18] (२२) जोड़,[19] (२३) सब कुछ है एक ही नहीं है, कुछ नही है,[20] (२४) व्यर्थ है[21]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८९, पृ० १७-१९।
२. ,, ,, ,, पृ० १९।
३. ,, ,, ,, पृ० २१-२३।
४. ,, मई १८८९, पृ० ५।
५. ,, ,, ,, पृ० ७-८।
६. ,, ,, ,, पृ० १०-१२।
७. ,, ,, ,, पृ० १६-१७।
८. ,, जून १८८९, पृ० ५।
९. ,, ,, ,, पृ० ६।
१०. ,, ,, ,, पृ० ७।
११. ,, ,, ,, पृ० ८-९।
१२. ,, ,, ,, पृ० ९-११।
१३. ,, ,, ,, पृ० ११-१३।
१४. ,, ,, ,, पृ० १३।
१५. ,, ,, ,, पृ० १३-१४।
१६. ,, जुलाई अगस्त, पृ० ३४।
१७. ,, जुलाई अगस्त १८८९, पृ० ४-६।
१८. ,, ,, ,, पृ० ६-८।
१९. ,, ,, ,, पृ० ८-९।
२०. ,, ,, ,, पृ० ९-१०।
२१. ,, ,, ,, पृ० १३।

(२५) बरवा,[१] (२६) गबड्डी,[२] (२७) प्रश्नोत्तर पच्चीसी,[३] (२८) कुछ कुछ नए ढङ्ग की कहानी[४] (२९) पंच महाराज का अगला जाप[५] (३०) पद्यबद्ध सामयिक महाराज की महिमा,[६] (३१) रेल महातम,[७] (३२) दीवाली हो।[८]

परसन ही अकेला ऐसा व्यक्ति है जिसकी रचनायें 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में संख्या में सबसे अधिक हैं। इसमें संदेह नहीं कि परसन की प्रारम्भिक रचनायें विशुद्ध तुकबन्दी मात्र हैं किन्तु धीरे धीरे वह अच्छा लिखने लगा।

परसन ने अत्यंत अगम्भीर और उथली रचनाओं में गंभीर बातें कहीं हैं। परसन ने इसी अगंभीरता के आवरण में देशभक्ति की बातें भी कहीं हैं और पुलिस की आलोचना भी की है।[९] परसन की रचनाओं में पुलिस पर जितने व्यंग्य हैं, उसका जो रूप उसने स्पष्ट किया है उससे इतना स्पष्ट है कि पुलिस ने लेखक को अवश्य परेशान किया है। परसन की ऐसी कोई रचना नहीं मिली जिसमें पुलिस पर व्यंग्य न किए हों।

परसन के विचार लगभग वही थे जो पं० बालकृष्ण भट्ट के थे। परसन को इस बात पर दुख था कि यहां लोगों में एका नहीं है, यहां, विदेशी राज्य है तथा सरकार अन्यायी है।[१०]

'पायोनियर' उस काल में देश विरोधी समाचार पत्र था। परसन ने उस पर व्यंग्य किया है। गोरक्षा के लिए भी उसने आवाज उठाई है। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर उसने जोर दिया है। पैसे वालों पर भी उसने कड़े

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' जुलाई-अगस्त १८८६ पृ० ३० ।
२. ,, अक्टूबर, नवम्बर दिसम्बर १८९०, पृ० ७-१० ।
३. ,, ,, ,, पृ० १४-१५ ।
४. ,, अक्टू०, नव०, दिस०, १८९०, पृ० १८-२२ ।
५. ,, अप्रैल १८९०, पृ० १८-२१ ।
६. ,, मई १८९०, पृ० ७-९ ।
७. ,, मई १८९०, पृ० ९-१० ।
८. ,, जुलाई, अगस्त १८९०, पृ० ७-८ ।
९. पुलिस घात कर बारहिं वार, दीनन का सांसत निस बार ।
देशभक्ति है तीखी धार, तेहि को लेय नोचावे बार ॥
'हिन्दी प्रदीप,' अप्रैल १८८६, पृ० १६ ।
१०. 'हिन्दी प्रदीप,' जुलाई, अगस्त १८८६, पृ० ९-१० ।

व्यंग्य किये हैं और कहा है कि इनकी कोई जाति नहीं होती धन ही इनका सर्वस्व होता है।

हिन्दी का परसन ने सदैव पक्ष लिया है और संस्कृत के अध्ययन का उसने समर्थन किया है। बाल विवाह जो हिन्दू समाज में प्रचलित है परसन ने उसकी बड़ी निंदा की है। तत्कालीन पत्र 'ब्राह्मण' की परसन ने प्रशंसा की है।[1]

परसन का दृष्टिकोण निम्नांकित पंक्तियों से और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

नित २ बढ़त टिकसवा देसवाँ माहि।
परजा चहं यमपुर मा भूखन जाहिं।।
दिन २ बनत कनुनवा फैलत जाल।
बिन ही श्रम के लूटत धन औ माल।।
केवल डाक अफिसवा कछू भल कीन्ह।
नितवा केर संदेसवा नित उठ दीन।।
नित २ नई कुरीतियां बाढ़त जाय।
अस कोइ नहिं दिखाय जो देत मिटाय।।
कसकत बार बहुरिया रंडिया होइ।
हे विधि केहि विधि पार उमरिया होइ।।
मात पिता के मत परै न गाज।
जिन मोर साज्यो बारे व्याह को साज।।
गैयन केर कुगतिया सही न जाय।
सेठ जी ठाड़ निहारे त्रिफला लाय।।
देसवा परल महंगिया चहुँ दिस जाय।
दस सेरवा के आगे नाहिं विकाय।।[2]

'प्रश्नोत्तर पच्चीसी' भी लेखक की बड़ी व्यंग्य गर्भित रचना है। इसमें, समाज गरीबी, बेरोजगारी, सरकार, कचहरी आदि पर तीखे व्यंग्य है।[3]

---

१. हिन्दी प्रदीप, जून १८८६, पृ० १०, ११, १३, १४।
२. ,, जुलाई अगस्त, १८८६, पृ० ३०।
३. कब लग परसन आवत हाँसी। जब लो पेट में रोटी धँसी।
कासे लगत जगत है फिक्का। रोग ग्रसित वा सुत नहिं सिक्का।
\+ \+ \+
देन खेत का कितना लागत। बहुधा खेत में जितना जामत।

'पद्यवध सामयिक राज की महिमा'[1] तथा रेल महातम[2] आल्हाछंद : नामक परसन की दो कवितायें अत्यंत भावपूर्ण एवं व्यंग्यपूर्ण हैं।

लाकोक्तियों एवं मुहाविरों का परसन की भाषा में बहुत प्रयोग मिलता हैं तथा अवधी के ग्रामीण शब्दों का भी उसने प्रचुर प्रयोग किया है।

भाव, विचार और भाषा की दृष्टि से परसन पं० बालकृष्ण भट्ट की छाया मात्र है।

श्रीधर पाठक

हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ लेखक एवं कवि श्रीधर पाठक 'हिन्दी प्रदीप' के सर्वोत्कृष्ट लेखकों में से हैं। पाठक जी पद्मकोट प्रयाग में रहते थे और भट्ट जी के साथ नित्य उठने बैठने वालों में से थे। भट्ट जी उन्हें अत्यधिक प्रेम करते थे और पाठक जी भट्ट जी में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे।

पाठक जी ने अपनी 'गोपिका गीत' नामक पुस्तक पं० बालकृष्ण भट्ट को ही समर्पित की थी उस पुस्तक भूमिका में से कुछ शब्द भट्ट जी तथा पाठक जी की पारस्परिक घनिष्ठता दिखाने के लिए उद्धृत करना असंगत न होगा :—

("गोलोकवासी पं० बालकृष्ण भट्ट की सेवा में")

हम आपके संसर्ग से आपके साथ इतने ढीठ हो गए थे कि जब आपसे मिलते थे—'प्रोनाम भट्टो जी', 'काहो भड़ जी' आदि के अनेक विनोदात्मक सम्बोधनों से आपका अभिवंदन करते थे। और आप आशीर्वाद देते थे—'तुमरे मूड़ै आग लगै', निबहुरियउ, (मेरी समझ में इसका भाव यह है कि जनम मरणादि सब बन्धन से विमुक्त हो श्री० पा०) और यह स्निग्ध संलाप हमें इतना प्रिय था कि हम उसके पुनः पुनरभिनयन निमित्त आपके निकट दौड़ दौड़ के पहुँचते थे। आपके सत्संग प्रसूत इस प्रकार के अगणित वाग्विनोद इन कानों के गहन गह्वरों में पुनः पुनः प्रतिध्वनित होते रहते हैं।

आपका आकृत्रिम स्वभाव सौष्ठव आप में हमारे अमित भक्ति भाव का हेतु था। आपको हममें अकल्पित स्नेह था। एक बार आपने हमको पोस्टकार्ड में लिखा ही जो था "स्नेह मूलहिं बंधनम्'।[3]

बहुत लोग क्यों भिक्षा माँगत ? उद्यम नहीं चाकरी लागत।

'हिन्दी प्रदीप' अक्टू०, नव०, दि० १८८६, पृ० १४-१५।

१. **'हिन्दी प्रदीप मई जून १८६०, पृ० ७, ८, ६, १०।**

२. **'हिन्दी प्रदीप,' मई जून, १८६०, पृ० ६-१०**

३. **श्री गोपिका गीत समुपस्थिति, श्री पद्मकोट प्रयाग सम्वत् १६१३, पृ० ७।**

श्रीधर पाठक की रचनायें 'लक्ष्मी', 'मर्यादा', 'सरस्वती', 'विशाल भारत' आदि की संचिकाओं में भी उपलब्ध हैं । केवल निम्नांकित रचनायें 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में प्राप्त हैं :—

(१) गजल,[1] (२) हिन्दुस्तान की चन्द भाषाओं की समालोचना[2], (३) वार्द्धक्य[3], (४) पश्मिोत्तार महात्म्य[4], (५) मृगांक मौलि कथा[5], (६) पृथ्वी के महाद्वीपों की अपूर्व व्युत्पत्ति[6], (७) बीमार हिन्द के लिए सेहतावर जोशाँदा[7] (८) कवित्त[8], (९) एक अनोखे सैलानी की अनोखी कहानी[9], (१०) कल रात मुझे एक ख्वाब हुआ[10], (११) बसंत कविता[11], (१२) कवित्त[12]; (१३) अजी साहब बड़ी दिल्लगी रही[13], (१४) सीना[14], (१५) आता है[15], (१६) बाल विधवा[16],(१७) हिन्द वन्दना,[17] (१८) हिमालय वर्णन,[18] (१९) हिन्दी की अपूर्णता,[19] (२०) घनाष्टक,[20] (२१) लालच

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० ७-८ ।
२. ,, ,, पृ० २१-२३ ।
३. ,, ,, पृ० ८-१० ।
४. ,, नवम्बर १८८४, पृ० ६-१३ ।
५. ,, ,, पृ० १६-१६ ।
६. ,, दिसम्बर १८८४, पृ० १६, १७, १८,
७. ,, ,, पृ० १७, १८ ।
८. ,, जनवरी १८८५, पृ० ३ ।
९. ,, ,, पृ० ११-१७ ।
१०. ,, ,, पृ० २०-२४ ।
११. ,, फरवरी १८८५, पृ० १३-१४ ।
१२. ,, ,, पृ० २०-२२ ।
१३. ,, मार्च १७८५, पृ० ७-६ ।
१४. ,, अप्रैल १५८५ पृ० १८-२१ ।
१५. ,, जुलाई १७८५, पृ० १४-१७ ।
१६. 'हिन्दी प्रदीप,' जुलाई १८८५, पृ० १६-२० ।
१७. ,, अगस्त १८८५, पृ० ७-८ ।
१८. ,, सितम्बर वही, पृ० १०-११ ।
१९. ,, नवम्बर ,, पृ० १-५ ।
२०. ,, अगस्त १८८६, पृ० १०-११ ।

का घोड़ा,[१] (२२) भारत श्री प्रवासिनी,[२] (२३) कांग्रेस बधाई,[३] (२४) नवीन चाल की कविता,[४] (२५) देश सुधार का विचार ।[५]

पाठक जी उन सिद्ध साहित्यिकों में से हैं जिनका भावों और भाषा पर समान अधिकार होता है । अपने काल को देखते हुए पाठक जी प्रगतिशील विचारों के साहित्यकार थे ।

पाठक जी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत समांन अधिकार के साथ लिखते हैं । उन्होंने कुछ गजल लिखी हैं जिनका ढांचा तो बिलकुल उर्दू का है किन्तु भाव-सामग्री उर्दू भाषा के विरुद्ध एवं हिन्दी के पक्ष में है । उर्दू की बुराई कई स्थानों पर हिन्दी की तुलना करते हुए इन्होंने की है ।[६]

पाठक जी यद्यपि संस्कृत भाषा के प्रेमी और प्रशंसक हैं किन्तु उन संस्कृतज्ञों से वे चिढ़ते हैं जो हिन्दी की उपेक्षा करते हैं ऐसे संस्कृतज्ञों पर पाठक जी ने बड़े करारे व्यंग्य किए ।[७] कायस्थों से तो पाठक जी बहुत ही चिढ़ते हैं कारण यह है कि कायस्थों का उर्दू प्रेम उन्हें नहीं भाता इसलिए कायस्थों पर प्रसंग और अवसर मिलने पर उन्होंने सदैव तीखे व्यंग्य किए ।[८] अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबुओं से भी पाठक जी को इसलिये अरुचि है क्योंकि वे अंग्रेजी भक्त हो जाते हैं और हिन्दी की उपेक्षा करते हैं ।[९]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १८८५, पृ० ६-१२।

२. ,, ,, पृ० १४-१५ ।

३. ,, जनवरी, फरवरी, मार्च १८८८, पृ० १२ ।

४. ,, मई १८८६, पृ० ५-६ ।

५. ,, मई से जुलाई १६०१, पृ० ४६-५४ ।

६. निकालो उर्दू को जल्द यकदम ।
डरो न हिन्दू जरा भी अब तुम
हमेशा चमकेगी ये ही हरदम
जवां पै सबके सवार हिन्दी ॥७॥
'हिन्दी प्रदीप,' अक्टूबर १८८४ पृ० ७ ।

७. 'हिन्दी प्रदीप,' अक्टूबर १८८४, पृ० ७ ।

८. कायथ हैं जिसने मुल्क पढ़ते हैं फारसी,
हिन्दी का नाम लेना भी उनको रवा नहीं ॥२॥
'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० ७ ।

९. अग्रेजी पढ़े बाबू को हिन्दी से क्या गरज,
इंगलिश की बराबर तो किसी में मजा नहीं ॥
'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० ७ ।

भारतीय रजबाड़े भी हिन्दी विरोधी हैं क्योंकि उनके स्वामी अंग्रेज भी हिन्दी विरोधी हैं।[१]

यह वह समय था जबकि प्रगतिशील रचनाऐं लिखने पर लेखकों पर कभी भी संकट आ सकता था इसलिए सभी लेखकों ने बड़ा अद्भुत उपाय निकाला था वे कथा या स्वप्न के बहाने बात कहते थे और उसमें अंग्रेजों की निन्दा, विद्रोह सम्बन्धी बातें, क्रांतिकारी सामाजिक और धार्मिक बातें व्यंग्य रहती थीं। ऐसी बातें अपना उचित काम करती थीं व्यंग्य की नोक के सहारे वे पाठक के हृदय में पैठ जाती थीं और अपना काम मार्मिक ढङ्ग से करती थीं 'पश्मिोत्तर महात्म्य' नामक लेख में पाठक जी ने अर्जुन नारद और विष्णु के सम्वाद के मिस तात्कालिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उसमें बाल विवाह का विरोध किया गया है विधवा विवाह के समर्थन किया गया है तथा समाज सुधार संबंधी अन्य बातें भी कही गई हैं। स्त्री शिक्षा की वर्तमान पद्धति दूषित है इसको बदलने की मांग की गई है।[२]

पाठक जी ने 'मृगांक मौलि' नामक एक नाटक भी लिखा है किन्तु 'प्रदीप' के केवल एक ही अंक में वह प्रकाशित मिलता है, पता नहीं फिर आगे वह छपा क्यों नहीं। इस नाटक में उन्होंने एक राजकुमारी और राजकुमार के प्रेम की गाथा कही है।[3]

पाठक जी की रचनाओं में जिन बातों का अत्यधिक पुनरावृत्ति मिलती है उनमें कायस्थ निन्दा, बाल विवाह का विरोध तथा पुनर्विवाह का समर्थन मुख्य है। वे चाहे किसी विषय पर लेख या कविता लिख रहे हों पर उपरोक्त बातें वे अवश्य किसी न किसी बहाने कह ही देंगे। बसंत जैसी कविता में भी वे विधवा विवाह के समर्थन का प्रसंग निकाल ही लेते हैं।[४]

पाठक जी पुरातन भारतीय संस्कृति के भी बड़े प्रेमी एवं प्रशंसक हैं। हिन्द वंदना नामक कविता से आपके तत्सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।[५]

पाठक जी अपनी बात रूपकों में कहने में बड़े पटु हैं। एक अनोखे सैलानी की अनोखी कहानी[६] लालच का घोड़ा[७] नामक उनकी दो रचनायें इस विषय

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० ८।
२. ,, नवम्बर १८८४, पृ० ६-१३।
३. ,, नवम्बर १८८४, पृ० १७।
४. ,, फरवरी १८८५, पृ० १३-१४।
५. ,, अगस्त १८८५, पृ० ७-८।
६. ,, जनवरी ,, पृ० ११-१७।
७. ,, अक्टूबर ,, पृ० ६-१२।

में द्रष्टव्य हैं। जिसमें एकता को एक सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है जो कालान्तर में यूरोप चली गई। 'लालच उसका पुत्र है, और दूरदर्शिता की दुर्बीन उसे भारत से मिली तथा साइन्स, टेलीफून आदि बच्चे भी उसी के साथ पश्चिम चले गए। और भारत की दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण यही है कि जब एकता नहीं रही तो लक्ष्मी भला यहां कैसे टिकेगी? वह तो अब यूरोप को प्रवास कर गई है और कवि प्रार्थना करता है कि भारत तेरे वियोग में अत्यन्त दुखी है तू शीघ्र आजा।[1]

आप जाति-पाँति के विरोधी थे, देश की उन्नति की आपकी एक मात्र अभिलाषा थी आपका विचार था कि कुरीतियां हमारी उन्नति में बाधक हैं इस इसलिए पहले उनको समाप्त करना चाहिए।[2]

पाठक जी ने 'देश सुधार का विचार' नामक एक लम्बी कविता लिखी है। जिसमें उन्होंने अत्यन्त प्रगतिशील विचार व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि हमें साइंस आदि विद्यायें यूरोप से लेनी चाहिए और पाश्चात्य ग्रन्थों का अनुवाद हमें हिन्दी में करना चाहिए। बाल विवाह का विरोध तथा विधवा विवाह का का समर्थन उन्होंने इसमें किया है। बहुत से उस काल के तथाकथित धर्म प्राण नेता स्त्री शिक्षा का विरोध करते थे परन्तु पाठक जी ने स्त्री शिक्षा का उग्र समर्थन किया है हाँ वह देश-कालानुकूल अवश्य होनी चाहिए। पाठशालायें उस समय बहुत कम थीं। वे पाठशाला अधिक से अधिक खोलने के पक्ष में थे क्योंकि तभी विद्यार्थी पढ़ सकते थे। पाठक जी हिन्दी की बात कभी नहीं भूलते थे। उसकी उन्नति तो उनका एकांत लक्ष्य है।

उस काल की जैसी सामान्य प्रवृत्ति थी लेखक ब्रिटिश राज्य का गुणगान अवश्य करते थे। पाठक जी भी इसके अपवाद नहीं हैं कई स्थानों पर उन्होंने ब्रिटिश राज्य की प्रशंसा की है।[3] पाठक जी की इस राजशक्ति पर भट्ट जी ने एक बार व्यंग्य किया था। एक श्वेत पत्र पर लिखी वे पंक्तियां अभी तक पं० जनार्दन भट्ट के पास सुरक्षित हैं। इस पत्र से प्रतीत होता है कि पाठक जी ने किसी विषय में उनसे कुछ राय माँगी थी :—

१, 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८५, पृ० १३।

२. देश के सुधार के सदा उपाय सोचिए।
देश हानि कारणी कुचाल शीघ्र मोचिए।
'हिन्दी प्रदीप', १८८६, पृ० ६।

३. "बोलौ जय इहि समय सब ब्रिटिश राज्य की टेरि"
'हिन्द प्रदीप', मई जून जुलाई १९०१, पृ० ४९-५४।

"कविवर श्रीधर क्यों न कहाँइ ।
जिनकी रची कितबिया बहुत एक आँय ।
सरस रसीली कविता पाय ।
रूखा को अस जेहि नहिं भाय ।।
भट्ट उजड्ड का दैहैं राय ।
बूढ़ अकिल सब दीन्ह गँवाइ ।
श्री जार्ज भूप की महिमा गान ।
करि हैं अब हमहूँ लै तान ।
धन्यवाद कहि बारंबार ।
पठवहुँ स्वीकृति-पत्र उदार ।।"

बालाबुद्धि बालकृष्ण ३१-१-१२

पाठक जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली में समान अधिकार के साथ लिखते थे । उनमें रीतिकालीन और नवीन युग की प्रवृत्तियों का विचित्र सम्मिश्रण है ।

पाठक जी सानुप्रास भाषा लिखने में गौरव अनुभव करते हैं । रीतिकालीन भाषा चमत्कार की प्रवृत्ति भी इनमें है । रीतिकालीन पद्धति पर विरह आदि पर भी इन्होंने कवितायें लिखी हैं और रीतिकालीन ढंग की ।[1] ईश्वर-भक्ति में भक्तिकालीन कवियों के समान ही इन्होंने काव्य रचना की की है । पाठक जी का भाषा पक्ष वास्तव में उनके विचार पक्ष से अधिक प्रबल है । इनका भाषा पर जो अधिकार था उसका वे निस्संकोच प्रदर्शन करते हैं । फलस्वरूप भाषा कृत्रिम हो जाती है । यद्यपि वे उसके प्रवाह की रक्षा सर्वत्र कर सके हैं । मस्तिष्क को चमत्कृत करने के लिए शब्द-चमत्कार-युक्त रचनायें भी इनकी उपलब्ध हैं । जहाँ इन्होंने 'ए' से 'एन' तक के प्रथमाक्षर लेकर[2] और 'ए' से 'जेड' तक के प्रथमाक्षर लेकर[3] दो कवित्त लिखें हैं ।

---

१. **चूअत वारि की धार घनी अति कारे से पैल कपोल के ठौरी ।**
कोंधत बीज मनो यह बाबरो खोलत मूंदत है दृग त्यौरी ।।
नाद करै गरजै लरजै वग पंगति दन्त दिखावत धौरी ।
मेह किधों मतवारे मनोज को वारन बंधन तोरि भजौरी ।।
'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १८८६, घनाष्टक से उद्धृत, पृ० १० ।

२. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८५, पृ० ३ ।**

३. **,, फरवरी १८८५, पृ० २० ।**

पद्य पर तो पाठक जी इतना अधिकार है कि वे शुष्क से शुष्क विषय को सानुप्रास भाषा में बाँध सकते हैं। कहीं कहीं उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों को काव्यबद्ध किया है वहाँ भाषा बड़ी ही सानुप्रास हो गई है। 'हिमालय वर्णन' नामक इनकी कविता ऐसी ही है।[1] पाठक जी का सूक्ष्म निरीक्षण भी प्रशंसनीय है। जंगल में लंगूर और बन्दरों की चंचलता का उन्होंने सुन्दर चित्रण किया है।[2]

पद्य में सिद्धहस्त होने पर भी पाठक जी उसे युगानुकूल नहीं मानते थे। गद्य युग की आवश्यकता है उनकी ऐसी मान्यता थी। 'हिन्दी प्रदीप' में उनका एक ही गद्य लेख 'हिन्दी की अपूर्णता' शीर्षक से मिलता है। जिसमें उन्होंने निम्नांकित तथ्यों का प्रतिपादन किया है :—

"श्रृंगार रस प्रधान काव्य किस्से .कहानियाँ चुटकुले इत्यादि से तो हिन्दी सदा से पूर्ण रही चली आई, फिर श्रृङ्गार रस से तो यह इतनी लदी हुई है कि अब ऐसे कविता और लेख से घिन उपजती है। पर फिर भी जो कोई अपनी योग्यता प्रकट किया चाहते हैं तो उसी वंशीवाले और बरसाने वाली का आश्रय ढूँढ़ते हैं।—"हमारी हिन्दी प्राचीन रीति के श्रृंगार की कविता का भूखी नहीं है। वरन् इस नवीन काल में नवीन रीति के विविध गद्य रूपी अमृत की प्यासी है। "याद रहे किसी भाषा की पुष्टता जिसपर देश का सच्चा अभ्युत्थान निर्भर है अधिकतर गद्य ही के द्वारा संभव है। क्योंकि जितनी स्वतन्त्रता के साथ गद्य में किसी विषय का विशेष व्युत्पादन हो सकता है गद्य में किसी तरह पर नहीं। जिस सरलता के साथ गद्य सर्व साधारण की समझ में आ सकता है उतना पद्य नहीं इसलिए पद्य की अपेक्षा गद्य से कार्य साधन की आशा कहीं अधिक है।"[3]

पाठक जी में जो एक बहुत बड़ा गुण है वह हास्य व्यंग्य का हैं। इनका हास्य बड़ा गम्भीर और व्यंग्य बड़ा गूढ़ होता हैं। 'भारत की सभी बोलियों का परिचय' इस प्रकार का ही रचना है। कुछ भाषाओं का परिचय लीजिये :—

---

१. बादर दरसत परसत बरसत आपहि आपा ॥
रूपवती पर्वती सती युवती मन मोहत ॥
'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८८५ पृ० १३।

२. 'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८८५, पृ० १०-११।

३. ,, नवम्बर १८८५, पृ० १-५।

हिन्दी—हिन्दुओं की जबान, बेजान । उर्दू से कटाए कान । कमर टूटी हुई लाठी पुरानी, हाथ में, बे मदद, बे आक़ा, मुसीबत जदा, जगह २ मारी फिरती है ।

उर्दू—शुतर वे मुहाल । गर्दन पर लम्बे अयाल । नीम हिन्दू नीम मुसलमान जरा जरा क्रस्तान, कायथों की प्यारी, रैयत की जान की हत्यारी, बड़ा रुतवा बड़ा जोर सारे जहान में पड़ा शोर, शाइस्तगी की नाक, दूमदड़ाक उड़ावै, हिन्दुस्तान की खाक ।

अरबी—बदन में भारी बहुत चरबी दाँत तोड़ने गला फोड़ने का नुस्खा । बलबलाने में ऊंट को हरा देती है ।[१]

इसी प्रकार 'बीमार हिंद' के लिए सेहतावा जुशाँदा बड़ा व्यंग्य पूर्ण है ।[२] अब जरा पृथ्वी के महाद्वीपों की अपूर्व व्युत्पत्ति भी देखिए :—

ऐशिया—असल में ऐशिया अर्थात् ऐश की जगह ।

योरूप—योरूपों विद्यते अन्यत्र सबको ले जायेंगे हमीं । रुपया या रूपा चांदी को कहते हैं बस सारी दुनियाँ की चाँदी लूटने वालों की वास भूमि ।[३] पाठक जी अपनी विभिन्न शैलियों के लिए प्रसिद्ध हैं । कभी अत्यन्त संस्कृत[४] गर्भित लिखें तो कभी अरबी फारसी[५] शब्द बहुला । कभी अंग्रेजी के शब्द और उद्धरण देते हुए लिखेंगे ।[६]

इसके अतिरिक्त एक शब्द को लेकर उड़ाना या बात का बतंगड़ बनाने का भी इन्हें शौक है । 'आता है' शब्द को लेकर की हुई इनकी क्रीड़ा देखिए :—

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० २१–२२ ।

२. फूट के कडुए दाने ६ माशे, तुखम कुढंग १ तोला, जिद्द और काहिली की सूखी फली २ तोला, रोगन फसाद ९ माशा, गुलगुलामी ३ माशे ।

'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८४, पृ० १७–१८ ।

३. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८४, पृ० १६ ।

४. 'बंगाली—बंगाल कुलभूषण विमल कान्तिनिदूंषण । माधुर्य मृदुमल्लिका लालित्य नव वल्लिका । यौवनमदगर्विता महिमाप्रबल अखर्विता ।'

'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १८८४, पृ० २२ ।

५. हालाँकि अब हो रहा था जलवा क्या था इंदर सभा थी कैफियत बयान करना ताकत से वईद है । बड़ी बड़ी पीरजाद नाजनीन और बड़े बड़े माहरू गुलवदन रौनक अफरोज थे ।'

'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८५, पृ० ७ ।

६. 'हिन्दी' प्रदीप', मार्च १८८५, पृ० २१ ।

भाँग खाने से सरूर आता है।
दौलत पाने से गरूर आता है।
उर्दू पढ़ने से शऊर आता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य पद्य, हिन्दी उर्दू-संस्कृत पर समान अधिकार रखने वाले पाठक जी का स्थान हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी के लेखकों में है।

राधाचरण गोस्वामी

गोस्वामी जी अपने समय के सर्वोत्कृष्ट लेखकों में से थे। आयु में ये भट्ट जी से लगभग १५ वर्ष छोटे थे। भट्ट जी में बड़ी श्रद्धा रखते थे। भट्ट जी भी इन्हें अत्यधिक स्नेह करते थे। एक बार 'बंगवासी' ने भट्ट जी के विरुद्ध कुछ लिख दिया फिर क्या था गोस्वामी जी ने उसे बड़ी खरी खरी सुनाईं।[2] गोस्वामी जी भट्ट जी के बड़े प्रशंसक थे, उनके त्याग से बड़े प्रभावित थे और उनकी विद्वता के बड़े कायल थे।[3]

भट्ट जी अपने समय को देखते हुए प्रगतिशील विचारों के आदमी थे।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८५, पृ० १६।

२. ,, **बंगाली मच्छी का झाल, राधाचरण गोस्वामी अप्रैल से जून १८९७, पृ० ३३-२४।**

३. भट्ट जी एक निस्वार्थ देश हितैषी आडम्बरशून्य विद्वान और स्थिरचित सम्पादक हैं। इन्होंने धन सम्बंधी शारीरिक और मानसिक परिश्रम करके जिस प्रयत्न और कष्ट से प्रदीप लिखकर दे ा की सेवा की है किसी हिन्दी सम्पादक ने नहीं की। इनके लेखों में जो चमत्कार और भाव तथा गवेषणा है वह 'हिंदी प्रदीप' के पुराने और नए फाइलों को लौटते जाइये देखिए कि इनकी मस्तिष्क शक्ति संस्कृत और अंग्रेजी विद्या में कहाँ तक पारंगत है ? मैं समझता हूँ कि भट्ट जी के दिमाग में कालिदास भवभूति जगदीश आदि संस्कृत के कवि तथा शेक्सपीयर मिल्टन न्यूटन कोमट आदि अंग्रेजी के आथर, फिलासफर कूट-कूट के भरे हैं। इस पर भी लेख की स्वतंत्रता इनकी सबसे स्वतंत्र है। जिनके समझने योग्य भी जिसके बुद्धि नहीं वह बंगवासी ऐसे विद्वान को अंधा कहै, 'किमाश्चर्य मतः परम'। बंगवासी के इस व्यक्तिगत आक्रमण को सब लोगों ने बुरी दृष्टि से देखा है।

'हिन्दी प्रदीप' बंगाली मच्छी का झाल, राधाचरण गोस्वामी, अप्रैल से जून १८९७, पृ० ३३-३४।

गोस्वामी जी ने इस बात का समर्थन किया है और भट्ट जी का ही पक्ष ग्रहण किया है।[१]

गोस्वामी जी स्वयं भी बड़े ही क्रांतिकारी एवं उग्र विचारों के व्यक्ति थे। अहिंसा आदि में उन्हें बिलकुल विश्वास नहीं था उसे वे कायरता का ही चिह्न समझते थे। उनका कहना था कि कायरता का हिन्दू धर्म या सनातन धर्म से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा इसलिए जो लोग सनातन धर्म के नाम पर अहिंसा या कायरता का प्रचार करते हैं वे धर्म द्रोही एवं देशद्रोही हैं।[२]

श्री राधाचरण गोस्वामी जी चाहते थे कि भट्ट जी की मृत्यु के बाद उनकी एक जीवनी प्रकाशित की जाय। और वे अकेले १०० प्रतियाँ खरीदने को तैयार थे। इस बात की चर्चा उन्होंने अपने एक पत्र में की है जो उन्होंने भट्ट जी के सुपुत्र को उनके पिता की मृत्यु के संवेदना में लिखा था। पत्र बड़ा ही भावावेश पूर्ण है।[३]

---

१. "भट्ट जी कहते हैं बाल विवाह मत करो, आठ कनोजिया नी चूल्हे मत बनो। अनावश्यक छूआछात के झंझट में मत पड़ो, बंगवासी तो वर्तमान समय के धर्मावतार बनते हैं भला हमें किसी धर्म ग्रंथ में बाल विवाह का प्रतिपादन दिखला दें।

'हिंदी प्रदीप', बंगाली मच्छी का झाल, राधाचरण गोस्वामी, अप्रैल जून १८९७, पृ० ३५-३६।

२. हमारा सनातन धर्म वह है जिसमें भीष्म पितामह आदि वीरवर दश-दश सहस्र योद्धाओं को नाश करके जलपान करते थे। हमारा सनातन धर्म वह है जिसमें सहोदर भ्राता कर्ण को अर्जुन ने बाणों से टुकड़े टुकड़े किया था। हमारा सनातन धर्म वह नहीं है जिसमें चिउंटी मारने का प्रायश्चित दो मास करना पड़े — वह नहीं है जिसकी व्यवस्था पण्डितगण पहले दक्षिणा लेकर करते हैं,—वह नहीं है जिसे तीन वर्ण मात्र भारतवर्ष भर में ही कूप-मंडूप बनकर गंदला करें।

हिन्दी प्रदीप, बंगाली मच्छी का झाल, राधाचरण गोस्वामी, अप्रैल से जून १८९७, पृ० ३५-३६।

१. महामहिम् !

अपने परममित्र श्रद्धास्पद श्री पण्डित भट्ट जी के स्वेष्ट प्राप्ति का सम्वाद सुनकर बहुत ही कष्ट हुआ। मैं समझता हूँ कि हिन्दी 'विधवा' हो गई। भट्ट जी के गुणों की छटा मेरे हृदय में अंकित है। मैं उसको इस छोटे से पत्र में कहां तक लिखूँ। जो उद्वेग इस समय मेरे हृदय में है। वह उस समय तक दूर न होगा जब तक भट्ट जी की सचित्र जीवनी न प्रकाशित हो यदि जीवनी छपै तो मैं उसकी १०० कोपी का ग्राहक हूँ।

आपका

२४—७—१४ राधाचरण गोस्वामी

भट्ट जी के आग्रह पर गोस्वामी जी प्रायः 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा करते हैं। 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में इनकी केवल ७ निमांकित रचनायें उपलब्ध हैं।

१. ....(शीर्षक फट गया)[१] (२) भारतवर्ष में यवन लोग,[२] (३) स्त्री सेवा पद्धति,[३] (४) अमेरिका वालों में सम्मिलन,[४] (५) एक नए कोष की नकल,[५] (६) बङ्गवासी को उत्तर,[६] (७) एक पत्र।[७]

गोस्वामी बड़े प्रगतिशील विचारों के लेखक हैं उन्हें अतीत के प्रति ममता है। देशभक्ति की उग्र भावना है तथा भाषा पर असाधारण अधिकार है। वे देशवासियों को चेताते हुए कहते हैं :—भाइयो ! उठो उठो बद्ध परिकार हो अपने देश को अधोमुख न होने दो अब समय शेष नहीं रहा है। कब तक मोह निन्दा के अधीन रहे आओगे ? तुम्हारा सव तो सर्वनाश हो चुका है तब भी व्याकुल नहीं होते ?

गोस्वामी जी का बड़ा ही मनोहरी और उच्च कोटि का होता है। "स्त्री सेवा पद्धति' की एक बानगी देखिए :—

इस पूजा में अश्रु जल ही पाद्य है, दीर्घश्वास ही अर्घ्य है। आश्वासन ही आचमन है, मधुर भाषण ही मधुपर्क है, सुवर्णालंकार ही पुष्प हैं, धैर्य ही धूप है। दीनता ही दीपक है, चुप रहना ही चंदन है और बनारसी साड़ी ही विल्व पत्र है।

स्त्री की स्तुति कैसी हो ? :—"स्त्री देवि। संसार रूपी आकाश में तुम बैलून हो क्योंकि बात बात में आकाश में चढ़ा देती हो, जब धक्का दे देती हो तो समुद्र में डूबना पड़ता है अथवा पर्वत के शिखरों पर हाड़ चूर्ण हो जाते हैं। यौवन के मार्ग में तुम रेल गाड़ी हो जिस समय रसना रूपी ऐन्जिन को तेज करती हो एक घड़ी भर में चौदहो भुवन दिखला देती हो।

तुम इन्द्र हो श्वसुर कुल के दोष देखने के लिए तुम्हारे सहस्र नेत्र हैं। स्वामी के शासन करने में तुम वज्रपाणि हो, रहने का स्थान अमरावती है क्योंकि जहाँ तुम हो वहीं स्वर्ग है।

---

२. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८७८, पृ० १३।
३. ,, फरवरी १८७९, पृ० २-११
४. ,, जून १८७९, पृ० ३-७।
५. ,, सितम्बर १८७९, पृ० ११-१२।
६. ,, जुलाई १८८२, पृ० ८ १०।
७. ,, अप्रैल, मई, जून, पृ० ३३-३६।
८. ,, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० ४६-४७।

तुम यम हो यदि रात्रि को बाहर से आने में विलम्ब हो। तुम्हारी वक्तृता नरक है, वह यातना जिसे न सहनी पड़े वही पुण्यवान है। उसी की अनन्त तपस्या है।[1]

इसी प्रकार 'एक नए कोष की नकल' गोस्वामी जी की बड़ी व्यंग्यपूर्ण रचना है।[2]

भाषा विषयक नीति गोस्वामी जी की भी भट्ट जी जैसी ही है। अंग्रेजी उर्दू आदि सभी प्रकार के शब्दों का इन्होंने प्रयोग किया है। यों भाषा पर इनका असाधारण अधिकार है जो कि उपर्युक्त उदाहरणों से बिलकुल स्पष्ट है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जून १८७९ पृ० ३–७।

२. विदित हो कि हमारे परममित्र परमपण्डित सकलगुणमण्डित श्री श्री घटाटोप टंकार, उत्कटाटोप प्रचण्ड, प्रचण्ड विद्यावारान्निधि बड़वानल महामान्य भण्डाचार्य ने एक नवीन कोष रचा है।

ब्रह्मा—स्टेट सेक्रेटरी, यमराज—जज, स्वर्ग—विलायत, नंदनवन—लंदन, वेदज्ञ—वकील।

'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८२, पृ० ८-१०

चतुर्थ अध्याय

भट्ट जी निबन्धकार के रूप में

भारन्तेदु युग में निबन्ध साहित्य का विकास :—

साहित्य की जिस विद्या को हम आज निबन्ध कहते हैं भारतेन्दु युग से पूर्व वह अपने आज के रूप में प्रायः नहीं मिलती । 'रानी केतकी की कहानी' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'कहानी' है । परन्तु वास्तव में वह कहानी भी नहीं है निबंध की तो बात ही क्या । इसी प्रकार 'राजा भोज का सपना' भी अपने गठन वैशिष्ट्य तथा प्रवाह-भिन्नता के कारण निबन्ध से दूर है । यह दूसरी बात है कि उपर्युक्त रचनाओं में निबन्ध के तत्व प्रकट होने लगे थे । वास्तव में निबन्ध किसी भी भाषा की गद्य-विकास की सीमाओं के सूचक हैं । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन है :—

गद्य-इतिहास के प्रारम्भिक काल में प्रायः निबन्ध-रचना नहीं हुआ करती । जब गद्य की शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है तभी निबन्धों की रचना भी सम्भव होती है । निबन्ध गद्य की प्रौढ़ता का प्रतीक है ।[1]

हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इस पक्ष में हैं कि पं० बालकृष्ण भट्ट ही हिन्दी के सर्व प्रथम निबन्धकार हैं । इस निष्कर्ष तक पहुँचने में उक्त विद्वानों को लेख और निबन्ध में अन्तर करना पड़ा है । वास्तव में लिखना तो पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही आरम्भ किया था । उनके मंडल के शेष सदस्यों ने तो उन का अनुगमन ही किया है फिर भी भारतेन्दु द्वारा प्रारम्भ में लिखे गए लेखों को विद्वान् निबन्ध की संज्ञा देने में संकोच करते हैं । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है :—

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण पृ० १४८ ।

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, उपाध्याय, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगमोहन-सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, गोविंदनारायण मिश्र, आदि अनेक लेखकों की ऐसी रचनायें मिलती हैं जिनमें निबन्ध के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु उन्हें निबन्ध न कहकर 'लेख' कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। निबन्ध रचना के कुछ लक्षण होने पर भी निबन्ध जैसे होने चाहिए वे वैसे नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में निबन्ध रचना का यदि वास्तविक रूप कहीं मिलता है तो बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में मिलता है।[1]

डा० वार्ष्णेय ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' के निबन्ध अध्याय में 'लेख' और 'निबन्ध' में अन्तर करने का प्रयास किया है, किन्तु इससे अधिक कि वे 'लेख' और निबन्ध' को दो भिन्न वस्तुयें मानते हैं किसी वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर वे उन्हें पृथक साहित्यिक विधाओं के रूप में प्रतिष्ठित करने में समर्थ नहीं हो सके हैं। उदाहरण के लिये उनकी निबन्ध की यह परिभाषा कुछ विचित्र है—'निबन्ध की सरल और सूक्ष्म परिभाषा तो यह है कि निबन्ध लेखक की रचना का नाम निबन्ध है।[2]

आज हम 'लेख' या 'निबन्ध' में जो भी अन्तर करें किन्तु अपने जन्म के समय उनका अन्तर विशेष नहीं था। 'निबन्ध' का अर्थ 'बंधा हुआ' भी किया जाता है। अर्थात् वह साहित्यिक रचना जो बंधी हुई हो। बंधी हुई से क्या अर्थ लिया जाता है यह स्पष्ट नहीं। वास्तव में 'बँधे होने' के गुण के आधार पर उसकी साहित्यिक विशिष्टता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साहित्य की वह विधा जो कलापूर्ण गद्य में रची गई हो निबन्ध का कुछ आभास देती है। निबन्ध में विषय से अधिक महत्वपूर्ण उसकी अभिव्यक्ति है। इसीलिये उसके बँधे होने पर जोर दिया जाता है। 'लेख' किसी भी विषय को लेकर लिखा जाता है फिर चाहे वह विज्ञान कृषि या व्यापार कुछ भी क्यों न हो। ऐसे लेखों में तथ्य अधिक महत्वपूर्ण होते हैं उनका 'बँधाव' या अभिव्यक्ति पक्ष नहीं। 'निबन्ध' साहित्यिक लेखों के लिये रूढ़ है जिसमें 'बात' से 'बात कहने का' अधिक महत्व है। इस दृष्टि से भारतेन्दु, तथा 'प्रेमघन' को भी 'निबन्धकार' की संज्ञा दी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि उनके निबन्ध

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० १५२।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्करण, पृ० १५१।

इतने 'बँधे सुव्यवस्थित और सुसंगठित नहीं हैं जितने भट्ट जी तथा मिश्र जी के।

भारतेन्दु युग के निबन्ध अँग्रेजी 'ऐसे' से प्रभावित हैं, विषय वस्तु की दृष्टि से ही नहीं अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी। इस काल के सभी प्रसिद्ध साहित्यिक अँग्रेजी 'ऐसे' से परिचित थे अतः उनसे उनका प्रभावित होना भी स्वाभाविक है। डा० वार्ष्णेय मानते हैं कि 'जिन भारतेन्दु कालीन साहित्यिकों ने नवीन साहित्य के निर्माण में योग दिया उनमें से लगभग सभी ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और वे पाश्चात्य निबन्ध-लेखकों की रचनाओं से परिचित थे।"[1]

डा० केसरी नारायण शुक्ल ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के निबन्धों का संकलन 'भारतेन्दु के निबन्ध' नाम से किया है जिसमें भारतेन्दु बाबू के, पुरातत्व सम्बन्धी, सांस्कृतिक, साहित्यिक, हास्य व्यंग्य युक्त, जीवन चरित सम्बन्धी, ऐतिहासिक, आदि विविध प्रकार के निबन्ध हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि डा० शुक्ल ने भारतेन्दु के साहित्यिक निबन्धों में केवल निम्नांकित निबन्धों को ही स्थान दिया है, 'सरयू पार की यात्रा', 'मेंहदावल', 'लखनऊ', 'हिन्दी भाषा', 'हरिद्वार', 'वैद्यनाथ की यात्रा', 'ग्रीष्म ऋतु', 'दिल्ली-दरबार दर्पण'[2] यदि हम उनके 'हास्य और व्यंग्य' लेखों को भी साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत मान लें तो इतने निबन्ध और बढ़ जायेंगे—

'कंकड़ स्तोत्र', 'अंगरेज स्तोत्र', 'मदिरा स्तव राज', 'स्त्री सेवा पद्धति', 'पाँचवे पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'लेवी प्राण लेवी', 'जाति विवेकिनी सभा', 'सबै जाति गोपाल की'।[3] इनमें से भी 'स्त्री सेवा पद्धति' निबन्ध वास्तव में भारतेन्दु बाबू का नहीं है, यह राधाचरण गोस्वामी का है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि श्री ब्रजरत्नदास जी ने भी इसे भारतेंदु बाबू का निबन्ध मान कर भारतेन्दु ग्रन्थावली[4] में संकलित कर दिया है। उक्त निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप' में जून १८७९ में श्री राधाचरण गोस्वामी के नाम से

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशो० संस्करण, पृ० १४८।

२. भारतेन्दु के निबन्ध, सम्पा० डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ५।

३. भारतेन्दु के निबन्ध, सम्पा० डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ५, ६।

४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, सम्पा० ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० ८४५--४७।

प्रकाशित हो चुका है।[1] इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्यिक निबन्धों की संख्या लगभग १६ ठहरती है जो भट्ट जी के साहित्यिक निबन्धों की संख्या का पचासवाँ भाग भी नहीं है। भट्टजी की लेखनी लगभग ३३ वर्ष तक निरंतर चलती रही, जबकि भारतेन्दु केवल ३५ वर्ष ही जीवित रहे। भट्ट जी के यदि सभी विषयों के निबन्धों की संख्या का योग किया जाय तो वह सरलता से एक सहस्र की संख्या लाँघ जायगा। आज भी संख्या की दृष्टि से कोई भी लेखक भट्ट जी की निबन्ध संख्या को नहीं पा सकता।

भट्ट जी के निबन्ध आकार प्रकार में भारतेन्दु बाबू के निबन्धों से भिन्न हैं। उनमें 'भट्टपन' पाया जाता है, जो निबन्ध लेखकों में उन्हें एक पृथक कोटि में रख देता है। यह तो ठीक है कि भारतेन्दु ने अपने निबन्धों में कहावतों तथा मुहावरों का खूब प्रयोग किया है किन्तु भट्ट जी इस विषय में अद्वितीय हैं। भट्ट जी की यह विशेषता ही उन्हें अन्य निबन्धकारों से पृथक कर देती है। भट्ट जी के 'बात' निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए :—

"बात क्या है ? बात किसे कहते हैं ? यह तो सब कोई जानते हैं कि यह शब्द पुराना हमारे ही देश का है। हमने इसे किसी विदेशी से मँगनी नहीं माँगा किन्तु शुद्ध हिन्दी और वार्ता का अपभ्रंश है। बात हमारी बात है, हमारे देश की बात है। बात संसार में बड़ी बात है। जिस्की बात है उस्की क्या बात है। जिस्की बात नहीं उस्की क्या बात। ईश्वर करै बात सबकी बनी रहे। बात गए बात नहीं मिलती।—बात हार गए बात खा गए। बात दे दी। बात देनी पड़ी, बात बिगड़ गई।"[2]

भारतेन्दु युग में निबन्धकार के रूप में यदि भट्ट जी की टक्कर का कोई दूसरा व्यक्तित्व है तो वह है पं० प्रतापनारायण मिश्र का। 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में हिन्दी के अद्भुत निबन्ध भरे पड़े हैं। शैलियों की विविधता की दृष्टि से तो आज भी अच्छे से अच्छा पत्र उनकी तुलना में कुछ नहीं। भट्ट जी मिश्र जी से और मिश्र जी भट्ट जी से प्रेरणा लेते थे। भारतेन्दु मण्डल के ये सदस्य कितने उदार हृदय, श्रद्धालु और परगुण प्रशंसक थे यह इसी से स्पष्ट है कि भट्ट जी अपना लेख लिखने से पूर्व प्रेरणा के लिये अपने दूसरे साथी का ऋण स्वीकार करते हैं—"हमारे कानपुर के सहयोगी सम्पादक शिरोमणि 'ब्राह्मण' 'भौं' पर अपने कलम की कारीगरी का उम्दा नमूना दिखला चुके हैं उन्हीं को अपना शिक्षा गुरु मान हम भी आज लिलार पर

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' जून** १८७९, पृ० ३--७।

२. **'हिन्दी प्रदीप' जून** १८८३, पृ० १६।

अपनी लेखनी की सुघराहट की बानगी का दो एक नमूना अपने पाठकों को दिया चाहते हैं।"[१]

केवल शैली में ही नहीं विषयों में भी भट्ट जी और मिश्र जी में बड़ी समानता है। उदाहरण के लिये 'बातें' शीर्षक निबन्ध भट्ट जी ने भी लिखा है और मिश्र जी ने भी। 'भट्ट जी' के 'बात' शीर्षक निबंध से ऊपर कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा चुकी हैं अब मिश्र जी की 'बात' की कुछ पंक्तियाँ भी देखिए। भट्ट जी से समानता होने पर भी उसमें 'मिश्रपन' है :—

'डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आपड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है।'[२]

यों तो मिश्र जी भी मुहावरों के पण्डित थे और भट्ट जी कहावतों के किन्तु समग्रता की दृष्टि से मिश्र जी को कहावतें अधिक प्रिय हैं और भट्ट जी को मुहावरे। मिश्र जी के अनेक निबंधों के शीर्षक ही कहावतों में मिलेंगे जैसे 'घूरे के लत्ता बीनें कनातन को डौल बांधें', 'मरे को मारे शाह मदार', 'हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और', 'गुरू गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया', उसी की जूती उसी का सिर आदि। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भट्ट जी और मिश्र जी को 'हिन्दी का ऐडीसन और स्टील मानते हैं।'[३] प्रो० 'नलिन' तो भट्ट जी को भारतेन्दु युग का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार घोषित करते हैं और हिन्दी का मौनतैङ् होने का गौरव देते हैं।[४]

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी भारतेंदुयुगीन निबंधकारों में माने जाते हैं किन्तु अपनी क्लिष्ट, श्रमसाध्य तथा असामान्य शैली के कारण वे सफल निबन्धकार नहीं हो सके। निबन्धकार के लिए जिन गुणों की अपेक्षा है संभवतः वे 'प्रेमघन' जी में नहीं थे वे गद्यकार से अधिक कवि थे। वर्षों तक यह स्वसम्पादित 'आनन्द कादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' में सुन्दर निबन्ध लिखते रहे। 'फाल्गुन', 'मित्र', 'ऋतु वर्णन', 'हमारी मसहरी', 'हमारी दिनचर्या' आदि निबन्ध ऐसे हैं जिनमें 'प्रेमघन' का निबन्धकार निखर उठा है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ० १५।

२. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन', पृ० ६०।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ४६७।

४. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन', ७६।

राधाचरण गोस्वामी भारतेंदु युग में अपने तीव्र व्यंग्य के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भारतेंदु के अत्यन्त घनिष्ठ मित्र होने के नाते गोस्वामी जी भारतेंदु को ही अपना साहित्यिक आदर्श मानते थे। 'स्तोत्र' गोस्वामी जी ने बहुत लिखे हैं जो हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। गोस्वामी जी उग्र विचारों के व्यक्ति थे। उनका 'सुधारक' रूप उनके पूरे साहित्य में अत्यन्त मुखर है। 'तुम्हें क्या', 'होती', 'यमपुर की यात्रा' आदि गोस्वामी जी के प्रतिनिधि निबन्ध हैं। राधाचरण जी गोस्वामी क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल हिन्दी लिखने में सक्षम हैं। वे भाषा और विचारों के धनी हैं।

यह सुखद संयोग है कि भारतेंदु युग को, पं० बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तथा 'प्रेमघन' के रूप में ऐसे असाधारण विद्या-बुद्धि सम्पन्न निबन्धकार मिले। वे आज के निबन्धकारों के लिए भी अनेक बातों में आदर्श हैं और आज भी हम यह नहीं कह सकते कि हम निबन्धों में भारतेंदु युग से बहुत आगे निकल गए हैं। प्रो० 'नलिन' ने ठीक ही लिखा है।

"भारतेंदु युग में नवीन चेतना जाग रही। नवीन और पुरातन के संघर्ष का काल, नए विचार तेजी से अपने लिए रास्ता बना रहे थे। हिन्दी साहित्य जागरण की अंगड़ाई ले रहा था। जीवन नई दिशा की ओर अग्रसर था। अनेक पत्र पत्रिकायें जन्म ले रही थीं। जीवन में फक्कड़पन और अक्खड़पन—ऐसा युग निबन्ध के लिये बहुत ही उपजाऊ है। मस्त और फक्कड़ लेखक ही पाठक से सीधी बातें कर सकते हैं। अपने विचार पाठकों तक पहुंचाने के लिये निबन्ध ही सबसे अधिक सफल, सरल, श्रेष्ठ और सबल साधन है—न कोई बन्धन न बाधा। इसलिये भारतेन्दु युग में बहुत अच्छे निबन्ध लिखे गए। विविधता को कसौटी मानें तो यह युग द्विवेदी युग से कहीं अधिक सम्पन्न अधिक प्राणवान अधिक स्वाधीन और उदार सिद्ध होगा।[१]

राजनैतिक निबन्ध :—

सरकारी आलोचना :—भट्ट जी साहित्यिक अवश्य थे पर ऐसे नहीं जो राजनीति को साहित्य से अलग करके देखें। धर्म और साहित्य को राजनीति से अभिन्न करके देखने का स्वर पिछली दो दशाब्दियों में अधिक मुखर हुआ है और बहुत से विद्वान् उसे विजातीय या विदेशी प्रभाव कहते हैं किन्तु भट्ट जी के साहित्य को पढ़कर यह धारणा भ्रमपूर्ण ही ठहरती है। सच बात तो यह

१. **हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन' पृ० ६३।**

है कि भारतेन्दु युगीन साहित्य और आज के साहित्य के बीच की कड़ी ही लुप्त हो गई है। इसलिये हमारी अपनी परम्परायें ही हमें विदेशी प्रतीत होती हैं।

भट्ट जी ने विदेशियों द्वारा अपने देश का अबाध शोषण देखा था। राजनैतिक पराधीनता में धर्म साहित्य और समाज की जो उन्नति हो रही थी भट्ट जी उसका वास्तविक धर्म समझते थे। वे इस बात को जानते और मानते थे कि पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी जाति की धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक प्रगति हो ही नहीं सकती कम से कम स्वस्थ और वांछनीय प्रगति तो असम्भव है। इसलिए अपने साहित्य में सर्वत्र उन्होंने देश की स्वतन्त्रता का ही नारा ऊँचा किया है और सभी चीजों को उन्होंने राजनीति के माध्यम से देखा है। भट्ट जी साहित्य के भी युगांतरकारी लेखक हैं। यह वास्तव में उनके भाव और कलापक्ष के उचित समन्वय के कारण ही है। भट्ट जी की उग्र क्रांतकारी विचारधारा को संयोग से अभिव्यक्ति के उदार और विशाल कूल मिल गये जिनमें होकर वह अवाध रूप से लगभग ३३ वर्ष तक बहती रही।

इस क्रांतिदर्शी मनीषी की लेखनी से तत्कालीन शासक भयाक्रान्त रहते थे और भट्ट जी पर उनकी निरन्तर वक्रदृष्टि रहती थी। ३३ वर्ष तक देशवासियों को अपने प्रकाश में अविश्रान्त मार्गदर्शन करने के पश्चात् 'प्रदीप' अन्त में तत्कालीन शासकों के दमन का ग्रास बन गया।

यों तो भारतेंदु युग साहिंत्य में नवीन चेतना का युग था उसे साहित्य में 'देशभक्ति का युग' संज्ञा भी दी जा सकती तथा तत्कालीन देशभक्त लेखकों में भी पं० बालकृष्ण भट्ट का स्थान सबसे ऊँचा है। इस महान् पुरुष ने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसीलिये उस युग में भी भट्ट जी के राजनैतिक निबन्धों में अपेक्षाकृत जो सजीवता, यथार्थता, उग्रता, और स्पष्टता है वह बहुत कम लेखकों में मिलेगी।

भट्ट जी भूखे रह कर भी ३३ वर्ष तक 'प्रदीप' का स्नेह सिंचन करते रहे इसलिए प्रदीप' की संचिकाओं में इस महात्मा का देश प्रेम और तत्कालीन शासकों के प्रति जो अग्निगर्भ आक्रोश है वह सचमुच रोमांचकारी है। एक साधनहीन या स्वाभिमानी और संसार की अर्थतुला की दृष्टि से एक अकिंचन व्यक्ति शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों पर भयंकर और सफल प्रहार करता रहा यह आज एक सुखद आश्चर्य ही है। भट्ट जी ने अपने निबन्धों द्वारा अंग्रेजी शासन पर जो अग्नि वर्षा की वह निष्फल नहीं गई। देश की स्वतन्त्रता के इतिहास में उनका अपना महत्व है और रहेगा। यह विश्वास पूर्वक कहा जा

सकता है कि भट्ट जी अपने युग के अंग्रेज विरोधी आन्दोलन के नेता थे और जितनी दूरदर्शिता और उग्रता के साथ उन्होंने अपने संचित असंतोष, आक्रोश और क्षोभ को वाणी दी वह सचमुच स्तुत्य है। निर्भयता की नाव में बैठकर तो भट्ट जी ने अपनी जीवन यात्रा ही पूरी की इसमें संदेह नहीं है कि उन्हें बहुत थपेड़े खाने पड़े और उनका जीवन सदैव संकटापन्न तथा अर्थाभावग्रस्त रहा। किन्तु यह तो स्वाभाविक ही है। कष्टों के असीम समुद्र में यावज्जीवन थपेड़े खाने पर भी भट्ट जी ने विरोधी विचारधारा से समझौता नहीं किया। और प्रयत्न करने पर भी तत्कालीन शासन उन्हें खरीद नहीं सका। भट्ट जी ने अपना घर जलाकर तमाशा देखा किन्तु उस लौ में देश भक्ति के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने वाले अनेक देशभक्त उठ खड़े हुए जिन्होंने अपनी अगली पीढ़ियों में अंग्रेजी शासन को निर्मूल ही कर दिया। भट्ट जी के काल तक राष्ट्रीयता शब्द अपरिचित था। भट्ट जी तो सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता के जनक हैं।[1]

संख्या में भट्ट जी के राजनैतिक निबन्ध साहित्यिक निबन्धों से भी अधिक ही निकलेंगे। और यदि विदेशी सत्ता के मूलोच्छेन के प्रयत्न को राजनीति की संज्ञा दी जाय तो फिर भट्ट जी के अस्सी प्रतिशत साहित्यिक निबन्ध राजनीति के शीर्षक के अन्तर्गत चले जाँयगे। किन्तु सच बात तो यह है कि यह विभाजन आज का है तब तो साहित्य, धर्म और राजनीति अलग अलग चीजें नहीं थी। जिस धर्म का राजनैतिक आधार नहीं भट्ट जी उसे धर्म ही नहीं मानते थे।[2] साहित्य साहित्य (कला कला) के लिए है यह बात भी उनकी समझ में नहीं आती थी। उस युग की सबसे बड़ी समस्या थी देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त करना। इसलिये साहित्यिक निबन्धों की विषय वस्तु भी अस्सी प्रतिशित राजनैतिक होती थी। साहित्यिकता तो केवल उनकी 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' में ही रहती थी।

मोटे रूप से भट्ट जी के राजनैतिक निबन्धों को ४ शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं :—

(१) सरकारी आलोचना सम्बन्धी निबंध।
(२) देशभक्ति पूर्ण निबंध।
(३) विश्वराजनीति सम्बन्धी निबंध।
(४) शास्त्रीय निबन्ध।

---

१. असहयोग आश्रम से पं० जनार्दन भट्ट जी को लिखा पत्र, पण्डित सुन्दरलाल १८ जून १९२५, पृ० २।

२. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ६।

संख्या में सरकारी आलोचना सम्बन्धी निबंध ही सबसे अधिक हैं। भट्ट जी की आँखें अपने देश के हितों की ओर हमेशा ही सजग और निरालस रहती थीं छोटी से छोटी देश विरोधी बात को वे सहन नहीं कर सकते थे। 'प्रदीप' में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जितनी कड़ी और खरी आलोचना मिलेगी अन्यत्र दुर्लभ है। असल में भट्ट जी की राजनैतिक आलोचना की कसौटी देशभक्ति ही थी। अंग्रेज़ों की चालाकियाँ भट्ट जी जानते थे। इसलिए सदैव और सबसे पहले 'प्रदीप' ही उनका भंडाफोड़ करता था और भारतीय जनता को भावी संकटों से सावधान करता था।

अब हम यहां क्रमशः भट्ट जी के उपर्युक्त प्रकार के निबन्धों पर विचार करेंगे :—

सरकारी आलोचना सम्बन्धी निबन्ध :—

भट्ट जी के राजनैतिक निबन्धों में भी सरकारी आलोचना सम्बन्धी उनके निबन्ध संख्या में सबसे अधिक मिलते हैं। भारतीय हितों के लिये भट्ट जी एक सजग प्रहरी थे। उनकी दृष्टि मर्मभेदी और पैनी थी इसीलिए अंग्रेजी शासकों की जहाँ भी वे कोई ज्यादती (अन्याय अथवा अत्याचार) देखते थे अपने पत्र में तुरन्त उसकी निर्भय एवं निर्मम आलोचना करते थे। मोटे रूप से निम्नांकित विषयों की सरकारी आलोचना 'हिन्दी प्रदीप' में मिलती है—

अंग्रेजों की शोषक प्रवृत्ति की आलोचना :—भट्ट जी साहित्यिक के साथ साथ सम्पादक भी थे, इसलिए उनका राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण बड़ा ही यथार्थ और निर्मम था यद्यपि उनका युग ऐसा था जिसमें पत्रकार और साहित्यिक के बीच में कोई विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं था। उस काल के प्रायः सभी बड़े बड़े साहित्यिक, उदाहरणार्थ, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पं० प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रमघन' आदि पत्रकार भी थे। इसलिए साहित्य को राजनीति से बिलकुल पृथक करके देखने का प्रश्न ही उनके समक्ष नहीं था। वे तो जनता में राजनैतिक चेतना जाग्रत करना चाहते थे और साहित्य उसका माध्यम था।

भट्ट जी यह स्पष्ट रूप से समझ सके कि अंग्रेज साम्राज्यवादी एवं शोषक हैं। वे भारत को लूट कर अपना घर भरना चाहते हैं, और इसे निर्जीव एवं निष्प्राण कर डालना चाहते हैं। भट्ट जी का देशभक्त हृदय इसे क्षण भर के लिये भी सहन नहीं कर सकता था। सैकड़ों खतरे उठाकर भी भट्ट जी हमेशा ही अंग्रेजों की साम्राज्यवादी एवं शोषक नीति का भंडाफोड़ करते रहे। उन्होंने यह कहने में कभी संकोच न किया कि भारतवर्ष जो कभी सोने की

चिड़िया समझा जाता था, धन धान्य से जो पूर्ण था आज अत्यन्त दरिद्र और भूखा है और अंग्रेज इसके लिए उत्तरदायी हैं। भट्ट जी अपनी खरी भाषा में खरी बात कहते हैं :—

"हम क्यों न कहें हमारे बाप दादा भली भाँति रँजेपुँजे थे और हम इस अंग्रेजी राज्य में पेट भर अन्न भी नहीं पाते। यह बात हमारे शासन कर्त्ताओं के कान को प्यारी न लगती हो तो क्या किया जाय। जो बात सच है वह कही जायेगी कि अवश्य यह सब इनके राज प्रबन्ध का दोष है।"[१]

भट्ट जी तो अंग्रेजों को सलाह देते हैं कि हमारा देश छोड़ कर चले जाइये और शासन सूत्र हमारे हाथ में सौंप जाइये। इस प्रकार का परामर्श उस काल में कितना खतरनाक था इसकी ठीक ठीक कल्पना भी आज नहीं की जा सकती। भट्ट जी से ही ऐसी निडरता और स्पष्टवादिता की आशा की जा सकती है :—

"जिस देश की गवर्नमेंट हो वहाँ उसी देश के लोगों से उसका इन्तजाम होने से उस गवर्नमेंट का चिर स्थायित्व बना रहता है। विदेशियों से इन्तजाम कराने से वह गवर्नमेंट बहुत दिनों तक नहीं चलती। विदेशी लोग जब तक इसमें कुछ फायदा देखते हैं तब तक अपनी थैलियाँ भरने पर मुस्तैद रहते हैं जब उन्हें मुल्क की भलाई करनी पड़ती है तब दिल नहीं चुभाते।"[२]

अंग्रेजों की कूटनीति और चरित्रहीनता भट्ट जी ठीक तरह समझते थे इसीलिए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :—

"साँप बन के काटना, और ओझा बन झारना यह हिकमत यार लोगों को ही मालूम है। अंग्रेज बाहर से भले भले लगें, हैं कुटिलता की खान।"[३]

भट्ट जी जानते थे कि अंग्रेजी शोषण से देश का पीछा तब तक नहीं छूटेगा जब तक हम पराधीन हैं, और स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जनता में राजनैतिक चेतना जाग्रत करना परमावश्यक है। सभी पत्रकारों का इस दिशा में उचित मार्ग दर्शन करते हुए उनका आह्वान करते हैं :—

"जिस ढर्रे पर गवर्नमेंट का राज्य चल रहा है उसमें बड़े बड़े हाकिमों और बड़े बड़े औहदेदारों को अपनी मनमानी कर गुजरने में यदि कोई बात रोक सकती है तो पब्लिक ओपीनियन सर्वसाधारण का एकमत्य है। अतएव अखबार के एडीटरों का यह एक मुख्य काम या फर्ज़ है कि जब किसी हाकिम

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८७८, पृ० ३।
२. ,, जून १८८०, पृ० ४।
३. ,, जुलाई १८८०, पृ० ३।

या राजकर्मचारी को किसी बात में बेजा भूल करते देखें, सर्व साधारण पब्लिक की ओर से उनको चैतन्य करदें।"[१]

भट्ट जी यह स्पष्ट देखते थे कि अंग्रेज हमारे देश का शोषण दो प्रकार से कर रहे हैं, (१) व्यापार द्वारा (२) नौकरशाही द्वारा। देश में जितने ऊंचे पद हैं सब अंग्रेजों को दिये जाते हैं उनको अधिक वेतन और अन्य जीवनोपयोगी वस्तुयें भी भारतीयों की तुलना में कहीं अधिक सुलभ हैं। देखिये निम्नांकित शब्दों में भट्ट जी के हृदय की व्यथा, आक्रोश, विक्षोभ, तथा असंतोष का कैसा अद्भुत सम्मिश्रण हैं :—

"कैसी उम्दा बराँडेदार बारिकों में एक अदना सा गोरा रहता है और कितना बहुमूल्य खाना खाता है। कितने गाय बैल बकरे साल भर में उसके पोषण के लिए चाहिए कैसी कैसी बड़े दाम की औषधियाँ उन्हें निरोग रखने को दी जाती हैं।—इसी के मुकाबले हिन्दुस्तानी सिपाहियों की पल्टनों को देखिये फी सिपाही पीछे १२ रुपया या १५ रुपये से अधिक खर्च सरकार का न पड़ता होगा।...बीस करोड़ रुपया गाँठ से निकल गया तब इस देश के मनुष्यों को शांति मिली भी तो कौन सी बहबूदी की बात हुई।.. खैर कदाचित इतना ही होता तो सहन के योग्य भी था। हम देखते हैं गवर्नर जनरल से लेकर जिले के कलक्टर और जंट तक सब अंग्रेज ही अंग्रेज भर रहे हैं देशी लोगों को कहीं एक ओहदा भी ऐसा नहीं मिलता।[२]

भट्ट जी को यह देखकर आश्चर्य और दुख है कि भारतवासी इतने अयोग्य मान लिये गये हैं कि 'इतनी पल्टनों में एक भी देशी मनुष्य कप्तान या मेजर आदि के पद पर न नियत किया जाय'।[३] अन्त में भट्ट जी की जनता को खुली उत्तेजना देते हैं और शान्ति के प्रति विरक्ति प्रकट करते हुए शस्त्रों की मांग करते हैं। भारतेन्दु युग में अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र घृणा व्यक्त करने एवं देशी लोगों में सशस्त्र होने की उत्तेजना पैदा करने में भट्ट जी अद्वितीय हैं। कोई दूसरा लेखक उनकी प्रतिद्वंद्विता में नहीं ठहरता। वे लिखते हैं :—

क्या यही देशी लोग मरहठों के दिनों तक और इसी अँग्रेजी राज्य में गदर के पहले न थे कि कैसी-कैसी लड़ाइयाँ लड़े और कितनी बार दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिए। वही अब हैं कि पास लाठी तक न रही। जरा किसी ने दरवाजा खटखटाया कि छक्के छूट गए हाथ पाँव ढीले हो गए अंग्रेज और किरानी तो

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई १८८३, पृ० १८।
२. ,, मार्च १८८५, पृ० १३।
३. ,, ,, ,, पृ० १४।

ब्रालंटियर भी होते हैं पर देशी जन लाठी भी बिना सरकार की आज्ञा के नहीं बाँध सकते। इस कड़े प्रबन्ध ने देश को शिथिल कर डाला। शान्ति तो है पर बल पुरुषार्थ वीर्य और उद्यम सब को इस शान्ति दुष्टा ने चूस कर हमें निःसत्व कर दिया।[१]

भट्ट जी के अपने काल में शायद ही कोई और व्यक्ति यह बात उनसे अधिक स्पष्ट रूप से जानता हो कि इंगलैंड का घमण्ड तिजारत से है और उस तिजारत की जान केवल हिन्दुस्तान है।[२]"

नौकरशाही और व्यापारिक प्रणालियों द्वारा देश के भयंकर शोषण का षड़यंत्र भट्ट जी की पैनी दृष्टि से कब छुप सकता था। भट्ट जी की आर्थिक राजनैतिक व्यापरिक समझ कितनी ठीक और गहरी थी यह उनकी निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगी :—

"सच पूछिए तो इस चिउँटा ढोवन पर न जानिए कितना रुपया भिन्न-भिन्न द्वार से प्रतिवर्ष विलायत ढोआ चला जाता है। फिर भी हमारे यहाँ की धरती की उपजाऊ शक्ति के आगे वह नुकसान मालूम नहीं पड़ता। सच तो यों है कि इंगलैण्ड आदि बहुतेरे देश ऐसे हैं जो केवल अपरिमित वाणिज्य ही के कारण रँजे-पुजे हैं और वहाँ के रहने वाले लाल गुलाल बन रहे हैं यदि उनकी जहाजें समुद्र में चलना बन्द कर दी जाँय अथवा हिन्दुस्तान के साथ उनका लेन देन किसी कारणवश रुक रहे तो निश्चय जानिए लोग भूखों मरने लगें।[३]

२—**अंग्रेजों के साथ पक्षपात की आलोचना :**—भट्ट जी का युग वह युग था जब अँग्रेज जाति के प्रताप का सूर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। अँग्रेजों के राज्य का विस्तार भूमण्डल पर इतना था कि जिसमें कभी सूर्यास्त ही नहीं होता था। अधिकार और मद चिर सहचर हैं अधिकार-प्रमत्त अंग्रेज जाति मदांध हो रही थी। ऐसे-ऐसे विचित्र कानून बनाए गए थे कि न्याय लज्जा से सिर झुका दे। अंग्रेज कैसा ही अपराध करें भारतीय न्यायाधीश उनके मुकद्दमे नहीं सुन सकते थे। सुन सकते थे केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही जिनसे न्याय की कभी कोई आशा नहीं थी। भट्ट जी ने अपने ३४ वर्ष के दीर्घ पत्रकार जीवन में सदैव इस कुत्सित प्रवृत्ति का उग्र विरोध किया। भट्ट जी ने कहा कि जब भारतीय न्यायाधीश अपनी न्यायप्रियता एवं सच्चाई की धाक जमा चुके

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८५, पृ० १५।**

२. ,, **अप्रैल १८८५, पृ० ११।**

३. ,, **नवम्बर १८८५, पृ० २०।**

हैं तो क्या कारण है कि वे अंग्रेजों के मुकद्दमे नहीं सुन सकते। भट्ट जी इस बात को अच्छी तरह समझ गए थे कि यह प्रवृत्ति भारतीयों के स्वाभिमान को चुनौती देने वाली है। इस लिये इस प्रवृत्ति के विरुद्ध 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से उन्होंने एक सुसंगठित आन्दोलन खड़ा करने का सफल प्रयत्न किया।[1] उनके देखा-देखी और पत्र भी इस विषय में अंग्रेजों की आलोचना करने लगे।

३. **अंग्रेजों द्वारा लगाए गए टैक्सों (करों) की आलोचना :**—व्यापार के द्वारा तो अंग्रेज भारत का अबाध शोषण कर ही रहे थे उन्होंने शोषण का एक और उपाय निकाल लिया। भारत की गरीब जनता पर अधिक से अधिक 'कर' लगाना। वास्तव में बात यह थी कि यहाँ की नौकरशाही पर अंग्रेजों का बहुत धन व्यय होता था। व्यापार के लाभ में से वे एक पाई देना भी उचित नहीं समझते थे इसलिए उन्होंने यह कमी करों द्वारा ही पूरी की। उस काल में कितने टैक्स (कर) लगाए गए यह उस काल के साहित्य को पढ़ने से ही विदित होता है। भट्टजी भारतीयों की भावनाओं—उनके आन्तरिक असन्तोष के सच्चे प्रतिनिधि थे। इसलिए सबसे पहले 'प्रदीप' ही जनता के असन्तोष और विक्षोभ को प्रकाशित करता था। भट्ट जी भला यह कब सह सकते थे कि ऐड़ी चोटी का पसीना एक करके कमाये हुये भारतीयों के धन को सरकार टैक्सों के रूप में छीन कर उसकी होली जलाए, उसे विलासिता पर खर्च करे। शायद ही अंग्रेजों को इतनी कड़ी फटकार भट्ट जी के अतिरिक्त और किसी ने दी हो :—

"हिन्दुस्तान के लोग इंगलैंड की अपेक्षा पचासों गुना अधिक गरीब हैं यह बात चिरस्मरणीय फासेट ऐसे भारत हितैषियों ने सिद्ध कर दिया है। और इस गरीबी पर ध्यान दीजिए तो जो कर अब गवर्नमेंट लेती है वही इनके लिए अति से अति है। अधिक लज्जा की और क्या दूसरी बात होगी कि प्रजा का प्राण और नस नस के लोहू के समान धन इस समय अनेक टिकसों के द्वारा सरकार उगाहती है और घोर से घोर फिजूल खर्ची की रीति पर फूँकती है। जितना अंधाधुन्ध खर्च इस देश के राज प्रबन्ध में होता है उतना पृथ्वीमंडल के किसी देश के राजप्रबन्ध में नहीं होता। जितनी भारी तलब देश में आकर सिविलियन लोग पाते हैं अन्यत्र कहीं नहीं और यह सब तब जबकि विचारवान जन इस बात को बार-बार देखते आए हैं कि यह देश महानिर्धन है। शरीर और

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', १८८३, पृ० १-२।**

प्राण का रुधिर चूस चूस तो हमसे कर उगाहा जाता है और बरसात के पानी की भाँति बहाया जाता है।"[१]

इसी प्रकार एक और स्थान पर भट्ट जी करों का विरोध करते हुए कहते हैं :—

"नोन पर कर लगे, दाल पर कर लगे, चावल पर कर लगे, गेंहूँ पर कर लगे, पहनने के कपड़े पर कर लगे, खाने के अन्न पर कर लगे, खेत पर कर लगे, खलिहान पर कर लगे, जहाँ तक चाहें कर बढ़ाते जाँय कोई हाथ पकड़ने वाला ही नहीं है। देश का देश रो रो कर प्राण दे डाले तो भी उनका कर लगाना का निष्फल कौतुक और तमाशों की बातों में प्रजा का धन फूँकना कभी कम न होगा।"[२]

आखिर इस संकट से मुक्ति कैसे मिले भट्ट जी इसका एक ही उपाय जानते थे। सब भारतवासी संगठित हो जायें और अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करदें। भारतेंदु युग में उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध यह विद्रोह की आग उगलना कितना खतरनाक था। भट्ट जी के इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर तो भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने कहा था कि 'हमारे बाद हिन्दी में भट्टजी की लेखनी ही चमकेगी।'[3] वे भट्ट जी की निर्भयता और खरे पन से परिचित थे।

देखिए भट्ट जी देशवासियों को विद्रोह की खुली उत्तेजना देते हैं :—

"यदि हमारे देश बाँधव चाहते हैं कि इस अन्याय प्रथा से अपना प्राण छुटावें तो अब उनको अपने बहुत दिनों के पालेपोसे बैरी, फूट आलस्य और वेपरवाही को छोड़ एक मत हो आंदोलन करना चाहिए।"[४]

पुलिस की ज्यादतियों की आलोचना:—अंग्रेज राज्य बहुत कुछ पुलिस राज्य था। पुलिस विभाग के सभी बड़े अफसर अंग्रेज रहते थे या बहुत कृपा की तो मुसलमानों को कुछ पद दे दिए। हिन्दू जो कि भारत में एक बहुत बड़े बहुमत में थे सदैव उच्च पदों से वंचित रखे गए। कुछ सरकारी पिट्ठुओं की बात अलग है वैसे सरकारी नीति उच्च पदों पर हिन्दुस्तानी लोगों को रखने की नहीं थी। जहाँ कहीं सरकार विरोधी चर्चा सुनाई दी पुलिस उसे कुचलने तुरन्त पहुँच गई। भारत के बड़े बड़े देशभक्त पुलिस के हाथों ही मौत के घाट उतारे गए। पुलिस भारत में प्रारम्भ से ही दमन अन्याय और अत्याचार का प्रतीक रही है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८६, पृ० ६।
२. ,, जून १८८६, पृ० ७।
३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२।
४. 'हिन्दी प्रदीप', जून १८८६, पृ० ७।

भट्ट जी ने पुलिस की ज्यादतियों और उसके दमन का सदैव उग्र विरोध किया। भट्ट जी ने अपने 'पुलिस' शीर्षक निबन्ध में तत्कालीन पुलिस के संगठन व्यवहार और अयोग्यता की कड़ी निन्दा की है।[1]

मुसलमानों के साथ अनुचित पक्षपात पर सरकार (अंग्रेज) की आलोचना :—अँग्रेज अपने शासन की जड़ों को पुष्ट बनाने का उपाय जानते थे। वे जानते थे कि इस देश के हिन्दू और मुसलमान कहीं एक हो गए तो भारत में दो दिन भी उनके पैर नहीं टिकेंगे। 'फूट डालो और राज्य करो' की प्रसिद्ध नीति के अंग्रेज ही जनक हैं। उन्होंने अपने इस मंत्र का सबसे पहला प्रयोग भारत पर ही किया। उन्होंने मुसलमानों के साथ खुला पक्षपात किया मुसलमानों को सरकारी नौकरी में ऊँचे ऊँचे पदों पर आसीन कराया और हिन्दुओं की घोर उपेक्षा की। भट्ट जी इस भेदभाव की नीति को भला कब सहन कर सकते थे उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में 'भेदभाव नीति' शीर्षक से एक तथ्यपूर्ण निबन्ध लिखा और आंकड़े देकर उन्होंने सरकारी दुर्नीति का भंडाफोड़ कर दिया। भट्ट जी ने अपने उक्त निबन्ध में तीन मुख्य बातें कहीं :—

(१) हिन्दू आबादी में मुसलमानों से छः गुने अधिक हैं अतः सरकारी नौकरी भी उन्हें इसी अनुपात से मिलनी चाहिए।

(२) योग्यता की हिन्दुओं में कमी नहीं है।

(३) ईमानदारी में भी मुसलमान उनसे बढ़कर नहीं है।

सरकारी नौकर के आँकड़े उस समय हर तीन महीने बाद छपते थे। भट्ट जी ने अपने उक्त निबन्ध में जो तत्सम्बन्धी आँकड़े दिए हैं उससे सरकार की भेदभाव की नीति स्पष्ट हो जाती है :—

नाम ओहदा	हिन्दू	**मुसलमान**
डिप्टी कलक्टर और एक्स्ट्रा—		
असिस्टेंट कमिश्नर	३५	३०
तहसीलदार	८८	९१
सदरआला	७	१२
मुंसिफ	३३	३८
	पुलिस	
सुपरिटेंडेंट	०	१
असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट	०	२
इंसपैक्टर	५५	५९
....	....	............[2]
कुल	२१८	२३३

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८७८, पृ० ४–५।**

२. ,, **दिसम्बर १८७७, पृ० १–५।**

उर्दू पक्षपात की आलोचना :— मुसलमानों के पक्षपात के साथ साथ सरकार उनकी भाषा के साथ भी पक्षपात करती थी जो उन्हें उर्दू बताई गई थी। हिन्दी उन्हें हिन्दुओं की भाषा बताई गई थी। अतः सरकार उसकी घोर उपेक्षा करती थी। इसके विरुद्ध उस काल में हिन्दी पत्रों की ओर से एक अत्यन्त संगठित आंदोलन चला और पत्रकारों की उस पंक्ति में भट्ट जी सबसे आगे थे।

भट्ट जी ने 'पश्चिमोत्तर के विद्या विभाग में अन्धाधुन्ध'[१] शीर्षक से एक निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा जिसमें सच्चे आँकड़े देकर उन्होंने सरकार के उर्दू पक्षपात का भंडा फोड़ किया। उन्होंने साफ साफ लिखा :—

"उर्दू, फारसी की इतनी कदर है कि जनाब मौलाना साहब की संख्या भी शिक्षा विभाग में अधिक रहे और तनुख्वाहें भी बड़ी-बड़ी फटकारें। संस्कृत हिंदी अध्यापक दो की जगह एक ही रहे उसमें भी मासिक मौलवियों की अपेक्षा आधा। 'काकमासं शुनोच्छिष्टंस्वल्पतदपि दुर्लभं'।[२]

भट्ट जी द्वारा दिए गये तद्विषक आँकड़े भी दे देना अनावश्यक न होगा—

कालेज		**रु० मासिक**
आगरा कालेज	मौलवी	८०-०-०
	पंडित	५०-०-०
बनारस	मौलवी	८०-०-०
	पंडित	६०-०-०
म्योर्स कालेज	मौलवी	३००-०-०
	पंडित	२००-०-०
जिला हाई स्कूल		
इलाहाबाद	मौलवी	५०-०-०
मुरादाबाद	पण्डित	३०-०-०
बनारस	मौलवी	४०-०-०
बरेली	पण्डित	३०-०-०
कानपुर	मौलवी	५०-०-०
शाहजहांपुर	पण्डित	२०-०-०[३]
मिर्जापुर		

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७८, पृ० ५–६।
२. ,, सितम्बर १८७८, पृ० ५।
३. ,, ,, ,, पृ० ६।

अंग्रेजों की हिन्दी-उपेक्षा नीति की आलोचना :—अंग्रेज यह जानते थे कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो भारतवर्ष में सबसे अधिक जनसंख्या द्वारा बोली और समझी जाती है। वे हिंदी भाषा की लोकप्रियता और उसकी अदम्य विकासोन्मुख शक्ति से भी परिचित थे इसलिए भाषा-सम्बन्धी मामले में तटस्थता की नीति हिन्दी के पक्ष में ही जाएगी इसे अंग्रेज जानते थे। अंग्रेजों ने इस लिए भाषा विषयक नीति सक्रिय रूप से हिन्दी के विरोध की रखी जिससे अंग्रेजी का भविष्य आशाप्रद हो सके। वे जानते थे कि उर्दू, हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता में टिकेगी नहीं। इसलिए उसको सक्रिय सहायता देना और हिन्दी के विकास-मार्ग में रोड़े अटकाना अंग्रेजों ने अपनी भाषा विषयक नीति का मुख्य अङ्ग बनाया। भट्ट जी इस दुरभिसन्धि को समझते थे इस लिए उन्होंने हिन्दी भाषा भाषी जनता का आन्दोलन इसके विरुद्ध संगठित करने का प्रयत्न किया और साथ ही साथ हिन्दी पत्रकारों में भी एकमत्य स्थापित करने का प्रयत्न उन्होंने किया। 'हिन्दी प्रदीप' के सहस्रों पृष्ठ अंग्रेजों की उपयुक्त अन्याय-पूर्ण भाषा नीति के विरोध में भरे पड़े हैं। भट्ट जी ने अंग्रेजों की उस चाल का भी उग्र विरोध किया जिसके अनुसार सरकारी नौकरी के लिए उर्दू फारसी जानने वाले लोगों को प्राथमिकता दी जाती थी। यह हिन्दी का गला घोंटने का ही एक प्रयत्न था।[१]

भट्ट जी ने इस बात का भी उग्र विरोध किया कि कानून सम्बन्धी साहित्य केवल उर्दू और अंग्रेजी में छपे हिन्दी में नहीं। उनकी मांग थी कि यदि कानून की वास्तविकता से जनता को वास्तव में परिचित कराना है तो वह हिन्दी में छपना चाहिए क्योंकि उत्तर भारत के बहुभाग की वास्तविक लोक भाषा हिन्दी ही है।[२]

हिन्दी-उपेक्षा की अंग्रेजों की कुत्सित भावना पर कठोर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी 'अखण्ड कीर्ति और अचल यश बड़े भाग से मिलता है' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं :—

"हम पश्चिमोत्तर देशवासियों का यह विलाप ३ लेफ्टीनेंटों से चला आता है कि गरीब परवर राजकाज में हिन्दी जारी कर दीजिए कि हम सब प्रजा को सब बातों में सुविधा हो पर आज तक किसी ने बात न पूछा कि यह अनाथ प्रजा क्यों रोती है। इस अरण्य रोदन का आजतक अन्त नहीं हुआ। चिल्लाते चिल्लाते गला फट गया आवाज धीमी पड़ती जाती है चित्त का उद्वेग घटता

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० १-३।**

२. ,, **दिसम्बर १८७७, पृ० ५-६।**

ही नहीं हम समझते हैं यह कदाचित देशी भाषा में मुख्य कर हिन्दी में होता है जिसके सुनने समझने वाले वे ही हैं जो उस रोने में शरीक हैं इसी से कुछ असर नहीं होता। कदाचित् यह रुदन फिरंगी भाषा में होता तो कोई देव का लाल फिरंगी बच्चा सुन लेता तो कुछ अचरज न था कि न्याय के रूमाल से आँसू तो पोंछता। पर उन्हें क्या पड़ी है कि अपना अपना धन्धा छोड़ झूठी सत्कीर्ति बटोरें। सत्कीर्ति की सौदागरी और रुपया पैदा करने वाली सौदागरी कभी एक नहीं हो सकती।"[१]

अंग्रेजी शासन में कृषि की दुर्गति की आलोचना :—अंग्रेजों का उद्देश्य तो भारत का आर्थिक शोषण था। करों के द्वारा, व्यापार के द्वारा, भारतीयों पर जुर्मानों के द्वारा, उन्हें यहां का धन खींचकर इंगलैण्ड ले जाना था। वे न भारत को अपना देश समझते थे न इस देश से उन्हें कोई सहानुभूति थी। इसलिए भारत और भारतवासियों के सुख दुःख की चिन्ता उन्हें होती भी तो क्यों ? भारत एक कृषि प्रधान देश है भारत की आबादी का अस्सी प्रतिशत से अधिक भाग अपने भोजन और जीवनयापन के लिए कृषि पर निर्भर करता है। अतः भारत की वास्तविक उन्नति और खुशहाली का अर्थ था कृषि की, उन्नति परन्तु सरकार ने कभी इधर ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप अकाल तो यहाँ की जनता के लिए एक साधारण बात हो गए। एक अकाल में लाखों आदमियों का अकाल ही काल कवलित हो जाना अंग्रेजों के लिए कोई गंभीर घटना ही नहीं थी। हिन्दुस्तानियों को वे आदमी समझते ही नहीं थे इसलिए उनका जीवन-मरण उनके लिए सुख दुःख का विषय भी नहीं था। भट्ट जी शासकों की इस उपेक्षावृत्ति को खुले नेत्रों से देख रहे थे। उन्होंने 'प्रदीप' के लेखों में उनके बहरे कानों पर बराबर शंखनाद किया किन्तु 'लोकवाणी' तब महत्व ही कितना रखती थी। हम यह भी नहीं कह सकते कि हमारी आज की स्वतन्त्रता में इन सतत शुभ प्रयासों का कोई महत्व ही नहीं है। अंग्रेजों को देश से निकालने की प्रयत्न परम्परा में वे प्रयत्न अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं।

भट्ट जी तो कृषि की अवनति की सारी जिम्मेदारी अंग्रेजों के कुप्रबन्ध पर ही डालते थे वे साफ लिखते हैं :—

"अंग्रेजों के समय में कृषि की दुर्गति हो गई है, लाभकारी वृत्ति नहीं रही, कड़ा बन्दोबस्त, टैक्स, पुलिस आदि से अलग परेशानी।"[२]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मार्च** १८८३, पृ० ५।

२. **'हिन्दी प्रदीप', मई** १८७६, पृ० ५।

यों भट्ट जी स्वयं धनी परिवार के व्यक्ति थे पर चूँकि उन्होंने उस धन में से एक पाई भी नहीं ली और सर्वहारा का जीवन बिताया इसलिए उनकी सहानुभूति निम्न वर्ग के लोगों के प्रति ही थी। भट्ट जी यह जानते थे कि अंग्रेजों ने, जमीदारी वर्ग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये ही खड़ा किया है शोषण अंग्रेज करें और जनता का असंतोष और विक्षोभ जमीदारों से टकराए। अंग्रेजों ने मन माना शोषण करने और उसके उत्तरदायित्व से बचने के लिए ही यह कृत्रिम पर्दा तैयार किया था। भट्ट जी शोषकों के हाथ की कठपुतली इस जमीदार वर्ग की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"जैसे वेदान्तियों के मत में जीव को माया का मध्यस्थ होने के कारण आत्मा को चैतन्यानन्द नहीं प्राप्त होता और न वह जीव परमात्मा की महिमा और स्वरूप ज्ञान के सुख को समझ सकता है इसी तरह सरकार और प्रजा के बीच जमीदारों का एक पर्दा छोड़ दिया गया है।"[1]

भट्ट जी अपने इसी लेख में आगे जमींदारों पर निर्मम प्रहार करते हुए उनके पापों और दुष्चरित्र का भंडा फोड़ करते हैं :—

"ये जमीदार लोग जितने दुष्कर्म और अत्याचार के द्वारा प्रजा को पीड़ा देते हैं उन सब दुखदायी कामों का लक्ष्य सरकार पर आरोपित कर खुल्लम खुल्ला यह कहते हैं कि हम क्या करें सरकार की ऐसी मर्जी है।....जो बड़े-बड़े ताल्लुकेदार हैं उनके कुचरित्रों का तो कुछ कहना ही नहीं। उनके सब कुचरित्र लिखे जायेंगे तो एक बड़ा सा ग्रंथ बन सकता है।"[2]

यद्यपि इन जमीदारों में से बहुत से 'हिन्दी प्रदीप' के ग्राहक थे और इस प्रकार की आलोचनाओं के कारण वे तुरन्त 'हिन्दी प्रदीप' को सहायता देना बन्द कर देते थे, पर भट्ट जी भी लोहे के बने थे स्वयं भूखे रहकर भी अपना पत्र चलाते थे। सरकार और नौकरशाही के विरोध की भी उन्होंने रत्ती भर चिन्ता नहीं की। हाँ खतरा उठाकर भी उन्होंने शोषितों का पक्ष अवश्य लिया जिनसे वे एक पैसे की भी आशा नहीं कर सकते थे। भट्ट जी के विचार युगांतरकारी थे। प्रतिक्रियावादी शक्ति के महासागर के थपेड़े वे अकेले अपने जीर्ण शीर्ण शरीर पर सहन कर रहे थे किन्तु कष्ट कभी उन्हें उनके सिद्धान्तों से नहीं डिगा सके। सच बात तो रह है कि भट्ट जी जैसे लोग युगों में पैदा होते हैं।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर १८७९, पृ० १३।
२. ,, ,, ,, पृ० १३।

एक बार सरकार ने खर्चे में कमी करने के लिए लोगों का वेतन घटाने का निश्चय किया। ऐसे अवसर पर शोषितों की हिमायत करते हुए भट्ट जी ने सरकार पर करारा प्रहार किया :—

"अब की पालिसी राजनीति का कुछ रंग ढंग जान नहीं पड़ता कि क्यों सरकार के खजाने में टोटा होता है सो तखफीफ भी वैसे ही लोगों की होगी। 'डखना मारे पखना हाथ' वाला मसला सच होगा बहुत से फर्रास चपरासी मुहर्रिर या २० रुपये तक के क्लर्क कम कर दिए जायेंगे यह थोड़े होगा कि बड़े बड़े हाकिमों की १० रुपया सैकड़ा पीछे तनुख्वाह घटा दी जाय तो बहुत कुछ बचत हो जाय छोटे छोटे लोगों को बेरोजगार कर देने से तो वुभुक्षित प्रजा को सिवा क्लेश पहुँचने के और कोई लाभ नहीं।"[1]

अंग्रेजों के दमन और आर्थिक शोषण के कारण तत्कालीन प्रजा कराह रही थी। भट्ट जी से जनता का कष्ट देखा नहीं जाता था। वे तो बड़े से बड़ा खतरा उठाते थे किन्तु लोकवाणी को 'प्रदीप' के द्वारा अवश्य प्रकाशित करते थे। कृषि की दुर्दशा पर अंग्रेजों की भर्त्सना करते हुए वे लिखते हैं :—

"४० करोड़ रुपया जो हिन्दुस्तान की आमदनी सरकार के खजाने में हर साल जमा होती है उसमें बीस करोड़ के लगभग केवल जमीन की मालगुजारी का रहता है चाहे कैसा ही दुष्काल वा महँगी हो सरकार २० करोड़ वसूल कर लेने में कसर नहीं करती तो क्यों प्रजा और देश दिन दिन दरिद्र न होता जाय।....पहले कभी दस बीस वर्ष में एक बार अकाल होता था अब दूसरे तीसरे साल बाद अकाल भी कमर बाँधे मुस्तैद रहता है।"[2]

अंग्रेजी शासन की चक्की में सबसे अधिक अगर कोई पिसा तो यहाँ का किसान। उसकी कठिनाइयाँ और असंतोष व्यक्त करे तो कौन ? भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई में हिन्दी पत्रों का महत्वपूर्ण योग रहा है। कितने खरे शब्दों में हिन्दी पत्र जनता की आवाज उठाते थे 'हिन्दी प्रदीप' इसका उत्कृष्ट-तम उदाहरण है। भट्ट जी की भाषा में कितना दर्द कितनी सहानुभूति कितना विक्षोभ कितना असंतोष है इसको स्पष्ट करने के लिए उन्हीं की भाषा का आश्रय लेना पड़ेगा उसका भावार्थ देना बहुत कठिन है। 'कर्षकों का अश्रुपात'[3] शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८७६, पृ० ३।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८८०, पृ० २२।**
३. ,, **अक्टूबर १८८४, पृ० २०।**

"बड़े सन्ताप और दुःख की बात है कि प्रजा समूह में सबसे अधिक दीन-दुखिया और कृपापात्र कृषकों का अश्रुपात जिस्में किसी प्रकार की चिल्लाहट या कोई दूसरे प्रकार की आहट है ही नहीं दूसरों की कौन कहे जिसे वे लोग दीन-दुनियां का मालिक और प्रत्यक्ष देवता समान मान दिन रात जिसकी दुहाई मचाते रहते हैं वह सरकार भी कभी कुछ नहीं देखती सुनती। हा! इससे अधिक क्लेश की और कौन बात होगी कि जो सीधी सादी सरल भाव सम्पन्न कृषक मंडली पशुओं की भाँति अपना तन मन धन होम के मिट्टी में मिला रही है, धूप वर्षा और जाड़ा सहकर सब मास और ऋतु जगदुपकारी पदार्थ पैदा करती है, चोकर, चना भूसी सागपात खाके जीती है और सब उत्तम पदार्थ देवान्न को बेच बेच जमीदार का पेट और सरकार का खजाना भरती है। उसके अश्रुपात की धारा रोकने वाला कोई नहीं है।....इसमें कुछ संदेह नहीं कि अंग्रेजी गवर्नमेंट ने दीन प्रजा की रक्षा के लिए एक हजार से लेकर दस हजार रुपये महीने तक के ओहदेदार नियत किये हैं पर इन महात्माओं में से कोई ऐसा न निकला जो इन गरीबों के अश्रुपात पर ध्यान देता तब क्या चारा है 'राजा हरति सर्वस्वं शरणांकस्य जायते।'[1]

अकाल पड़ने का एक कारण यह भी था कि अंग्रेज देश का सारा गेहूँ यूरोप ढो ले जाते थे और उससे मुनाफा कमाते थे। भट्ट जी ने इस प्रवृत्ति का घोर विरोध किया।[2] और भट्ट जी ऐसी कुत्सित राजनीति की घोर निन्दा करते थे जिसके कारण 'हिन्दुस्तान की करोड़ों दीन प्रजा भूखों मरे और इंग्लेंड के पेट भरे लोग इन भुक्खड़ों की रोटी छीन गुलछर्रे उड़ावें।'[3]

खेती की उपज कम हो जाने का सबसे बड़ा कारण अनावृष्टि है। आज यह आंदोलन बड़ा तीव्र है कि वनों के कट जाने से वर्षा कम हो गई है इसलिए वन लगाने चाहिए आज से इतने वर्ष पूर्व भट्ट जी ने यही बात अधिक स्पष्ट रूप से कही थी। भट्ट जी की इतनी दूरदर्शिता देखकर वास्तव में आश्चर्य होता है। आज जनसंख्या की वृद्धि भी चिन्ता का विषय बन गई है देखिए भट्ट जी इस विषय में क्या लिखते हैं :—

"अब मनुष्यों की संख्या अधिक होने से धरती भी अधिक बोई जाने लगी पर पैदावारी में तरह तरह की कमी हो गई। एक तो यह कि हर साल जोतते जोतते पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति कम हो गई दूसरे जंगलों के कट जाने से वर्षा

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८४, पृ० २०।**
२. ,, **जनवरी से मार्च १८९१, पृ० १४।**
३. ,, ,, ,, ,, पृ० १४।

कम होने लगी इससे उगे हुए खेत सूख जाते हैं और अन्न जो पैदा भी होता है तो बहुत सा और २ देशों में यहाँ से ढो जाता है यहाँ सदा के लिये दुष्काल ने अपना घर कर लिया।"[1]

आज गोबध बन्दी का आन्दोलन बडा तीव्र है भट्ट जी भी गाय की भौतिक महत्ता जानते थे इसलिए गोबध का सदैव उन्होंने उग्र विरोध किया। पृथ्वी और मनुष्य के क्षीण बल होने का कारण वे गोवध को मानते हैं क्योंकि इससे मनुष्य को घी दूध नहीं मिलता और पृथ्वी को गोबर प्राप्त नहीं होता।[2]

भट्ट जी ने अनेकों स्थानों पर इस प्रकार का क्षोभ प्रकट किया है कि ये हत्यारे पश्चिमी लोग हमारे गोवंश का भक्षण किये जा रहे हैं और हमारे रोने पीटने पर कोई ध्यान तक नहीं देता।[3]

कुछ लोग आज यह कहते कि भ्रष्टाचार आजकल की उपज है किन्तु पुराने पत्र साहित्य को पढ़ने से इस विचार का समर्थन नहीं होता। अंग्रेजों के समय में भ्रष्टाचार कम नहीं था और अंग्रेज लोग तक इसमें लिप्त थे। भट्ट जी तो निर्भय होकर खरी बात कहने वाले व्यक्ति थे एक स्थान पर वे लिखते हैं :—

"जो आते हैं सिवा रुपया बटोरने के और कुछ जानते नहीं दस पाँच लाख की पूँजी जहाँ जुड़ गई विलायत की राह ली हिन्दुस्तानी जरा भी किसी बात में उभड़े उनके दबाने की फिक्र की गई।"[4]

सरकारी दफ्तरों का भी यही हाल था वहाँ भी भ्रष्टाचार रिश्वत और सिफारिश का बोलबाला था। 'सरकारी दफ्तरों में नौकरी'[5] शीर्षक अपने निबन्ध में भट्ट जी लिखते हैं :—

"जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ भी उन्हें मिल गये। जैसे हैडक्लर्क रहे वैसे ही सदर दफ्तर 'दोनों परौसी एकै रूप न इनके चलनी न उनके सूप'। ईश्वर की कृपा से सदर दफ्तर साहब रंग के गोरे ठहरे उन्हें भला कौन कह सकता है कि आपको इस काम की भरपूर योग्यता है या नहीं।" सरकारी दफ्तरों में डिग्रियों वालों के लिए कोई स्थान नहीं था क्योंकि वे जी हजूरी अधिक नहीं कर

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७९, पृ० ५।
२. ,, सितम्बर १८७९, पृ० ६।
३. ,, मार्च १८८३, पृ० ४-६।
४. ,, जुलाई १८७८, पृ० ४।
५. ,, सितम्बर १८७८, पृ० ४।

सकते थे तथा दफ्तर के गोरे लोग अपने भाई भतीजों तथा चापलूसों को ही भर लेते थे।[1]

इस प्रकार अंग्रेजों ने जहाँ-जहाँ भारत के हितों पर आक्रमण किया है वहाँ सदैव भट्ट जी की लेखनी ने उन पर करारा प्रहार किया है। भट्ट जी के राजनैतिक विचार बड़े ही स्पष्ट और खरे थे वे गरम दल के आदमी थे।[2] इसलिए उनकी लेखनी में जो आग जो असन्तोष और विद्रोह की जो अदम्य भावना भरी है वह अन्यत्र दुर्लभ हैं। भट्ट जी का सबसे अधिक उग्र रूप उनके देश भक्ति पूर्ण निबन्धी में देखने को मिलता है जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

देश-भक्त की भावना

यदि हम भट्ट जी के साहित्य में कोई ऐसी निश्चित विचारधारा ढूँढने का प्रयत्न करें जो उनके संपूर्ण साहित्य में अंतसूत्र की भाँति सर्वत्र व्याप्त हो तो वह देशभक्ति के अतिरिक्त और कोई विचारधारा नहीं हो सकती। यों तो भट्ट जी का साहित्य मात्रा में इतना अधिक है कि उसमें अनेक प्रकार की विचारधारायें मिल सकती हैं। ३३ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' के अधिकांश कलेवर को वे प्रति-मास भरते रहे इसलिए विषय वैविध्य के साथ-साथ अनेक प्रकार के विचारों का समन्वय भी स्वाभाविक है। किन्तु उनके पूरे साहित्य में जो विचारधारा सबसे अधिक उभर कर आई है और जिसे हम उनके साहित्य का मेरुदण्ड कह सकते हैं वह तो देशभक्ति की ही विचारधारा है।

विदेशी हमारे ऊपर शासन करें भट्ट जी इससे अधिक लज्जा की बात दूसरी नहीं मानते। वे विदेशी जुए को कंधों से उतार फेंकने को कितने व्यग्र हैं यह व्यग्रता और ग्लानि की तीखी छटपटाहट भट्ट जी के निबन्धों में अत्यन्त स्पष्ट है।

भट्ट जी देशभक्ति की कोरी बातें करने वाले ही नहीं थे अपितु निरंतर मनन के द्वारा उन्होंने दासता से मुक्त होने का जो मार्ग तैयार किया था उसी को पूर्ण एवं परिष्कृत करने का कार्य वे साहित्य द्वारा या अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा किया करते थे।

भट्ट जी यह जानते थे कि अंग्रेज 'भारत छोड़ो' नारा लगाने भर से भारत नहीं छोड़ जायेंगे। उनको भारत छोड़ने के लिए विवश करना पड़ेगा और उन्हें विवश करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होगी। अतः शक्ति संचय की प्राथमिक आवश्यकता को वे समझते थे और व्यंग्य रूप में ऐसे सुझाव सरकार

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७८, पृ० ३।**
२. **'विशाल भारत' पं० सुन्दरलाल, जनवरी १९२८. पृ० २६।**

को दिया करते थे कि जो बाहर से बिलकुल निर्दोष और उत्तेजना रहित लगें किन्तु जिनको मान लेने पर सरकार का मूलोच्छेद स्वयमेव हो जाय। नीचे उनके इसी प्रकार के विभिन्न प्रयत्नों का विवेचन किया जायगा।

शस्त्रों की मांग—अंग्रेज इस बात को जानते थे कि अगर उन्हें भारत में चैन के साथ शासन करना है तो भारतवासियों को निःशस्त्र करना ही चाहिये फलस्वरूप उन्होंने शस्त्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए और बिना आज्ञा शस्त्र-धारण वर्जित कर दिया। इसमें अंग्रेजों को आशातीत सफलता मिली। शस्त्रों के अभाव में जनता की युद्ध की एवं वीरता की वृत्ति धीरे धीरे सोने लगी और अंग्रेजों का शासन अबाध चलने लगा। जनता की इस मनोवृत्ति को भट्ट जी ने समझा और उन्होंने जनता के लिए शस्त्र प्राप्ति का आन्दोलन 'हिन्दी प्रदीप' के द्वारा चलाया। उन्होंने सरकार को तर्क के आधार पर यह समझाने की चेष्टा की कि जिस सरकार के प्रजाजन निःशस्त्र होते हैं वह सरकार स्वयं बड़ी कमजोर रहती है क्योंकि आपत्ति के समय जनता से उसे कोई सहायता तो मिलती ही नहीं वह उल्टी भार स्वरूप हो जाती है। जनता की शक्ति सरकार की शक्ति है। स्पष्ट है कि यदि ब्रिटिश सरकार भट्ट जी की राय मान लेती और जनता को शस्त्र रखने की खुली छूट दे देती तो शायद इतने अधिक दिनों तक भारत में शासन करने का कष्ट उसे न उठाना पड़ता। 'सरकार पर अपार भार' नामक निबन्ध में भट्टजी की तर्क पद्धति सचमुच अद्भुत है, वे लिखते हैं:—

"सरकार ने व्यर्थ ही अपना बोझा बढ़ा लिया है अगर संसार के जीवों की चोंच, सींग, नखदन्त आदि चीजें छीन कर मनुष्य कहे चिन्ता न करो रक्षा के लिए हम हैं उसी प्रकार अंग्रेज सरकार ने जनता को शस्त्रविहीन कर उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर ले ली है पर व्यर्थ क्योंकि चोर डाकू जंगली जानवर आदि से सरकार हर समय कहाँ तक रक्षा करेगी। उसे चाहिए लोगों को शस्त्र रखने की आज्ञा दे दे।"[1]

भट्ट जी बड़े ही दूरदर्शी और समझ-बूझ के आदमी थे। सरकार भारतीयों को फुसलाती थी कि हम तुम्हारी रक्षा किए हुए हैं अगर यहाँ से चले जाँयगे तो दूसरे देशवाले तुम्हें खा जायेंगे। इसलिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात तो तुम्हें दिमाग से ही निकाल देनी चाहिए। धार्मिक, सामाजिक और अन्य हर प्रकार की स्वतन्त्रता हम तुम्हें देने को तैयार हैं। उनके तर्कों की कमजोरी और उनकी नीयत की खराबी भट्ट जी जानते थे। वे मानते थे कि यह तो बिलकुल ऐसी बात है कि सारा खजाना आप का है किन्तु चाबी से हाथ मत

१, **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८०, पृ० ३।**

लगाइये। भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' के द्वारा इस प्रकार के भ्रम का सदैव ही निराकरण किया और सच्ची बात जनता के समक्ष रखी। भट्ट जी तो सरकार से केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता चाहते थे और कहते थे कि सामाजिक और धार्मिक रूप में हम तुम्हारी पराधीनता मानने को तैयार हैं। "हमीं सबसे बुरे हैं"[1] शीर्षक निबन्ध में भट्ट जी लिखते हैं :— "सरकार राजकीय विषयों में पोलिटिकली इन्हें सर्वथा स्वच्छन्द कर दे समाज और मत सम्बन्ध में हाथ छोड़ जहाँ तक संभव हो इन्हें खूब दबाए। ···यदि सरकार को सच्चे जी से हम लोगों की भलाई मंजूर है तो ऐसा ही करने में अब कल्याण है नहीं तो यह ऊपर की चिकनी चुपड़ी बात ही बात है।"[2]

जब राष्ट्रीयता शब्द अपरिचित था, और जनता में अंग्रेजों का घोर आतंक था उस समय भी भट्ट जी की राजनैतिक समझ कितनी ऊँची और स्पष्ट थी, और सबसे बड़ी बात उनकी तद्विषयक अभिव्यक्ति कितनी बेलाग और खरी थी यह देखकर आज आश्चर्य होता है। भट्ट जी व्यक्तिगत रूप से धार्मिक आदमी थे, संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे, आध्यात्मिकता में उनका विश्वास भी था, किन्तु जहाँ देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न आया वे उपर्युक्त सभी वस्तुओं को प्रणाम करने को तैयार थे। वे इस बात को सच्चे हृदय से मानते थे कि बिना राजनैतिक स्वाधीनता के उपर्युक्त वस्तुएँ व्यर्थ हैं, उनका कोई वास्तविक और समुचित उपयोग नहीं है। कहीं कहीं तो उनका दृष्टिकोण आधुनिक मार्क्स-वादियों जैसा मिलता है। देखिए भट्ट जी एक स्थान पर इतिहास को मार्क्स-वादियों जैसा महत्व देते हुए लिखते हैं :—

"जब हमारा प्रश्न ही मनुष्य (व्यक्ति के) जाति का अनूठापन नितांत ऐति-हासिक है तो इसलिए जहाँ इतिहास हमको सहारा न देगा वहाँ निश्चय हम को ठहर जाना पड़ेगा।"[3]

धर्म और राजनीति जैसे विवादास्पद विषय पर भट्ट जी का अत्याधुनिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण :—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यदि हम चाहें तो भट्ट जी के साहित्य की आधार शिला या कसौटी को एक शब्द में व्यक्त कर सकते हैं और वह शब्द है देशभक्ति। भट्ट जी जीवन में दो बातों को सबसे अधिक महत्व देते हैं।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी** १८८०, पृ० ४।
२. ,, ,, ,, पृ० ३।
३. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ३।**

(१) राजनैतिक स्वतन्त्रता, (२) देशभक्ति, धर्म, समाज, साहित्य सभी को वे इससे नीचा समझते हैं।

भारत के विषय में शताब्दियों से यह प्रचार जानबूझ कर किया जा रहा है कि भारत सदैव से एक परलोकवादी देश है जहाँ संसार को माया या असत्य समझा जाता है। भट्ट जी का कथन है कि भारत विश्व के अन्य देशों में जहाँ तक मननशीलता का सम्बन्ध है आगे अवश्य है। किन्तु यह कहना गलत है कि वह संसार को असत्य और माया ही मानता है या यही सिद्धान्त यहाँ सर्वमान्य है। यह तो भारत के ह्रास के दिनों का दर्शन है जिसे भट्ट जी अमान्य ही नहीं करते उसका तीव्र विरोध करते हैं और चिंतन की युगानुकूल आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं :—

"इसी मनन शीलता के कारण जब हम देखते हैं कि केवल मनन करने के जो विषय हैं उनमें यह जाति इतना उत्कर्ष प्राप्त किए है कि जिसके जोड़ का गुण संसार भर की किसी जाति में नहीं देखा जाता और यही कारण है कि धर्म हम लोगों के यहाँ बहुत जल्द और बहुत अधिक चमका। जब और और जाति सभ्यता के अन्धकार में पड़ी टटोल रही थीं हमारे यहाँ ऐसे ऐसे सूक्ष्मानुसूक्ष्म सिद्धान्त निकाले गये जिसकी बारीकियाँ योरूप की समझ में अब आने लगी हैं। पर जहाँ इस मननशीलता में सब गुण हैं वहाँ बहुत से अवगुण भी इससे पैदा हुए। इस सूक्ष्मानुसंधान के पीछे दौड़ने से बहुत सी महोपकारी पदार्थ विद्या सम्बन्धी स्थूल बातें रह गईं। इसी मननशीलता के कारण अकर्मण्यता इनकी नस नस में घुस गई और कितने प्रकार के विज्ञान और साइंस जिनमें भरपूर उद्यम और प्रागल्भ्य (एक्टिविटी) का काम पड़ता है उन्हें शास्त्र सहयोगिनी इनकी मननशीलता ने होने ही न दिया। धर्म सम्बन्धी उत्कर्षता निःसंदेह अति उत्तम है किन्तु इसके साथ ही यह भी हुआ कि इस धर्म की उत्कर्षता और पारलौकिक चिन्तन ने समाज और देश के हित की बातों को इतना दबा दिया और इन सब हितकारी उपायों के स्थान में ऐसी टांग अड़ाया कि उनका लेश भी न आने पाया।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भट्ट जी परलोकवादी या स्वप्नजीवी नहीं हैं वे संसार की सत्यता में विश्वास करते हैं और इतिहास के यथार्थ दृष्टिकोण के प्रकाश में चीजों को परखते हैं। यदि कोई हठी आदमी भट्ट जी को धर्म और राजनीति में से एक चुनने के लिए विवश करता तो वे निस्संकोच राजनीति को यह कहकर चुन लेते धर्म की पहले ही उन्नति हमारे देश में बहुत

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ५।**

हो चुकी है अब हमें राजनीति में उन्नति करना है जिससे विश्व की स्वतन्त्र जातियों के समक्ष हम भी गर्वोन्नत भाल लेकर खड़े रहें और अपनी मातृभूमि की रक्षा कर सकें। देखिए भट्ट जी अपने 'जातियों का अनूठापन' नामक महत्व-पूर्ण लेख में अपने विचार बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं :—

"चाहे धर्म सम्बन्धी आदि एकता से आप और और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनैतिक एकता को ही मानेंगे। जब तक कोई जाति एक राजनैतिक समूह न होगी जिसका एक ही राजनैतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनैतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं हैं तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और वृद्धि की बुनियाद किस चीज़ पर कायम रखेंगे ? हम देखते हैं अंग्रेजों के इतिहास में बहुत जल्द राजनैतिक एकजातित्व आ गया जिसके कारण उनकी जाति की उन्नति चरम सीमा को पहुँचने लगी और उसी के विपरीत हम देखते हैं कि राजनैतिक बन्धन न होने से बहुत जल्द हमारी जाति तीन तेरह हो गई।"[1]

अँग्रेजी सरकार की अकर्मण्यता और बुद्धिहीनता पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी आगे लिखते हैं :—

"ब्रिटिश गवर्नमेंट की प्रजा कि जिसके हाथ में कोई अस्त्र-शस्त्र का रक्षा का उपाय नहीं रहा। दुख पाने व सताये जाने पर अपने समर्थ प्रभु का गिला न करें तो क्या करें ।"[2] 'रूस की तैयारी' नामक अपने एक अन्य निबन्ध में भारतीयों की दुर्बलता एवं कायरता का उत्तरदायी अँग्रेजों को बताते हुए भट्ट जी लिखते हैं कि जनता के शस्त्रापहरण से ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है :—

"रूस से अधिक हमारे और इङ्गलैंड दोनों के बैरी लार्ड लिटन (ईश्वर हमें ऐसों के चुङ्गल से बचाए रहें) हमारे पास ऐसे शस्त्र भी नहीं छोड़ गए कि रूस सरीखे विकराल भालू का मारना कहाँ रहा छोटे-छोटे गीदड़ और भेड़ियों से भी अपने-अपने पुत्र कलत्र, हितू और प्रेमियों का प्राण बचा सकें।"[3]

'नेटिव' शब्द का विरोध :—

अंग्रेज जिन-जिन जातियों पर राज्य करते थे उन्हें वे जंगली और नीच समझते थे और उनके लिए 'नेटिव' शब्द का घृणास्पद प्रयोग करते थे। (आज भी अफ्रीका निवासी नीग्रो लोगों को अंग्रेज नेटिव ही कहते हैं) भारतवासी जहाँ तक सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध है अंग्रेजों से कहीं आगे थे इसलिए

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ६।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८० पृ० ३।**
३. ,, **मई १८८६, पृ० २०।**

भारतीयों के लिए भट्ट जी को 'नेटिव' शब्द का प्रयोग असह्य था। अंग्रेजों की भर्त्सना करते हुए तथा उन्हें कड़ी फटकार बताते हुए भट्ट जी एक स्थान पर लिखते हैं :—

"यह कोई नई बात नहीं कि एटकिंस ही ने हमें आज बेवकूफ बनाया। अंग्रेज जाति के लोग तो हमें बेवकूफ बनाते हुये हमारा राज्य ही हमसे छीन गटक बैठे और अब तक हमें बेवकूफ बनाते ही जाते हैं। 'नेटिव' मूर्ख झूठे खुदगर्ज आदि उपाधियां हमें देते हुये आप बड़े बुद्धिमान सच्चे और उदार बनते हैं।"[1]

अँग्रेजों की घोर निन्दा और उनकी निर्भय आलोचना :—भट्ट जी का युग यद्यपि अंग्रेजों के वर्चस्व का स्वर्ण युग था किन्तु भट्ट जी ऐसे निर्भय और साधु पुरुष थे कि जो मन में सोचा वही कह डाला। पूरे भारतेंदु युग में अंग्रेजों के प्रति अधिक से अधिक कड़े शब्दों के प्रयोग में भट्ट जी की प्रतिद्वन्द्विता कोई दूसरा लेखक नहीं कर सकता। उन्हें झूठा नीच बनिया और स्वार्थी से लेकर पापी और चरित्रहीन कहने तक में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। यद्यपि यह सब कितने खतरे का विषय था हम आज उसकी ठीक-ठीक कल्पना कर सकते हैं। भट्ट जी का देशभक्त हृदय कभी यह सहन नहीं कर सकता था कि अंग्रेज हमारे ऊपर शासन करें जिनकी न कोई प्राचीन संस्कृति है और न कोई सभ्यता।

अंग्रेजों की बेईमानी और भ्रष्टाचार और प्रवंचना पूर्ण आचरण के लिए भट्ट जी अँग्रेजों को देखिये कैसा फटकारते हैं :—

"इंगलैंड हिन्दुस्तान से पचास गुना अधिक धनी है वहाँ भी सेना का इतना खर्च नहीं होता जितना यहाँ होता है। क्यों नहीं देशी लोगों को सेना की अफसरी दी जाती? यहाँ के लोगों को यदि अफसरी दी जाती तो क्या विलायत से बड़ी-बड़ी तलब लेकर साहब लोगों के बुलाने की जरूरत होती? क्यों प्रतिवर्ष गवर्नमेण्ट दार्जिलिंग शिमला और नैनीताल गर्मियों में जाया करती है। हाई कोर्ट के जज यहाँ की गर्मी सह सकते हैं तो क्या लेफ्टीनेन्ट और गवर्नर जनरल नहीं सह सकते? कमिश्नरी के औहदे पर जब तक रहें तब तक गर्मी जाड़ा सब कुछ सहते रहे। बोर्ड के मैम्बर होते ही मिजाज बदल जाता है। बिना नैनीताल की ठण्डी हवा का मजा उठाए साफ रहता ही नहीं। ऐसी-ऐसी अनीति देख हम भी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भूखों के हाथ की रोटी छीन, दुखियों के तन के वस्त्र उतार, लोगों के प्राण का रुधिर चूस सरकार

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' सितम्बर १८८६ पृ० १३।

रुपया उगाहेगी और उस रुपये से इंगलैंड की प्रबल जठराग्नि को आहुति देगी। उस रुपये से अंग्रेज सिविलियनों और सिपाहियों को शराब पिलायी जायगी। उस रुपये से हथियार खरीद सरकार अमीर काबुल को देगी कि अवसर पाय उसी से हमारा और अंग्रेजों का भी गला काटा जाय। उसी रुपये से ब्रह्मा के राजा को गद्दी से उतार, ब्रह्मा की निर्दोष प्रजा को सदा के लिये गुलाम बनावेगी। उसी रुपये से सिविलियनों को नैनीताल और शिमले की तरावट के मजे में मस्त करेगी। उस रुपये से विलायत के स्वार्थ परायण लोभी कारीगरों का और सौदागरों का रोजगार बढ़ावेगी और साथ ही हम लोगों को बड़े कोमल मीठे और कृत्रिम उदार वचनों में फुसलावेगी कि तुम हमको प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। तुम्हारे उपकार के लिये तुम्हारे ही सुख के लिए हम अपने सुखमय शीतल देश को छोड़ कर यहाँ की भयानक लू सहते हैं। तुम्हारे सुख के चिन्तन में हमें रात-रात नींद नहीं आती। बेटा हो, मुन्ना हो, यदि हमने तुम्हारा हथियार ले लिया तो तुम्हारे ही उपकार के लिए; जो हम तुम्हें ऊँचे-ऊँचे ओहदे नहीं देते सो तुम्हारी ही भलाई के लिये; तुमको क्लीव किए देते हैं सो तुम्हारे ही उपकार के लिये। तुम क्यों हमसे रूठते हो क्यों दुष्टों के बहकाने में पड़ते हो? हमारी सेवा करो हमारे दास बनो हमारा चरणामृत लो, हमारा नाम जपो यही तुम्हारा धर्म है, यही तुम्हारा सुख है।"[1]

किन्तु भट्ट जी स्पष्ट कह देते हैं कि अब हम तुम्हारे बहकाने में आने वाले नहीं हैं :—

"पर अब हम दूध मुख बालक नहीं हैं। तुम्हीं ने पढ़ाइ लिखाइ हमारी आँख में अंजन दे दिया और हमारे विचारों पर सान चढ़ा दिया। हित अनहित हमको भी सूझता है। बुरा भला हम भी समझते हैं।"[2]

अपने एक दूसरे 'दुर्भिक्ष दलित भारत' शीर्षक निबन्ध में भट्ट जी अंग्रेजों और उनकी कुत्सित कूटनीति की घोर निन्दा करते हैं :—

"क्या राजनीति या गूढ़ पालिटिक्स के यही माने हैं कि दया का कहीं लेश भी न रहने पावे। हिन्दुस्तान की करोड़ों दीन प्रजा भूखों मरे और इंग्लैंड के पेट भरे लोग इन भुक्कड़ों की रोटी छीन गुलछर्रे उड़ावें।"[3]

भट्ट जी का घोर यथार्थवादी रूप इन पंक्तियों में देखिए जहाँ वे सूक्ष्मता के आवरण को छोड़ कर लोगों से इतिहास की ठोस धरती पर आने का

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८६, पृ० ७-८।
२. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८६, पृ० ७-८।
३. ,, जनवरी से मार्च १८९१, पृ० ४।

आह्वान करते हैं और राजनैतिक सफलता को धार्मिक सफलता से कहीं अधिक आँकते हैं :—

"अंग्रेजों में राजनैतिक एकता के कारण उनके देश की वास्तविक उन्नति हुई उसीके विपरीत राजनैतिक एकता न होने से हमारा ह्रास हुआ और आगे चलकर इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेज जाति ने अपना इतिहास अपने अनुकूल कर लिया वही हमारी जाति का इतिहास झख मार के हमारे प्रतिकूल हो गया और आपस की फूट से बची खुची जो कुछ ताकत रह भी गई थी उसे विदेशीय नेताओं ने आकर चूर चूर कर डाला।"[1]

अन्य देशों की स्वाधीनता से सहानुभूति :—

भट्ट जी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति सः पण्डितः' के मानने वाले थे वे पराधीनता के दारुण कष्ट को जानते थे। इसलिए संसार में विभिन्न पराधीन देशों के निवासियों से भी उन्हें बड़ी सहानुभूति थी। वे ऐसे देशों को अपने देश के समान ही प्रेम करते थे और उनकी हिमायत भी अपना देश समझकर ही करते थे। भट्ट जी के विचारों की यह उदारता और प्रगतिशीलता उनके युग को देखते हुए सचमुच स्तुत्य है।

जिन दिनों अंग्रेज बर्मा पर अधिकार करने के लिए कोई चाल सोच रहे थे तभी भट्ट जी उनके उस भावी षड्यंत्र का भंडाफोड़ करते हुए कहते हैं :— "ब्रह्मा देश अंग्रेजी राज्य में मिल जाने से हिन्दुस्तान को कोई लाभ नहीं है तब हम क्यों इस बात को स्वीकार न करें कि सरकार की सरासर बेइंसाफी है कि बम्बई के सौदागरों की एक कम्पनी का पक्ष समर्थन कर व्यर्थ एक निर्बल पर अपना बल प्रकट किया जाता है। बहादुरी और मर्दानगी तब थी कि काबुल और रशिया पर इसी तेजी के साथ झुकते तो वहाँ तो मेंऊँ मेंऊँ और यहाँ शेर की झपट राजनैतिक चतुराई इसी का नाम है।"[2]

भट्ट जी यह अच्छी तरह जानते थे कि अंग्रेज शोषक हैं और एक देश का धन शोषण कर ये शस्त्रास्त्र बनायेंगे और दूसरे देशों की स्वाधीनता का अपहरण करेंगे।[3]

जो लोग अपने देश के लिए अपना बलिदान कर देते हैं सर्वस्व होम देते हैं भट्ट जी उनका बड़ा आदर करते हैं उनमें अगाध श्रद्धा रखते हैं किन्तु जिस देश के कायर लोग आक्रमकों के सामने बिना प्रतिरोध किए आत्म समर्पण कर

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ६।
२. ,, दिसम्बर १८८५, पृ० ५।
३. ,, मार्च १८८६, पृ० ७–८।

देते हैं भट्ट जी उनसे बहुत चिढ़ते हैं और कड़ी फटकार बताते हैं। बर्मा बिना किसी बड़े प्रतिरोध के अंग्रेजों का गुलाम बन गया भट्ट जी भला वहाँ के निवासियों की इस लज्जास्पद कृत्य के लिये भर्त्सना किए बिना कब रह सकते थे किन्तु पराधीन जातियों की भट्ट जी द्वारा की गई भर्त्सना में भी एक अपनापन है। दुनिया के सभी गुलाम एक हैं, उनकी समस्यायें एक हैं उनका लक्ष्य एक है इसलिए वे संगठित हो जाँय ऐसी व्यापक भावना भट्ट जी के हृदय में ही आश्रय पा सकती थी। देखिए भट्ट जी बर्मा के निवासियों से क्या कहते हैं किन शब्दों में कहते हैं :—

"ये ब्रह्मा वाले मनुष्य हैं अथवा कुत्ता बिल्ली से भी हीन कोई क्षुद्र पशु विशेष हैं जो बिना जरा भी सींग पूंछ हिलाए अंग्रेजी शासन के वशीभूत हो गए हम लोग तो अपने ही को अत्यन्त क्षीण हीन दुर्बल और निःसत्व समझे हुए थे किन्तु ये ब्रह्मा देश निवासी हमसे भी अधिक निष्पुरुषार्थी मालूम होते हैं।"[1]

"अंग्रेज बड़े चालाक हैं राजाओं को वे पहले अपना करद बनाते हैं फिर पोलिटिकल एजेंट रखते हैं फिर सर्वग्रास कर लेते हैं। काश्मीर, भूपाल तथा वर्मा के साथ क्या किया गया ?"[2]

राजभक्ति और देशभक्ति में विरोध :—

भट्ट जी सच्चे देशभक्त थे इसलिए वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि देशभक्ति और राजभक्ति दो ऐसी विरोधी वस्तुयें हैं जिनका समन्वय नहीं किया जा सकता। भट्ट जी के समय में भारतीयों में एक उदार दल का उदय हो रहा था जिसके तत्कालीन नेता पं० मदनमोहन मालवीय थे। ऐसे लोगों का विचार था कि हम राजभक्त रखते हुए भी देशभक्त हो सकते हैं। सच बात तो यह है कि यह दल ऐसे लोगों का था जो सरकार के प्रति विद्रोही होने का संकट तो मोल लेना नहीं चाहता था किन्तु जीवन को अधिक सरल बनाने के लिये अंग्रेजों से खुशामद के द्वारा ही कुछ सुविधायें प्राप्त करने में विश्वास रखता था। भट्ट जी इस विचार धारा के घोर विरोधी थे इसलिए निकट के सम्बन्धी होते हुए भी विचार भिन्नता के कारण भट्ट जी की मालवीय जी से कभी पटती नहीं थी। तथ्यों के आधार पर यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि भट्ट जी का राजनैतिक दृष्टिकोण मालवीय जी की तुलना में कहीं अधिक प्रगतिशील था। उदाहरण के लिए इस डर से कि विद्यार्थियों के

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' दिसम्बर १८८५, पृ० १५।**

२. ,, ,, **१८८६, पृ० १४।**

राजनीति में भाग लेने से कहीं सरकार हिन्दू विश्वविद्यालय बन्द ही न करदे राजनीति में सक्रिय भाग लेने वाले कुछ विद्यार्थियों को मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से निकाल दिया था। इस बात को लेकर भट्ट जी और मालवीय जी में बोलचाल तक बन्द हो गई थी यद्यपि मालवीय जी भट्ट जी के सगे समधी थे। (भट्ट जी की पुत्री का विवाह मालवीय जी के पुत्र के साथ हुआ था) भट्ट जी का दृढ़ विचार था कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए जिस विचारधारा का समर्थन बाद में गांधी जी और पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी किया।

इसी उग्र विचारधारा के कारण भट्ट जी राजभक्ति और देशभक्ति का समन्वय असंभव और अवांछनीय मानते थे। उनके विचार में ये दो ऐसे सिरे थे जो कभी मिल नहीं सकते। अपने एक लेख में भट्ट जी अपने एतद्विषयक विचारों को बड़ी स्पष्टता से रखते हैं। वे देश भक्ति को वांछनीय और वरणीय तथा राजभक्ति को अवांछनीय और त्याज्य बताते हैं :—

"हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है ? जैसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसा ही यह भी असंभव और दुर्घट है।"[1]

आगे इसी निबन्ध में भट्ट जी राजभक्ति की निन्दा और देशभक्ति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं :—

"राजभक्ति का फल निःसंदेह पहले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महामन्दकारी और रूखा है, इसे बहुत खाते खाते मनुष्य क्षीण वीर्य, क्षीण स्वत्व और क्षीण तेज हो जाता है रग रग और रोम रोम में दास्य भाव कलर्क अर्थात् कुत्ते के विष समान ऐसा असर कर जाता है कि जिसके दूर करने की जितनी ही तदवीर हो कुछ कारगर नहीं होती। ...प्रजा के हित का फल यद्यपि कड़वा फीका और अरोचक है पर अन्त को बड़ा उत्तेजक, वीर्यवर्द्धक और पौष्टिक है इस फल के खाने वाले देशोपकारी सर्वजन हितैषी और उदार प्रकृति होते हैं।[2]

भट्ट जी का राष्ट्रीय दृष्टिकोण और हिन्दू-मुस्लिम समस्या :—

भट्ट जी का साहित्य पढ़ने से पहली ही दृष्टि में कोई भी पाठक यह विचार बना सकता है कि भट्ट जी उग्र मुस्लिम विद्वेषी हैं। मुसलमानों का उग्र विरोध

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८२, पृ० २।**

२. ,, ,, ,, ,, ।

कहीं कहीं भट्ट जी ने किया भी है पर वह बिना कारण और संदर्भ के नहीं। यह तो एक सर्वमान्य सत्य है कि अंग्रेज मुसलमानों का पक्ष लेते थे जिससे हिन्दू और मुसलमान आपस में झगड़ते रहें और बीच में उनका काम बने।[1] मुसलमान जहाँ-जहाँ अंग्रेजों की इस नीति के शिकार बने हैं वहाँ-वहाँ भट्ट जी ने उन्हें धिक्कारा है। वैसे ऐसी पंक्तियाँ भट्ट जी के विशाल साहित्य में नहीं मिलतीं जहाँ केवल हिन्दू होने के नाते उन्होंने मुसलमानों को केवल मुसलमान होने के लिये कोसा हो।

भट्ट जी का एक अत्यन्त सारगर्भित निबन्ध है जिसका शीर्षक है "भारत का भावी परिणाम क्या होगा?"[2] इस निबन्ध के द्वारा भट्ट जी के हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर विचार स्पष्ट हो जाते हैं। भट्ट जी ने इस निबन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष निकाले हैं।

(१) दुर्भाग्य से भारत पराधीन है और उसका कारण आपसी फूट है।

(२) यद्यपि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक ही व्यक्ति (अंग्रेज) के गुलाम हैं किन्तु फिर भी प्रेम से नहीं रहते। भारत के दुर्भाग्य का यही मूल कारण है।

(३) यह निश्चित है कि अंग्रेजों को कभी इस देश से कोई प्रेम या सहानुभूति नहीं हो सकती क्योंकि वे विदेशी हैं और इस देश को अपना देश नहीं समझते।

(४) मुसलमानों के राज्य में भारत की दशा कहीं अच्छी थी क्योंकि मुसलमान यहीं के निवासी हो गए थे और इस देश को अपना देश समझने लग गए थे। इसलिए जो धन वे यहाँ कमाते थे इसी भूमि पर उसे खर्च भी कर देते थे। अंग्रेजों जैसे शोषण का तो प्रश्न ही तब नहीं था।[3]

इसी प्रकार भट्ट जी अपने एक अन्य निबन्ध में दोनों को मेल से रहने का संदेश देते हैं:—

"याद रखना चाहिए कि अब हिन्दू और मुसलमानों के बीच उस तफावत और फरक का निर्वाह नहीं हो सकता जो किसी जमाने में रहा था। उस पुराने रुआव और दबदबे को ख्वाब की बातों में दाखिल करा देना वाजिब है।"

"हिन्दुओं को समझना चाहिए और बहुत से हिन्दू समझते हैं कि मुसलमानों की हिजो में अपने ही भाइयों की हिजो है और मुसलमान भी हिन्दुओं

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८७, पृ० ३।**

२. ,, **फरवरी १८७८, पृ० ४—७।**

३. ,, ,, ,, ,, ।

की हिजो को अपनी ही हँसी समझें। अफसोस है कि बहुत थोड़े मुसलमान शायद इस बात को जानते हैं कि एक ही लफ्ज हिन्दुस्तानी या नेटिव हिन्दू-मुसलमानों दोनों को सूचित करता है। हम दोनों के बैरी यूरेशियन किरानी जब कभी हेटफुल निगर शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो उसके मानी से मुसलमानों को अलग नहीं छेक देते फिर जब कभी कोई अत्याचार गवर्नमेंट के कर्मचारियों के हाथ से देश पर बन पड़ता है तो दोनों ही कौमों को मुजिर होता है। इसलिए विचारशील हो इन सब बातों की ऊँच नीच भलीभाँति तोलकर मुसलमानों को चाहिए कि हिन्दुओं के साथ बैर भाव को अब सदा के लिए तलाक दे देना हर तरह पर मुनासिब समझें।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से भट्ट जी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण की विशालता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सरकार के पिट्ठुओं के कट्टर शत्रु :—

चाहे हिन्दू हो या मुसलमान यदि वह अंग्रेजों का पिट्ठू है तो उसका भट्ट जी से बड़ा शत्रु कोई नहीं। भट्टजी एक ओर तो राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की बराबर भर्त्सना करते रहे तो दूसरी ओर सरसैयद अहमद की। साम्प्रदायिकता का दोष तो भट्ट जी पर यहाँ भी नहीं लगाया जा सकता। सरसैयद और राजा शिवप्रसाद दोनों से उन्हें एक सी शिकायत थी कि ये लोग अपने देश की परिस्थिति और देशवासियों की भावनाओं को देखकर कोई बात नहीं कहते हैं अपितु गौरांग प्रभुओं के इशारों पर ही उठते बैठते हैं। भट्ट जी को इन दोनों व्यक्तियों से बड़ी घृणा थी। ये दोनों महानुभाव अंग्रेजों के कृपापात्रों के वास्तविक प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। एक स्थान पर भट्ट जी इन दोनों के निवास स्थान की ओर इंगित करते हुये बिना नाम लिये इन पर कड़े व्यंग्यों की बौछार करते हैं :—

बनारस अलीगढ़ आदि कई स्थानों में दो एक ऐसे महापुरुष कुलवोरन उपज खड़े हुए हैं जो स्वार्थ लम्पटता के आगे देश के हित पर कुल्हाड़ा चला रहे हैं। हम उनके चेलों को फिर भी यही चेतावनी देते हैं कि वे अब भी राज भक्ति और प्रजा के हित में अन्तर देख वही अंगीकार करेंगे जिससे उनकी विमल कीर्ति और उनका उदार भाव संसार में दधीच और हरिश्चन्द्र के यश के समान चमके।[2]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर १८८५, पृ० १३-१५।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८२, पृ० ३।**

सर सैयद तथा राजा शिवप्रसाद का सरकारी क्षेत्रों में जो मान तथा प्रभाव था आज उसकी ठीक-ठीक कल्पना नहीं की जा सकती। अँग्रेज सरकार के लिये तो केवल ये दो ही व्यक्ति पूरे भारत में सबसे अधिक समझदार और उच्च विचारशील थे इस लिये जनता पर इनके आतंक की सहज ही कल्पना की जा सकती है। किन्तु भट्ट जी जब महाशक्तिशालिनी ब्रिटिश सरकार से ही कभी नहीं डरे तो भला उसके पालतू लोगों से वे क्या डरते। भट्टजी ने दोनों का नाम ले लेकर जो खरी खोटी इन लोगों की सुनाई हैं सो शायद ही किसी अन्य आदमी ने सुनाई हों। अपने एक लेख में भट्ट जी सरसैयद की तथा-कथित लोकप्रियता की तथा उनकी निःस्वार्थ राजभक्ति की पोल खोलते हुए लिखते हैं :—

"लखनऊ की मोहमडन कांग्रेस में जैसा लोग सैयद साहब की राय के विरुद्ध रहे केवल २० आदमी इनसे सहमत रहे और २०० आदमियों ने इनके विरोध में अपनी राय प्रकट की इससे हमको अतिशय आश्चर्य होता है कि उक्त सैयद अब अपनी जाति के अग्रणी होने का अभिमान किस मुँह से करते हैं और गवर्नमेण्ट इनको क्या समझ हिन्दुस्तान के कुल मुसलमानों का प्रतिनिधि, प्रधान या नेता माने बैठी है।........सैयद साहब को सरकार से कई तरह की पेंशन मिलती है, खिताब पर खिताब इनके नाम के आगे जुड़ता जाता है। एक बेटा हाई कोर्ट का जज है। दूसरा बेटा पुलिस के महकमे में बड़े से बड़े उच्च पद पर है, जो पद हिन्दुस्तानियों को कम मिलते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अंग्रेज किस प्रकार लोगों को अधिकार का मीठा टुकड़ा फेंक कर अपना पिट्ठू बना लेते थे।

एक बार काशी नरेश ने कुछ आदमियों को गोबध बन्दी के सम्बन्ध में इंगलैंड भेजने का निश्चय किया। भेजने के लिए राजा शिवप्रसाद को भी उन्होंने चुना किन्तु तभी एक अग्रलेख लिख कर भट्ट जी ने उनकी सभी कमजोरियों की पोल खोलते हुए कितनी छीछालेदर की यह उस उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :—

"क्या महाराज को कोई दूसरा आदमी नहीं ढूँढ़े मिलता जो ऐसे स्वार्थ प्रवीण और गौरांगों के दासानुदास को इस महत्कार्य में अग्रसर करते हैं निश्चय इन्हें इस काम में अगुआ करना बड़ी भूल है। सब तो सही पर सी०एस०आई० साहब इतनी (स्पिरिट) हिम्मत कहाँ से लावेंगे कि जिनके ये दासानुदास बने बैठे हैं उनकी समाज में जी खोल कर गोबध के मुतल्लिक जितना अप्स एण्ड डाउन्स ऊँचा नीचा संकेत इस वर्तमान राज्य की पालिसी नीति के विरुद्ध है, सब

वहाँ वालों की नजर के सामने आईना सा कर दिखावेंगे इस मामले में तो एक बड़े ही दबंग आदमी का काम है जिसमें खुशामद और खुदगर्जी की बू तक न आई हो और जो सर्वसाधारण के हित (पब्लिक गुड) के लिये अपना सब कुछ खोये बैठा हो।....जैसा सम्पादक 'सार सुधिनिधि' ने लिखा है कि राजा साहब की भीतरी मंशा यही है कि वह यहाँ से अपने दो लड़कों को लेजा कर बैरिस्टर करा लावें, बिना एक पैसा अपनी टेंट का खर्च किये। सच-सच यही बात है नहीं तो ये हजरत कब ऐसा कस्द करते हिकमती लोग कभी अपनी उक्ति युक्ति से भूल सकते हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध है कि सरकार के पिट्ठुओं के दोष समान ही होते हैं और इसी लिए भट्ट जी प्रायः इन दोनों महानुभावों को एक साथ याद करते हैं और इकके लिये लगभग एक जैसी शव्दावली का प्रयोग करते हैं।

जहाँ तक विरोध की मात्रा का सम्बन्ध है शायद भट्ट जी ने राजा शिवप्रसाद की ही अधिक निन्दा की है क्योंकि उन्होंने हिन्दी को भी कुरूप बनाने का दुष्प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषियों के निकट वे हिन्दी के प्राण भारतेंदु का अपमान करने के भी अपराधी थे। इसलिए शिवप्राद 'सितारे हिन्द' की अपने युग में बड़ी छीछालेदर हुई और सबसे अधिक शायद भट्ट जी ने ही की। राजा साहब की चापलूसी पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी एक स्थान पर लिखते हैं :—

"राजा साहब निरा दास्यभाव रख हाकिमों की हाँ में हाँ मिलाते अपने बुद्धि पाटव की सम्पूर्ण कुटिलता केवल जोड़ तोड़ मिलाने और स्वार्थ साधन में लगाते इस पद को प्राप्त हुए जिसकी खुशी उनके चन्द चेलों को ही होगी।"[2]

भट्ट जी का कहना है कि केवल खुशामद एवं चापलूसी के गुणों के कारण ही "राजा साहब २० रुपए की किरानगीरी से इस पद को पहुँचे।"[3]

भट्ट जी के लेखों से पता चलता है कि तत्कालीन सभी देशभक्त या राष्ट्रीय पत्र राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के विरुद्ध थे :—

"राजा जी अब हम तुम्हे क्या कहें कलकत्ता के अखबार 'भारत मित्र' और 'उचित वक्ता' भरपूर चित्थाड़ तुम्हारी कर चुके। अब कुछ कहना केवल पिष्ट पेषण है।"[4]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर, १८८१, पृ० २२।
२. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८२, पृ० ६।
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, फरवरी १८८३, पृ २२।

भट्ट जी चाहते थे कि विद्रोह की चिनगारी रियासतों में भी फैल जाय और इस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की एक भयंकर ज्वाला भारत में फूट पड़े जिसमें अंग्रेज और उनका राज्य जल कर स्मृति शेष हो जाय। इस लिये जब कभी उनकी आशा के विरुद्ध यदि कोई देशी नरेश अंग्रेजों की चापलूसी करता था या उनकी सहायता करता था तो उन्हें बड़ा बुरा लगता था और वे अविलम्ब ऐसे लोगों की कड़ी भर्त्सना 'हिन्दी प्रदीप' में करते थे एक बार निजाम हैदराबादने १० लाख रुपया ब्रिटिश सरकार को प्रसन्न करने के लिये दिया, देखिए इस बात पर भट्ट जी निजाम पर कैसा कड़ा व्यंग्य करते हैं :—

"क्या बात है राजभक्ति का तो हमारे निजाम साहब से अन्त है। गनीमत है कि हिन्दुस्तान के ऐसे बिगड़े जमाने भी लायलटी की दुम पकड़ उससे घिर्रा रहे हैं।"[1]

विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रेरणा :—

यों तो भारत के स्वातंत्र्य इतिहास में विदेशी-वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ किन्तु भट्ट जी ने इसका सूत्रपात 'हिन्दी प्रदीप' में बहुत पहले ही कर दिया था। भट्ट जी की आर्थिक समझ बहुत गहरी थी और वे यह जानते थे कि आर्थिक शोषण निम्नतम कोटि की दारुण दासता है। वे चाहते थे कि भारत का पैसा किसी प्रकार यहीं रुका रहे। एक निबन्ध में इस विषय में वे स्पष्ट लिखते हैं :—

"तैमूर, नादिर, चंगेज, महमूद गजनवी आदि हमला करने वालों ने समय-समय देश पर आक्रमण कर इस कदर नहीं लूटा था जैसा विलायत की बनी चीजों से हमारा धन लुटा जाता है। ये नादिर आदि लुटेरे आए एक बार लूट पाट चले गए दो चार वर्ष उनके लूट का असर रहा थोड़े ही दिन बाद देश फिर अपनी पहिली की सी सम्पन्न दशा में आ गया। फैशन परस्ती के जाल में फँस हम लोगों को विलायत की नफासत और चटकीलेपन ने ऐसा मोहित कर रखा है कि हमारा क्या और क्यों सत्यानाश हो गया कभी एक बार भी हम लोगों ने न सोचा।"[2]

भट्ट जी के राजनैतिक विचारों के विषय में जो बात बड़े महत्व की है वह यह है कि जो बात वे मानते हैं पूरी तरह मानते हैं। जो बात जानते हैं पूरी तरह जानते हैं। असमंजस, द्विधा, या भ्रम जैसी वस्तु तो उनके पास भी नहीं फटकती।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ०३।**

२. ,, **अक्टूबर १९०५, ३।**

भट्ट जी के काल में एक बार इंगलैंड में लिबरल पार्टी का शासन आया। भारत के तत्कालीन अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ भी उस परिवर्तन के विषय में स्पष्ट नहीं थे अधिकांश भ्रम में थे किन्तु भट्ट जी ने 'प्रदीप' में लिबरलों के लिबरलपन की सब कलई खुल गई' शीर्षक से एक निबन्ध लिखा और सचमुच ही उनकी सब कलई खोल दी।[1]

इसी प्रकार विक्टोरिया के शासन से लोगों को बड़ी-बड़ी आशायें थीं, विक्टोरिया की घोषणा को तो बहुत से अपरिपक्व राजनीतिज्ञों ने स्वतन्त्रता की घोषणा ही समझ लिया था पर भट्ट जी इस विषय में भी कभी भ्रम में नहीं रहे। उन्होंने 'कृषि कार्य की दुर्गति नामक' निबन्ध में स्पष्ट कर दिया कि विक्टोरिया से किसी प्रकार की आशा करना बहुत बड़ी मूर्खता है।[2]

राष्ट्रीय कांग्रेस के विषय में भट्ट जी के विचार

भट्ट जी के राजनैतिक विचार 'राजडगर' के समान प्रशस्त, स्पष्ट और सुदूरगामी हैं। उनके सबसे रोचक विचार राष्ट्रीय कांग्रेस के विषय में हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठन भट्ट जी के सामने ही हुआ था। ह्यूम साहब इसके जनक थे। तत्कालीन बड़े-बड़े नेता इसके समर्थक थे उदाहरणार्थ महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय आदि किन्तु कुछ बातों में भट्ट जी कांग्रेस के पक्ष में नहीं थे। असल में राजनीतिक दृष्टि से भट्ट जी तिलकवादी थे।[3] वे उग्र विचारों के थे और वैधानिक रूप से शासन के हस्तांतरण में उन्हें विश्वास न था। स्वतन्त्रता का मार्ग अहिंसा के द्वार से हो कर जाता है ऐसा उनका विश्वास नहीं था। वे तो विद्रोह की सशस्त्र तैयारी के पक्ष में थे और शक्ति के द्वारा अंग्रेजों को बाहर करने की सोचते थे। देश का सन् १८५७ का ऐतिहासिक विप्लव उन की आँखों के सामने हुआ था। यद्यपि उसमें भारतीयों को असफलता मिली तथापि उससे इतना तो स्पष्ट हो गया था कि कुछ अधिक संगठन और शक्ति अंग्रेजों के पैर उखाड़ सकती थी। सन ५७ के विप्लव काल में भारत में रहना अँग्रेजों के लिए एक गम्भीर समस्या बन गई थी। पता नहीं सन ५७ के विप्लव ने कितने वर्षों तक अंग्रेजों की नींद हराम करदी थी। वह साधारण विप्लव नहीं था। अंग्रेजों की जड़ें एकबारगी हिल गईं थीं और यदि देशद्रोही उस समय अँग्रेजों की सहायता न करते तो आज इतिहास दूसरा ही होता।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर १८७०, पृ० ८-९।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८७९, पृ० ३–५।**

३. **'विशालभारत', जनवरी १९२८, पृ० २६।**

भट्ट जी राष्ट्रीय कांग्रेस को अंग्रेजों की प्रेरणा मानते थे अतः उस पर उनका विश्वास नहीं था। यह स्मरणीय है कि उस समय पं० मदनमोहन मालवीय कांग्रेस के प्रमुख स्तंभों में से थे और वे भट्ट जी के सगे समधी भी थे[1] किन्तु अनेक विषयों में भट्टजी का मतभेद उनसे रहता था। किसी के आतंक या दबाब में आकर भट्ट जी अपने विचारों को बदल लेते ऐसी मिट्टी के वे नहीं बने थे। उग्र मतभेद के कारण कई बार मालवीय जी से उनका मनमुटाव भी हो गया था। भट्ट जी को तिलक में बड़ी आस्था थी उनकी निन्दा वे सुन नहीं सकते थे। एक बार तिलक के विरुद्ध कुछ कहने पर भट्ट जी मालवीय जी पर बिगड़ पड़े थे।[2] मालवीय जी लार्ड मिंटो की स्मृति में प्रयाग में एक स्मारक खड़ा करवाना चाहते थे। ऐसा करने में वे सफल भी हो गए किन्तु इस कार्य में वे कभी भट्ट जी का समर्थन प्राप्त नहीं कर सके। भट्ट जी ने सदैव इसका कड़ा विरोध किया।[3]

अपने एक निबन्ध में उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति जो विचार व्यक्त किये हैं वे तथ्यपूर्ण होने के साथ-साथ बड़े मनोरंजक भी हैं :—

"आप लोगों को मालूम है कि कांग्रेस अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजों के साथ सम्पर्क होने का फल है। यह बीज इंगलैंड से आया और ह्यूम साहब की खेती से उपजा है। वेंडर बर्न केन इत्यादि इसे सींचते रहते हैं। यदि इस खेती की हरियाली से आपकी आँख न जुड़ानी और इस हरे भरे वृक्ष के फलने का फल आपको न मिले तो दुर्भाग्य है। इतना याद रखिए कि इंग्लैंड की प्रजा होकर आप इस खेती को कर सकेंगे। इंग्लैंड ही की रोशनी ऐसी है जो आपके हाथ में दी गई है कि ब्रिटिश शासन की त्रुटि को उस रोशनी से आप दिखावें और राजराजेश्वरी क्वीन इम्प्रेस के राज्य को जिसमें आपने अनंत सुख उठाए हैं, पुष्ट और चिरस्थायी करदें। यही प्रयोजन प्रतिवर्ष के कांग्रेस का है जिसमें ब्रिटिश पारलियामेंट को यह प्रत्यक्ष हो जाय कि ब्रिटिश राज्य के शत्रुओं को सर करने में बहुत सा रुपया खर्च करना और बहुत से आदमियों के खून करने से कांग्रेस की सहायता लेना अत्युत्तम है।"[4]

विश्व राजनीति सम्बन्धी विचार

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भट्ट जी ऐसे साहित्यिक नहीं थे जो

---

१. 'हितकारिणी', सितम्बर १९१४, पृ० २६८।
२. 'विशालभारत', जनवरी १९२८, पृ० २८।
३. ,, ,, ,, पृ० २९।
४. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी फरवरी १८९८, पृ० २।

राजनीति से परहेज करते हों भट्ट जी तो ऐसे साहित्यिक हैं जिनके साहित्य का भवन राजनीति के धरातल पर ही खड़ा है। भट्ट जी के युग में विश्व के विभिन्न देश उतने तो निकट नहीं थे जितने आज हैं क्योंकि तब विज्ञान में संसार बहुत पीछे था किन्तु फिर भी पत्रकार होने के नाते भट्ट जी को भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के विषय में बहुत कुछ जानने की तीव्र उत्कंठा रहती थी। हजारों मील दूर अनेक गुलाम देशों से उन्हें हार्दिक सहानुभूति थी तथा विश्व के सभी साम्राज्यवादियों के प्रति उनके हृदय में तीव्र घृणा थी। ये ही कुछ ऐसे कारण थे जिनके कारण भट्ट जी विश्व-राजनीति के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानने को उत्सुक थे उनके अनेक लेखों से उनके एतद्विषयक ज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

रूम रूस का युद्ध :—भट्ट जी के जीवन काल में रूम और रूस में युद्ध छिड़ गया था। इस समय रूस पर जार का शासन था। जार अपने अत्याचारों के लिए विश्व प्रसिद्ध था। रूस एक विशाल देश था और रूम एक छोटा सा देश था। इसलिए इस युद्ध में भट्ट जी की सहानुभूति सदैव रूम के साथ रही। रूम की विजय होने पर वे अत्यंत प्रसन्न होते थे और उसकी पराजय का समाचार सुनकर उन्हें मर्मांतक दुख होता था। रूम उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता के लिये संघर्षरत देशों का प्रतीक था और रूस साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतीक। इसलिये स्वभावतः उनका हृदय रूम के साथ ही था।

भट्ट जी ने रूम रूस के युद्ध पर अनेक सम्पादकीय लेख लिखे जिनमें उन्होंने सदैव यही स्पष्ट किया कि रूस का पक्ष अन्याय का पक्ष है और रूम का पक्ष न्याय का है। उन्होंने एक लेख में लिखा—'रूमी लोग कड़ी हड्डी के समान हैं जो जार के गले से उतरते ही गला फाड़ डालेगी और पेट में पहुँच कर आतें काट डालेगी।'[1]

शक्तिशाली के सभी साथी होते हैं विश्वाराजनीति में तो यह और भी ठीक चरितार्थ होता है। रूम छोटा सा राज्य था साधन सम्पत्तिहीन उसका विरोध रूस जैसे विशाल देश से था फिर भी वह डटा रहा किन्तु भट्ट जी को तब बड़ा दुख हुआ जब "रोमानिया, सर्विया, माण्टिनीग्रो आदि रूस से मिल गए। जर्मनी और आस्ट्रिया की भी सहानुभूति रूस के साथ है।"[2]

'हिन्दी प्रदीप' की पहले दस वर्ष की प्रतियाँ पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीति की क्षितिज पर रूस एक धूमकेतु के रूप में उदित हो गया

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर १८७७, पृ० १३—१४।**

२. „ **जनवरी १८७८, पृ० १५—१६।**

था। राज्य विस्तार की उसकी लालसा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जाती थी। भट्ट जी ने अपने तत्कालीन अग्रलेखों में अंग्रेजों को रूस का विरोध करने की प्रेरणा दी और लिखा—"आज हो या दस वर्ष में हो हमारे देश बांधव तथा गवर्नमेंट इस बात को अपने चित्त के चित्रपट में लिख रखें कि एक दिन अवश्य ऐसा होगा कि अंग्रेज और रूस में लड़ाई होगी पर होगी।"[1]

रूस उन दिनों अफगानिस्तान और रूस के बीच रेल मार्ग स्थापित करना चाहता था। भट्ट जी ने अंग्रेजों को इस विषय में सावधान किया और लिखा कि वे यह न समझें कि रूस का कुछ व्यापारिक उद्देश्य इससे सिद्ध होगा यह तो प्रत्यक्षतः युद्ध की तैयारी का ही एक भाग है।[2]

इसी प्रकार भट्ट जी ने 'इंगलैंड की जर्जर दशा'[3] शीर्षक से एक निबंध लिखा जिससे उनके विश्वराजनीति सम्बन्धी ज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन्होंने इस निबंध में जो तथ्य दिए हैं उनका सारांश यह है—

(१) लार्ड वीकन्स फील्ड के नेतृत्व में ब्रिटेन को घर चैन बाहर सम्मान हासिल था।

(२) ग्लेडस्टोन घर तो पुजे पर बाहर प्रतिष्ठा गिरी।

(३) मिश्र के झगड़े में जनरल गार्डन की मृत्यु हो गई।

(४) रूस का आगे बढ़ना भी नहीं रोक सके कहते ही रहे देखो अब न बढ़ना।

(५) ग्लेडस्टन की नीति लड़ाई टालने की रही।

(६) आयरलैंड का झगड़ा नहीं सुलझा, ग्लेडस्टन कहते ही रहे कि उन्हें स्वतंत्र पार्लमेंट दे दो पर किसी ने सुनी नहीं।

(७) चेम्बरलेन, ब्राइट, मार्क्विस आफ हार्टिंगटन ने साथ छोड़ा।[4]

भट्ट जी बड़ी सुन्दरता से उस समय के इंग्लेंड और आयरलेंड के आपसी सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं :—

"आयरलेंड वह घोड़ा नहीं जिस पर इंग्लेंड सवार होकर अपनी प्रभुता की लगाम से उसको अपने वश में रक्खे। एक दिन वह सवार को अवश्यमेव पटक कर अपनी पीठ खाली करेगा इसमें कुछ संदेह नहीं है।"[5]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८६, पृ० १८।**
२. " " " "।
३. " **सितम्बर १८८६, पृ० १–१०।**
४. " **सितम्बर १८८६, पृ० १–१०।**
५. " " " **पृ० ८।**

भट्ट जी ने 'सीमा रहस्य' शीर्षक एक निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने अफ़गानिस्तान और इंग्लेंड के आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश डाला और इंग्लेंड की नीति की आलोचना की। उन्होंने अफ़गानिस्तान के प्रति बरती जाने वाली अंग्रेजी नीति को गलत और भ्रमपूर्ण बताया। भट्ट जी ने सर फ्रेडरिक को राबर्ट लिटन (ये भारत के प्रधान सेनापति थे) की नीति का पिछलग्गू बताया जिनके कारण अंग्रेज अफगान युद्ध हुआ और उसका सारा खर्च देना पड़ा भारत को करीब २० करोड़ रुपया।[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भट्ट जी समय समय पर विश्व के विभिन्न देशों के राजनैतिक दावँ पेचों पर भी अपनी लेखनी चलाया करते थे।

राजनीति का शास्त्रीय पक्ष या कानून

भट्ट जी राजनीति के शास्त्रीय पक्ष या कानून पर भी प्रायः निबन्ध लिखा करते थे। इस प्रकार के लेखों में उनका कानूनी ज्ञान और राजनीतिक विषयों सम्बन्धी मनन प्रकट होता है। ऐसे निबन्धों में भट्ट जी की भाषा अत्यन्त सरल और विषय प्रतिपादन अत्यन्त आकर्षक होता है। भट्ट जी उलझी से उलझी बात को, क्लिष्ट से क्लिष्ट विचार को सरलता के साथ व्यक्त करने में अत्यन्त पटु हैं। वे अपने 'व्यवस्था या कानून'[२] शीर्षक निबंध में कानून की परिभाषा इन शब्दों में करते हैं :—

'यह उस शास्त्र का नाम है जो राजा अपने राज प्रबन्ध के लिये प्रचलित करता है।'[3] विषय की दृष्टि से भी उन्होंने बड़ी स्पष्टता पूर्वक निम्नांकित तथ्यों का प्रतिपादन इसमें किया है :—

(१) कानून से राजा भी बंधा होता है।

(२) प्रजा अपने अधिकार इसके आधार पर माँग सकती है।

(३) जनता को कानून से परिचित कराने के लिये उसका हिन्दी में छपना आवश्यक है। हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसा नहीं होता।

सरकार ने देशी समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगाने के लिये समय-समय पर विभिन्न एक्ट बनाए थे। भट्ट जी ने उन एक्टों की विस्तृत आलोचनायें की हैं। जिनसे उनके कानूनी ज्ञान पर उचित प्रकाश पड़ता है। एक्ट ९ की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं :—

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई जून १८९०, पृ० २३-२८।
२. ,, दिसम्बर १८७७, पृ० ५–९।
३. ,, दिसम्बर १८७७, पृ० ५।

"इस एक्ट के सेक्शन दो के अनुसार अखबार उसे कहते हैं जिसमें खबरें छपें या खबरों की समालोचना छपे, फिर अगर हाथ से लिख सौ दो सौ कापी बाँट दी जाँय तो सरकार कैसे रोकेगी।.......फिर इसकी जिम्मेदारी सम्पादक पर नहीं प्रकाशक पर है। 'छापने वाला कोई बेवकूफ मिल ही जायगा।"[१]

भट्ट जी का एक निबन्ध 'प्रतिनिधि शासन' शीर्षक से है।[२] जिसमें उन्होंने विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओं के साम्य एवं अन्तर को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं :—

"राज प्रबन्ध तीन प्रकार से होता है, राजा की इच्छा के अनुसार, राजा और प्रजा दोनों की इच्छा के अनुसार अथवा केवल प्रजा की इच्छा के अनुसार।"[३]

अपने इस निबन्ध में यह बताने के पश्चात् कि कौन-कौन से देश में किस किस प्रकार का शासन है वे प्रतिनिधि शब्द की परिभाषा भी देते हैं :—

"प्रतिनिधि उस मनुष्य विशेष या वस्तु विशेष की संज्ञा है जो किसी एक मनुष्य या वस्तु के अभाव में उसका काम दे।"[४]

भट्ट जी ने अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में कानून सम्बन्धी अनेक निबन्ध समय-समय पर लिखे उन्होंने अंग्रेजों की दोषपूर्ण न्याय पद्धति की खरी आलोचना की।[५] भट्ट जी यह देखते थे कि अंग्रेजों की न्याय-पद्धति खर्चीली तो बहुत है किन्तु उसमें न्याय की गुंजायश बहुत कम है। वह ऐसी पद्धति है कि जिसके पास धन नहीं है वह केवल सच्चाई के आधार पर न्याय नहीं प्राप्त कर सकता। एक व्यक्ति हार जाने पर यदि उसके पास धन है तो निरन्तर एक से एक बड़े न्यायालय में जा सकता है, हाईकोर्ट में, फिर सुप्रीम कोर्ट में और अन्त में प्रिवी कौंसिल में किन्तु जिस पक्ष के पास धन नहीं वह आगे बढ़ ही नहीं सकता।

भट्ट जी ने यह भी देखा कि वकील किसी की स्वत्व रक्षा में सहायता देने के लिये नहीं है अपितु दो पक्षों में निरन्तर झगड़ा बनाए रख कर उनका अबाध शोषण करने के लिये हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए मुकद्दमों के निर्णय

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८७८, पृ० १-३।**
२. ,, **जून १८८६, पृ० १-७।**
३. ,, ,, **पृ० १।**
४. ,, ,, **पृ० २।**
५. ,, **दिसम्बर १८७६, पृ० ३-७।**

काल को बढ़ाते हैं, सच्चाई से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भट्ट जी ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है :—

"यह कानून रुपया वाले के लिये कामधेनु है। रुपया खरचो चोखे से चोखा बैरिस्टर करलो। सच्चे का झूठा और झूठे का सच्चा, सच है—'लौ ग्राइन्ड्स दी पूअर रिचमैन रूल दी लौ' तिस में प्रतिवर्ष इन वकीलों की संख्या बढ़ती ही जाती है। हर साल कानूनी परीक्षा क्या होती है मानो बेईमान बीबी छः सात सौ नए बच्चे हर साल जनती है।"[2]

भट्ट जी ने देखा कि मजिस्ट्रेट लोग न्याय की खूब हत्या करते हैं। जो मजिस्ट्रेट अपराध लगाता है न्याय भी वही करता है तो फिर अपराधी का राम ही मालिक है।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने मजिस्ट्रेटों के अधिक अधिकार बढ़ाए जाने का भी विरोध किया।[4]

अपने लम्बे पत्रकार जीवन में भट्टजी ने राजनीति के हर पक्ष पर कुछ न कुछ लिखा है। उनकी दो विशेषतायें उन्हें अन्य साधारण व्यक्तियों से पृथक् कर देती हैं।

(१) उनका विषय का ज्ञान।

(२) विषय को व्यक्त करने की उनकी शैली।

भट्ट जी सादा भोजन उच्च विचार के मूर्त रूप थे इसलिए उनके साहित्य पर भी उनके व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव है। सरलता और स्पष्टता तो भट्ट जी के निबन्धों की जान है और विषय-वैविध्य एवं ज्ञान गम्भीरता में भट्ट जी से टक्कर लेने वाले उनके युग में भी अधिक व्यक्ति नहीं थे।

भट्ट जी के समाज सुधार सम्बन्धी निबन्ध—

भट्ट जी क्रान्तिकारी विचारों के व्यक्ति थे। यह कहना कठिन है कि उनके राजनीति सम्बन्धी विचार अधिक उग्र हैं या समाज सम्बन्धी। जब हम उनके राजनीति सम्बन्धी विचारों को पढ़ते हैं तो सोचते हैं कि इससे अधिक उग्र लिखा नहीं जा सकता और जब हम उनके समाज सम्बन्धी विचार पढ़ते हैं तो लगता है कि इससे अधिक क्रान्तिकारी विचार सम्भव ही नहीं हैं।

भट्ट जी का पूरा साहित्य जीवन के साथ प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध है। 'कला कला के लिए' तो शायद उन्होंने अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में एक पंक्ति भी नहीं लिखी। समाज और देश का दर्द तो उनके हृदय में इतना अधिक था कि

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८७६, पृ० ५।

२. ,, मई १८७८, पृ० १-३।

३. ,, ,, पृ० १-३।

इनके विषय में सोचने से ही उन्हें अवकाश नहीं था। जब साहित्यिक या कलाकार का भावपक्ष निर्बल होता है तो वह शुद्ध कलावाद की बातें करता है। भट्ट जी के समक्ष तो जीवन की अनन्त समस्यायें थीं जिन पर उन्हें अपनी लेखनी चलानी थी। इतना अवश्य है कि बात कहते-कहते बात कहने की इतनी सफाई भट्ट जी में अवश्य आ गई थी कि वे जिस भाव को जिस रूप में व्यक्त करते थे उसे और अधिक अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकना हमारी समझ में बिलकुल असम्भव है। भट्ट जी की भाषा इतनी नुकीली और व्यंजक है कि पढ़ते ही पाठक के हृदय में पैठ जाती है।

भट्ट जी के सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों की पृष्ठ भूमि किसी सीमा तक उनका अपना परिवार था। भट्ट जी का परिवार संयुक्त था। उसमें एक से एक बढ़कर पुरानी परम्पराओं के पोषक लोग भी थे। उनका विवाह बचपन में ही होगया था कमाते वे कुछ थे नहीं। इसलिए उनका घर कलह का विराट केन्द्र बन गया था। ऐसे विषाक्त वातावरण में भट्ट जी का दम घुटता था और उनके अंतर में प्राचीनता के प्रति विद्रोह के अणु-परमाणु निरंतर संगठित हो रहे थे जिनका विस्फोट एक दिन अवश्यम्भावी था। एक दिन घर के बड़ों ने उन्हें घर छोड़ने पर विवश कर दिया और बिना एक लोटा लिए, केवल शरीर के कपड़ों के साथ उन्होंने इस नवयुवक को बिना किसी सम्बल के, थपेड़े खाने के लिए संसार में उन्मुक्त नीले आकाश के नीचे उसके छोटे परिवार के साथ असहाय छोड़ दिया। यदि यह नवयुवक भावुक और आध्यात्मवादी होता तो शायद आत्महत्या भी कर लेता पर संसार के कठोरतम संकटों को झेलने का असीम साहस लेकर वह निकला और एक दिन हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने अमिट चरण चिह्न छोड़ गया।

यदि उपर्युक्त आधार पर हम भट्ट जी के साहित्य का पठन पाठन करें तो यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि उनके उग्र विचारों का उत्स उनका अपना ही जीवन था। वे उस समाज के प्रति विद्रोही हो उठे थे जहाँ नवयुवकों का दम घुटता है और पुरानी पीढ़ी अमर बेल की तरह नई पौध का जीवन शोषण कर लेती है। शायद युग की दृष्टि से भट्ट जी ही पहले व्यक्ति होंगे जिन्होंने संयुक्त परिवार पद्धति के विरुद्ध शंखनाद किया था। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी इस विषय में किसी आधुनिक विद्वान् के विचार इतने उग्र और क्रान्तिकारी नहीं हैं जितने भट्ट जी के।

संयुक्त परिवार के घोर विरोधी

अपने 'परिवार भर का एकान्न भोजन की कुप्रथा से क्या हानि है।' शीर्षक

महत्वपूर्ण लेख में संयुक्त परिवार के दुर्गुणों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

"आज हम सबसे बड़ा और एक प्रचण्ड कारण हिन्दुओं की हीनता का दरसाते हैं और वह यही एकान्न भोजन की कुप्रथा है। पहली बात महा हानि-कारक यह है कि एकान्न में रहकर लड़कों की तालीम में बड़ी बाधा पहुँचती है बल्कि बाल्य विवाह जितना बालकों की शिक्षा का विघातक है यह एकान्न की प्रथा उससे जरा भी घट के नहीं कही जा सकती।"[1]

भट्ट जी का कहना है कि इस एकान्न प्रथा के कारण एक दिन परिवार समाप्त हो जाता है :—

"दिन दिन परिवार बढ़ता जाता है उनके भरण पोषण और विवाह इत्यादि के खर्च का बोझ मन मानता लदता जा रहा है। होते होते वह घराना या तो नष्ट प्रायः हो जाता है या रहा भी तो किसी गिनती में नहीं। हजारों लाखों घराने इस एकान्न की प्रथा के कारण अस्त प्रायः हो गए। यदि एकान्न की प्रथा न हो और पिता अपने पुत्रों को सब भाँति समर्थ कर अलग कर दिया करें तो हमारी हिन्दू जाति की कदर्यता के कारण जो दुर्गति हो रही है कभी न हो।"[2]

कुछ लोगों का कहना है कि संयुक्त परिवार में आपस में प्रेम बढ़ता है किन्तु इस विषय में भट्ट जी जैसा भुक्तभोगी पुरुष दूसरा नहीं हो सकता। देखिए उनकी सम्मति कुछ और ही है :—

"हम कहते हैं प्रेम कैसा जैसी फूट और जैसा जल्द घर का सत्यानाश इस एक चूल्हे की बदौलत होता है वैसा किसी दूसरी तरह से कभी हो होगा नहीं। थोड़े ही दिन तक रहने के उपरान्त इन एकान्न भोजियों में ऐसा वैमनस्य फैलता है कि आपस में एक को दूसरे का मुँह देखना भी रवा नहीं होता और अन्त में हिस्सा बाँट के कारण एक एक इंच जमीन के लिये लड़ कर वकील मुख्तार और अदालत का खातिरखाह पेट भरते हैं।.....अपने पुत्र पौत्रों को अपङ्ग और निष्पुरुषार्थी बना देने की तो इस एकान्न से बढ़कर कोई बात ही नहीं है।"[3]

संयुक्त परिवार में यों तो किसी व्यक्ति की उन्नति करने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है और फिर यदि कोई प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी व्यक्ति निकला भी तो उसकी और भी दुर्गति हो जाती है :—

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८९१, पृ० १५।
२. ,, ,, ,, ,, ,,।
३. ,, ,, ,, पृ० १६।

"भाग्यवश से चार पुत्रों में एक कुछ संस्कारी भाग्यवान और सपूत निकला तो उन तीन निकम्मों के कारण भरण पोषण का भार सब उसी पर लद जाता है कितना अन्याय है कि वह आदमी जिसे केवल अपने पुरुषार्थ का सहारा है मर पच जो कुछ उसने कमाया सब अपने तीन निकम्मे निष्पुरुषार्थी भाइयों तथा उसके स्त्री पुत्र के पालन पोषण और काम काज में सबका सब गँवाय आप अन्त में कोरे का कोरा बने रहे।"[1]

संयुक्त परिवार में यदि सबसे अधिक कष्ट होता है तो स्त्रियों को उनका तो जीवन ऐसे परिवार में नरक ही हो जाता है। भट्ट जी स्त्रियों का पक्ष लेते हुए सशक्त भाषा में लिखते हैं :—

"देश की प्रचलित रीति के अनुसार हम अपनी स्त्रियों को एक तो यों ही सब तरह पर हीन-दीन और दासी बनाए हुए हैं दूसरे यह एकान्न की प्रथा उनके लिये और भी दुखदायी हो रही है। सोचने की बात है कि एक स्त्री जो दरजन और कोड़ियों मनुष्यों की रसोई अकेली पकावेगी उसकी क्या गति होगी गर्मी के मौसमों में तो उन बेचारी गृहस्थिनियों का रातों दिन चूले के पास बैठे बैठे जो हाल होता है वह वे ही जानती हैं।"[2]

भट्ट जी का निश्चित विचार है कि इस कुप्रथा से मनुष्य परमुखापेक्षी परभाग्योपजीवी और निष्पुरुषार्थी हो जाता है।[3]

हिन्दुओं को चेतावनी

भट्ट जी यों तो धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे। भजन पूजा भी करते थे किन्तु प्रदर्शन और पाखण्ड से उन्हें चिढ़ थी। उन्हें यह देख कर मर्मांतक कष्ट होता था कि हिन्दू धर्म में इतनी बुराइयाँ घुस आई हैं कि ये इस धर्म को कभी नष्ट ही कर देंगी। इसलिए इन बुराइयों के विरुद्ध सदैव भट्ट जी की लेखनी आग उगलती रही है और पाखण्डी और स्वार्थी धर्म के तथाकथित ठेकेदारों के लिए भट्ट जी एक भय बन गये थे। भट्ट जी व्यंग्य के ऐसे पैने तीर पाखण्डियों पर चलाते थे कि वे ही उनके प्रभाव को जानते होंगे। देखिए सड़े गले जर्जर हिन्दू समाज के शरीर में भट्ट जी कैसे नश्तर चुभाते थे :—

"भाई हिन्दुओ कलि पुराण में तुम्हारी बेहतरी के बहुत उत्तम उपाय लिखे हैं उसे मानोगे तो भलाई हो या न हो पर बहुत जल्द सर्वनाश होने में तो किसी तरह का सन्देह नहीं रहेगा। पहला उपाय यह है कि दुहिता के जन्म दिवस के

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८१९, पृ० १७।**
२. ,, ,, ,, ,, ।
३. ,, **मई १८७८, पृ० ४-५।**

पाँचवें दिन विवाह कर दिया करो ऐसा न हो कि कन्या कहीं रजस्वला हो जाय नहीं तो धर्म ही नष्ट हो जायगा और इक्कीस पुरखा नरक में पड़े पड़े चिल्लाया करेंगे। महा कृपणता से कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ो पर लड़कों के ब्याह में गंजिया की गंजिया लुढ़का दिया करो। इससे बड़ा नाम और यश होगा। तुमसे न बन पड़े महाजनों से सीख लो। वे इस काम में बड़े व्युत्पन्न हैं। घर के भीतर सात तहखानों में सदा बन्द रहो। वाहर न निकलना, बाहर निकले और जात गई। दूसरी बड़ी हानि इसमें यह होगी कि कहीं ऐसा न हो कि विदेशी सभ्यजनों की हवा तुम्हें लग जाय। हाथ पांव ढीला कर अदृष्ट पर विश्वास किये चुपचाप बैठे रहो जिसमें पुरुषार्थ की जड़ कटी रहे।......आँख में पट्टी बाँधे सोते रहो। उसे खोलना नहीं कहीं ऐसा न हो कि तुम्हें सूझने लगे और हिये की जो फूटी हैं सो खुल जायँ। जहालत की गठरी सर पर से मत उतारो लो। यह 'कुतर्क कौमुदी' ग्रन्थ तुम्हारे लिये तैयार किया गया है इसे पढ़ो क्योंकि काल अब बड़ा कराल आया है कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी दुर्बुद्धि का शोधन हो जाय तो फिर दुर्व्यसन, खुदगर्जी, फिजूलखर्ची, बाल्य विवाह, बैर फूट आदि बेचारे किसके सहारे रहेंगे। 'कुतर्क कौमुदी' सब चाहे न पढ़ो पर उसके दो सूत्र 'धर्म कर्मणां लोपः' 'अनाचारस्य वृद्धि' अवश्य याद रक्खो। सम्हले रहो देखो ऐसा न हो कि औरों की देखादेखी तुम भी अवनति को दूर बहा उन्नति की सीढ़ी पर पाँव रखने लगो। खुशामद इस मूलमन्त्र के जप से कभी मुँह न मारो काम पड़ने पर हाँ में हाँ मिला दिया करो। देश का चाहे सत्यानाश हो अपना मतलब तो खफ्त न होने पावेगा।"[१]

उपर्युक्त थोड़ी सी पंक्तियों में भट्ट जी ने जितना अधिक कह दिया है उससे अधिक कहना सम्भवतः भाषा की सामर्थ्य के बाहर है। बाहर से मीठे पर वास्तव में कितने कड़ुवे और पैने व्यंग्य हैं। हिन्दू समाज की सभी कमियों की कितनी कड़ी और खरी आलोचना है।

विवेकहीन दान का विरोध :—

हिन्दुओं में दान देने की प्रथा पता नहीं कितनी शताब्दियों से चली आ रही है। शायद अतीत में दान देने वाला पात्रापात्र का विचार रखता हो किन्तु आज तो लोग लकीर के फकीर बने हुए हैं और विवेक से बिलकुल काम नहीं लेते। भट्ट जी ने इस प्रकार के विवेकहीन दान का विरोध किया है। हिन्दू धर्म की आज की बड़ी कमजोरियों में से एक यह भी है। 'हम लोगों में दान का क्रम' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८७८, पृ० ४–६।**

"किसी न किसी बहाने कुपात्रों में लुटाइ कलयुग के कर्ण बने तीर्थयात्रा के काम से कुपढ़ों में हजारों बिलटाइ देंगे विद्या बुद्धि के लिये एक पैसा भी हराम है। योगी वैरागी, कनफटे, उदासी, संन्यासी, आदि धूर्तगणों को देख सर्वनाशकारी श्रद्धाकेतु का तत्काल उदय हो जावेगा। किसी कुलीन सत्पात्र को देख ऐसा मन मैला कर लेंगे मानो ग्रहण लग गया। पत्थरों में लाखों का सत्यानाश हो जाना महाधर्म मानेंगे दुभिक्ष पीड़ित असंख्य मनुष्य मारे भूख के मर जाँय उन्हें देख कभी न पसीजेंगे। चन्दरोजा नाम के लिये ब्याह शादी में गंजिया की गंजिया लुढ़क जाय पुस्तकालय या औषधालय आदि जिनसे चिरस्थाई नाम रहने की सम्भावना है वह फजूल समझेंगे।"[1]

अनेक सभाओं के विरोधी :—

भट्ट जी नित्य उत्पन्न होने वाली और मरने वाली सभाओं के विरोधी थे। उनका कहना था कि 'धर्म सभा', 'हरि सभा'[2] आदि व्यर्थ की सभाओं से क्या लाभ है? इस प्रकार की सभाओं में ऐसे पाखण्डी लोग घुस आते हैं जिनकी 'दाढ़ी बाहर से तो सफेद हो गई है' पर हृदय में 'वासना की मैल के तह के तह जमे हुए हैं।' इस प्रकार की सभाओं में कुछ लोग अपने स्वार्थ साधन के लिये अवश्य आते हैं पर उनसे देश या समाज का कोई भला नहीं होता उल्टे हानि होती है। इन सभाओं के मूल में स्वार्थ का विष सिंचन किया जाता है, इस लिए ये मर भी शीघ्र ही जाती हैं। सभा के संस्थापक बाहर से बड़े उग्र क्रान्तिकारीविचारधारा के बनेंगे पर "जहाँ एक दूसरे के साथ खाने पीने का जिक्र आया लगे लड़ने; समाज भंग हो गई। मेल क्या बढ़ा मानो विद्वेषरूपी रेशम की गट्ठी में पानी पड़ा।"[3]

इस प्रकार ये सभायें हिन्दू धर्म की जड़ें ही काटती हैं और उसे और भी अधिक विकृत और दुर्बल बनाती हैं।

तीर्थों का विरोध

यों तीर्थों का विरोध कबीर ने भी किया था परन्तु इतने तर्क और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ नहीं जितना भट्ट जी ने किया है। भट्ट जी प्रयाग निवासी थे। नित्य गंगा स्नान भी करते थे इसलिए तीर्थों और पवित्र सरिताओं के घाटों पर वासना का अजस्र प्रवाह उन्होंने देखा था। गंगा का पवित्र जल भी वासना पंक से लोगों का उद्धार करने में कभी समर्थ नहीं हुआ, इसके वे

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७८, पृ० १२-१३।**

२. „ **फरवरी १८८०, पृ० ३-४।**

३. „ „ „ **पृ० ३-४।**

प्रत्यक्ष दर्शी थे। इसलिए तीर्थों के प्रति उनके हृदय में घोर अनास्था हो गई थी। पहले कभी तीर्थ शायद अच्छे रहे हों पर अब तो वे पाप और वासना के विराट केन्द्र हो गए हैं। 'कालान्तर मीमांसा'[1] शीर्षक निबन्ध में भट्ट जी लिखते हैं :—

"सत्पुरुष महात्माओं की एवज साधु वैरागी और वैष्णव के वेश में इन स्थानों पर माघ आदि महीनों में धूर्त और पाखण्डी एकत्र हुआ करते हैं जिनसे धर्म और समाज का संशोधन क्या होगा वरन मूर्ख निरक्षर प्रजा को खातिर खाह उल्टे छुरा मूड़ उन्हें और भी गढ्ढे में गिरने की राह दिखलाइ भरपूर उनका वस्त्र मोचन कर चम्पत होते हैं। इस दशा में अन्धी भेड़ों को छोड़ किसी विचारवान् पुरुष को उन तीर्थों में पुण्य क्षेत्र की वृद्धि कब हो सकती है ? अब तो इन तीर्थों को 'नेस्ट ऑफ रोबर्स' 'तीर्थ ध्वाँक्ष' 'लुटेरे प्रजा भक्षक दरिन्दों की माँद' कहना चाहिए।"[2]

हिन्दुओं की अन्ध अतीत भक्ति का विरोध :—

यों तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना अतीत बड़ा सुखद और मादक लगता है और राष्ट्रों के स्वर्ण युग भी प्रायः अतीत में ही सुने जाते हैं परन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर हम इस विचारधारा को स्वस्थ नहीं कह सकते। मानवता सतत विकासोन्मुख है और उसका अच्छे से अच्छा युग अभी आना है इसे सभी मानते हैं। इसलिए मनुष्य का दृष्टिकोण भविष्य के प्रति आशा और विश्वास का होना चाहिए। अत्यधिक अतीत प्रेम मनुष्य के भविष्य को अस्पष्ट और उपेक्षित बना देता है। फलतः अतीतवादी दृष्टिकोण का व्यक्ति प्रायः असामाजिक प्राणी मिलेगा। भट्ट जी का दृष्टिकोण इस विषय में कितना आधुनिक और प्रगतिशील है यह देख कर सुखद आश्चर्य होता है। भट्ट जी इस प्रकार की विचारधारा के व्यक्तियों की उपमा उल्लू से देते हैं जो प्रकाश से घृणा करता है और अपनी आँखें बन्द किये रहता है। अतीतवादी लोग भी भविष्य के प्रति इसी प्रकार आँखें बन्द करके बैठे रहते हैं।[3] और इस विषय में वे वेदान्तियों पर व्यंग्य करते हैं जो सृष्टि का चरम विकास अतीत में मानते हैं और भविष्य जिन्हें सदा ह्रास की ओर से ले जाता दिखाई देता है। ऐसे लोग संसार को नश्वर और माया समझते हैं पर भट्ट जी कहते हैं :—

"विरक्त और वेदान्तियों को यह संसार नीरस और फीका जान पड़ता है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८०, पृ० १०-११।
२. ,, ,, ,, पृ० १०।
३. ,, अप्रैल १८८०, पृ० २।

हम लोगों की बुद्धि गवाही दे रही है कि नहीं यही सार है। इसलिए इसी को सिद्ध करना हमारे जीवन का फल है।"[१]

हिन्दू समाज की परिवर्तन विमुखता

संसार परिवर्तनशील है इसे सभी मानते हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य और प्राकृतिक प्रक्रिया है किन्तु यदि इस कठोर सत्य की भी कोई उपेक्षा करता है तो तथाकथित बुद्धिमान मनुष्य ही। भट्ट जी का विचार है कि हमारा हिन्दू समाज इस रुग्ण दृष्टि से जितना पीड़ित है उतना शायद और कोई नहीं। ये हजारों वर्ष पुरानी रीति रिवाजों को बन्दर के मृत बच्चे की भाँति चिपकाए फिरते हैं। संसार का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक धरातल बदल रहा है पर ये अभी तक उनकी उपेक्षा कर आकाश में अपना महल बना रहे हैं और इसी कारण विश्व की अन्य जातियों की तुलना में उन्नति की दौड़ में ये इतने अधिक पिछड़ गये हैं। प्रगति से हिन्दुओं को जैसे जन्म जात बैर है, नई बातों का विरोध जैसे उन्हें घुट्टी के साथ पिलाया जाता है। संसार इतना आगे पहुँच गया है पर वे अब तक वहीं के वहीं हैं "विवाह के पूर्व गदहे पर चढ़ तब घोड़े पर सवार होते हैं उसे भी नहीं बदलना चाहते।"[२]

बाल्य विवाह का उग्र विरोध :—

भट्ट जी को अपने जीवन में अगर सबसे अधिक चिढ़ किसी बात से थी तो बाल्य विवाह से। सच तो यह है कि बाल्य विवाह से विरक्ति का कारण उनका अपना ही जीवन था। भट्ट जी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था। विवाह के बाद घर के लोगों ने उनका साथ छोड़ दिया, उन पर क्या बीती यह उनके अतिरिक्त और कौन जान सकता था। लेकिन उन्होंने यह अवश्य समझा कि यदि उनका विवाह बाल्यावस्था में न हो जाता तो सम्भवतः कष्टों का आकाश चुम्बी पहाड़ एक टीले से अधिक न लगता। 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में यदि भट्ट जी का सबसे अधिक क्रोध मिलता है तो बाल्यविवाह के प्रति ही। भट्ट जी चाहे राजनीति, साहित्य या और किसी भी विषय पर लेख लिख रहे हों किन्तु वे बाल्यविवाह की निन्दा का अवसर-अवकाश सब जगह निकाल लेते थे। उनका कहना है कि लोग बच्चों का विवाह दहेज के चक्कर में करते हैं, और भविष्य की कठिनाइयों को नहीं सोचते। लड़की जल्द सयानी हो जाती है लड़का छोटा ही रहता है और इस प्रकार असमान दम्पतियों की वृद्धि समाज को नरक बना देती है। ये असमान दम्पति ही समाज में अनाचार

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८०, पृ० २।**

२. **" जून १८८०, पृ० १६।**

और भ्रष्टाचार के प्राकृतिक जनक होते हैं। यदि बाल विवाह बन्द कर दिए जाँय तो पुरुषों की मृत्यु संख्या इतनी घट जाय कि शायद विधवा विवाहों की आवश्यकता ही न पड़े।[1]

भट्ट जी ने अपने दीर्घ पत्रकार जीवन में ब्रिटिश सरकार का कभी समर्थन नहीं किया लेकिन दो बातों में वे उसका समर्थन करने को तैयार थे एक तो सती प्रथा समाप्त करने में दूसरे बाल्य विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाने में। भट्ट जी बड़े दूरदर्शी व्यक्ति थे आज हम उनकी बात पर चाहे हँसलें पर वे साधारण से साधारण बात पर बहुत गहराई से सोचते थे। उनका विचार था कि विदेशियों को परास्त करने के लिए शक्ति की आवश्यकता है और बाल्य विवाह के कारण सशक्त और पुष्ट संतान की उत्पत्ति स्वप्न होती जा रही है तो फिर हम सरकार के पैर यहां से कैसे उखाड़ सकेंगे? आज हम यह सुन कर और पढ़ कर आश्चर्य कर सकते हैं कि भट्ट जी बाल्य विवाह पर प्रतिबन्ध सामाजिक दृष्टि से नहीं चाहते थे वरन् उसके मूल में उनकी यही राजनैतिक दृष्टि थी।[2] देशभक्ति और देश सेवा का ऐसा नशा इस महान पुरुष को था कि वह सारे विषयों का आधार राजनैतिक स्वतन्त्रता को मान कर ही चलता था। बाल्य विवाह के विरुद्ध भट्ट जी की उग्र भाषा की एक बानगी देखिए :—

"अठारह या बीस बरस का एक संडा अत्यन्त अज्ञात यौवना, अल्पवयस्का, अज्ञात रजसा ग्यारह या बारह वर्ष की बालिका जो अभी निपट अबोध है और इन बातों को कुछ भी नहीं जानती। केवल अपने सुख और आमोद के लिए सतावे यह कहाँ की सुरीति है। इसमें क्या बुनियाद है कि अमुक शिष्ट मनुष्य ने इसे प्रचलित किया है। बहुत से लोग कहते हैं यह धर्म नहीं यह तो सामाजिक विषय है। इसका संशोधन हम अपने आप करेंगे। गवर्नमेन्ट क्यों हाथ डालती है इसके उत्तर में हम कहते हैं महा कन्जरवेटिव हम हिन्दुओं की सत्यानाशी कौम ऐसी नहीं है कि अपने आप कभी भी कुछ करे। गो इसलिए सरकार ने जिस तरह सती की कुरीति उठाई उसी तरह इसे भी कानून के जरिए हम लोगों के बीच से उठादे।"[3]

हिन्दू समाज में फैले मतमतान्तरों के विरोधी—

पता नहीं हिन्दू समाज का संघटन किन तत्वों से हुआ है कि उसमें संगठन का नितांत अभाव है। मुसलमान और ईसाई संसार को एक सिरे से दूसरे सिरे

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८०, पृ० १-५।

२. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८९०, पृ० १४-२२।

३. ,, ,, ,, ,, पृ० १९।

तक पादाक्रांत कर सके तो इसी संगठन और धार्मिक एकता के बल पर। भट्ट जी को सदैव इस बात पर बड़ा क्षोभ रहा कि एकता तो दूर हिन्दू धर्म में मत मतान्तरों का इतना आधिक्य है कि वे आपस में सदा कलहरत रहते हैं और इस प्रकार अनजाने ही हिन्दू धर्म की जड़ों को कमजोर कर उसे धराशायी कर देना चाहते हैं। एक मत अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है और दूसरे से घृणा करता है। भट्ट जी 'हम ही सबसे बुरे हैं।'[1] शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं :—

"धिक् मजहवी सरगर्मी। इसी का नाम है कि शैव वैष्णव को देख खाक हों और वैष्णव शैव को देख जलें। खैर आपस ही में यह एक-एक फिरके खूब सरहुत रखते हों सो भी नहीं। शैव के सैकड़ों भेद तो वैष्णवों के हजारों जिनकी परस्पर ईर्ष्या की ऐसी दृढ़ गाँठ पड़ी है कि एक दूसरे का मुख देखना रवा नहीं मानते। रामोपासक चाहते है कृष्णोपासकों का उच्छेद हो जाय कृष्णोपासक आपस ही में कट मरते हैं।"[2]

हिन्दू धर्म के अनेक मतों में भी शाक्त मत आरम्भ से ही बड़ा बदनाम है। कबीर भी शाक्तों से बहुत नाराज थे और भट्ट जी भी खुले रूप में उनकी निंदा करते हैं :—

"सूप तो सूप चलनी भला क्या बोले जिसमें बहत्तर छेद। शाक्त लोग जिनके मत में मद्यपान, बलि प्रदान द्वारा हिंसा समान महापातक और चक्रपूजन में परस्त्रीगमन परमधर्म समझा जाता है तो अधर्म क्या होगा ?"[3]

बाह्याडम्बर का विरोध

बाह्याडम्बर का विरोध तो कबीरदास जी ने भी किया था पर उन्हें अत्यंत व्यंजक और पैनी गद्य का वह माध्यम प्राप्त नहीं था जो भट्ट जी को। समाज के साधारण व्यक्ति बाह्याडम्बर के प्रति ही आकृष्ट हो जाते हैं और गलत पात्रों के प्रति श्रद्धा उँडेल कर मूर्ख तो बनते ही हैं साथ ही उनके हाथों छले जाते हैं और सर्वनाश तक को प्राप्त होते हैं। प्रयाग जैसे तीर्थ के निवासी होने के कारण भट्ट जी के बराबर इन लोगों की धूर्तता से परिचित भी कौन हो सकता है। ऐसे पाखण्डियों को लक्ष्य पर भट्ट जी एक स्थान पर लिखते हैं :—

"छिपके मद्य भी गंगाजल है। जाहिरा में बर्फ मुँह में रखा कि धर्म गया। पुरुष मैथुन कोई पाप ही नहीं है क्योंकि इसकी तो चलन हो गई। क्या भया

---

१. हिन्दी प्रदीप', जनवरी, १८८०, पृ० १-४।
२. " " " पृ० २।
३. " जून १८७९, पृ० १-२।

जो यह (अन्नेचुरल) अप्राकृतिक है रहा गुप्त व्यभिचार सो उसी के छिपाने की हिकमत यह लम्बा तिलक लम्बी धोती और लम्बी माला है।"[१]

छूआछूत का विरोध :—हिन्दू समाज की सारी पवित्रता और महानता छूआछूत में सीमित रह गई थी। भट्ट जी भली प्रकार से समझते थे कि धर्म का यह गलत भाष्य है और इससे उन्हें बड़ी चिढ़ थी। एक स्थान पर वे लिखते हैं :—

"गाज पड़े ऐसे धर्म पर और ऐसी समझ में। ऐसे भगोड़े धर्म को हम कबलौं बाँध कर जकड़ बन्द किए रहेंगे जो जरा-जरा में जी छोड़ भाग जाता है। बर्फ पी लिया धर्म गया, बाजार की मिठाई दांत तले दावा धर्म धूल में मिल गया, दूसरे के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गये, वेश्या संसर्ग दूषित हो धर्म कुन्दन सा झलकता रहेगा, दासी गमन करते रहो धर्म कभी न बिगड़ेगा।........सब ठौर से सिकुड़ते सिकुड़ते हम हिन्दुओं को धर्म केवल रसना में आ टिका है।"[२]

विधवा विवाह का समर्थन :—हिन्दू धर्म की यह विचित्र व्यवस्था है कि पुरुष चाहे जितने विवाह करले और स्त्री पति के मर जाने पर जीवन भर उसके लिये आँसू बहाती रहे। पता नहीं देश की परिस्थितियाँ क्या होंगी जब इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी होगी। हो सकता कभी पुरुषों की संख्या स्त्रियों की तुलना में अत्यन्त कम रही हो। जो कुछ भी हो आज तो यह किसी को उचित प्रतीत नहीं होता कि एक युवती जीवन भर प्रकृति से लड़ने का व्यर्थ प्रयत्न करे। प्रकृति विरुद्ध इन चुनौतियों ने ही समाज में पाखंड और भ्रष्टाचार का प्रसार किया है।

भट्ट जी समाज में वास्तविक और ठोस सुधार चाहते थे इसलिये वे इस बात के पक्षपाती थे कि समाज विधवा विवाहों को मान्यता दे एक स्थान पर वे लिखते हैं :—

"कायस्थ वंश की एक बालविधवा स्त्री जिसकी उमर १५ वर्ष की है उसके बाप मा अपनी कन्या का पुनर्विवाह उसी के देवर के साथ किया चाहते हैं और सास ससुर भी उस स्त्री के इस बात पर राजी हैं अब प्रश्न यह है कि यदि यह विवाह कर दिया जाय तो कौन सी हानि है, विशेष प्रश्न उन कायस्थ महाशयों से है जो क्षत्री बनते हैं उन्हें केवल क्षत्री ही बनने का हौसिला है कि ऐसी ऐसी सर्वोपकारी बातों पर भी कुछ ध्यान है। यदि यह विवाह कर दिया जाय तो

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८८१,** पृ० २२।

२. **'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १८८१, पृ० ४।**

वे दोनों कन्या और वर के पक्ष वाले क्यों जाति बाहर हो सकते हैं ?.........क्या यह उस महान् कर्म की अपेक्षा बुरा है जो विधवा लोग गुप्त व्यभिचार करा प्रति वर्ष सैकड़ों गर्भपात कराय दोनों कुल को दूषित करतीं हैं।"[1]

'हिन्दी प्रदीप' सदैव भट्ट जी के इन विचारों को जनता में प्रकाशित करता रहा।

पर्दा प्रथा का विरोध

समाज का निर्माण अकेले पुरुषों से नहीं होता अपितु स्त्रियाँ भी उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं, शायद पुरुष से भी अधिक महत्वपूर्ण। किन्तु शताब्दियों से पुरुष स्त्री पर अपनी शारीरिक शक्ति की प्रमुखता थोपता आ रहा है और उस पर अनेक अत्याचार करता आया है। पता नहीं दुर्भाग्य का वह कौन सा क्षण था कि मनुष्य ने परदे का आविष्कार स्त्री के लिये कर डाला। भारत की प्राचीन संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि पर्दा का अभिशाप भारतीयों की बुद्धि की उपज नहीं है क्योंकि प्राचीन साहित्य में उसका उल्लेख नहीं है। खैर आया कहीं से हो किन्तु एक दिन हिन्दू नारी के लिये तो दिन ही में अन्धकार हो गया और "असूर्यपश्या" होना उसकी पवित्रता का माप दंड बन गया। भट्ट जी ने अपने लेखों में सर्वत्र और सदैव इस कुप्रथा का उग्र विरोध किया है और हिन्दुओं को इसके पोषण के लिये धिक्कारा है। भट्ट जी का विचार है कि पर्दा प्रथा भ्रष्टाचार को कम तो करती ही नहीं उसे बढ़ाती है। उन्होंने लिखा है 'रात बहू कौरे जाँय दिन कौआ देखि डराँय।' भट्ट जी का कहना है कि हिन्दू वास्तविक वेपरदगी को तो रोकते नहीं है जो नदियों के स्नान घाटों के निकट सदा सुलभ है, या मंदिर में जिसके प्रदर्शन के सुन्दर रंग मंच है। केवल घर पर पर्दा करने से क्या लाभ और सो भी केवल पति का जिसका पर्दा करने की कभी कोई आवश्यकता ही नहीं है।[2]

अनमेल विवाह का विरोध

एक परिवार समाज की एक इकाई है। यदि परिवारों में अलग-अलग अशांति रहेगी तो समाज में शान्ति और सुख की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। परिवार के सुख का आधार है सुखी दम्पति लेकिन जहाँ वर-वधू में सद्भाव न हो वह परिवार या गृहस्थी नरक से भी अधिक है। भट्ट जी सदैव इस प्रकार के अनमेल विवाहों का विरोध करते थे। उस युग में अनमेल विवाह का विरोध समाज के प्रति कितना बड़ा विद्रोह था समाज के ठेकेदारों को कितनी बड़ी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई १८७९, पृ० १-२।

२. " जुलाई १८८२, पृ० १०।

चुनौतों थी आज इसकी कल्पना करना सहज नहीं। भट्ट जी ने एक स्थान पर इस अनमेल विवाह के कारण घर-घर फैली अशान्ति के विषय में लिखा है :—

"दृष्टि फैलाय कर देखिए तो इसी अनमेल चित्त के विवाह के कारण कौन सा ऐसा घराना है जहाँ दिन रात की दाँता किट-किट नहीं हुआ करती।"[१]

कुसंस्कारों का विरोध

हिन्दू समाज का गठन ऐसा विचित्र है कि नए विचारों तथा नई चीजों के प्रवेश के सभी मार्ग बड़े परिश्रम और एक सुनिश्चित योजना के अनुसार बन्द कर दिए गये हैं। इसीलिए हिन्दू समाज एक ऐसे विचित्र भवन के समान है जिसमें से निकलने के मार्ग तो हैं किन्तु उसमें प्रवेश करने का कोई मार्ग है ही नहीं। हिन्दू धर्म की असंख्य कुरीतियाँ और उसके संकीर्ण दमघोंट वातावरण के कारण प्रतिवर्ष लाखों हिन्दू मतावलम्बी दूसरे धर्मों को स्वीकार कर लेते हैं। वस्त्र के लिये शरीर नहीं काटा छाँटा जाता अपितु शरीर के अनुसार ही वस्त्र काटा छाँटा जाता है। इसी के अनुसार रीति नीति, आचार विचार युग के साथ बदलने चाहिए न कि युग की प्रगति पर इन रीति नीतियों के अनुसार रोक लगायी जाय। भट्ट जी तो हिन्दू समाज में आमूलचूल परिवर्तन चाहते थे। बाल्य विवाह, संयुक्त परिवार, धर्म के झूठे ढकोसले, विवाह इत्यादि के समय व्यर्थ के आडम्बर इन सबके वे विरोधी थे। उनका कहना था कि हमारे प्राचीन संस्कार हमारे आगे बढ़ने में बाधक हैं। अतः हमें उन्हें अपने मार्ग से हटा देना चाहिए। भट्ट जी का स्पष्ट अभिमत था कि एक स्वार्थी (न्यस्त स्वार्थ वाला) वर्ग ऐसा है जो अपने उदर पोषण और अर्थ संचय के लिए इन कुसंस्कारों के औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है और इनके अधिकाधिक प्रचार प्रसार में अपने स्वार्थ साधन की सम्भावना देखता है। हमें ऐसे वर्ग का विरोध करना चाहिए। शास्त्रों और वेदों के नाम पर देश की जनता का शोषण अनादिकाल से हो रहा है आखिर यह कब समाप्त होगा ? भट्ट जी यह जानते थे कि जो जितना अधिक वृद्ध है कुसंस्कारों के जाल से छूटना उसके लिए उतना ही कठिन है। हाँ उन्हें नवयुवकों से अवश्य आशा थी, क्योंकि नई पौध कुसंस्कारों की इस अमर बेल से अभी अछूती थी उसके हृदय में देश प्रेम और देश स्वातन्त्र्य की ज्वाला धधक रही थी। भट्ट जी एक स्थान पर स्पष्ट लिखते हैं :—

'हमारे थोड़े से नवयुवकों को छोड़ स्वाधीनता का भाव हमारे हृदय से

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १८८६, पृ० ३२।**

बहुत दिन से अस्तमित हो गया है। जाति भेद वर्ण भेद, सम्प्रदाय भेद ने समाज को महा रोगी निर्बल और जीर्ण कर डाला किन्तु पराधीनता पिशाची के चंगुल में पड़े हुए इन अनर्थों के हटाने का उद्यम कभी न किया गया वरन् शाखा प्रशाखा के रूप में अनेक कुसंस्कार जिनकी नींव इन्हीं जाति भेद वर्ण भेद सम्प्रदाय भेद के कारण पड़ी है नित्य नए होते गये। अच्छी तरह जम गए कि इसी के प्रचलित रहने से बड़े बड़े क्लेश उठा रहे हैं तो भी प्रमादजनक व्यापार बाल्य-विवाह अथवा बहुविवाह रूप कुसंस्कार से मुंह नहीं मोड़ना चाहते।"[1]

यों तो संस्कार की ठीक ठीक परिभाषा देना कठिन है किन्तु हम कह सकते हैं कि बिना कारण जाने किसी वस्तु पर विश्वास करना संस्कार के ही अन्तर्गत है। बहुत सी चीजों को हम केवल इसलिए मानते हैं कि उसे दूसरे मानते हैं, और बहुत दिन से मानते चले आ रहे हैं। वास्तव में यह कोई तर्क नहीं है। भट्ट जी विवाह सम्बन्धी कुछ कुसंस्कारों पर प्रकाश डालते हैं :—

कभी को कुलीनता के अभिमान में वर की योग्यता का कुछ ख्याल न कर केवल हाड़ देखते हैं। जिस कुल में कन्या नहीं दी गई उसमें सुयोग्य पात्र मिलने पर नया मान्य मानने में कुलीनता के घमंड में दाग लगता है। इसलिए ब्याहे घर में खूसट कुपात्र ही को कन्या दे दिवाय गला छुटावेंगे। कहीं कहीं सुयोग्य वर के मिलने में नाड़ी वर्ग का विचार बाधक होता है। अच्छे से अच्छा पात्र मिलने पर भी नाड़ी वर्ग नहीं मिलता इसलिए अनुपयुक्त पात्र को कन्या का बलि कर देंगे क्योंकि उसके साथ नाड़ी वर्ग मिलता है जिसका विचार सर्वथा अशास्त्रोक्त निर्मूल ब्राह्मणों की गुरुवाई और पाधा जी के तोंद पुरने का जरिया है। कभी को धन के लोभ से कि हमारी कन्या सेर भर सोने से लदी रहे एक उजड्डु को उसे सौंप देते हैं।"[2]

भट्ट जी का कहना है कि यदि आज के हिन्दू धर्म के पाखंडों आडम्बरों थोथी रीति नीतियों झूठे आचार विचारों को देखकर "धर्मशास्त्र प्रवर्तक ऋषि यदि इस समय होते तो उनकी अकिल भी चक्कर में आ जाती।"[3]

यथार्थवादी दृष्टिकोण, वेदान्तियों की निंदा

भट्ट जी संसार को सत्य समझते हैं और जो उसे असत्य या माया समझते हैं ऐसे लोगों की वे तीव्र निंदा करते हैं। प्रयाग तीर्थराज कहलाता है इसलिए आध्यात्मिक जगत के बड़े से बड़े तथाकथित सिद्ध यहाँ देखने को मिल जाते थे।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई, अगस्त** १८८६, पृ० ३२।
२. ,, **जुलाई अगस्त १८८**, **पृ**० ३४।
३. ,, ,, ,, ,, ,,।

भट्ट जी इनमें से जाने कितनों से मिले होंगे और उनका सूक्ष्म निरीक्षण किया होगा। भट्ट जी के विचारों एवं निष्कर्षों से पता चलता है कि इस प्रकार के आध्यात्मवादी प्राणियों को वे समाज विरोधी समझते थे। उन्होंने अनेकों बार यह देखा था कि संसार को माया और नश्वर घोषित करने वाले ये तथाकथित आध्यात्मवादी सदैव दूसरे की माया पर ही अपनी आँख और दांत रखते थे। ऐसे लोगों का सीधा गुरु था संसार के जितने अधिक आदमी संसार को नश्वर समझ इसकी माया से विरक्त होंगे उतनी ही अधिक माया उनके पास आएगी। भट्ट जी का दृष्टिकोण एक कर्मठ सैनिक का था जिने कठिनाइयों से जूझना है और उन पर विजय प्राप्त कर इसी जीवन में सुख भोग करना है। वे पूजा पाठ करते अवश्य थे वे आस्तिक भी थे पर संसार को एक क्षण के लिए उन्होंने झूठा नहीं समझा। हाँ संसार को झूठा घोषित करने वालों को वे अवश्य बहुत बड़ा झूठा समझते थे। भट्ट जी अपने "संसार सुख का सार है हम इसे दुख का आगार कर रहे हैं"[1] शीर्षक महत्व पूर्ण निबंध में लिखते हैं :—

"संसार सुख का सार और स्वार्थ तथा परमार्थ साधन का पवित्र मंदिर है पर हम उसे अपने कुलक्षणों से दुःख के प्रवाह का स्रोत यावत संताप और क्लेश का अपवित्र आलय कर रहे हैं। पौरुषेय गुण शून्य हम अपने अकर्मण्य वेदान्तियों को क्या कहें जो संसार को दुःख रूप मिथ्या और नश्वर मानते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि यह हमारे ही अविचार अविवेक, शान्ति असंतोष, मोहांध बुद्धि आदि दुर्गुणों का कारण है कि स्वर्ण मन्दिर संसार को हम ढहाइ के उजाड़ खंडहर कर रहे हैं। जहाँ अमृत का कुंड भरा है उसे हम हलाहल विष से भर देते हैं। बड़े विद्वान हुए यावज्जीवन शास्त्र और फिलासफी को रट रट पच मरे जितना रट डाला उसके एक वाक्य पर भी जो विवेक और विचार को काम में लाते तो अपने अस्त व्यस्त कामों से जो अनेक दुख सहते हैं और अपनी समझ और काम को दोष न दे संसार को दुःख का आगार मान बैठे हैं यह भ्रम मिट जाता। यदि विवेक और विचार को मन में जगह देते तो जो दुख मय बोध होता है वही अनन्त सुख का हेतु होता।"[2] भट्ट जी को तो संसार सुख और आनन्द का घर प्रतीत होता है :—

"संसार सुख संदोह का परमोत्कृष्ट मंदिर है हम अपने कुढंग और कुचरित्र से अपवित्र कर अपने जीवन को दुःख पूर्ण कर रहे हैं।"[3]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर १८९५ पृ० ३-१०।
२. ,, सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० ४।
३. ,, ,, ,, ,, पृ० १०।

पाखंडियों की कड़ी भर्त्सना :—

कुछ कहते हैं, कुछ सोचते हैं, और करते कुछ और हैं यही पाखंड है। सर्व-साधारण की दृष्टि इतनी तीव्र और दूरगामी नहीं होती कि किसी के बाह्य आवरण को भेद कर उसके अन्तर में झाँक सके और उसकी वास्तविकता जान ले। यहाँ तौ यदि एक हत्यारा और डाकू भी गेरुआ वस्त्र धारण करले और घुट मुँड कराले तो सर्वसाधारण उसे 'स्वामी जी प्रणाम' कहेंगे। प्रयाग जैसे भारत प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों में ऐसे दुरात्माओं की कमी नहीं थी जो महात्माओं की वेशभूषा में ढके रहते थे। भट्ट जी ने ऐसे लोगों की कड़ी निंदा की है। लेकिन पाखंडी तीर्थों में ही नहीं घर घर में मिल जायेंगे। मन में विष घुल रहा है बाहर से पवित्रता का ढोंग रचे हुए हैं। कच्ची रोटी से परहेज है पर रस-गुल्ला और लड्डू किसी का भी खाने को तैयार हैं क्योंकि उसमें रसना सुख अधिक है। लगता है हिन्दुओं में रसना लम्पटता ही पाखंड की जननी है। देखिए भट्ट जी इस पाखंड पर कैसा तीव्र व्यंग्य करते हैं :—

"हमारे यहाँ आठ कनौजिए नौ चूल्हे प्रसिद्ध हैं जो केवल दम्भ और ईर्ष्या की बुनियाद पर है। धर्म का कहीं लेश इसमें नहीं है। धर्म शास्त्र के अनेक ग्रंथ ढूँढ़ हारे कच्ची पक्की तथा सखरी निखरी के भेद में क्या मूल है कोई एक वचन भी इस तरह का न मिला। सखरी निखरी की प्रथा आधुनिक और निर्मूल है समाज को नित्य नित्य नीचे गिराने को महादाम्भिक अदूरदर्शी इर्षी स्वार्थी लोगों की चलाई हुई है। जिससे लाभ कोई नहीं है, आपस की ईर्ष्या द्रोह अलबत्ता बढ़ती जाती है।"[1]

समाज निर्माण के सम्बन्ध में भट्ट जी के विचार :—

कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तियों के समूह का नाम ही समाज है।' इस परिभाषा का इतिहास साथ नहीं देता कारण बहुत से जंगली पशु भी समूह बना कर रहते हैं। किन्तु वे समाज नहीं बना पाते। इसी प्रकार मनुष्य भी आदि काल में झुण्ड बनाकर रहता होगा किन्तु उस आदिकालीन स्थिति को हम समाज की संज्ञा नहीं देते उसे झुण्ड कह सकते हैं। समाज ऐसे झुण्ड को कह सकते हैं जो आपसी व्यवहार, आदान-प्रदान, तथा सम्बन्ध के सूत्रों में गुथा हो। भट्ट जी के द्वारा दी गई परिभाषा बहुत कुछ ठीक है क्योंकि उन्होंने व्यक्ति के स्थान पर 'सभ्य लोग' शब्द का प्रयोग कर वास्तविकता को भली भाँति प्रकट कर दिया है। अपने 'समाज बंधन'[2] शीर्षक निवन्ध में वे लिखते हैं :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० ८।**

२. ,, **जून १८८०, पृ० ५–८।**

"अनेक सभ्य जाति के लोग आपस में मिल जुल कर एक स्थान में वास करें उसे समाज बंधन कहते हैं।"[1]

भट्ट जी संसार के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण अपनाते हैं; वेदान्तियों का ह्रासवादी दृष्टिकोण नहीं :—

"समाज का ह्रास वा अवनति या इसकी वृद्धि अथवा उन्नति किसी के किए से नहीं होती किन्तु कालक्रम से इसकी उन्नति या वृद्धि आप ही हो जाती है।"[2]

भट्ट जी 'नेता' शब्द की ऐसी परिभाषा देते हैं जो आज भी ठीक है और वे समाज को सबसे ऊँचा घोषित करते हैं नेता समाज के आधीन है :—

"नेता केवल समाज के अन्तर्गत जनसमूह की सर्व सम्मति से चुना हुआ एक मनुष्य मात्र है जिसका अगुआ बनना केवल समाज के आधीन है।"[3]

समाज की उन्नति के लिये दो, बातें अत्यावश्यक हैं (१) सहानुभूति, (२) देशानुराग। जो लोग दूसरों के दास होते हैं उनमें ये बातें नहीं होतीं और बिना इनको प्राप्त किए दासता से स्वतन्त्र हो जाना सम्भव नहीं है।[4]

समाज मानवता की प्रगति के लिये एक अभूतपूर्व मार्ग है। किन्तु प्रगति के लिये मार्ग को साफ रखना आवश्यक है। कंटकाकीर्ण मार्ग में प्रगति संभव नहीं, होगी भी तो नगण्य। इसी प्रकार मानवता की प्रगति के लिये समाज की बुराईयों का मूलोच्छेदन आवश्यक है। यदि समाज में अनिष्टकारी परम्परायें बन रही हैं तो मनुष्यों को उन्हें समाप्त करने में संकोच नहीं करना चाहिए और न इस विषय में समाज से डरना ही चाहिए। समाज का अनुचित भय अकल्याणकारी होता है। उदाहरण के लिये बाल विवाह, बहु विवाह आदि इसी भय के कारण पनप रहे हैं इसी भय के कारण विधवा विवाह सम्भव नहीं हो पाता। मनुष्यों को समाज के इस अनुचित भय से पीछा छुड़ाना ही होगा।[5]

भट्ट जी समाज में ३ प्रकार की श्रेणियां मानते हैं :—

(१) उच्च, (२) मध्यम, (३) निम्न।

उनका कथन है कि उच्च श्रेणी धनातिरेक से पीड़ित रहती है। श्रेणियों का आधार है रुपया। जिसके पास जितना रुपया है संसार की सुख सुविधायें भी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जून १८८०, पृ० ५।

२. ,, जून १८८०, पृ० ५।

३. ,, ,, ,, पृ० ६।

४. ,, ,, ,, पृ० ८।

५. ,, जुलाई १८८०, पृ० ७-६।

उसे उसी अनुपात से उपलब्ध हैं। भट्ट जी को उच्च श्रेणी से सहज घृणा है। उनका विचार है कि यह शोषक श्रेणी है और दूसरों का रक्त (धन) चूस कर व्यर्थ उसे पानी की तरह बहाती है।[१] ऐसे लोगों के विषय में भट्ट जी का कथन है :—

"धन या सम्पत्ति भी जो उन्होंने अपनी निज की गाढ़ी महनत से बनाया होता तो उसके उठाने में उन्हें कुछ आर होती। बाप-दादे रातों दिन पच-पच न्याय अन्याय का कुछ ख्याल न कर कौड़ी कौड़ी जोड़ जोड़ मर गए पर बेटे पोतों का नाम ऊँची श्रेणी में हो ही गया। बस अब और क्या चाहिए।"[२]

निम्न श्रेणी को पेट भरने से ही फुरसत नहीं मिलती इसलिये यदि समाज की उन्नति किसी से संभव है तो मध्यम श्रेणी से। संसार के महानतम व्यक्तियों की जननी यही श्रेणी है, इतिहास इस बात का साक्षी है। सुकरात अरस्तू, व्यास बाल्मीकि, शेक्सपीयर मिल्टन, तुलसी, सूर आदि सब इसी श्रेणी से आए। इस लिए विश्व मानवता को इसी श्रेणी से बड़ी बड़ी आशायें हैं।[३]

फैशन से चिढ़

भट्ट जी को फैशन से बड़ी चिढ़ थी और इसे वे समाज के लिये अकल्याण-कारी समझते थे। सम्पन्न व्यक्ति तरह तरह की फैशन बनाते हैं जनता उनका अनुकरण करती है ये लोग चाहें तो समाज के समक्ष अच्छे आदर्श भी प्रस्तुत कर सकते हैं पर उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं है। भट्ट जी समाज में प्रचलित भद्दे फैशन का मजाक बनाते हुए लिखते हैं :—

"वर्निश किया हुआ गुरगाबी जूता, औखेदार पाइजामा, अंगरखा चुस्त बांह का, आधा सीना खुला रहना चाहिए। टेढ़ी टोपी, आधे सिर से लम्बे लम्बे पट्टों में तेल फुलेल टपकता हो, आड़ा तिलक महावीरी का, पान के बीड़ों से एक और गाल फूला हुआ मानो बतीड़ी निकली है।"[४]

भीख माँगने की कुप्रवृत्ति का विरोध

कबीरदास 'माँगन और मरन' को एक समान मानते थे। भट्ट जी भी याचक वृत्ति के कट्टर शत्रु हैं। भट्ट जी साहसी और सच्चे इतने हैं कि उनकी भिखारी की परिभाषा में यदि पेटू ब्राह्मण भी आजायेंगे तो वे उनका किंन्चिमात्र भी लिहाज नहीं करेंगे और उन पर भी उतनी ही तीखी व्यंग्य

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८८, पृ० १-२।
२. ,, ,, ,, पृ० २।
३. ,, ,, ,, पृ० १-२।
४. ,, ,, १८८०, पृ० २२-२३।

बाण वर्षा करेंगे जितनी अन्य भिखारियों पर। वास्तव में याचना में ब्राह्मण भिखारियों से भी दो पग आगे हैं और तारीफ यह कि दाता को वे अपना सेवक ही समझते हैं और उनका दान ग्रहण कर उसी पर अहस न करते हैं। भट्ट जी ने ऐसे दृश्य देखे थे और उनको यह देखकर आंतरिक व्यथा होती थी कि जो लोग देश के मस्तिष्क कहे जाते थे उनका कितना पतन हो गया है। भट्ट जी स्वयं ब्राह्मण थे इसलिए उनका ब्राह्मण विरोध वर्ण वैमनस्य भी नहीं कहला सकता उसके अन्दर तो पूरी सच्चाई और गहराई है। अपने 'फक़ीरी'[२] शीर्षक एक महत्वपूर्ण निबन्ध में भट्ट जी लिखते हैं :—

"हाथ, पाँव और पाँचों इन्द्रियाँ सब सही सलामत रख किसी के सामने हाथ पसार दीन हो मांगने में किसी तरह की शरम और हियाव न समझना हमारे ही देश में है जहाँ कुल आबादी का कम से कम चौथा हिस्सा केवल इसी जीविका से अपनी जिन्दगी काटता है। ब्राह्मणों में तो थोड़े ही ऐसे होंगे जिन्होंने दान लेने से मुँह मोड़ लिया है नहीं तो इनका समूह का समूह दान लेना अपना मुख्य धर्म और अपनी जाति की एक बड़ी शोभा समझ रक्खा है। जब सिरे ही में भेड़ कानी निकली तब बाक़ी के लिने कौन झींखे।"[३]

बहुत कम ऐसे साहसी लोग होंगे जो धार्मिक और आस्तिक होते हुए भी इतना यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हों जितना भट्ट जी। भट्ट जी परलोकवादी या मायावादी नहीं हैं वे घोर भौतिकवादी हैं। उन आध्यात्मवादियों में से वे नहीं हैं कि व्यक्तिगत रूप से उनके शरीर की सुख सुविधा बनी रहे संसार से उन्हें क्या काम। भट्ट जी तो पहले लौकिक सुधार चाहते हैं अलौकिकता में उनका विश्वास नहीं है, यहाँ तक कि भजन और भक्ति को भी वे लौकिक सुख लिए मानते हैं। तथाकथित आध्यात्मवादी संसार को कितना कुरूप और विकृत किये दे रहे थे यह उनसे छिपा नहीं था। इसलिए 'हिन्दी प्रदीप' के द्वारा अपने जिस दृष्टिकोण का प्रचार उन्होंने आरम्भ किया वह वास्तव में अत्यन्त संतुलित और लोकमंगलकारी था। भौतिक सुख और आध्यात्मिक शान्ति वे दोनों का उचित समन्वय चाहते थे। एकांकी साधना उन्हें पसन्द न थी और उसे वे कल्याणकारी भी नहीं मानते थे। भट्ट जी साफ-साफ कहते थे हमारे धर्म में उग्र सुधारों की आवश्यकता है। आज धर्म बाह्याडम्बर और पाखण्ड का प्रतीक मात्र रह गया है पहले इस स्थिति जो बदलना होगा। हिन्दू धर्म का शरीर अनेक मतमतान्तरों के रोग से पीड़ित है इनसे उसकी रक्षा करनी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८३, पृ० १-४।**

३. „ „ „ पृ० २।

होगी और ढोंग और पाखण्ड का जो अनिष्ट कर कुपथ्य उसे दिया जा रहा है यदि उसे बन्द न किया गया तो उसका जीवन ही समाप्त हो जायगा। अब समय आ गया है जब वेद में श्रद्धा न रख धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का उद्धार किया जाय जिससे कौआ और कोयला का अन्तर स्पष्ट हो सके। भट्ट जी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

"सच पूछिए तो भीख माँगने को एक हुनर हमारे देश वाले समझते हैं। कैसे कैसे रूप और भेख कसते हैं। जटा रखाते हैं, खाक रमाते हैं, गेरूआ रंगते हैं। कोई ऊर्ध्व बाहु बनते हैं कोई कनफटे हैं कोई डंड लिये डोलते हैं कोई निरे नंगे रहते हैं। औघड़ अघोरी, सन्यासी उदासी सुतो, आजाद आदि अनगिनत रूप धर-धर लूटते खाते हैं। हमारी मूर्ख प्रजा के बीच जिनमें चिरकाल से कुसंस्कार ने ऐसी जड़ पकड़ली है कि कितनी ही चेष्टा इसे छुटाने की करो किसी तरह दूर नहीं होता, भेख माना जाता है आदमी के गुण अवगुण पर कभी ध्यान नहीं देते। कैसा ही आवारा हो भेख उनके पंथ का बना लिया हो उनका पूज्य हो गया। यहाँ तक इस भिक्षुक वृत्ति की तरक्की इस मुल्क में हो गई है कि सैकड़ों बल्कि हजारों इसी भीख की बदौलत लाखों और करोरों के धनी बने बैठे हैं।"[1]

हमारी सरकार जो आज कर रही है और अबतक कर भी नहीं पाई है उन्हीं भिक्षुक-गृहों की स्थापना का सुझाव पं० बालकृष्ण भट्ट ने आज से ७०-७२ वर्ष पूर्व दिया था :—

"क्यों हमारे देश के धनियों से चन्दा कर रुपया जमा हो सरकार की ओर से एक चैरिटी हाउस, दानशाला या किसी दूसरे तरह का कारखाना न खोला जाय जिसमें ये भिखमंगे पकड़ पकड़ रखे जाँय। वहाँ जो जैसा हो उनसे वैसी महनत ले खाने को दिया जाया करे। कुछ दिन बाद उनको महनत करने की आदत पड़ जायगी तब यह भीख मांगना उन्हें आप ही न सुहायगा। और जो अंधे लूले अपाहिज हों उन्हें उस दान शाला से कुछ खाने को दिया जाया करे। तीर्थ और मेले ठेले में इन भिख मंगों के लिये सख्त मुमानियत रहा करे। मथुरा काशी गया आदि के तीर्थ के लुटेरे पण्डे यात्रियों को बहुत तंग किया करते हैं।"[2]

ब्राह्मण जाति जो कभी भारत के ज्ञान का प्रतीक थी आज अत्यन्त पतित हो गई है भट्ट जी इसका एक मात्र कारण बताते हैं भिक्षावृत्ति। बिना

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८३, पृ० २-३।
२. „ „ „ पृ० ४।

परिश्रम किये भोजन प्राप्त करने का अधिकार किसी को नहीं है किन्तु हिन्दुओं में तो ब्राह्मणों का एक वर्ग ही ऐसा है जो पर पिण्डोपजीवी है। पण्डिताई, दक्षिणा आदि को भट्ट जी इसी भिक्षा का संस्कृत रूप मानते हैं। किन्तु उस भिक्षा जैसे निन्दनीय और जघन्य कार्य के लिये वे केवल भिक्षकों को ही दोष नहीं देते उनका कहना है कि इन तथाकथित कलयुगी दानियों का अपराध भी इसमें समान है जो पात्रापात्र का विचार खो चुके हैं और अन्धे होकर दान देते हैं जिनसे ऐसे तत्वों का पोषण होता है जो समाज के लिये घातक हैं। भट्ट जी अपने 'हमारे ब्राह्मण क्यों कदर्य होते जाते हैं'[1] नामक निबंध में लिखते हैं :—

'फिर यह भिक्षा भी कुछ ऐसा बेहूदा तरह से चल पड़ी कि दानशीलों की श्रद्धा दान देने के लिये चरचरा उठती है। विवेक का बिलकुल दखल होने ही नहीं देती। कुपात्रों के सामने असंख्य धन कुरे देती है। सुपात्र को कभी सपने में भी खोजने नहीं जाती। पाधाई, पुरोहिताई, पंडिताई, पण्डागीरी इत्यादि सब इसी भिक्षा के सीगे में दाखिल हैं यही कारण है कि ये सबके सब यहाँ तक मूर्ख कदर्य धूर्त बदकार और आवारा हो गए हैं कि कुछ नहीं कहा जाता। ·······इसलिये जब तक यह बिगड़ा क्रम भिक्षा देने वाले तथा लेने वालों का बना रहेगा तक तक हमारे पुरातन ऋषियों के कुल कलंक और उनके नाम में बट्टा लगाने वाले ये भिखमंगे कभी न सुधरेंगे।"[2]

भट्ट जी दोनों वर्गों की समाप्ति चाहते हैं दान देने वालों की भी और लेने वालों की भी। मनोवैज्ञानिक सत्य भी यही है कि इस व्यापार में एक पक्ष में दया की भावना दूसरे में हीनता की भावना बनी रहती है। जब मनुष्य मात्र समान हैं तो फिर एक व्यक्ति को दान देने के द्वारा दूसरे का अपमान करने का क्या अधिकार है? भट्ट जी के कुछ विचार तो सचमुच इतने क्रांतिकारी हैं कि आज भी वे भविष्य की बात लगते हैं। हमारा विचार है कि भविष्य में एक युग ऐसा अवश्य आएगा जब भट्ट जी की कल्पना सत्य में परिणत होकर रहेगी। मनुष्य-मनुष्य समान होगा और दान लेने देने का अपमानजनक व्यापार—मानवता का यह कलङ्क—पृथ्वी पर से सदैव के लिए उठ जायगा।

मूर्ति पूजा के समर्थक

सूर की तरह भट्ट जी भी निराकार ईश्वर को जन साधारण की सामर्थ्य सीमा से परे समझते थे और सर्वसाधारण की आत्मिक शान्ति के लिए मूर्ति

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून १८९१**, पृ० ३०–३१।

२. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून १८९१, पृ०** ३०-३१।

पूजा का समर्थन करते थे। इस विषय में भट्ट जी ने स्वामी दयानन्द की भी कई बार आलोचना करदी थी क्योंकि वे मूर्ति पूजा के विरोधी थे। स्वामी दयानन्द भट्ट जी के समकालीन थे और अब तक उन्हें इतनी प्रसिद्धि नहीं मिली थी। फिर भट्ट जी तो अपने ढंग के अकेले आदमी थे वे जिस बात पर विश्वास करते थे दृढ़ता के साथ करने थे जिस बात का विरोध करते थे दृढ़ता के साथ करते थे। वे व्यक्ति विशेष, उसके पद, और प्रभाव से जीवन में कभी आतंकित नहीं रहे। वे महामना मालवीय और महर्षि दयानन्द की एक सी कड़ी आलोचना चाहे जब कर सकते थे। भट्ट जी का मस्तक उनके दुर्दिनों में भी किसी के वैभव और प्रभाव के सामने नहीं झुका। देश के लिए तन मन धन अर्पण करने वाले साधारण व्यक्तियों के भी वे सेवक थे और 'हिन्दी प्रदीप' में ऐसे लोगों की प्रशंसा की झड़ी लगा देते थे। भट्ट जी ऐसे साहित्यिक थे जो सिद्धान्त की बात आने पर टूट सकते थे झुक नहीं सकते थे।

मूर्ति पूजा के विषय में भट्ट जी लिखते हैं :—

"मनुष्य भली भाँति जब तत्व को पहुँच जाता है आप ही मूर्ति पूजन की ओर श्रद्धा नहीं रह जाती तब हठात् उसके विरुद्ध प्रवृत्त होने की क्या आवश्यकता है? हमारी समझ में मनुष्य को सम्यक ज्ञान के पूर्व आस्तिक बना रखने के लिये मूर्ति पूजन बहुत अवलम्ब है।"[१]

स्वामी दयानन्द के विषय में भट्ट जी के विचार

यह तो निर्विवाद है कि स्वामी दयानन्द जैसा व्यक्तित्व शताब्दियों में उत्पन्न होता है किन्तु भट्ट जी का व्यक्तित्व भी ऐसे ही महापुरुषों की श्रेणी में आता है। संयोग की बात है कि भट्ट जी को स्वामी दयानन्द की बातें पसन्द नहीं आती थीं। और जो बात भट्ट जी को पसन्द न आए उसे अभिव्यक्ति से रोकना उनके वश की बात नहीं थी। भट्ट जी एक तो दयानन्द जी की इस बात के विरोधी थे कि वे वैदिक भाषा को यहाँ की बोलचाल की भाषा नहीं मानते थे।[२] दूसरे स्वामी जी का कहना था कि 'ईश्वर नई आत्मा नहीं सृजता न नए परमाणु सृज सकता है किन्तु उन्हीं परमाणु और आत्मा से नई सृष्टि करता है।[३] इसके अतिरिक्त भट्ट जी को यह भी पसन्द न था कि स्वामी दयानन्द पुराणों की कोरी गप्प बतायें, शंकराचार्य को सिड़ी कहें, सायणाचार्य महीधर को भ्रान्ति युक्त बतायें तथा पुर्नविवाह के बदले नियोग की व्यवस्था करें।[४]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर १८७९, पृ० ७।**
२. ,, ,, ,, पृ० २१-२३।
३. ,, ,, ,, पृ० २२।
४. ,, ,, ,, पृ० २२-२३।

भट्ट जी का विरोध सिद्धान्त का रहता था व्यक्तिगत विरोध से वे ऊपर थे और अंध विरोध के भी वे विरोधी थे। यही कारण है कि कुछ बातों में स्वामी दयानन्द से असहमत होने पर भी वे उनके बड़े भारी समर्थक और प्रशंसक भी थे। भट्ट जी ऐसे व्यक्ति नहीं थे कि केवल अपनी बात सिद्ध करने के लिए किसी की अच्छाइयों पर परदा डालदें या किसी की अनुचित प्रशंसा करें। उनकी अच्छाई बुराई की एक मात्र कसौटी थी देशभक्ति या देश सेवा। वे सभी के कार्यों को इसी पर कस कर परखते थे।

एक बार किन्हीं पं० चतुर्भुज ने स्वामी दयानन्द के विरोध में कुछ कह दिया। भट्ट जी इसे न सह सके कि एक ढोंगी आदमी एक सच्चे, निर्लोभी और निस्वार्थी व्यक्ति के विरोध में कुछ कहे। उन्होंने तुरन्त इसके विरोध में एक टिप्पणी लिखी :—

"हमको दयानन्द से कुछ प्रयोजन नहीं पर इतना कहेंगे कि दयानन्द महज तनतनहा एक फकीर आदमी है, सच्चे जी से देश की भलाई चाहता है क्या भया जो कहीं-कहीं पर कितनी बातों में बहका हुआ है, भरपूर करते बन नहीं पड़ता। फिर भी उसकी जात से मुल्क को बहुत कुछ लाभ पहुँचता है। चतुर्भुज तथा इस समय के निर्विध ब्राह्मण सिवा अपना मतलब निकाल लेने के देश या जनपद को कौन सा लाभ पहुँचाते हैं ?"[१]

भट्ट जी को इस बात की बड़ी चिंता थी कि हिंदू धर्मावलंबी हिन्दू धर्म छोड़ कर धीरे-धीरे दूसरे धर्मों को अपनाते जा रहे हैं। ऐसे उदाहरणों का नितान्त अभाव था कि कोई व्यक्ति अपना धर्म छोड़कर हिन्दू हो गया हो। इसलिये अन्य धर्मावलम्बियों को शुद्ध कर हिन्दू बनाने का प्रयत्न स्वामी दयानन्द का मौलिक प्रयत्न था। और आर्य समाज के इस शुभ प्रयत्न पर भट्ट जी ने बड़ा सन्तोष व्यक्त किया है और कहा है :—

'हिन्दूपन को स्थिर रखने को यह बड़ी उत्तम उपाय निकाली गई। अब निश्चय होता है हिन्दू इस देश में चिरस्थाई रहेंगे। यदि कोरे एकादशी व्रत, गंगा स्नान और घोंघा पण्डितों पर इस धर्म का सब दारमदार रहता जैसा अब तक रहा तो हमारी इतिश्री ही रही। खैर जो हो आर्य समाज को इसका धन्यवाद है।"[२]

स्वामी दयानन्द के इस विचार के भी भट्ट जी समर्थक थे कि जितना रुपया मंदिरों और पुजारियों पर बहाया जाता है यदि उसका कुछ अंश भी पाठशाला

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८३, पृ० २०।**

२. ,, **सितम्बर १८७७, पृ० २४।**

इत्यादि बनाने में लगाया जाय तो देश का वास्तविक हित हो। भट्ट जी का कहना यह भी था कि मंदिरों और तीर्थों का अस्तित्व तभी तक है जब तक हमारा समाज अशिक्षित है। जब समाज शिक्षित हो जायगा तो ये मन्दिर और देवालय अपने आप अतीत की बात हो जायेंगे।[1]

असल में भट्ट जी धर्म की वर्तमान व्यवस्था से बड़े चिढ़े हुए थे जिसमें धर्म पर ढोंगी और निरक्षर भट्टाचार्यों का एकाधिकार था। यदि कुछ शिक्षित थे भी तो पुराने ढंग के जिनका युग की आवश्यकताओं और नई परिस्थितियों से मेल नहीं बैठता था। वे सिद्धान्त कौमुदी की फिक्क्कायें फाँक-फाँक कर विद्वान् बनना चाहते थे चाहे इस तोता रटन्त से उनकी समझ में कुछ भी न आए।[2] भट्ट जी नई शिक्षा का समर्थन करते थे और आर्य समाज भी इसके पक्ष में थी इसलिए आर्य समाज की इन बातों के वे प्रशंसक भी थे।

स्त्री शिक्षा के समर्थक

भट्ट जी स्त्री शिक्षा के बहुत बड़े समर्थक थे। उनका विचार था कि यदि हमारा पुरुष वर्ग शिक्षित हो भी गया और वह प्रगतिशील विचारों का भी समर्थक हो गया तब भी हमारी वास्तविक प्रगति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हमारे समाज का आधा भाग स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। जब तक हमारी स्त्रियाँ अशिक्षित रहेंगीं तब तक हमारे घरों पर ढोंगी पण्डितों और धूर्त पण्डों का अधिकार रहेगा। इसलिये इन धूर्तों से बचने के लिए स्त्रियों को शिक्षित बनाना अत्यावश्यक है भट्ट जी को इस बात से बड़ा सन्तोष था कि हमारा नवयुवक वर्ग पण्डा पुजारियों का विरोधी है लेकिन स्त्रियों की स्थिति के विषय में वे लिखते हैं :—

"अब रहीं स्त्रियाँ जिनका हमारे पूज्यपाद महाराजों को बड़ा अभिमान है कि बला से बाबू साहब के ख्याल बदल गए तो क्या परवाह है, उनके घर की अपढ़ स्त्रियाँ तो हमारे चुंगल में हैं सो उधर भी सब सामान इनकी उस्तादी खुलने का हो रहा है। यह स्त्री शिक्षा और स्त्रियों के दशा की परिवर्त्तन की चेष्टा इत्यादि आंदोलन के क्या माने? इसके यही तात्पर्य है कि शिक्षा आदि के द्वारा उनके नेत्र खोल दिए जाँय जिससे ये भी हमारे समान गुरुजी की चालाकी समझने लगें। निश्चय मानिए जिस दिन हमारी सीधी सादी ललना समाज में शिक्षा का असर पैदा हो गया जैसा बंगाल में हो चला है उस दिन फिर ये मंदिर और देवस्थान हिन्दुस्तान की एक पुरानी बात मात्र रह जायगी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून १८६१, पृ० १७-२६।
२. ,, दिसम्बर १८८६, पृ० २२-२३।

उनकी ओर जैसा मज़हवी जोश इस समय देखा जाता है वह बिलकुल गायब हो जायगा।"[१]

आज भी देवस्थानों और मंदिरों का विरोध कोई इतनी स्पष्ट और तीखी वाणी में नहीं कर सकता। एक ढेले में दो शिकार इसी को कहते हैं एक ओर स्त्री शिक्षा का समर्थन दूसरी ओर ढोंग और पाखंड के आश्रम स्थल मंदिरों और देवस्थानों आदि का विरोध। उस युग में स्त्री शिक्षा का समर्थन और धार्मिक पाखण्डों का विरोध कम खतरे का काम नहीं था। किन्तु भट्ट जी जैसे निर्लोभी व्यक्ति को सस्ती लोकप्रियता की वांछा भी नहीं थी इसलिये वे यह सब कुछ द्विधाहीन हो साहस के साथ कर सके।

भट्ट जी अतीत के प्रति अनुचित ममता मोह के रुग्ण दृष्टिकोण से पीड़ित नहीं थे, न उन आध्यात्मवादियों में से वे थे जिनके मत से पुराने शास्त्र और उनके प्रणेता ऋषि महर्षि बिल्कुल निर्दोष और लोकोत्तर हैं। भट्ट जी का दृष्टिकोण एक चिकित्सक का है। हमारे समाज के शरीर में जहाँ-जहाँ दुर्गन्धयुक्त व्रण हैं उनकी शल्य चिकित्सा वे तुरंत करना चाहते हैं। अतीत के प्रति उनका दृष्टिकोण अंध श्रद्धा या अंध भक्ति का नहीं है। अपितु एक आलोचक का है। स्त्रियों के साथ अन्याय करने के लिये पक्षपाती शास्त्रकारों को वे किसी हालत में क्षमा नहीं करना चाहते और ऐसे मंद दृष्टि शास्त्रकारों के विरुद्ध वे संभवत: पहली बार अपनी अनास्था का बिगुल फूँकते हैं।

"हमारे यहाँ के ग्रंथकार और धर्मशास्त्र गढ़ने वालों की कुण्ठित बुद्धि में न जानिए क्यों यही समाया हुआ था कि स्त्रियाँ केवल दोष की खान हैं। गुण इनमें कुछ हई नहीं। इसी से चुन चुन उन्हें जहाँ तक ढूँढ़े मिला केवल दोष ही दोष इनके लिख गए और जहाँ तक इनके हक में बुराई और अत्याचार करते बना भरसक न चूके और इन्हें हर तरह पर घटाया। कानून में इनका सब तरह का हक्क मार दिया। धर्म सम्बन्धों में इन्हें प्रधान न रखा। दर्जे में इन्हें और महाजघन्य शूद्रों को एक ही माना और किस्की कहें मनु जिसके समान चोखा और हर समय में बरतने के लायक पक्षपातविहीन शास्त्र प्रणेताओं में दूसरा किसी का धर्म शास्त्र ऐसा नहीं है उन्होंने भी शूद्र और स्त्रियों की सब तरह पर रेढ़ मारी है।.......कौन न कहेगा कि उनके धर्म शास्त्र में यह एक कलंक का टीका है।"[२]

---

१. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून १८९१, पृ० २९।

२. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल से जून १८९१, पृ० ४५ से ४८।

हिन्दू समाज में स्त्रियों की हीन दशा से भट्ट जी सदैव दुःखी रहते थे। उन्होंने स्त्रियों एवम् स्त्री शिक्षा के समर्थन में लेखनी चलाने में कभी कृपणता नहीं की। 'हमारी ललनाओं की हीन दशा'[1] शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने स्त्रियों का पक्ष लिया है और पुरुषों से आग्रह किया है कि वे अपना दृष्टिकोण बदलें और युग के अनुकूल चलें।

भट्ट जी का यह लेख बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से लिखा गया है उनका कहना है कि हमारे देशवासी स्त्रियों की शिक्षा के इसलिए विरोधी हैं कि वे समझते हैं कि पढ़ लिख कर स्त्रियां पराधीन नहीं रहना चाहेंगी, वे हमारी बराबरी करने लगेंगीं या फिर कुमार्गगामी हो जाँयगीं। भट्ट जी ने उपर्युक्त लेख में इन सब शङ्काओं का समाधान किया है और बताया है कि शिक्षा तो मनुष्य की आँखें खोल देती है, विवेक पर से अज्ञान का परदा उठा देती है उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान करा देती है इसलिए यह आशङ्का कि पढ़ लिख कर महिलायें पथ भ्रष्ट हो जाँयगीं बिलकुल निर्मूल और निराधार है। पढ़ी लिखी स्त्रियाँ तो पुरुषों की सहायक ही सिद्ध होंगी। इसलिए स्त्रियों की शिक्षा का अन्ध विरोध करना छोड़ कर पुरुषों को विवेक से काम लेना चाहिए और स्त्री शिक्षा का समर्थन करना चाहिए।[2]

अधिकांश भारतीय परिवारों में प्रायः कलह रहती है इसका कारण भी भट्ट जी अशिक्षा को ही मानते हैं। उनका कथन है कि पति तो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर आधुनिक विचार धारा वाला हो जाता है और चूँकि उसकी पत्नी अशिक्षित रहती है इसलिए स्वभावतः वह उसकी उपेक्षा करता है। पत्नी यदि प्रयत्न करे तो अपनी कमियों को दूर कर सकती है और पति का प्रेम प्राप्त करने में सफल और समर्थ हो सकती है किन्तु निरक्षर पत्नी सफलता के लिए बिलकुल दूसरा ही मार्ग अपनाती है और इस प्रकार अपने जीवन को सदा के लिए दुःखमय बना लेती है। पति की उपेक्षा का कारण वह नक्षत्रों की चाल तथा भूत प्रेतों के षड्यन्त्र में देखती है और उसके उपचार के लिए 'पुच्चन' महाराज के जन्तर का सहारा लेती है। 'पुच्चन' महाराज उसे समझाते हैं कि उनका जन्तर उसके पति को उसके प्रति न केवल आकृष्ट कर देगा अपितु दास बना देगा। फिर क्या है गृह वधू अपना सब धन और आभूषण 'पुचन' महाराज को सौंप देती है और इस प्रकार पति पत्नी की पारस्परिक उदासीनता स्थायी घृणा का रूप ग्रहण कर लेती है। भट्ट जी का सुझाव है कि सुखमय दाम्पत्य

---

१ 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८९२, पृ० १४–१७।

२. ,, जनवरी १८९५, पृ० १४–१७।

जीवन के लिए स्त्रियों का शिक्षित होना एवम् आधुनिक होना नितांत आवश्यक है।[1] इतने यथार्थ धरातल पर ससस्याओं का विश्लेषण करना और उनका समाधान ढूँढ़ना उस युग को देखते हुए सचमुच एक आश्चर्य की बात है। इन प्रगतिशील विचारों के कारण भट्ट जी का महत्व बहुत बढ़ जाता है और हमारे मन में उनका स्थान और भी ऊँचा हो जाता है।

हमारे समाज की वास्तविक उन्नति बिना स्त्रियों के सहयोग के नहीं हो सकती। इस विषय में भट्ट जी का तर्क अत्यन्त युक्तियुक्त और सीधा है। उनका कहना है कि घर समाज की इकाई है। इसलिए जब तक प्रत्येक घर सुख और शांति का कल्याणकारी उत्स न बनेगा तब तक समाज में सुख और आनन्द की मंगलमयी धारा प्रवाहित नहीं हो सकती। हमारा घर स्त्रियों के अधीन होता है इसलिए इसकी सुख शांति भी बहुत कुछ उन्हीं के अधीन है। भट्ट जी का कथन है कि घर में शान्त, सुन्दर, सुशील, शिष्ट और शिक्षित प्रियवादिनी भार्या नहीं है वह घर अरण्य के समान है। वे लिखते हैं :—

"माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रिय वादिनी
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा वनम्॥"[2]

भट्ट जी इस बात को और भी स्पष्ट रूप में आगे लिखते हैं :—

"सती सुधर और धर्मिष्ठा कुलवन्ती स्त्रियों से शोभित गरीबी का घर भी रँजा पुँजा मालूम होता है। गृहस्थी के सब सुख और शान्ति ऐसे ही घर में पाए जाते हैं। अच्छी रीतिनीति, साधु आचरण, शिष्टता और भलमनसाहत का हृदय स्थल भी हम ऐसे ही घरों को पाते हैं। दिन भर के थके थकाए गृहस्थ को चैन की मीठी नींद ऐसे ही घर में मिलती है।"[3]

भट्ट जी का कथन है कि संसार के महानतम व्यक्तियों की मा कोई न कोई स्त्री ही थी। स्त्रियाँ जिस साँचे में चाहें अपने पुत्रों को ढाल सकती हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष को उसकी मा ने ऐसी शिक्षा दी कि उसने अपने पिता को परास्त करने वाले विद्वान् को भी परास्त कर दिया।[4]

गृहस्थी का समर्थन

समाज को सुचारु रूप से चलाए रखने, उसमें सुख शान्ति एवं आह्लाद बनाए रखने के लिये भट्ट जी विवाह को परमावश्यक समझते हैं। और आजाद

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई १८८७, पृ० ३–५।
२. ,, सितम्बर, १८६६, पृ० ६।
३. ,, सितम्बर १८८६, पृ० १०।
४. ,, ,, ,, पृ० ६-११।

(अविवाहित) आदमियों के विषय में अपनी अच्छी सम्मति नहीं रखते। ऐसे आदमियों को वे बेगुन की नाव मानते हैं।[१] ऐसे आदमियों की पोल खोलते हुए वे लिखते हैं :—

"रँडुआ आजाद मूसलचंद अपनी आनादाना बातचीत में डींग चाहो भले ही मारा करें। पर चरित्र की कसौटी के समय जरा सी बात में ऐसे उघर गए हैं कि उनकी सब कलई खुल गई और समाज में मुँह दिखाने लायक न रहे। यह जुदी बात है कि आँख का पानी ढलक गया हो तो लाचारी है।"[२]

भट्ट जी गृहस्थों को सबसे ऊँचा मानते हैं और ऐसे तथाकथित तपस्वियों साधुओं तथा संन्यासियों से घोर घृणा करते हैं जो गृहस्थी को नरक का द्वार और न जाने क्या क्या कहते हैं और मजे की बात यह कि अपने उदर पोषण के लिये भी गृहस्थों पर ही आश्रित रहते हैं। ऐसे कृतघ्न आदमियों को पसन्द भी कौन करेगा ? भट्ट जी लिखते हैं :—

"गृहस्थों के आसरे पर जीने वाले नाशुकरे कृतघ्न मुड़े हुए ऐरागी वैरागी, विरक्त यती संन्यासी नाहक गृहस्थी को नरक और गृहस्थी की मूल हमारी गृहेश्वरियों को नरकपुर में प्रवेश का द्वार कहकर बदनाम किये हुए हैं। इन विरक्तों की अपेक्षा मनुष्य गृहस्थी में रहकर जितना जल्दी और सहज में परमेश्वर को ढूँढ ले सकता है वैसा बड़ी बड़ी तपस्या के द्वारा तन सुखाय ये विरक्त तपसी नहीं। लिखा भी तो है "गृहेपिपंचेन्द्रियनिग्रहं तप: ।"[३]

भट्ट जी के युग में भी यूरोपीय स्वच्छंदता वाद की हवा थोड़ी बहुत इधर बहने लगी थी। यूरोप में धीरे-धीरे विवाह का विरोध बढ़ रहा था। भट्ट जी इस नैतिकता से गिरे सिद्धान्त के घोर विरोधी थे और विवाह के कट्टर समर्थक थे। उनका कथन था कि समाज में सभी सम्बन्धों का आधार यह विवाह ही है :—

"हमारे यहाँ के बुद्धिमानों ने कहा है माता पिता भाई बहन पुत्र इत्यादि रिश्तों की परस्पर स्थिति और इन सबों में स्नेह का तंतु मनुष्य जाति में केवल एक चीज है और उसका नाम है विवाह।"[४]

लेकिन वैवाहिक जीवन सुखमय बनाने के लिये स्त्री का शिक्षित होना भी भट्ट जी आवश्यक मानते हैं। शिक्षित स्त्री रत्न के समान है :—

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८६१, पृ० १४-१७।
२. ,, ,, ,, पृ० १६।
३. ,, सितम्बर १८६१, पृ० १६।
४. ,, सितम्बर १८८४, पृ० १३।

"स्त्री शिक्षा खूब फैलनी चाहिए। उत्तम स्त्रियाँ सच सच वह अमूल्य रत्न हैं कि पति सदा उनको अपने हृदय पर धारण किये रहे।"[1]

इस प्रकार स्त्रियों, स्त्री शिक्षा एवं गृहस्थी सम्बन्धी भट्ट जी के विचार इतने प्रगतिशील तर्क पूर्ण और समाजोपयोगी हैं कि आज भी इससे उन्नत विचारधारा दृष्टिगोचर नहीं होती।

हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भट्ट जी के विचार :—

जब हम भारतीय शब्द का उच्चारण करते हैं तो वह भारत में रहने वाले, या भारत को अपना देश समझने वाले प्रत्येक धर्म और मत के लोगों की समवेत व्यंजना करता है। इसलिये भारतीय समाज में केवल हिन्दू ही नहीं आते अपितु भारत में रहने वाले सब धर्मावलम्बी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर भी भारत में दो मुख्य धर्म हैं (१) हिन्दू (२) इस्लाम।

भट्ट जी उन विचारकों में से नहीं थे जो मुसलमानों के भारत छोड़कर चले जाने वाले सिद्धान्त में विश्वास रखते हों। वे जानते थे कि मुसलमान भारत के अभिन्न अंग बन गये हैं इसलिये अब तो उनकी उपस्थिति को अनिवार्य और नग्न सत्य समझ कर ही कोई बात सोचनी और कहनी चाहिए। कबीर के मुसलमान धर्म विरोधी पदों को पढ़कर उन्हें हिन्दू कहना या उनके हिन्दू धर्म विरोधी पदों को पढ़कर उन्हें मुसलमान कहना जितना अयुक्तियुक्त है उसी प्रकार भट्ट जी के मुसलमान धर्म विरोधी लेखों को पढ़कर उन्हें मुसलमान विद्वेषी, साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से असहिष्णु कहना तर्क संगत नहीं है। हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं कि भट्ट जी ने हिन्दू धर्म के प्रतिक्रियावादी या रूढ़िवादी रूप की घोर निन्दा की है और न्यस्त स्वार्थ वाले रूढ़ि पोषकों एवं समर्थकों की भी उन्होंने खूब खबर ली है जिसके कारण अपने जीवन काल में वे 'क्रिस्तान' और 'नास्तिक' न जाने कितने घृणित संबोधनों से इस स्वार्थी वर्ग द्वारा पुकारे और बदनाम किये गये।[2] जैसा कि महापुरुषों के साथ प्रायः होता है तत्कालीन स्वार्थी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भट्ट जी के स्पष्ट और पापों का भंडाफोड़ करने वाले दृष्टिकोण से परेशान थे। इसलिये अनेक हिन्दुओं ने जहाँ उनकी निन्दा की वहाँ असहिष्णु मुसलमानों ने उनके जीवन को समाप्त तक कर देने के दुष्प्रयत्न किये।[3] किन्तु न्याय और सत्यता का यह अभूतपूर्व वक्ता निर्भय अचल और अडिग खड़ा रहा। देश के हित के लिये जो उचित समझा सो भट्ट जी ने

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८८४ पृ० १७।

२. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० १-३।

३. 'सरस्वती', नवम्बर १९१४, पृ० ६३२।

कहा वे कभी किसी से न डरे न झिझके। महाशक्तिशालिनी ब्रिटिश सत्ता ही जब उनके उन्नत मस्तक को न झुका सकी, उनकी लोकवाणी पर प्रतिबंध न लगा सकी तब तुच्छ असहिष्णु सम्प्रदायवादी उनका क्या बिगाड़ते।

पत्र की बिक्री की दृष्टि से लेखनी चलाने वाले भट्ट जी नहीं थे ऐसा उन्होंने घोर आर्थिक संकट उपस्थित होने पर भी नहीं किया। यह तो एक निश्चित सत्य है कि ब्रिटिश सत्ता मुसलमानों का अनुचित रूप से पक्ष ग्रहणकर रही थी और इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों के बीच में बैर और वैमनस्य के विनाशकारी बीज बो रही थी।[1] इतिहास साक्षी है कि अपनी इस कूटनीति में वह सफल भी रही और दोनों जातियों को अपने राज्य सिंहासन के दोपायों से दबाए रही एक को सुख सुविधा के टुकड़े फेंक कर तो दूसरी को पददलित कर उसे शक्ति से वश में करके।

भट्ट जी ब्रिटिश सरकार की इस दुरभिसंधि को भली भांति समझते थे इसीलिये उन्होंने भारतीय के नाते अनेकों बार मुसलमानों से हिन्दुओं के साथ भाई चारे का बर्ताव करने के लिए कहा। कहीं-कहीं भट्ट जी ने मुसलमानों की कड़ी भर्त्सना भी की है। और उन्हें पचास खरी खोटी भी सुनाई हैं।[2] उन्होंने मुसलमानों की सबसे अधिक निन्दा इस आधार पर की है कि वे बड़े चालाक, स्वार्थी और ब्रिटिश सरकार के इंगित पर नाचने वाले हैं। उन्होंने मुसलमानों की इस भावना की भी निन्दा की है कि वे अनेक पीढ़ियों से भारत की पृथ्वी पर रहते हुए भी इसे अपनी मातृभूमि नहीं मानते और सांस्कृतिक दृष्टि से वे हिन्दुओं की तुलना में अन्य देशों के मुसलमानों के अधिक निकट हैं। उनके त्यौहार आदि अभी तक विदेशों के आधार पर मनाए जाते हैं दूसरे शब्दों में उनमें भारतीयता का अभाव है।[3] किन्तु समय-समय पर भट्ट जी ने उनकी ओर अपनी मित्रता का हाथ भी बढ़ाया है। देखिए भट्ट जी कितनी भावुक और मार्मिक भाषा में मुसलमानों को गले मिलने के लिए आमन्त्रित करते हैं :—

"जो अपना भाई रूठ गया हो उसे कैसे मनावें। क्या उसके पास जाकर अपनी कहें उसकी सुनें। जो कोई सखुन उसके और अपने बीच आ गया हो उसकी जैसे बने सफाई कर डालें। या तो अपना कसूर उसे साबित करावें नहीं तो उसे यह जँचा दें कि तुम क्रूर कुटिल बिगाड़ने वालों के बहकाने में

१. 'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८७ पृ० २-४।
२. ,, दिसम्बर १८८२, पृ० ३।
३. ,, ,, ,, पृ० १०-१२।

आप व्यर्थ ही तिनग उठते हो।........थोड़े से लोगों के बहकाने में आप हमारे मुसलमान भाई हमसे रूठ गए हैं उनमें जो सज्जन शराफत की खुशबू से भरे भलमनसाहत के नगीने बने हैं, कुलीन जन हैं उनसे हमारा सविनय निवेदन है कि उन पर लक्ष्य कर न हमने कभी कुछ लिखा है न ऐसे सुपात्रों को कभी अपनी ओर से बिगाड़ा चाहें। हमारा लक्ष्य केवल उन्हीं पर है जो हम दीन-हीन हिन्दुओं को जब तब व्यर्थ की डाह परवश हो हर तरह से क्लेश पहुँचाया चाहते हैं। इससे उन शरीफों से हमारी विनती है कि वे नाराज़ न हों।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी के सामाजिक विचार बड़े ही युगांतर-कारी, प्रगतिशील संतुलित, तर्कसङ्गत और युक्तियुक्त हैं और सबसे बड़ी बात है कि इन विचारों को मार्मिक ढङ्ग से व्यवत करने के लिये उन्हें चमत्कारपूर्ण भाषा लिखने का वरदान प्राप्त है। भट्ट जी अपने युग में तो १०० वर्ष आगे के व्यक्ति थे और आज भी बहुत सी बातों में भट्ट जी हमारे युग के देखते हुए भी कहीं आगे हैं। भट्ट जी जैसी विभूतियाँ यह निश्चित सत्य है कि शताब्दियों में उत्पन्न होती हैं।

साहित्यिक निबन्ध

हिन्दी-साहित्य-जगत् में निबन्ध के रूप और विषय को लेकर जितना विवाद और जितनी अनिश्चितता है सम्भवतः किसी भी अन्य साहित्यिक विधा के विषय में उतनी नहीं। कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि सभी बहुत कुछ इस अनिश्चितता की परिधि को पार कर चुके हैं, सभी के रूप और विषय के सम्बन्ध में विद्वानों में अपेक्षाकृत कम ही विवाद है, किंतु निबन्ध अभी साहित्य शास्त्रियों के परिभाषा पाश में बँधने को तैयार नहीं है और महत्व की बात यह है किसभी एक स्वर से निबंध को साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो कहना है :– "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"[2] शुक्ल जी का यह वाक्य निबन्ध के 'रूप' या 'गठन' के वैशिष्ट्य की ओर ही इंगित करता है इसलिये उसके विषय पक्ष या भाव पक्ष के विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता बनी ही रहती है। शुक्लजी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में निबन्ध की विशिष्टताओं को इन शब्दों में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है :—"निबन्ध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८३, पृ० २३।**

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ५०५।**

प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबन्धों में धारा तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के भीतर वह प्रलाप शैली आएगी जिसका बँगला की देखा देखी कुछ दिनों से हिन्दी में भी चलन बढ़ रहा है।"[1]

शुक्ल जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'प्रवीण लेखक इन विधानों का सुन्दर मेल भी करते हैं' अर्थात् यह तो सिद्ध है कि शुद्ध विचारात्मक, भावात्मक या वर्णनात्मक निबन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक ही निबन्ध तीनों विशिष्टताओं से युक्त हो सकता है और शुक्ल जी के शब्दों में ऐसा करने वाला लेखक 'प्रवीण' लेखक होगा।

डा० केसरीनारायण शुक्ल ने 'भारतेंदु के निबन्ध' नामक अपने संकलन में भारतेंदु के निबन्धों का वर्गीकरण करते हुए जो लिखा है वह प्रायः सभी लेखकों तथा लेखों के विषय में सामान्य कथन माना जा सकता है। उन्होंने लिखा है :—

"........निबन्धों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है वस्तु विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, यात्रा सम्बन्धी, प्रकृति सम्बन्धी, व्यंग्य तथा हास्य प्रधान एवं आत्म कथा वा आत्मचरित्र सम्बन्धी, निबन्धों की कोटियाँ स्थापित की जा सकती हैं। कथन के ढंग तथा निरूपण की दृष्टि से उन्हीं निबन्धों को हम तथ्यातथ्य निरूपक, सूचनात्मक या शिक्षात्मक, कल्पनात्मक और वर्णनात्मक कह सकते हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से ये निबन्ध भारतेंदु की प्रांजल शैली, आलङ्कारिक शैली, प्रदर्शन शैली, प्रवाह शैली और वार्तालाप शैली के द्योतक या निदर्शक कहे जा सकते हैं।'[2]

वैज्ञानिक आधार पर विषयों का विभाजन भी किया जा सकता है और शैलियों का भी पर गड़बड़ी का सूत्रपात वहाँ होता है जहाँ उन शैलियों का निबन्धों पर आरोप किया जाता है और तदनुसार 'वर्णनात्मक निबन्ध', 'भावात्मक निबन्ध' आदि संज्ञायें दी जाती हैं। शैली और विषय दो पृथक वस्तुएँ हैं इसलिए उनका अवैज्ञानिक मिश्रण ही विवेचन को अस्पष्टता के गर्त में डाल देता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्करण, पृ० ५०५।

२. भारतेन्दु के निबन्ध, डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण पृ० १२।

जनार्दन स्वरूप अग्रवाल वर्गीकरण के भेदोपभेदों के सङ्कट से त्रस्त होकर लिखते हैं :–

"वास्तव में शैलियों की तो कोई निश्चित संख्या नहीं है क्योंकि छोटे-छोटे लेखकों की भी कभी-कभी कुछ विशेषतायें दृष्टिगोचर हुआ करती हैं फिर भला अप्रतिम एवम् विद्वान् लेखकों का तो कहना ही क्या। अत: आदर्श रूप में जितने लेखक उतनी ही शैलियाँ। इसीलिए कोई कोई समालोचक विद्वान्, भावात्मक, उपदेशात्मक, विवरणात्मक, व्यंग्यात्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, तार्किक, ललितकथात्मक, तथा न जाने कितने और 'आत्मक' जोड़ कर भेदोपभेद बताते ही चले जाते हैं तथा कोई पाँच भेद करते हैं तो कोई सात।"[1]

बाबू गुलाबराय एम० ए० निबन्धों के चार मुख्य प्रकार मानते हैं :–– (१) वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव), (२) विवरणात्मक (नैरेटिव), (३) विचारात्मक (रिफ्लेक्टिव), (४) भावात्मक (इमोशनल)। लेकिन बाबूजी ने उक्त वर्गीकरण के विषय में जो विस्तृत विश्लेषण दिया है वह प्रवृत्ति की दृष्टि से वैज्ञानिक होते हुये भी अर्थ की दृष्टि से रहस्यात्मक प्रतीत होता है बाबूजी लिखते हैं :–

"वर्णनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध देश से है, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से और भावात्मक का हृदय से। यद्यपि काव्य के चारों तत्व, कल्पनातत्व, रागात्मक तत्व, बुद्धितत्व और शैलीतत्व सभी प्रकार के निबंधों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धितत्व की और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्व की मुख्यता मिलती है। शैली तत्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबंधों में कहीं विचारात्मकता की और कहीं कहीं भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक और भावात्मक का भी मिश्रण होना संभव है।"[2]

डा० श्रीकृष्ण लाल निबन्धों के तीन प्रकार ही मानते हैं, (१) कथात्मक अथवा आख्यानात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) चिन्तनात्मक,[3] श्री ब्रह्मदत्त शर्मा

---

१. **हिन्दी में निबन्ध साहित्य, जनार्दन स्वरूप अग्रवाल, प्रथम संस्करण पृ० ८२–८३।**

२. **काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय एम० ए०, पृ० २३७।**

३. **आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल, प्रथम संस्क० पृ० ३५७।**

उपर्युक्त ३ भेदों में व्याख्यानात्मक एवं भावात्मक दो और भेद जोड़कर उन्हें पाँच कर देते हैं।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि निबन्धों का वर्गीकरण इतना वैज्ञानिक आधार पर नहीं है जितना 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के आधार पर। निबन्ध है क्या यही अभीतक स्पष्ट नहीं है और किन्हीं दो विद्वानों के विचार इस विषय में नहीं मिलते। शुक्ल जी निबन्ध के 'रूपगुण' की विशिष्टता की चर्चा करते हुए किसी परिभाषा के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हुए लिखते हैं :—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो।....व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं है कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय तो उनकी अनुभूति की प्रकृति या लोकमान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रहे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जाँय जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[2]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हिन्दी जगत में निबंध के विषय में फैली अव्यवस्था पर अत्यंत खिन्न है :—

"आजकल हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का कुछ अवैज्ञानिक प्रयोग चल पड़ा है। लेख, निबन्ध और निबन्ध लेख के रूप में एक प्रकार से समानार्थवादी हो गए है। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' के 'बलिया का लेक्चर' से लेकर प्रेमचन्द द्वारा किए गए विविध भाषण, रामचन्द्र शुक्ल कृत 'भारतेदु हरिश्चन्द्र' और 'गोस्वामी तुलसीदास' जयशंकर प्रसाद कृत 'रस की विवेचना' अथवा किसी लेखक द्वारा बौद्ध दर्शन या स्त्रियों की सामाजिक स्थिति या अहिंसा या नागा जातिका या भालू आदि के वर्णन तक सभी रचनायें 'लेख' और 'निबन्ध' दोनों में से किसी एक नाम से पुकारी जाती हैं। यह अव्यवस्था है।"[3]

---

१. हिन्दी साहित्य में निबन्ध, ब्रह्मदत्त शर्मा, पृ० १५।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नवां संस्क०, पृ० ५०५।

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्क०, पृ० १४९।

डा० वार्ष्णेय ने इस तथोक्त अव्यवस्था पर जो व्यवस्था दी है वह स्वयं अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विषय में डा० वार्ष्णेय की द्विधात्मक शब्दावली का एक उदाहरण देना उचित होगा :—

'वास्तव में निबंध क्या है, इस सम्बन्ध में कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है।""निबन्ध की सरल और सूक्ष्म परिभाषा तो यह है कि निबन्ध लेखक की रचना का नाम निबन्ध है।"" संक्षेपतः निबन्ध प्रयास मात्र होता है, उसकी शैली और ध्वनि में सरलता और स्वच्छंदता रहती है और उस पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है।'[1]

श्री प्रभाकर माचवे अपनी पुस्तक 'हिन्दी निबन्ध' में जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यही है कि किसी भी दृष्टि से सोचने पर निबन्ध के विषय में कोई निर्दोष निष्कर्ष निकालना संभव प्रतीत नहीं होता –

"निबन्ध के प्रकार कौन से हैं ? जितने लिखने वाले और जितनी उनकी मनोभूमिकायें, उतनी पद्धतियाँ हो सकती हैं। इस प्रकार निबन्ध के प्रकार अनन्त हो सकते हैं।""इस प्रकार निबन्ध का शैली की दृष्टि से विभाजन असंभव प्राय हो जायगा।"[2]

और अन्त में प्रभाकर माचवे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

"यानी इस सारी बात में शब्दों के पर्यायों के हेर फेर के बाद जो बात समझ में आती है वह इतनी ही है कि निबन्ध के ऐसे भेद करना सचमुच में कोई अर्थ नहीं रखता। मनुष्य में कल्पना, तर्क, भावना, विचार सभी कुछ जिस प्रकार समन्वित होता है, निबन्ध में भी उनका अलग अलग खण्डशः विभाजन असम्भव है। निबन्ध एक अन्विति है वह व्यक्ति निष्ठ वाङ्मय प्रकार है।"[3]

पूरी स्थिति पर विचार करने से प्रभाकर माचवे की बात युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वास्तव में 'निबन्ध' पर जितना विचार हुआ है, उसकी जितनी परिभाषाओं का निर्माण किया गया है या उसके जो लक्षण दिए गए हैं उनको तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) निबन्ध एक शैली प्रधान गद्य रचना है।

(२) अपने विषय वैशिष्ट्य के कारण निबन्ध निबन्ध है।

---

१. **आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, संशोधित संस्क०, पृ १५०-५२।**

२. **हिन्दी निबन्ध, प्रभाकर माचवे, पृ० १५-१६।**

३. „ „ „ पृ० १६।

(३) लेखक की वैयक्तिकता का साहित्यिक उद्‌गार ही निबन्ध है ।

इनमें से कोई एक विचारधारा निबन्ध का वास्तविक रूप निर्णय नहीं कर सकती । शायद सम्पूर्ण विचारधारायें भी उसे अपने परिभाषा पाश में नहीं बाँध पायेंगी ।

शैली की दृष्टि तो इसलिये एकांगी और अवास्तविक है क्योंकि एक ही निबन्ध में इतनी शैलियाँ मिल सकती हैं जितनी की हम कल्पना कर सकें ।

विषय की दृष्टि भी अपूर्ण और वास्तविकता से दूर है क्योंकि, ऐसा कोई विषय ही नहीं है जिस पर निबन्ध, कहानी, उपन्यास या कविता न लिखी जा सके फिर निबन्ध को केवल विषय के आधार पर हम अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग कैसे कर सकते हैं । रह गई लेखक की व्यक्ति-प्रधानता की बात सो उसका व्यक्तित्व किस साहित्यिक विधा में अनुपस्थित रहता है ? और यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि निबन्ध में वैयक्तिकता अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत रूप में रहती है तो क्या ऐसा कोई नियम बनाना सम्भव होगा जिसके अनुसार अन्य साहित्यिक विधाओं में वैयक्तिकता के घनीभूत होने की सम्भावना को एक निषिद्ध कार्य घोषित कर दिया जाय ? यदि नहीं, तो जब भी कहानी, आलोचना, उपन्यास आदि अधिक व्यक्तिनिष्ठ हो जायेंगे तभी निबन्ध के साहित्यिक अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायगा । इसलिये निबन्ध के लिये कुछ परिभाषा या लक्षण निश्चित करना युक्तियुक्त कार्य प्रतीत नहीं होता । हो सकता है कि भविष्य में अधिक आकर्षण संचय की अभिलाषा में निबन्ध कहानी के निकटतम आजाय और कथावस्तु कथोपकथन आदि तत्व ग्रहण करले इस-लिये हम निबन्धों का वर्गीकरण उपर्युक्त आधार पर न कर उसके विषय के आधार पर ही कर सकते हैं यथा, साहित्यिक निबन्ध, राजनीतिक निबन्ध, सामाजिक निबन्ध आदि और शुक्ल जी की दी हुई साहित्य की परिभाषा के अनुसार यदि किसी भी विषय के निबन्ध, रसोद्‌बोधन या मस्तिष्क का चमत्कार-पूर्ण अनुरंजन करने लगें तो वे 'साहित्यिक निबन्ध' कहलाने के अधिकारी होंगे फिर वे चाहे लिखे किसी भी विषय पर गए हों ।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक ग्रन्थ में भट्ट जी द्वारा लिखे गए निबन्धों को ६ भागों में विभाजित किया है:—

"भट्ट जी द्वारा निबन्ध स्थूल रूप से छः भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर जैसे पुरुष अहेर की स्त्रियाँ अहेर हैं; 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', 'भकुआ कौन-कौन है' आदि । इन निबन्धों के शीर्षक सुनते ही हँसी आती है । उनमें

मसखरापन और हास्य कूट-कूट कर भरा है। परन्तु उनका हास्य बड़ा गंभीर है। इन निबन्धों में भट्ट जी ने मानव जीवन पर एक सूक्ष्म दृष्टि डाली है। (२) सामयिक विषयों पर जैसे 'पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता'। इस प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य चातुर्य विशेष मात्रा में रहता है। (३) काल्पनिक जैसे, 'आँसू', 'चन्द्रोदय' आदि जिनमें लेखक ने अपनी कल्पना शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। (४) गंभीर तथा शिक्षाप्रद विषयों पर जैसे 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है', 'मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है', 'आत्मनिर्भरता' 'माता का स्नेह' आदि। हास्य प्रिय व्यक्ति होते हुए भी भट्ट जी ने गम्भीर विषयों पर उत्तम निबन्ध लिखे जिनसे उसकी विचार शक्ति और मननशीलता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। (५) सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध जो प्राचीन तथा नवीन दोनों को दृष्टि में रखते हुए लिखे गए हैं। जीवनियों पर लिखे गए निबन्ध भी इसी कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं जैसे श्री शंकराचार्य और गुरु नानकदेव। और (६) भावात्मक जैसे कल्पना। इस प्रकार के निबन्धों में रस और भाव की व्यंजना होती है।"[1]

डा० वार्ष्णेय का उपर्युक्त वर्गीकरण भट्ट जी द्वारा लिखे सभी निबन्धों के विषय में नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक उन निबन्धों के विषय में कहा जा सकता है जिन्हें डा० वार्ष्णेय साहित्यिक निबन्ध समझते हैं क्योंकि भट्ट जी ने तो राजनीति, समाज, धर्म, कृषि, विज्ञान, भूगोल, दर्शन, आयुर्वेद, नागरिकता, आर्थिक विषय, व्यापार, कानून, शिक्षा, स्वास्थ्य, पत्रकारिता तथा ज्योतिष आदि सभी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं और प्रत्येक पर पर्याप्त संख्या में। इसलिये उनके सभी निबन्धों के वर्गीकरण के लिये तो चाहे वह वर्गीकरण फिर कितना ही स्थूल क्यों न हो उसके कम से कम पन्द्रह सोलह भेद करने पड़ेंगे। रहा साहित्यिक निबन्धों का वर्गीकरण वह भी डा० वार्ष्णेय का वर्गीकरण अधिक युक्ति युक्त नहीं दिखाई देता। उन्होंने पहला भेद 'विचित्र तथा असाधारण विषयों' का किया है और उन्होंने जिन निबन्धों का उदाहरण इस भेद की पुष्टि के लिये दिया है उनमें न कुछ विचित्र हैं न असाधारण। सम्भवतः डा० वार्ष्णेय विषय को भूल कर भट्ट जी के निबन्धों के शीर्षकों पर ही उलझ गए हैं। दूसरा भेद सामयिक विषयों का है उसमें एक ही निबन्ध का उल्लेख किया है 'पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता' यह सामयिक विषय कैसे हुआ? यदि 'आधुनिक' के कारण यह सामयिक विषय है तो 'पुरातन' के कारण

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय संशोधित संस्करण, पृ० १५३।

प्राचीन क्यों नहीं ? इसी प्रकार उनके द्वारा आविष्कृत अन्य भेदों पर भी कुछ न कुछ कहा भी जा सकता है।

हम भट्ट जी के निबन्धों का प्रवृत्तिपरक वर्गीकरण करने के पक्ष में हैं। शास्त्रीय अध्ययन का उचित मार्ग तो यही प्रतीत होता है कि विषयों का अलग अध्ययन किया जाय और शैलियों का अलग और इस प्रकार शैलियों का अलग वर्गीकरण किया जाय तथा विषयों का अलग जिससे, एकांगिता, तथा अर्द्ध सत्य कथन आदि के दोष से बचा जा सके। हम भट्ट जी के निबन्धों का अध्ययन इसी प्रकार करेंगे, उनकी शैलियों का अलग तथा निबंधों का अलग।

भट्ट जी के साहित्यिक निबन्धों को हम प्रवृत्तियों के अनुसार निम्नांकित भागों में रख सकते हैं :—

१—शैली प्रधान निबंध :—जिनमें विषय महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु शैली की विशिष्टता के कारण जो आकर्षक और पठनीय हैं। यों तो इस प्रकार के भट्ट जी के निबन्ध शताधिक हैं किन्तु यहाँ इस प्रकार के कुछ प्रतिनिधि निबंधों का ही नामोल्लेख करना समीचीन होगा :—

लक्ष्मी[१], वकील[२], नौ नगद न तेरह उधार[३], 'द'[४], 'जी'[५], आना और जाना[६], नए प्रकार की प्रेत बाधा,[७] देव उपदेव[८], ढोल के भीतर पोल[९], हुक्का-स्तवम्[१०], हातिम[११], खलवन्दना[१२], यह जगत एक अद्भुत नाट्यशाला है[१३],

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई अगस्त १८६८, पृ० ४-६।
२. ,, ,, ,, ,, पृ० २१-२४।
३. ,, अगस्त सितम्बर १८६६, पृ० २२-२३।
४. ,, नवम्बर दिसम्बर १६००, पृ० २२-२३।
५. ,, ,, ,, ,, पृ० २३-२५।
६. ,, मई अप्रैल १६०१, पृ० १२-१४।
७. ,, ,, ,, ,, पृ० १६-१६।
८. ,, मई से जुलाई १६०१, पृ० ५४-५८।
६. ,, जनवरी फरवरी १६०३, पृ० ६-६।
१० ,, मार्च १८८०, पृ० ४।
११. ,, नवम्बर १८८०, पृ० १४-१६।
१२. ,, जून १८८२, पृ० २१-२२।
१३. ,, नवम्बर १८८२, पृ० ६-१२।

चलता है[१], नाम[२], बात[३], नामकरण[४], वकील[५], परममित्र[६], गदहे में गदहा-पन क्या है[७], घर[८], दर्पण[९], वे[१०] धन[११], नाक[१२], दो[१३], यह दुनियाँ एक मजलिस है[१४], अकिल अजीरन रोग[१५], चला जाय चरखा[१६], चित्त और चक्षु का घनिष्ठ सम्बन्ध[१७], कीर्ति कौमुदी के विकास का द्वार।[१८]

शैली प्रधान निबंधों में भट्ट जी दो प्रकार की शैलियों का अधिक प्रयोग करते देखे जाते हैं (१) शब्द क्रीड़ा शैली, (२) परिहासात्मक शैली या व्यंग्य पूर्ण शैली। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस शैली के निबंध शैली चमत्कार की दृष्टि से ही लिखे गए हैं विषय विश्लेषण की दृष्टि से नहीं फिर भी, देशभक्ति, तथा समाज सुधार आदि की भावनायें अत्यन्त प्रच्छन्न रूप में इनमें मिल जाँयगीं क्योंकि ये दो भावनायें भारतेंदु युगीन साहित्य का आधार पटल हैं।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८३, पृ० १६-१८।
२. ,, अप्रैल १८८३, पृ० १६-१९।
३. ,, जून ,, ,, ।
४. ,, जुलाई १८८३, पृ० १३-१७।
५. ,, अगस्त १८८६, पृ० २१-२३।
६. ,, फरवरी १८८७, पृ० ६-७।
७. ,, मई १८८७, पृ० ५-७।
८. ,, सितम्बर १८८९, पृ० ४-८।
९. ,, जुलाई अगस्त १८९०, पृ० १८-२०।
१०. ,, ,, ,, ,, पृ० २४-२५।
११. ,, नवम्बर दिसम्बर १९०४ पृ १३-१५।
१२. ,, जनवरी फरवरी १९०५, पृ० २२-२३।
१३. ,, अगस्त १९०६, पृ० २३।
१४. ,, अक्टूबर १९९६, पृ० १४-१९।
१५. ,, मार्च १९०८, पृ० ३१-३२।
१६. ,, ,, ,, पृ० ३३-३४।
१७. ,, पौष संवत् १९६६ पृ० २९-३२।
१८. ,, माघ ,, ,, पृ० ९-१०।

विशेष—इस प्रवृत्ति के अधिक निबन्धों की सूची परिशिष्ट में दे दी गई है।

"हुक्का स्तवम्" में भट्ट जी की शब्द क्रीड़ा शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

"हे सर्व लोकचित्त रंजनि ! विश्व विमोहिनि ! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारी भक्ति आप में अचल बनी रहे। हे कुण्डलाकृति धूमराशि समुत्पादिनि हे अलसजन प्रतिपालनि, भार्या भर्त्सित जनचित्त विकार विनाशिनि प्रभुभीत-जनसाहस प्रदायिनि। हे मूढ़े तुम्हारी सेवा से महामूढ़ हो हम तुम्हारी महिमा की सीमा को कहाँ पहुंच सकते हैं।"[1]

यद्यपि हुक्का स्तवम् कोई शिक्षा देने के लिये नहीं लिखा गया है फिर भी हुक्के के दुर्गुण कहीं-कहीं स्पष्ट हो उठते हैं।

"महाराणी हम सरीखे आलसी निष्पुरुषार्थी बेरोजगार मनुष्यों को त: दिल लगाने के लिये केवल तुम्हारा ही आसरा है।....आप न होतीं तो मुख को सदा दुर्गंध पूरित कौन किए रहता ?"[2]

अर्थात् हुक्का आलस्य पैदा करने वाली वस्तु है तथा वह मुख को दुर्गन्ध पूर्ण रखता है।

भारतेंदु युग में इस शैली में निबन्ध लिखने का प्रचलन अत्यधिक था। भट्ट जी के अतिरिक्त स्वयं भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी तथा श्रीधर पाठक आदि के अनेक लेख इस शैली में मिलते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में भाषा पक्ष प्रमुख होता है भाव पक्ष गौण।

मुहावरा-क्रीड़ा शैली तत्वत: शब्द-क्रीड़ा शैली ही है। एक में शब्दों की क्रीड़ा रहती है दूसरी में मुहावरों की। 'बात' निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए।

"बात हमारी बात है, हमारे देश की बात है। बात संसार में बड़ी बात है। जिसकी बात नहीं उसकी क्या बात है ? ईश्वर करे बात सबकी बनी रहे। बात गए बात नहीं मिलती।........बात हार गए बात खा गए। बात दे दी बात देनी पड़ी, बात बिगड़ गई बात बनी रही।"[3]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उपर्युक्त 'बात' में बात कहने लायक कुछ नहीं है। वह केवल बात की बात है तिल का ताड़ है। शैली के परे लेखक का न कुछ अभीष्ट है न कुछ व्यंग्य।

शैली प्रधान निबन्धों में परिहासात्मक या व्यंग्यपूर्ण निबन्ध अवश्य अर्थ

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८८०, पृ० ४।
२. ,, ,, ,, ,, ।
३. ,, जून १८८३, पृ० १६।

गर्भित हैं। ऐसे निबन्धों में तो भट्ट जी शैली के मिस अनेकों की टाँग खींच लेते हैं। किन्तु यह कहना कि ऐसे निबन्ध विचार-प्रधान होते हैं ऐसे निबन्धों के साथ अन्याय करना होगा। इनकी शैली शब्द-क्रीड़ा शैली से तत्वतः भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि परिहासात्मक निबन्धों में शैली किसी उद्देश्य या विचार का अनुगमन करती प्रतीत होती है जब शब्द क्रीड़ा शैली के निबन्ध बात की करामात मात्र हैं। 'हाकिम' नामक निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए :—

"तुम महाराज हो, वकील मुख्तार तुम्हारे बन्दी जन हैं।……हे महा भाग तुम्हारे में अद्भुत कुशलता है। जब कभी वकील मुख्तार तुम्हारे फैसले में किसी तरह का दूषण निकालने का मन करते हैं, तब तुम आरक्त नयन से भौं चढ़ाय उन्हें ऐसी कुटिल और वक्र दृष्टि से देखते हो कि वे बिचारे मारे भय के संसा के रह जाते हैं। हे शुंभयो तुम प्रत्यक्ष देवता हो, देवगण जैसे अपनी देवरानियों को साथ ले क्रीड़ा किया करते हैं वैसे ही तुम भी।"[१]

इस निबन्ध की विशेषता यह है कि इसमें ऐसी कोई तात्विक बात नहीं छूटी है जो 'हाकिम' के विरुद्ध कही जा सकती थी। 'हाकिम' शीर्षक एक गम्भीर निबन्ध भी भट्ट जी लिख सकते थे जिसमें उसके अन्याय और भ्रष्टाचार की वे सप्रमाण चर्चा करते किन्तु ऐसे लेख वे एक से अधिक न प्रकाशित कर पाते और 'हिन्दी प्रदीप' सरकार द्वारा बन्द कर दिया जाता। 'जुबान पर ताला लगे रहने के कारण ही भारतेंदु युगीन सभी लेखकों ने अपनी बातें इंगितों में या व्यंग्य में ही कहीं हैं अभिधा में बहुत कम। 'हाकिम' इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण है कि प्रशंसा के आवरण में निन्दा कैसे की जा सकती है। इसलिये इस प्रकार के निबन्धों की संज्ञा परिहासात्मक निबन्ध या व्यंग्यात्मक निबन्ध उचित प्रतीत होती है। 'हाकिम' में इस प्रकार के वाक्य भी हैं जो अंग्रेजों के न्याय में हस्तक्षेप का भण्डाफोड़ करते हैं, और न्यायाधिकरण पर उनके नियंत्रण की ओर इंगित करते हैं :—

"हाकिम तुम विचारपति हो, तुम्हारे आगे सब लोग एक साँ हैं फिर भी तुम बीच-बीच में अंग्रेजों का कुछ अधिक सन्मान करते हो।"[२]

हाकिम की प्रशंसा भी और उसके कार्य का भण्डाफोड़ भी तथा कानूनी जकड़ से अपनी रक्षा भी इत्यादि विशेषतायें इस प्रकार के निबन्धों की हैं।

परिहासात्मक शैली के निबन्धों को भी सुविधा के लिये दो भागों में विभा-

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर १८८०, पृ० १४-१५।

२. ,, नवम्बर १८८०, पृ० १४।

जित कर सकते हैं, (१) जिनका कोई गम्भीर उद्देश्य नहीं होता (२) शैली चमत्कार के साथ-साथ जहाँ लेख का कुछ उद्देश्य भी रहता है।

पहले प्रकार का उदाहरण 'चलता है' शीर्षक निबन्ध देखिये :—

"चलता है राँड का चरखा वो भटियारिन का मुँह। बस जो चला काहे को रोके रुकता है, कर्कशा लड़ाकिन मेहरियों की जुबान, एक-एक मुँह में सौ-सौ गाली, ज़बान क्या कतरनी हो गई, आँधी हो गई रेल का इंजन हो गई। चली जो चली अब कौन ऐसा दैव का दूसरा पैदा हुआ है जिसके रोके रुक सके। किसी का मुँह चला तो किसी का हाथ चल निकला। दै तमाचा गालों में, चट दोनों झोंटि-झोटा करते गटपट ही लड़ते-लड़ते लस्त हो गईं पर जबान न रुकी वाहरे इस चलने का जोश।"[१]

उद्देश्य युक्त दूसरे प्रकार के निबन्ध का एक उदाहरण लीजिये 'नाम में नई कल्पना' नामक निबन्ध में भट्ट जी भारत के रूढ़िवादी मूढ़ लोगों को उनकी नामकरण-कार्पण्य प्रवृत्ति पर फटकारते हुये कहते हैं :—

"मारवाड़ी और दिल्ली, आगरा के खत्रियों के नाम में बहुधा मल लगा रहता है। जिनके नाम में मल है तो उनके काम में कहाँ तक मल न होगा। सम्पूर्ण अभिधानावली बड़ी-बड़ी लुगत और डिक्शनरियों को छान डालो, गट्टूमल, पिट्टूमल कहीं न पाओगे। कोई-कोई जिनमें तरहदारी की बू आ गई है अपने लड़कों का नाम काफिया बन्दी के साथ रखते हैं, जैसा छुन्नू, मुन्नू, साधो, माधो, सोहन, मोहन, रतन, जतन, सद्दू, मद्दू, सोंधू, भोंदू और लड़कियों का रम्मो, सम्मो, छन्नो मुन्नो, दुल्लो इत्यादि। पुराने ढर्रे को छोड़ कोई नई बात निकालना हमने सीखा ही नहीं तब नामकरण में नया ढर्रा कहां से लावें। चरनदास, रामदास, गनेसदास आदि बहुधा एक ही नाम के एक मुहल्ले में बीसों पाए जाते हैं।"[२]

२.—**मनोवैज्ञानिक निबन्ध** :—भट्ट जी ने मनुष्य के सूक्ष्म आन्तरिक भावनाओं पर अपने लेख लिखे हैं। शुक्ल जी ने बाद में चल कर इस परम्परा को और भी उन्नत किया। आज जब कि विद्वान् शुक्ल जी द्वारा सूक्ष्म मानसिक भावनाओं पर लिखे निबन्धों को मनोवैज्ञानिक निबन्धों की संज्ञा दे चुके हैं तो उसी प्रवृत्ति के भट्ट जी के निबन्धों के लिये किसी अन्य नामकरण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रवृत्ति के कुछ प्रतिनिधि निबन्धों की तालिका यहाँ प्रस्तुत की जाती है :—

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८३, पृ० १७।**
२. „ **अक्टूबर १९०५, पृ० ६।**

प्रेम और भक्ति[१], नीयत[२], हमारी अपूर्ण अभिलाषायें[३], आत्म त्याग[४], कामयाबी[५], तर्क और विश्वास[६], विश्वास[७], माधुर्य[८], भक्ति[९], रुचना या पसन्द[१०], स्थिर अवस्था या दृढ़ता[११], ईमानदारी[१२], रुचि[१३], ज्ञान और भक्ति[१४], स्पर्धा,[१५] भय और समुचितादार[१६], प्रीति[१७], शोभा और सार्माथि[१८], खुशी[१९], अभिलाषा[२०], आशा[२१] । (मनोविज्ञान सम्बन्धी और अधिक निबन्धों की सूची परिशिष्ट में दे दी गई है) ।

भट्ट जी के मनौवैज्ञानिक निबन्धों में शैली की एक रसता नहीं है । शैलियों की विविधता ही भट्ट जी की सबसे बड़ी विशेषता है इसलिए मनोवैज्ञानिक निबंधों में भट्ट जी की प्रायः सभी शैलियां मिल जायगीं । फिर भी मनोवैज्ञानिक निबन्धों की अपनी अलग विशेषतायें भी हैं यहां उन पर विचार कर लेना आवश्यक है ।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८९२, पृ० १२-१४ ।
२. ,, जनवरी से मार्च, १८९३ पृ० ४८-५२ ।
३. ,, जुलाई अगस्त १८९३, पृ० ३२-३४ ।
४. ,, नवम्बर दिसम्बर १८९३, पृ० ५-८ ।
५. ,, सितम्बर अक्टूबर १८९४, पृ० ३८-४० ।
६. ,, जनवरी से मार्च १८९५, पृ० ४५-४७ ।
७. ,, जनवरी से अप्रैल १८९६, पृ० ३८-४१ ।
८. ,, अप्रैल १८९९, पृ० १-४ ।
९. ,, जून जुलाई १८९९, पृ० १-३ ।
१०. ,, अगस्त सितम्बर १८९९, पृ० २८-३२ ।
११. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८९९, पृ० १-८ ।
१२. ,, अक्टूबर १९००, पृ० १७-२९ ।
१३. ,, नवम्बर दिसम्बर १९०३, पृ० २५-२८ ।
१४. ,, मार्च अप्रैल, १९०७, पृ० १-५ ।
१५. ,, नवम्बर १९०७, पृ० २१-२४ ।
१६. ,, मई १८८०, पृ० ४-६ ।
१७. ,, जून १८८०, पृ० २२-२४ ।
१८. ,, फरवरी १८८२, पृ० ५-६ ।
१९. ,, मई १८८३, पृ० १-३ ।
२०. ,, नवम्बर १८८४, पृ० १९-२० ।
२१. ,, जनवरी १८८६, पृ० १-६ ।

विश्लेषण प्रधानता—यद्यपि बिलकुल वैज्ञानिक स्तर पर मानसिक भावनाओं का विश्लेषण तो हिन्दी में शुक्ल जी के निबन्धों में ही संभव हुआ किन्तु इस पद्धति के सूत्रपात का ऐतिहासिक गौरव पं० बालकृष्ण भट्ट को ही है। 'भय और समुचितादर' में क्या अन्तर है इसका विश्लेषण भट्ट जी की शब्दावली में लीजिए :—

"भय और समुचितादर ये दोनों एक दूसरे से पृथक हैं। भय का अंकुर दिल की कमजोरी से फबता है, जब हम दूसरे के रोब में आय मारे डर के हाँ में हाँ मिलावें और जी में यही समझें हौवा है काट ही लेगा इस्से इसकी भरपूर पूजा सन्मान करते जाँय तभी भला है तो यह समुचितादर की हद के बाहर निकल जाना हुआ।"[1] समुचितादर की भावना को शब्दबद्ध करते हुए भट्ट जी लिखते हैं :—

'अर्थात दूसरे का संभ्रम या आदर अपनी सीमा के बाहर हो भय के साथ जाकर जहाँ न मिल गया हो।'[2]

इसी प्रकार अपने 'मन की दृढ़ता' नामक निबन्ध में भट्ट जी मानसिक दृढ़ता तथा हठ की भावना का विश्लेषण करते हुए उनका अन्तर स्पष्ट करते हैं :–

"दृढ़ता को हम हठ न कहेंगे। निस्संदेह हठ की मजबूती इसमें है पर एक तरह का अनोखापन जो इस दृढ़ता में पाया जाता है। इससे हठ या दुराग्रह के दोष का सम्पर्क भी इससे दूर हटा हुआ है क्योंकि हठ का शब्द, सुनने वाला, किसी के बारे में तभी प्रयोग करता है जब उसकी मजबूती का तो वह कायल है पर बात उसकी अप्रिय और सदा अग्राह्य उसे मालूम होती है। और ठीक यही दोनों शब्द हैं अप्रिय और अग्राह्य जिनको आप मानसिक दृढ़ता के साथ लगा ही नहीं सकते क्योंकि यदि सुनने वाले को ग्राह्य अग्राह्य, प्रिय अप्रिय तै करने की फुरसत मिली तो बोलने वाले की मानसिक शक्ति की प्रशंसा में हम 'दृढ़' का प्रयोग करेंहींगे नहीं मानसिक दृढ़ता का मुख्य लक्षण या गुण यह है कि वक्ता सुनने वाले का मन अपनी मुट्ठी में करले।"[3]

कहीं-कहीं तो भट्ट जी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बिलकुल आधुनिक ढंग का दिखाई देता है। देखिए भट्ट जी की 'सहानुभूति' शीर्षक निबन्ध से ली गई

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', मई १८८०, पृ० ४।

२. ,, मई १८८०, पृ० ४।

३. ,, दिसम्बर १८८६, पृ० ६।

निम्नांकित पंक्तियाँ शुक्ल जी के 'करुणा' शीर्षक निबंध की कितनी ही पंक्तियों से भाव में ही नहीं शब्दावली तक में मिल जाती हैं :—

"अब यह सिद्ध हुआ कि सहानुभूति के लिये कुछ अनुभव अवश्य चाहिए। ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जायगा सहानुभूति या हमदर्दी भी बढ़ती जायगी। लड़के किसी तरह की पीड़ा का अनुभव पहले अपने ऊपर करते हैं फिर दूसरे अपने साथी पर उसी तरह की पीड़ा देख अपने ही समान उसे भी पीड़ित जान उसके साथ सहानुभूति करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है दूसरों के सुख दुःख के सब रंग ढंग को अपने सुख के सब रंग ढंग के साथ तुलना कर उनकी सहानुभूति भी दूसरों के साथ अधिक बढ़ती जाती है। जैसा जिसने कभी किसी तरह का इम्तहान नहीं दिया वह दूसरों के पास या फेल होने के सुख दुःख का अनुभव भी नहीं कर सकता। केवल इतना अलबत्ता कहेगा कि मेहनत कम किया नहीं तो जरूर पास हो जाता।'[1]

भट्ट जी की उपर्युक्त पंक्तियों को भाव भाषा और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से शुक्ल जी की निम्नांकित पंक्तियों से मिलाइये तो स्पष्ट होगा कि शुक्ल जी सभी बातों में भट्ट जी के कितने ऋणी हैं :—

'जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचन क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य कारण सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ मूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं उसी प्रकार जब उनके किसी भाई या बहन को कोई मारने उठता है तो तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।'[2]

पहले सिद्धांत रूप में कोई बात कहना फिर उदाहरण देकर उसकी पुष्टि करना यह पद्धति निर्विवाद रूप से शुक्ल जी ने भट्ट जी से ही ली है।

परिभाषा देने की प्रवृति—भट्ट जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में उनकी परिभाषा देने की प्रवृति अत्यंत स्पष्ट है। परिभाषा देने की यह प्रवृति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में अधिक विकसित रूप में मिलती है किन्तु इस प्रवृति के भी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८९१, पृ० १६।**
२. **चिंतामणि, पहला भाग, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४।**

भट्ट जी हिन्दी में जन्मदाता हैं। 'सहानुभूति' की भट्ट जी देखिए कितनी सरल, सीधी और सुलझी हुई परिभाषा देते हैं :—

'दूसरे के दुःख से दुःखी सुख से सुखी होने का नाम सहानुभूति है।'[१]

अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों में परिभाषा देने का ढंग शुक्ल जी का भी बिलकुल यही है :—

'किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण का शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनंद पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।'[२]

भट्ट जी 'प्रीति' को सरल परिभाषा में आबद्ध करते हुए लिखते हैं :—

'प्रीति एक ऐसी मनोवृत्ति है जो स्वभावतः विश्वास परायणा सरल स्वच्छ दर्शना, क्रूर वृत्ति शून्या, एवं कुसुम सदृश कोमला और संसार की सार वस्तु है।'[३]

वर्गीकरण की प्रवृत्ति—भट्ट जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में वर्गीकरण की प्रवृति भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। निबन्ध में वैज्ञानिकता का पुट देने के लिये वर्गीकरण की प्रवृत्ति है भी वांछनीय। वर्गीकरण की यह प्रवृति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में भी मिलती है। भट्ट जी के 'शोभा और सामर्थि' निबन्ध से एतद्विषयक एक उद्धरण लीजिए :—

'मनुष्य के हृदय की वृत्ति दो प्रकार की होती है एक तो वह जिसमें अधिकतर स्त्रियों के से सब गुण होते हैं जैसा नम्रता, कोमलता, लज्जा, प्रीति, इत्यादि दूसरी वृत्ति में पुरुष के से सब गुण होते हैं जैसा पराक्रम, अध्यवसाय, अभिमान, आत्म निर्भरता। दूसरे प्रकार के गुण पौरुषेय गुण कहे जा सकते हैं।''[४]

इसी प्रकार अपने 'खुशी' नामक निबन्ध में भट्ट जी ने खुशी का वर्गीकरण कर उसे चार भेदों में बांट दिया है (१) संतान की खुशी, (२) धन की खुशी, (३) शासन की खुशी, (४) नरम हाकिम की खुशी।'[५]

युग को देखते हुए भट्ट जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों का स्तर आश्चर्यजनक रूप से ऊँचा है। क्या परिभाषा, क्या वर्गीकरण क्या विश्लेषण और क्या उदा-

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८९१ पृ० १६।**
२. **चिंतामणि, पहला भाग रामचन्द्र शुक्ल**, पृ० १७।
३. **'हिन्दी प्रदीप', जून** १८८०, पृ० २२।
४. ,, **फरवरी** १८८२, पृ० ४।
५. ,, **मई** १८८३, पृ० १-३।

हरण देने की पद्धति सभी में भट्ट जी ने इस प्रकार के निबन्धों को एक सुदृढ़ आधार बहुत पहले ही प्रदान कर दिया था; जिस पर बाद में इस प्रकार के निबन्धों का विशाल और आकर्षक भवन खड़ा हो सका।

३—शास्त्रीय निबन्ध

भट्ट जी ने साहित्य के शास्त्रीय पक्ष पर भी कितने ही महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। उन्हें हम शास्त्रीय निबन्धों की संज्ञा दे सकते हैं। सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार के निबन्धों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं–(१) भाषा सम्बन्धी निबन्ध, (२) साहित्य सम्बन्धी निबन्ध। 'हिन्दी प्रदीप' में भाषा पक्ष को स्पष्ट एवं सुदृढ़ बनाने वाले भट्ट जी के कितने ही निबन्ध मिलेंगे पर वे निबन्धों के रूप में इतने नहीं जितने मुहावरे तथा व्याकरण के अन्य अंगों के उदाहरण के रूप में हैं, कहीं-कहीं निबन्धों के रूप में भी भाषा का विवेचन मिलता है। फिर भी तुलनात्मक रूप में 'साहित्य' पक्ष पर लिखे गए भट्ट जी के निबन्धों की संख्या अधिक है। निम्नांकित रचनायें इस विषय की प्रतिनिधि रचनायें कही जा सकती हैं :—

भाषाओं का परिवर्तन,[१] ग्रामीण भाषा,[२] भारतवर्ष की जातीय भाषा,[3] खड़ी बोली का पद्य,[४] साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है,[५] सच्ची कविता[६], साहित्य जन समाज के चित्त का चित्रपट है,[७] हिन्दी की बेल बढ़ती जाती है,[८] हिन्दी, हिन्दी, हिन्दी, नागरी, नागरी, नागरी,[९] हमार भाषा क्या है,[10] देवनागरी अक्षरों की कम नसीबी,[११] भाषा कैसी होनी चाहिए,[१२] उपमा,[१३]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जून १८८५, पृ० २–७।
२. ,, जुलाई १८८५, पृ० १–५।
३. ,, फरवरी १८८६, पृ० १८–२२।
४. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ० ५४-५६।
५. ,, जुलाई १८८०, पृ० १५-१९।
६. ,, अक्टूबर १८८६, पृ० १०-१२।
७. ,, फरवरी मार्च १८९२, पृ० २३-३२।
८. ,, अक्टूबर १८८०, पृ० २-४।
९. ,, ,, ,, पृ० ४-७।
१०. ,, अप्रैल १८८२, पृ० ११-१४।
११. ,, जुलाई १८८३, पृ० १७-१९।
१२. ,, जुलाई १८८५, पृ० १-५।
१३. ,, जुलाई अगस्त १८८९, पृ० १०-१३।

खड़ी और पड़ी बोली का विचार,[१] हिन्दी की पुकार,[२] हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे,[३] हिन्दी की वर्तमान दशा,[४] गुन आगरी नागरी,[५] लोकोक्ति तथा सूक्तियाँ,[६] मुहावरे लोकोक्ति,[७] उपयुक्त विशेषण,[८] शब्द परिचय[९], उपयुक्त उपमा[१०], उपयुक्त क्रिया[११], उपयुक्त विशेषण और विशेष्य[१२], हमारी मातृ भाषा।[१३]

भाषा पक्ष पर भट्ट जी के निबन्ध और उनमें व्यक्त उनकी विचार धारा :—

भट्ट जी ने अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में अनेक निबन्धों में भाषा और साहित्य की समस्याओं एवं विशिष्टताओं पर विशद्ध विचार किया है। भट्ट जी के भाषा सम्बन्धी विचारों को हम निम्नांकित शीर्षकों में वर्गीकृत कर सकते हैं :—

(१) संस्कृत भाषा सम्बन्धी विचार, (२) हिन्दी भाषा सम्बन्धी विचार, (३) उर्दू सम्बन्धी विचार, (४) भाषा परिष्कार एवं भाषा निर्माण सम्बन्धी विचार। अब यहाँ क्रमशः उपर्युक्त शीर्षकों की छाया में भट्ट साहित्य के भाषा पक्ष पर विचार करना उचित होगा।

संस्कृत भाषा सम्बन्धी विचार :—यह स्मरणीय है कि पं० बालकृष्ण भट्ट प्राथमिक रूप से संस्कृत के ही विद्वान् थे और अपनी जीविका के अर्जन के लिये भी उन्होंने संस्कृत का ही सहारा लिया था। वे अनेक वर्षों तक कायस्थ पाठ-

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८८६, पृ० १६-१८।
२. ,, जनवरी से अप्रैल १८९६, पृ० २५-२६।
३. ,, नवम्बर दिसम्बर १७९७, पृ० १-२।
४. ,, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० २९-३१।
५. ,, नवम्बर १९०७, पृ० १९-२१।
६. ,, अक्टूबर १८८५, पृ० १९-२१।
७. ,, नवम्बर १८८५, पृ० ६-८।
८. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ० २५-२६।
९. ,, जनवरी १८९२, पृ० २१-२३।
१०. ,, फरवरी मार्च १८९२, पृ० ५-६।
११. ,, ,, ,, ,, पृ० ६ ७।
१२. ,, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० ४७-४८।
१३. ,, जून १९०६, पृ० ८-१०,

विशेष—एतद्विषयक और अधिक निबन्धों की सूची परिशिष्ट में दे दी गई है।

शाला कालेज इलाहाबाद में संस्कृत के प्रोफेसर थे। उनकी हिन्दी पर भी संस्कृत का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। अपने लेखक जीवन में भट्ट जी ने कितने संस्कृत श्लोक, कहावतें आदि हिन्दी में उद्धृत की हैं यदि उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाय तो निस्संदेह वह एक बड़े स्थूल ग्रंथ का रूप धारण कर लेंगीं। लेकिन इतना सब होते हुए भी भट्ट जी हिन्दी को ही अपनी मातृ-भाषा समझते थे और संस्कृत को महत्ता की दृष्टि से द्वितीय स्थान देते थे। वे इतना अवश्य मानते थे कि हिन्दी संस्कृत से बिना भरपूर सहायता लिये फूल फल नहीं सकती। भट्ट जी के काल में हिन्दी अत्यंत तिरस्कृत थी। ब्रिटिश सर-कार अंग्रेजी और फारसी का पक्ष ग्रहण कर रही थी। भट्ट जी ऐसे समय में हिन्दी और संस्कृत के साथ उचित न्याय की माँग अपने 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से कर रहे थे :—

"गवर्नमेंट को उचित है कि अपनी भारतीय प्रजा को यदि सुमार्ग पर चलाया चाहे तो उनकी संस्कृत विद्या और हिन्दी भाषा के सद् ग्रंथों का प्रचार बढ़ावे और यह हठधर्मी छोड़ दे कि अंग्रेजी वा फारसी विद्या अच्छी है।"[1]

भट्ट जी यद्यपि जीवन भर हिन्दी की पताका ही फहराते रहे फिर भी उन्हें इस बात पर बड़ा दुःख था कि लोग संस्कृत का पठन पाठन छोड़कर अंग्रेजी की ओर झुकते जा रहे हैं। उनका विश्वास था कि हिन्दी की उन्नति संस्कृत के उत्थान से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है :—

"यह एक समय है कि हमारे ब्राह्मण उन ग्रंथों का पढ़ना तो एक ओर रहा नाम तक उन ग्रंथों के नहीं जानते। जिस कुल में दश पुश्त से बराबर कुल परम्परागत विद्या चली आई है उस कुल में या तो निपट मूर्ख अब जन्मते हैं या पढ़ते हैं तो अंग्रेजी के विद्वान् होते हैं। जिनके पुरखे भाष्य कैयट मंजूषा, माघ, नैषध, किरात, के अक्षरों पर वादानुवाद करते थे उनके वंशधर अब शेक्स-पीयर मिल्टन और कारलाइल की पंक्तियों के विचार में प्रखरता प्रकट करते हैं। 'किमाऽश्चर्यं समय एव करोति बलाबलम्'।[2]

भट्ट जी उन संस्कृतज्ञों से बड़े रुष्ट थे जो हिन्दी पर अपना सहज अधिकार मानते हैं। भट्ट जी संस्कृत के प्रकांड पण्डित होने के नाते यह बात जानते थे कि जहाँ तक वैज्ञानिक आधार पर भाषा का प्रश्न है हिन्दी पृथक भाषा है और संस्कृत पृथक्। इसलिये एक में किए गए परिश्रम से दूसरी भाषा पर सहज अधिकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर १८७८, पृ० १३।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी फरवरी १६०१, पृ० ३७।**

स्वागतकारिणी सभा के सभापति के पद से भाषण देते हुए ऐसे संस्कृतज्ञों को भट्ट जी ने बड़ा फटकारा है। वे कहते हैं :—

"इन्होंने इस सभा को कुछ भी उन्नत करने का प्रयत्न न किया संस्कृत में कहो खर्रा का खर्रा रंग डालें पर मुहावरेदार हिन्दी उन्हें चार पंक्ति लिखना पड़े तो उसमें वे दस गलती अक्षर तथा व्याकरण की करेंगे।"[1]

हिन्दी भाषा सम्बन्धी विचार :—भट्ट जी ने अपना सारा जीवन ही हिन्दी के लिये समर्पित कर दिया था इसलिये हिन्दी के रूप और गुणों पर उन्होंने अपने विभिन्न लेखों में सम्यक् विचार किया है। भट्ट जी के हिन्दी भाषा विषयक विचारों से प्रकट होता है कि वे विशुद्धतावादी नहीं थे और तथाकथित विशुद्धता वादियों से उन्हें बड़ी चिढ़ भी थी। भट्ट जी की भाषा-विषयक नीति बड़ी उदार थी। वे जैसे भी हो भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाने के पक्ष में थे चाहे वह उर्दू के शब्द लेने से बढ़ती हो या अंग्रेजी के शब्द लेने से। अपने निबन्धों के अतिरिक्त भट्ट जी ने अपने एतद्विषयक विचार सार्वजनिक रूप से द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में स्वागत कारिणी सभा के सभापति के नाते निर्भय होकर व्यक्त किए थे :—

जहाँ ग्रामीण जन दिन भर की गाढ़ी मेंहनत के उपरांत एक स्थान में बैठ प्रमोद सूचक बातचीत करते हैं वहाँ अब भी नागरी के अपरिष्कृत शब्दों का अधिकतर व्यवहार दिखलाई पड़ेगा। सच है जिस पत्थर को म्यामार ने रद्दी समझकर फेंक दिया वही कोने का सिरा हुआ। वह भाषा जो ग्राम वाले बोलते हैं यद्यपि परिष्कृत न हो तो भी शुद्ध हिन्दी कहलाई जायगी। कवि मंडली बराबर इस पवित्र भाषा का आदर करती आई है। इस भाषा में १०० में ६० शब्द संस्कृत के अपभ्रंश हैं। हमारे कवियों को अपभ्रंश जितने सोहावने अपनी कविता के लिए मालूम हुए उतने शुद्ध संस्कृत नहीं। पुराने कवि और आधुनिक कविता के तुक जोड़ने वालों में यही बड़ा अन्तर है कि तुकबंदी वाले संस्कृत का प्रयोग अपनी रचना में जितना अधिक करते हैं उतना हिन्दी का नहीं।'[2]

भट्ट जी स्पष्ट शब्दों में अपनी उदार भाषा नीति की घोषणा करते हैं और सभी भाषाओं के प्रचलित शब्द स्वीकार करने की नीति का समर्थन करते हैं। उनका विचार है कि इससे हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ेगी जिसे बढ़ाना साहित्यिकों का प्राथमिक कर्तव्य है :—

'यह अवश्य है कि यवन सम्पर्क से बहुत से अरबी फारसी के शब्द हमारी

---

१. **'मर्यादा'**, सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०।
२. **'मर्यादा'**, सितम्बर १९११, पृ० २२४–२३०।

हिन्दी के साथ ऐसे सम्मिलित हो गए हैं कि घरेलू बात चीत में भी उनका प्रयोग, किया जाता है, जरूर, गरूर, मजूर, गरीब, फकीर, अमीर, मुसाफिर इत्यादि । यदि ये शब्द संस्कृत के अपभ्रंश शुद्ध हिन्दी शब्दों के साथ लगाए जाँय तो असंगत न मालूम होंगे जैसे, 'बहुत जरूर' इसमें 'बहुत' संस्कृत 'बहुल' का अपभंश है । 'जरूर' जो विदेशी शब्द है उसके साथ सर्वथा जोड़ खाता है। बहुत से लोगों का मत है कि हम लिखने पढ़ने की भाषा से यावनिक शब्दों को बीन बीन कर अलग करते रहें । कलकत्ता और बम्बई के कुछ पत्र ऐसा करने का यत्न भी कर रहे हैं, किन्तु ऐसा करने से हमारी हिन्दी बढ़ेगी नहीं, वरन् दिन दिन संकुचित होती जायगी । भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलाते जाँय और उसे अपना करते रहें । अरबी फारसी की कौन कहे अब तो अँग्रेजी के अनेक शब्द हमारी हिन्दी के एक अंग होते जा रहे हैं, जैसे लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन, फैसन, जज, टिकट आदि। ये सब शब्द अपने शुद्ध रूप से बिगड़ अपभ्रंश हो हमारे हो गए हैं ।।[१]

भट्ट जी मुहावरों को किसी भी भाषा की जान मानते हैं और भाषाओं के सतत परिवर्तन में विश्वास रखते हैं । भट्ट जी के ये विचार संस्कृत पण्डितों के विचारों से मेल नहीं खाते वास्तव भट्ट जी का भट्ट पन यही है कि पुरातनता, रूढ़ि, संकीर्णता तथा कठमुल्लापन उन्हें छू तक नहीं गया है । भट्ट जी 'भाषाओं का परिवर्तन' नामक निबन्ध में लिखते हैं :—

'इसके मानने में किस्को इंकार होगा कि हर एक भाषा के ढंग निराले ही हैं। दो भाषा व्याकरण की रीति पर कुछ कुछ मिलती भी हों परन्तु वे चीजें जिनको मुहाविरे कहते हैं कभी नहीं मिल सकते और ये मुहावरे ही हर एक भाषा की जान हैं । हिन्दी और अंग्रेजी ही को लीजिए इन दो भाषाओं में कहीं कहीं थोड़ा थोड़ा व्याकरण के नियमों का तो भेद हुई है किन्तु बड़ा भारी अंतर मुहावरों की निराली चाल का है। जहाँ कहीं इन मुहावरों की कोई गलती सुनने में आती है तो वह कान में चट चटक जाती है। यह लोग कदापि न समझें कि मुहावरे अंग्रेजी ही में हैं और जब उन पर आक्षेप होता है तो 'राधा बाजार अंग्रेजी या 'बाबुओं की अंग्रेजी' इत्यादि शब्द तज या निंदा की राह से कहे जाते हैं । जब तक किसी भाषा में जान है अर्थात रोज मर्रे के काम में लोग उसे बर्तते हैं और पुष्ट रीति पर उसकी स्थिति बनी रहती है तब तक नए नए मुहाविरे नित्य उसमें बनते ही जाँयेगे । सृष्टि के

---

१. **'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३० ।**

चेतन पदार्थों का जो नियम है कि वे कभी एक सा नहीं रहते वरन दिन प्रति-दिन परिवर्तन की सान पर चढ़ते ही जाते हैं । यह नियम भाषा के सम्बन्ध में बहुत पूरी रीति पर लगता है क्योंकि ऐसा मलूम होता है कि रुधिर और अस्थि मनुष्य के शरीर से उतना निकट सम्बन्ध नहीं रखते जितना उनकी भाषा रखती है और इसी कारण बड़े से बड़े पण्डित के आगे कोई अशुद्ध संस्कृत शब्द बोलिए तो वह इतना न खटकेगा जितनी एक सामान्य से सामान्य बे मुहावरे हिन्दी शब्द कान को चोट पहुँचावेगा। क्योंकि अब संस्कृत बोलचाल की भाषा न रह गई। विचार कर देखिए तो जो हिन्दी हम आजकल बोलते हैं वह पहले क्या थी और अब क्या है ? अब फारसी उर्दू शब्द इसमें मिलते जाते हैं। क्योंकि जब आपके बड़े बड़े प्रामाणिक हिन्दी कवियों ने अरबी फारसी के शब्द ग्रहण किए तो हमारे और आपके निकाले वे सब शब्द जो हमारी भाषा की नस नस में अन्तः प्रविष्ट से हो रहे हैं क्योंकर निकल सकते हैं। बल्कि इसमें विरुद्धता दिखलाना वैसा ही है जैसा किसी वेग गामिनी नदी के प्रवाह को अकेले एक हाथ से रोक कर उलट देने का यत्न करना है। जिस तरह के शब्द सर्वसाधारण अपनी भाषा में प्रचलित कर लेते हैं या जिस तरह के शब्द अपनी नित्य की बोलचाल से लोग निकालकर फ़ेंक देते है उस पर आपको कुछ भी अधिकार नहीं है। आप मनुष्यों की भाषा तभी बदल सकते हैं जब जूलू या हबशी की सूरत का कोई आदमी इन देशों में पैदा कर सकें। या उससे भी बढ़कर कोई दूसरा प्राकृतिक अनर्थ जो सर्वथा प्रकृति विरुद्ध है कर सकें, क्योंकि यह कैसे संभव है कि प्रबल काल चक्र अपनी निशानी सब चीजों पर न छोड़ जाय।'[1]

भट्ट जी हिन्दी को ऐसी व्यापक भाषा मानते हैं जो 'कुँजड़े से लेकर महा-जन तक और हरवाहे से लेकर राजा तक' सबकी बोलचाल की सामान्य भाषा है।[2] इसीलिये वे दुश्चिंता एवं द्विधा रहित होकर हिन्दी को भारत की जातीय भाषा मानते हैं क्योंकि जातीय भाषा होने के लिये जिन गुणों की अपेक्षा होती है वे सब इस भाषा में हैं।[3]

आत्मविश्वास की यह चरमसीमा ही है जबकि सर्वथा प्रतिकूल परिस्थियों में भी भट्ट जी ने हिन्दी के एक दिन राष्ट्र भाषा होने की भविष्यवाणी की

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जून १८८५, पृ० ३-४।**

२. ,, **सितम्बर १८८२, पृ० १०।**

३. ,, **फरवरी १८८६, पृ० १८-२२।**

उन्हें खेद इसी बात का है कि "वह सत्कीर्ति न मालूम किस यशस्वी पुरुष के हाथ लगेगी।"[१]

भट्ट जी भाषा तथा साहित्य की तुलना में व्याकरण को अनावश्यक महत्व देने के पक्षपाती नहीं हैं जैसा कि संस्कृत भाषा में हुआ वे स्पष्ट कहते हैं :—

"अभेद दुर्ग सदृश पाणिनि के व्याकरण के आगे हिन्दी का व्याकरण छोटी सी फूँस की झोंपड़ी है। यह तो प्रकट है कि अब हमें उतने बड़े व्याकरण की आवश्यकता न रह गई। एक वह समय था कि अनेक जंजालों से भरे हुए पाणिनि कात्यायन, पतंजलि के सूत्र वार्तिक भाष्य में एक मात्रा का भी हेर फेर हो जाने पर एक बड़ा भारी इमारत को ढाह कर फिर से खड़ा करना था। और इसी का परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ का व्याकरण ऐसा झंझट से भरा हुआ शास्त्र हो गया जैसा पृथ्वी के किसी कौने में न हुआ होगा। सच पूछिए तो दो गाड़ी के बोझ की पुस्तकें 'शेखर मंजूषा', 'कैयट' आदि बड़े बड़े जगड्वाल जो रचे गए उनमें और है क्या ? सिवा इसके कि कीचड़ में पाँव बोर फिर धोओ; एक बड़े यत्न और प्रयास से एक बने बनाए सुन्दर मनोहर महल को तोड़ फोड़ छिन्न भिन्न कर पीछे पछिताय फिर उसी को बनाया है। इन्हीं विफल चेष्टाओं में व्याकरण इतना बड़ा शास्त्र हो गया। जिस्में नवीन और प्राचीन का झगड़ा पढ़ते पढ़ते उमर की उमर बीत जाती है कोरे के कोरे मूर्ख रह जाते हैं। ऐसी सरल भाषा हिन्दी में इस सब खटपट का अब कुछ काम ही न रह गया।"[२]

उर्दू भाषा सम्बन्धी विचार :—

भट्ट जी उर्दू भाषा का कोई पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे उसे हिन्दी का ही एक रूप मानते हैं। अपने एक निबन्ध में वे स्पष्ट लिखते हैं :—

"यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपान्तर है। जब हम हिन्दुओं ने इसका अनादर कर इसे त्याग दिया तब मुसलमानों ने इसकी दीनता पर दया कर इसे अपने मुल्क के लिबास और जेवरों से आभूषित कर इसका दूसरा नाम उर्दू रखा। तात्पर्य यह कि इस नारी का कुल और गोत्र सदा एक ही रहा समय समय पर इसका रंग रूप और भेष अलबत्ता पलटता गया।"[3]

भट्ट जी उर्दू शब्दों का हिन्दी में स्वागत करने को यद्यपि तैयार हैं लेकिन

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८२, पृ० २१।

२. ,, जून १८८५, पृ० २-७।

३. ,, फरवरी १८८५, पृ० ६।

उर्दू साहित्य और फारसी लिपि के विषय में उनके विचार अनुकूल नहीं हैं, वे इन दोनों के विरोधी प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर वे उर्दू भाषा के साहित्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं :—

"जैसा फारसी और उर्दू के काव्यों में आशिक माशूक के नाज नखरे और हूर और गिलमाओं के झगड़े भरे हैं। दूसरे उनके श्रृङ्गारिक वर्णन का आधार स्त्री न हो पुरुष माना गया है। बात बात में आशिक माशूक पर अपनी जान नेउछावर करने को तैयार रहता है। जिस्से सिद्ध है कि फारस के इन मुसलमानों का मन कहाँ तक विकृत है और ये कितने भोगलिप्सु और मोद प्रमोद प्रिय होते हैं। भारत भूमि में बहुत सी सामयिक प्रचलित बुराइयाँ इन्हीं लोगों के पदार्पण का परिणाम है।"[1]

फारसी लिपि के विषय में भी भट्ट जी के विचार कम महत्वपूर्ण नहीं हैं:—

"यह फारसी इससे पसंद के लायक ठहराई गई है कि सही का शब्द लिखे तो 'स्वाद' से और साबित लिखे तो 'से' से और सनद लिखे तो 'सीन' से, ऐसे ही हासिल बड़े 'हे' से, हतक, छोटी 'हे' से, जंग 'जीम' से, ज़ाहिर 'ज़ो' से ज़ाब्ता 'ज़्बाद' से जवानी जे से ज़िक्र 'जाल' से लिखा जाता है और इन बातों की ठीक जानकारी तब होती है जब 'म्यां' जी की रकावी धोते धोते हाथ की रेखायें मिट जाती हैं।"[2]

भाषा परिष्कार एवं निर्माण पर भट्ट जी के विचार

भट्ट जी ने हिन्दी परिश्रम के साथ सीखी थी और लिखते लिखते इस पर उनका असाधारण अधिकार हो गया था। 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी भाषा परिष्कार या निर्माण की दृष्टि से उपयुक्त विशेषण, उपयुक्त क्रिया, या मुहावरे आदि के द्वारा पाठकों का इस विषय में ज्ञानवर्द्धन किया करते थे। भट्ट जी की इस प्रकार की रचनाओं का सृजनात्मक साहित्य में चाहे कोई बड़ा स्थान न हो पर हिन्दी सीखने वालों के लिये ये बड़ी काम की चीजें हैं। इनमें से प्रत्येक का उदाहरण भट्ट जी की रचनाओं से देना समीचीन होगा।

उपयुक्त विशेषण :—

बुद्धि :—कुशाग्र, सूक्ष्म, पैनी, अगाध, गम्भीर, उदार, मोटी, संकीर्ण, भद्दी।

अंग :—नवनीत, कोमल, वज्रसार, दृढ़, सुडौल।

चित्त वा हृदय :—सरल, कुटिल, सरस, नीरस, स्वच्छ, मलिन, कट्टर, पत्थर सा, शीशे सा।

---

१. **'मर्यादा', नवम्बर १६१०, पृ० १३-१४।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाइ १८८२, पृ० २१।**

शब्द :—मेघ गंभीर, सिंहनाद, कर्ण रसायन, कर्ण कटु, कोकिल रव, कलरव, कलकल, काकली, स्वनित, सिंजित, रसित, स्तनित, कोलाहल, मधुर, स्फुट, अव्यक्त, अल्पकंठ, लयसमर्थ, सुस्वर, टें टें, काँव काँव, केंकार, पटपटा, कूजित, गूँज, अरहिट, धड़धड़, भड़भड़ इत्यादि।"[१]

वृत्ति :—अजगरी, आकाशी, शिलोंच्छ, अयाचक, पुरोहिती, शान्त, वक, ब्रह्म, वणिक्, सेवा, दास, इत्यादि।

बाला :—अप्राप्त वयसा, अजात रजसा, अज्ञात यौवना, मुग्धा।

युवती :—तरुणी, नवयौवना, उन्मदा, कामिनी, रूपगर्विता, ज्ञातयौवना,

मैत्री या दोस्ती :—दृढ़, दिली, दांत काटी, एक मन दो तन, निष्कपट, मतलब की, निष्कारण, स्वाभाविक, बनावटी, सरल, कपट।[२]

उपयुक्त उपमा :—

क्षमा :—पृथ्वी की, शान्ति शील, मुनि की।

सिधाई :—गऊ की, कुलवती की।

निठुराई :—सिंह की, शिकारी जानवर की, व्याध की, चंगेज, तैमूर, नादिर से जालिमों की।

निर्मलता :—शरत् के पूर्णचन्द की चाँदनी की सज्जन के चित्त की स्वच्छ जल की, स्फटिक की, स्फुट तारक आकाश की।

गम्भीर्य :—"अतल स्पर्शी, अगाध जलधि की, नीति वेत्ता की सज्जन के चित्त की।"[१]

उपयुक्त क्रिया :—

खाना :—गम का, धोखे का, मनमोदक का।

लगना :—लगन का, मन का, लौ का, आँख का 'न लगी आँख जब से आँख लगी।'

छूटना:—ईमान का, धरम का, हिम्मत का, पिण्ड का, देश या परिवार का।

चलना :—नाम का, बात का, पेट का, राँडों के चरखे का, साख का।

हारना :—हिम्मत का, बात का।

टूटना :—जी का, कुटुम्ब का, बात की लर का, उम्मेद का, तारों का, दाल भात में मूसल का।

सुविज्ञ पाठकों के लिए यह एक दिग्दर्शन मात्र है, जितना सोचते जाइये

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी** १८९२, पृ० ४-६।

२. „ **फरवरी मार्च** १८९२, पृ० ३-४।

१. „ „ „ „ पृ० ३-४।

टटके से टटके मुहावरे निकलते आवेंगे, जो सुलेखक हुआ चाहें वे इससे अवश्य कुछ लाभ उठा सकते हैं ।[२]

भट्ट जी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वे लेखकों की भलाई तथा पाठकों के मनोरंजन के लिए इस प्रकार की सामग्री बराबर 'हिन्दी प्रदीप' में दिया करते थे और उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि उनका यह प्रयत्न सदैव सफल रहता था क्योंकि अनेक नवीन लेखकों का इससे मार्ग दर्शन होता था ।

साहित्य सम्बन्धी भट्ट जी के विचार

भट्ट जी ने साहित्य के शास्त्रीय पक्ष पर भी अनेक निबन्ध लिखे हैं और उनमें उन्होंने साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास आदि सभी पर विचार किया है ।

भट्ट जी शाश्वत साहित्य जैसे किसी शब्द पर विश्वास नहीं करते । वे साहित्य को परिवर्तनशील मानते हैं क्योंकि साहित्य तो जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र है और जीवन कभी स्थिर हो ही नहीं सकता इसलिए स्थिरता या स्थायित्व कोई साहित्य का महान् गुण नहीं है । 'वेद' को जिसका शाश्वत और अपौरुषेय होने का बड़ा ढिंढोरा पीटा जाता है भट्ट जी न उसे शाश्वत मानते हैं और न अपौरुषेय । उनका कथन है कि 'वेद' जिस काल का साहित्य है वह काल उसमें अपनी सम्पूर्ण विशिष्टताओं सहित पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित है । वेद का साहित्य व्यास कालीन तथा कालिदास कालीन साहित्य से विषय प्रवृत्तियों, भाषा और अभिव्यक्ति कौशल आदि में बिल्कुल भिन्न है । वह सब साहित्य को देश, काल से प्रभावित मानते हैं । 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा है :—

"साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है । जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रगट हो सकते हैं ।"[१]

वेद कालीन साहित्य तथा परवर्ती साहित्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए भट्ट जी लिखते हैं :—

'किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब, समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं । हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है । उस

---

२. 'हिन्दी प्रदीप', फरवरी मार्च १८९२ पृ० ६-७ ।

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८१, पृ० १५ ।'

समय आर्यों की शैशवावस्था थी बालकों के समान.जिनका भाव, भोलापन, उदार भाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं। वेद जिनके हृदय की भाषा थी वे लोग मनु और याज्ञवलक्य के समान समाज का आभ्यन्तरीन भेद वर्ण विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे। कणाद या कपिल के समान अपने-अपने शास्त्र में मूलभूत बीज सूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छान में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे, न कालिदास आदि कवि सम्प्रदायानुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम विलास और लावण्य-लीला-लहरी में गोते मार-मार प्रमत्त हुये थे। प्रातःकाल उदितोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे सादे जी ने बिना कुछ विशेष छान-बीन किये इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ और इसके द्वारा अनेक प्रकार का लाभ देख कानन स्थित विहंग कूजन समान कल-कल रव से प्रकृति के प्रभात वंदना का साम गाने लगे।"[1]

काल के प्रभाव को साहित्य पर अनिवार्य मानते हुए भट्ट जी लिखते हैं:—

वाल्मीकि ने जिन जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचन्द्र में बरकाया था वे ही सब व्यास के समय गुण होगई जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान अपना गौरव अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके न जाने पावे। भारत के हर प्रसंग का तोड़ अन्त को इसी बात पर है इसके अनेक प्रमाण हैं। कर्ण की बाण वर्षा से त्रस्त युधिष्ठिर अर्जुन को संग्राम भूमि से लौटे देख जब उनकी गाण्डीव धन्वा की निंदा किया था कि उस समय अर्जुन ने युधिष्ठिर का यहां तक तिरस्कार किया कि उनके बध करने पर उद्यत हो गए। लक्ष्मण के भ्रातृ स्नेह से यह बात कितनी विरुद्ध है।"[2]

भट्ट जी का विचार था कि हिन्दी में कविता-साहित्य तो अत्यंत समृद्ध है इसलिये लोगों को गद्य साहित्य की समृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए— "और भाषा मरहठी, गुजराती, बँगला की अपेक्षा कविता के अंश में हिन्दी का साहित्य बहुत चढ़ा हुआ है, संस्कृत से कुछ ही न्यून है किन्तु गद्य-रचना" प्रोज़ हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है सिवाय एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के और कुछ हुई नहीं जिसे हम इसके साहित्य के भण्डार में शामिल करते।"[3]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,, जुलाई १८८१, पृ० १६,१७।
२. वही ,, वही ,, पृ० १६-२०।
३. वही ,, फरवरी मार्च १८९२, पृ० ३२।

भट्ट जी ने केवल हिन्दी गद्य की सेवा के लिये साहित्यिकों का आवाहन ही नहीं किया अपितु स्वयं भी उसकी सेवा में तन-मन से लग गए।

हिन्दी कविता पर भी भट्ट जी ने अपने अमूल्य विचार अनेक निबंधों में प्रगट किए हैं और जहाँ तक बन पड़ा है उसका मार्ग दर्शन भी किया है। भट्ट जी स्वयं कोई बहुत बड़े कवि नहीं थे परन्तु साहित्य शास्त्र के वे प्रकाण्ड पण्डित थे इसलिये कविता की तत्कालीन स्थिति को देखते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अत्यंत समीचीन और विवाद से परे है। यद्यपि भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और उन्होंने संस्कृत-साहित्यार्णव का गंभीर मंथन किया था फिर उनके विचार इतने आधुनिक, इतने अधिक प्रगतिशील और युगानुकूल हैं कि पढ़कर आश्चर्य होता है। कविता को नियमों से जकड़ना भट्ट जी अवांछनीय समझते हैं वे उस कविता को पसन्द करते हैं जो हृदय की आवेश-मयी अभिव्यक्ति हो 'सच्ची कविता' शीर्षक अपने एक सारगर्भित निबन्ध में वे लिखते हैं :—

"स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अन्तर होता है हमारे मन जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते इसलिए सुसंस्कृत कविता 'क्लासिक पोइट्री' अवश्यमेव कृत्रिमता दोष पूरित रहगी।"[1]

भट्ट जी का विचार है कि रीति बद्ध कविता सड़े हुए जल के समान हो जाती है जो न तो नेत्र रंजक है और न उपयोगी ही इस प्रकार की कविता के विरुद्ध लिखते हुए वे कहते हैं :—

"हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आज तक चले आये हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं जिस्की उपमा हम एक छोटे से तालाब की देंगे जिस्में न कहीं से पानी का निकास है न नया ताजा पानी उस्में आने की कोई आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन-दिन सड़ता ही जाय और गन्दगी बढ़ती जाय क्योंकि नियम बद्ध हो जाने से गिनी गिनी बातें उनके लिये बच रहीं। उन्हीं का बार बार पिष्ट पेषण किया करें प्रायः तो नायक नायिका का एक एक अंग का नखशिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बड़े

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १७८६, ह० १४।

षट्ऋतु के वर्णन में जा फँसे बसंत हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नई बात लावें कहाँ से ? पावस को कहने लगे तो मोर दादुर की टर टर वियोगिनी नायिका की स्मर दशा आदि इनी गिनी दस पाँच बातें हैं जिस पर कविता की अधिष्ठातृ देवी को सैकड़ों वर्षो से घसीट जीर्ण कलेवर कर डाला ।"[1]

अपने युग में भट्ट जी सम्भवतः पहले महान् साहित्यिक हैं जिन्होंने लोक-कविता का समर्थन ही नहीं किया अपितु उसे साहित्यिक कविता के बराबर का स्थान दिया है। भट्ट जी का कहना है कि भावों की स्वाभाविकता और भाषा की सरलता के गुणों के कारण लोक-कविता साहित्यिक कविता से भी अधिक स्पृहणीय हो गई है :—

"अब ग्राम्य कविता पर ध्यान दीजिए मल्लाहों के गीत कहारों का कहरवा विरहा अथवा आल्हा आदि सब महाभद्दी केवल गंवारों की रोचक कवितायें हैं उनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमण्ड में फूले नहीं समाते अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निस्सन्देह वे ग्राम्य कविता हैं और मलार ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महाभद्दी और घृणित हैं पर इस्से यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई भी गुण हई नहीं और सर्वथा दूषित ही हैं। अब हमारे पाठक जन पूछ सक्ते हैं आपने उसमें ऐसा कौन सा गुण पाया जो उस्पर इतना लट्टू हो रहे हैं माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है अर्थात् उन्में चित की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिची हुई पाई जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इस्में नहीं कहीं पाया जाता। जो यहाँ तक कृत्रिमता पूर्ण रहती है कि उस्के जोड़ की एक निराली दुनिया केवल कविजी के मस्तिष्क मात्र में ही स्थान पाए हुए है।"[2]

नाटकों के विषय में भी भट्ट जी ने स्थान स्थान पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। भट्ट जी ने स्वयं अनेक नाटक लिखे तो हैं ही साथ ही उन्हें अभिनय का भी बड़ा शौक था और वे अनेक नाटकों में अभिनय कर भी चुके थे। भट्ट जी ने प्रयाग में नाटक मण्डलियों की स्थापना भी की थी और वे उनके कर्त्ता-

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १४।

२. " " " पृ० १५।

धर्ता थे। हम इस बात की चर्चा भट्ट जी की जीवनी में भी कर चुके हैं। भट्ट जी नाटकों का उद्देश्य विशेष रूप से वही मानते थे जो सामान्यतः साहित्य का उद्देश्य है। भट्ट जी को यह देखकर बड़ा कष्ट होता था कि इस सदुद्देश्य को पारसी नाटक कम्पनियों ने चौपट ही कर दिया है—'नाटकों से हम लोगों का यत्न यह था कि लोगों की तबियत ऐसे बेहूदे खेल तमाशों से रोक सुसभ्य विनोद की ओर रजू करते सो इन पारसियों ने चौपट कर डाला।"[1]

भट्ट जी नाटकों के दो प्रधान उद्देश्य समझते थे सामाजिकों का मनोरंजन तथा भाषा का सुधार। पर तत्कालीन पारसी कम्पनियों से एक भी उद्देश्य सिद्ध नहीं हो रहा था इसलिए उन्होंने उपर्युक्त कम्पनियों का अनेक बार कठोर विरोध किया था। एक स्थान पर वे लिखते हैं :—

"इन पारसियों ने नाटक को जो सभ्य समाज का परमोत्कृष्ट विनोद था बिगाड़ कर भांड़ पतुरियों के तमाशों से भी विशेष कर डाला। इनके नाटकों से सिवा इश्क और आशिक माशूक़ के तरक्की के किसी तरह का सदुपदेश जा नाटकों के अभिनय का मुख्य उद्देश्य है कोई नहीं निकलता। न इनसे हम लोगों को किसी तरह की सहानुभूति है जो हमारा किसी तरह का उपकार इन तमाशों से इन्होंने कभी सोचा हो इनको केवल रुपया कमाने से मतलब है।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भट्ट जी नाटकों में मनोरंजन के साथ साथ जीवन के लिए किसी न किसी संदेश के पक्षपाती भी थे। साहित्य की सभी विधाओं में सबसे अधिक प्रभाव डालने वाली, मनोरंजन के साथ साथ जीवन के लिए कुछ न कुछ संदेश देने वाली, विधा भट्ट जी नाटक को ही मानते थे इसलिये वे सबसे अधिक उन्नति साहित्य के इसी अंग की चाहते थे किन्तु इस दिशा में लोगों की निष्क्रियता देख वे अत्यन्त खिन्न थे उनका कहना था कि किसी देश की सभ्यता का यदि कोई वास्तविक मापदण्ड है तो नाटक ही। एक स्थान पर वे लिखते हैं :—

"जो देश सभ्यता की जितनी ही अंतिम सीमा को पहुँचता है वहाँ उतना ही अधिक नाटक का प्रचार पाया जाता है। श्रव्य और दृश्य दो प्रकार की कविताओं में कहने की अपेक्षा करके दिखा देने का अधिक अवसर होता है। दुःख का विषय है कि हिन्दी की तरक्की का दम भरने वालों का इस ओर बहुत कम ध्यान है यही कारण है कि उपन्यास बढ़ते जा रहे हैं और नाटक बहुत कम लिखे जाते हैं। नाटक लिखने का क्या प्रकार है कितने हमारे हिन्दी लेखक सो

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल १८८३, पृ० १९।**

जानते भी नहीं। प्रत्येक नगर में दो एक बार हिन्दी के नाटक का अभिनय किया जाय तो देखो साल में कितने नए नाटक तैयार हों।"[१]

उपन्यासों के विषय में भी भट्ट जी अपनी निश्चित विचारधारा रखते थे। भट्ट जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में से हैं इसलिये उपन्यास सम्बन्धी उनके विचार एक अनुभवी और प्रतिभाशाली व्यक्ति के विचार हैं। भट्ट जी केवल आलोचक ही नहीं थे वे रचनात्मक साहित्य के सृष्टा भी थे इसलिये उनके साहित्यिक निबन्धों में अनुभव और सत्य का जो मणिकांचन संयोग है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भट्ट जी उपन्यासों की आलोचना और उपन्यास सृजन द्वारा पहले ही साहित्य-जगत में अपना स्थान बना चुके थे उनकी परीक्षा गुरु उपन्यास की आलोचना हिन्दी में ऐतिहासिक महत्व की मानी जाती है।[२] भट्ट जी का विश्वास है कि साहित्य का जो अंग जीवन के लिये कोई संदेश नहीं छोड़ता उसका अस्तित्व व्यर्थ है। उपन्यासों से भी वे नैतिक संदेश की आशा करते हैं पर बड़े कौशल के साथ वे उपन्यासकारों को उपदेशात्मकता से बचने के लिये सदैव सावधान करते हैं और परीक्षा गुरू की उपदेशात्मकता की उन्होंने कड़ी आलोचना भी की है। उपन्यास में अच्छे पात्रों के द्वारा हम सत् प्रभाव की सृष्टि कर सकते हैं इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं :—

"नोवेल 'इम्मोरल' असत् उपदेशक होकर भी बुरे और भले पात्रों के चरित्र का बराबर से मुकाबिला करते अन्त में भले पात्र को उपन्यास के किस्से का मुख्य नायक बनाय एक ऐसी भारी शिक्षा उसमें से निकल आती है कि वह उस्के समस्त असत् लेख को ढाँप लेती है इस तरह की लेख चातुरी रेनल्ड्स साहब की मिस्ट्रीज में है जिसे हम कादम्बरी से भी कई बातों में उत्तम समझते हैं, सच सच तो यों है कि हिन्दी अभी इस लायक हुई ही नहीं कि इस्में नाविल लिखे जाँय न निखालिस हिन्दी-रसिकों की समझ अभी इतनी बढ़ी है कि नावेल की काट छाँट समझ सकें।"[३]

भट्ट जी 'उपन्यास' को अंग्रेजी 'नाविल' से प्रभावित ही मानते हैं उनका कहना है कि हमारे प्राचीन साहित्य में वास्तव में उपन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं थी अपने 'उपन्यास' नामक निबन्ध वे वे स्पष्ट लिखते हैं :—

"हम लोग इन दिनों के भाषा लेखक जहाँ बहुत से नए नए शब्दों की गठन और उनका प्रयोग अपने मन के माफिक करते जाते हैं उसी तरह यह उपन्यास

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई से जुलाई १९०४, पृ० ४०-४१।**

२. ,, **जनवरी १८८२, पृ० १७-१९।**

३. ,, **जनवरी १८८२, पृ० १९।**

भी अंग्रेजी नाविल के अर्थ में लिया जाता है। नाविल के ढंग का गद्य काव्य लिखने का तरीका हमारी प्राचीन संस्कृत लिखावट में न था।"[१]

४—विषय प्रधान निबन्ध

भट्ट जी के विषय प्रधान निबन्धों की संख्या उनके अन्य निबन्धों की तुलना में अधिक ही निकलेगी। विषय प्रधान निबन्धों से हमारा तात्पर्य उन निबन्धों से हैं जिनमें विषय प्रधान रहता है और शैली गौण। इस प्रकार के निबन्धों की शैली सीधी सादी इतिवृत्तात्मक शैली होती है। अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के निबन्धों का नामकरण 'वर्णनात्मक' निबन्ध भी किया है। 'विषय-प्रधान' निबन्धों में लेखक विषय के सर्वांगीण वर्णन के विषय में सचेत रहता है। वास्तव में इस प्रकार के निबन्ध भावोत्तेजक से अधिक ज्ञानवर्द्धक होते हैं। इस प्रकार के निबंधों में उपदेशात्मकता का पुट भी अपेक्षाकृत अधिक रहता है।

निम्नांकित निबन्ध भट्ट जी के इस प्रकार के निबन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं :—

परदा[२], देश सेवा का महत्व[३], योरुप और हिन्दुस्तान[४], हमारी मातृभाषा[५], घर,[६] घर और घर की मालकिन,[७] गृहस्थी,[८] सुगृहणी,[९] हमारी भारतीय ललनायें,[१०] शब्द की आकर्षण शक्ति,[११] चरित्रपालन,[१२] लक्ष्मी,[१३] श्री शंकराचार्य

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' जनवरी १८८२ पृ० १७।

२. 'मर्यादा', फरवरी १९१२, पृ० १९५-९६।

३. ,, दिसम्बर १९०६, पृ० २०-२१।

४. ,, अक्टूबर से दिसम्बर, पृ० ८-१०।

५. ,, जून १९०६, पृ० १-४।

६. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८८९, पृ० ४-८।

७. ,, ,, ,, पृ० ९-११।

८. ,, सितम्बर १८९?, पृ० १४-१७।

९. ,, जुलाई अगस्त १८९५, पृ० १०-१३।

१०. ,, जुलाई १८९१, पृ० ६-१।

११. ,, दिसम्बर १९०७, पृ० ११-१४।

१२. ,, सितम्बर अक्टूबर १८९४, पृ० ३-६।

१३. ,, जुलाई अगस्त १८९८, पृ० ४-९।

और गुरु नानक देव,[१] राजा,[२] जात पाँत,[३] धर्म का महत्व,[४] तीर्थों की तीर्थता[५], जातीयता के गुण,[६] वायु,[७] ग्राम्य जीवन,[८] मनुष्य तथा वनस्पतियों में समानता,[९] संग्राम,[१०] सोना ।[११]

भट्ट जी की बहुज्ञता :—

विषय प्रधान निबन्धों से भट्ट जी की बहुज्ञता पर समुचित प्रकाश पड़ता है, भट्ट जी के वर्णनात्मक निबन्ध राजनीति, समाज, साहित्य, कृषि, ज्योतिष, भूगोल, अर्थशास्त्र, व्यापार, नीति, इतिहास, जीवनी, विज्ञान आदि सभी विषयों पर उपलब्ध हैं। यात्रा से लेकर सूक्ष्म दार्शनिक विषयों तक सभी विषय भट्ट जी के उपर्युक्त निबन्धों की परिधि में आते हैं। इस प्रकार के निबन्धों की शैली इतिवृत्तात्मक है, उनके 'संग्राम' नामक निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए :—

'आजकल जब लोगों का चित्त ट्रान्सवाल युद्ध के बारे में क्षुभ रहा है। संग्राम है क्या ? और इसका क्या परिणाम होता है ? यह सब लिखा जाय तो हम समझते हैं असामयिक और अरोचक न होगा। संग्राम बहुत पुराने समयों से होता आया है। वेदों में तो अध्याय के अध्याय ऐसे ही पाये जाते हैं जिनमें व्यूह रचना एक-एक अस्त्र शस्त्र के अभिमंत्रण और उनको शत्रुओं पर प्रयोग करने के क्रम और तरीके लिखे हुए हैं और अब इस समय तो यूरोप और अमरीका में रोज नई-नई तरह की बन्दूक और तोपों के ईजाद से युद्ध करने का हुनर तरक्की के ओर छोर को पहुँचा हुआ है। यद्यपि सब दार्शनिक ज्ञानी विद्वान इसमें एक मत हो कह रहे हैं कि लड़ाई करना बुरा है तथापि खेद का

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' मार्च अप्रैल १८९८, पृ० १-६।
२. ,, जुलाई अगस्त १८९४, १-३।
३. ,, अप्रैल १८८६, पृ० १-४।
४. ,, अप्रैल से जून १८९४, पृ० १-६।
५. ,, मार्च १९०६, पृ० १-८।
६. ,, जनवरी से मार्च १८९७, पृ० ४२-४६।
७. ,, अगस्त १९०६, पृ० ६-८।
८. ,, अगस्त सितम्बर १९०१, पृ० २-५।
९. ,, मई से जुलाई १९०१, पृ० १-४।
१०. ,, अप्रैल से जून १९००, पृ० १-७।
११. ,, अगस्त सितम्बर १९०१, पृ० ६-११।

नोट :— इस प्रकार के और अधिक निबन्धों की सूची परिशिष्ट में दे दी गई है।

विषय है कि यह कभी बन्द न हुई वरन् ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है, डिनामाइट आदि नए-नए तरह की पाउडर और लड़ाई की कलें निकलती आती हैं। युद्ध के नए-नए अस्त्र शस्त्र में सुधराई होती जाती है और संग्राम में मृत मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है।"[१]

इस प्रकार के निबन्धों में भट्ट जी उपसंहार के रूप में अपना उपदेश देना प्रायः नहीं भूलते :—

"इन दिनों स्वार्थी, उन्मत्त अविवेकी कुटिल राजनीतिज्ञों ने संग्राम को ऐसा घिन के लायक कर दिया कि जिससे सिवाय हानि के लाभ का कहीं लेश भी नहीं है। ईश्वर ऐसों को सुमति दे जिसमें वे अपनी कुटिलाई के ऐंच पेंच काम में न लाया करें तो संग्राम न हुआ करे लाखों जान कृतान्त के कर ग्रहण से बची रहें और प्रजा का कल्याण हो।"[२]

विषय प्रधान निबन्धों में भट्ट जी का निबन्धकार का रूप अत्यन्त स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। शास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक निबन्ध गठन की दृष्टि से इतने सुन्दर और निर्दोष नहीं कहे जा सकते जितने विषय प्रधान निबन्ध। विषय प्रधान निबन्धों में निबन्ध के शरीर के निम्नांकित अंगों को हम उचित अनुपात में देख सकते हैं—

(१) प्रस्तावना, (२) विषय विस्तार, (३) वर्गीकरण, (४) निष्कर्ष और (५) उपसंहार।'

'जातीयता के गुण' नामक निबन्ध में विषय को व्यवस्थित या वर्गीकृत रूप में रखने की भट्ट जी की प्रवृत्ति का एक उदाहरण लीजिये :—

पहले इसके कि जातीयता के गुण प्रकट कर दिखलावें यह जानना अति आवश्यक है कि जातीयता क्या वस्तु है और क्यों जातीयता का भाव पैदा होता है ? मनुष्यों में जातीयता का भाव दो कारणों से पैदा होता है एक प्राकृतिक दूसरा व्यावहारिक। प्राकृतिक कारण जातीयता का जुदे-जुदे देशों की शीत, उष्ण, उर्वर अनुर्वर इत्यादि का तारतम्य है और इस कारण उन देशों के रहने वाले मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक भावों का भेद हो गया वह एक-एक जाति बन गई है। इसके अनुसार योरोप के विद्वानों ने मनुष्य जाति के तीन भेद किये हैं, काकेसीय, मंगोलिया और इथियोपीय। ये तीनों जाति भेद केवल स्थान विशेष में निवास के कारण मनुष्य के शरीर की गठन और गौर या श्याम वरण के अनुसार किये गये हैं।"[३]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल से जून १६००, पृ० १।**

२. ,, ,, ,, ,, पृ० ७।

३. ,, **जनवरी से मार्च १८६७, पृ० ४२।**

इस प्रकार के भट्ट जी के निबन्धों में उनके अध्यापक का व्यक्तित्व अधिक उभर उठता है। कक्षा में विद्यार्थियों से प्रश्न करना और फिर स्वयं उसका उत्तर देना यह प्रवृत्ति भट्ट जी के इस प्रकार के निबन्धों में अत्यन्त प्रमुख है जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से भी स्पष्ट है।

निबन्ध व्यक्ति के विचारों का आवरणहीन वाहक है। लेखक जो बात स्पष्ट रूप से अन्य साहित्यिक विधाओं के माध्यम से नहीं कह सकता उसे वह निबन्ध के माध्यम से व्यक्त करता है। विषय प्रधान निबन्ध, लेखक के विचारक रूप को अधिक प्रकट करते हैं। वे विश्लेषण प्रधान अधिक होते हैं इसलिए भावात्मकता से अधिक बौद्धिकता के निकट पड़ते हैं। कल्पनात्मक या भावात्मक निबन्ध इनके बिलकुल विपरीत होते हैं। विषय प्रधान निबन्धों में विषय का वैविध्य भी मिलता है। इसके विपरीत कल्पनात्मक या भावात्मक निबन्धों में विषय वैविध्य का प्रायः अभाव रहता है।

५—कल्पनात्मक या काव्यात्मक निबन्ध

ऐसा लगता है कि ज्ञान की शुष्कता से कभी कभी भट्ट जी ऊब जाते हैं, देश और समाज के विषय में अधिक चिंतन करते करते उसकी प्रतिक्रिया होती है और भट्ट जी यथार्थ के कठोर धरातल को छोड़कर कल्पना लोक में विचरण करने लगते हैं। भट्ट जी कवि नहीं थे लेकिन कवि हृदय उन्हें मिला था इस-लिये भट्ट जी के कल्पनात्मक निबन्ध उनके इसी प्रच्छन्न कवि की अभिव्यक्ति आकुलता के सहज परिणाम हैं। श्रमसाध्यता एवं क्लिष्ट कल्पना के कारण भट्ट जी के इस प्रकार के निबन्ध काव्य की कोटि में ही आयेंगे।

भट्ट जी के इस प्रकार के निबन्ध संख्या में बहुत अधिक नहीं हैं। यह कहना असंगत न होगा कि संख्या में उनके इस प्रकार के निबन्ध अपेक्षाकृत छोटी संख्या में हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधि निबन्धों के रूप में निम्नांकित निबन्धों का उल्लेख किया जा सकता है :—

चन्द्रोदय[१], भालपट्ट[२], आँसू[३], कल्पना शक्ति[४], मुग्ध माधुरी[५], संसार महा-

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८८६, पृ० २६-३१।

२. ,, जनवरी से अप्रैल १६०४, पृ० ४४-४६।

३. ,, जनवरी से मार्च १८६३, पृ० ४५-४८।

४. ,, अगस्त से अक्टूबर १६०४, पृ० १३-१५।

५. ,, मई जून १८६०; पृ० १७-२१।

नाट्य शाला[१], प्रेम के बाग का सैलानी[२], देवताओं से हमारी बातचीत[३], त्रिदेव कल्पना[४], पत्नीस्तव[५], वधूस्तवराज[६]।

भट्ट जी के कल्पनात्मक या काव्यात्मक निबन्धों में क्लिष्ट कल्पना की प्रवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है। कल्पनातिरेक से निबन्ध में कही कहीं नीरसता तक आ जाती है। इस प्रकार के निबन्धों में भट्ट जी के पण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार के निबन्धों में मानों भट्ट जी पाठक को इस बात का विश्वास दिला देना चाहते हैं कि क्या हुआ मैं कविता नहीं लिखता, मैं गद्य में ही कविता का चमत्कार प्रस्तुत कर कर सकता हूँ। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा आलंकारिक होने के लिए बाध्य है। यह प्रवृत्ति देखिए उनके चन्द्रोदय निबन्ध में कितनी स्पष्ट है, चन्द्रमा को देखकर कवि उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है :—

"क्षमा तमस्कांड का हटाने वाला यह चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश महा सरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है, उसमें बीच बीच में जो कलंक की कालिमा है सो मानो भौरे गूंज रहे हैं अथवा सौंदर्य की अधिष्ठातृ देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवलगृह है। या आकाश गंगा के तटपर विहार करने वाला हंस है जो सोती हुई कुइयों को जगाने को दूत बनकर आया है या देव नदी आकाश गंगा का पुण्डरीक है या चांदनी का अमृतकुण्ड है, अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं उनके झुण्ड में यह सफेद बैल है या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व दिगंगना का कर्णफूल है या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिए सान धरने का सफेद गोल पत्थर है। या संध्या नायिका का खेलने का गेंद है।[७]"

यहाँ 'चन्द्रोदय' से थोड़ी सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की गई हैं। पूरा निबन्ध इसी शैली है में। जिसमें कल्पना के इस चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नही

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' अप्रैल से जून १८९५, पृ० ४१-४३।
२. ,, अप्रैल से जून १८९४, पृ० ११-१२।
३. ,, अक्टूबर १८९३, पृ०
४. ,, जून १८८८, पृ० १-६।
५. ,, जनवरी से अप्रैल, पृ० १३-१५।
६. ,, दिसम्बर १९०५, पृ० ७-८।
७. 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर से दिसम्बर १८८९, पृ० २९-३१।

उपर्युक्त पंक्तियों से पं० पद्मसिंह शर्मा की निम्नांकित पंक्तियां मिलाइये तो स्पष्ट हो जायगा कि वे भट्ट जी से इस दिशा में कितने प्रभावित हैं।

"हा दुर्दैव निदाघ ! तूने इस मूर्ख बहुल मरुभूमि के एक मात्र विद्वत-सरोवर का सहसा सुखाकर कितने अनन्यगतिक जिज्ञासु मीनों को जीवन हीन बना दिया। हा ! दुरदृष्ट प्रचंड पवन ! तेरे एक ही प्रलयकारी झोंके ने उपदेशामृत वर्षा पण्डित-पर्जन्य को पिपासा कुल शुश्रूषा चातकों की आशा भरी दृष्टि से दूर करके यह क्या किया।"[1]

भट्ट जी की निम्नांकित भावुकता पूर्ण पंक्तियां लीजिए :—

"कोई शूर वीर जिसको रण चर्चा मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्ध यात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबा वालों के आँसू के एक एक बूँद की क्या कीमत है यह वही जान सकता है।"[2]

अध्यापक पूर्णसिंह की निम्नांकित पंक्तियों से इन्हें मिलाइये दोनों में अत्यधिक सादृश्य दृष्टिगोचर होगा :—

"वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिये काफी है। मानो इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटने वाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिए बच जाय। बादल गरज कर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु बरसने वाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।"[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर प्रभाव :—हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक और निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शैली और विषय दोनों में ही भट्ट जी से अत्यन्त प्रभावित हैं। डा० रामबिलास शर्मा ने इस विषय में लिखा है— 'साहित्यिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर वह गम्भीरता पूर्वक विचार करते थे और वैसी ही गम्भीरता से वह उन पर अपने सुझाव भी

---

१. **हिन्दी साहित्य में निबंध, ब्रह्मदत्त शर्मा, सन १९४१, पृ० ९७ से उद्धृत।**

२. **'हिन्दी प्रदीप,' जनवरी से मार्च, पृ० ४७।**

३. **हिन्दी निबन्ध माला, पहला भाग, संग्रहकर्ता, श्यामसुदरदास, नवीन संस्क०, पृ० १६१।**

प्रकट करते थे। इसलिए उनकी शैली बहुधा आचार्य शुक्ल की याद दिलाती है।"[१]

कहीं-कहीं तो भट्ट जी और शुक्ल जी की शैली में शब्दावली और उदाहरण तक की समानता पाई जाती है। उदाहरणार्थ भट्ट जी की 'सहानुभूति' शीर्षक निबंध की निम्नांकित पंक्तियाँ लीजिए :—

"अब यह सिद्ध हुआ कि सहानुभूति के लिए कुछ अनुभव अवश्य चाहिये। ज्यों ज्यों अनुभव बढ़ता जायगा सहानुभूति या हमदर्दी भी बढ़ती जायगी। लड़के किसी तरह की पीड़ा का अनुभव पहले अपने ऊपर करते हैं फिर दूसरे अपने साथी पर उसी तरह की पीड़ा देख अपने ही समान उसे भी पीड़ित जान उसके साथ सहानुभूति करने लगते हैं। ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है दूसरों के सुख दुःख के सब रंग ढंग को अपने सुख दुःख के सब रंग ढंग के साथ तुलना कर उनकी सहानुभूति भी दूसरों के साथ अधिक बढ़ती जाती है। जैसा जिसने कभी किसी तरह का इम्तहान नहीं दिया वह दूसरों के पास या फेल होने के सुख दुःख का अनुभव भी नहीं कर सकता। केवल इतना अलबत्ता कहेगा कि मेहनत कम किया नहीं तो जरूर पास हो जाता।"[२]

शुक्ल जी के 'करुणा' निबन्ध की निम्नांकित पंक्तियाँ शैली की दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियों से आश्चर्यजनक रूप से सादृश्य रखती हैं—"जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और भी प्राणी हैं और बिना किसी विवेचन क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है फिर कार्य कारण सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ मूठ ऊँ-ऊँ करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं उसी प्रकार जब उनके किसी भाई या बहन को कोई मारने उठता है तो तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।"[३]

भट्ट जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की परिभाषा शैली का प्रभाव भी शुक्ल जी पर अत्यन्त स्पष्ट है। भट्ट जी पहले किसी मनोवेग की परिभाषा देंगे और तब उसके विवेचन में प्रवृत्त होंगे यही क्रम रामचन्द्र शुक्ल का है। शुक्ल जी

---

१. **भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२२।**
२. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८९१, पृ० १६।**
३. **'चिंतामणि', पहला भाग, रामचन्द शुक्ल, पृ० ४४।**

शैली में तो भट्ट जी के ऋणी हैं ही साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक निबन्धों के शरीर के गठन में भी वे भट्ट जी का अनुकरण करते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भट्ट जी के 'बोध मनोयोग और युक्ति' शीर्षक निबन्ध से कुछ पंक्तियाँ लीजिए :—

"किसी वस्तु के देखने सुनने छूने, चखने व सूँघने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है उसे बोध कहते हैं परन्तु यथार्थ में केवल बोध से ज्ञान नहीं होता, प्रकृत ज्ञान बोध और साधारण ज्ञान दोनों मिल के होता है और वह प्रकृत ज्ञान बोध तुम्हें कितना ही हो बिना मनोयोग के नहीं होता। अतएव केवल बोध में मन अस्थिर रहता है और ज्ञान जो मनोयोग के द्वारा होता है उसमें स्थिर रहता है। जैसे घड़ी जो आठों पहर बजा करती है उसे कभी हम सुनते हैं कभी नहीं सुनते। पास धरी हुई घड़ी का शब्द सुनने का कारण यही अमनोयोग है जिसके बजने का बोध तो सभी अवस्था से हुआ करता है पर उसके शब्द का ज्ञान अर्थात् घड़ी में कै बजा इसका ज्ञान हमें तभी होता है जब हम दत्तावधान हो मन का संयोग उसके बजने में करते है।"[१]

शुक्लजी के 'भाव या मनोविकार' शीर्षक निबंध से एक उदाहरणलीजिए:—

'नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेक रूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते है। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुमति ही विषय भेद के अनुसार, प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा। पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभाने वाला कोई व्यक्ति है तो उस दुख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं।"[२]

उपर्युक्त उद्धरणों में भाव एवं विश्लेषण सम्बन्धी समानतायें तो हैं ही साथ ही शैली सम्बन्धी दो विशेषतायें भी स्पष्ट हैं, (१) परिभाषा देने की प्रवृत्ति, (२) उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट करने की प्रवृत्ति।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'कवि और कविता'[3], 'कविता'[४], तथा

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई अगस्त १८६६, पृ० २२।**
२. **चिन्तामणि, पहला भाग, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १-२।**
३. **रसज्ञ रंजन, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अष्ट संस्करण, पृ० ४२-६१।**
४. ,, ,, ,, **पृ० ६२-६८।**

'नायिका भेद'[1] निबन्धों पर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'भाव या मनोविकार'[2], 'श्रद्धा और भक्ति'[3], 'कविता क्या है'[4], काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था'[5], आदि निबन्धों पर मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी में भाव व्यंजकता'[6], नामक निबन्ध पर, प्रेमचन्द्रजी के 'राष्ट्र भाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें'[7], 'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार'[8], 'हिन्दी उर्दू की एकता'[9], उर्दू हिन्दी और हिन्दुस्तानी'[10], आदि रचनाओं पर डा० रामबिलास शर्मा के 'सांस्कृतिक स्वाधीनता और साहित्य'[11], 'हिन्दी-उर्दू समस्या पर जोर जबरदस्ती या समझौते की बातचीत'[12], 'युग की परिधि और साहित्य की व्यापकता'[13], तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आलोचना का स्वतन्त्र मान'[14], 'साहित्यकारों का दायित्व'[15], और 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'[16] आदि निबन्धों पर भट्ट जी

---

१. रसज्ञ रंजन, महावीर प्रसाद द्विवेदी, अष्ट संस्करण, पृ० ६६-७५ ।
२. चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल, पहला भाग १९५६, पृ० १-५ ।
३. ,, ,, ,, ,, पृ० १७-४३ ।
४. ,, ,, ,, ,, पृ० १४१-१८६ ।
५. ,, ,, ,, ,, पृ० २१३-२६ ।
६. हिन्दी-गद्य-गरिमा, संग्रहकर्त्ता, भारत भूषण १९५०, पृ० ३१-३७ ।
७. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ० १४६-८५ ।
८. ,, ,, ,, पृ० १६९-८५ ।
९. ,, ,, ,, पृ० १८६-२०४ ।
१०. ,, ,, ,, पृ० २०५-१६ ।

११. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ४-१९ ।

१२. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १५६-६६ ।

१३. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १९-२६ ।

१४. अशोक के फूल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, चौथा संस्करण, पृ० १४५-५० ।

१५. अशोक के फूल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, चौथा संस्करण, पृ० १५०-६६ ।

१६. अशोक के फूल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, चौथा संस्करण, पृ० १६६-८६ ।

के निम्नांकित निबन्धों की शैली का ही नहीं अपितु विचारधारा का भी अत्यन्त स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है : —

'कविता क्या है'[१], भट्ट जी का द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में स्वागत कारिणी सभा के अध्यक्ष के नाते दिया गया भाषण'[२], 'सच्ची कविता'[३], साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।[४] साहित्य समाज के चित्त का चित्र-पट है।[५] हा हिन्दी अब तेरी क्या गति होगी,[६] भाषाओं का परिवर्तन[७], ग्रामीण भाषा[८], बोध, मनयोग और युक्ति[९], ज्ञान और भक्ति[१०], भक्ति[११], भय और समुचितादार[१२], प्रीति[१३], सभ्यता और साहित्य[१४], साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध[१५], भाषा कैसी होनी चाहिये[१६], हमारी भाषा क्या है ?[१७], हिन्दी की वर्तमान दशा[१८], गुन आगरी नागरी[१९] आदि।

---

१. 'मर्यादा' दिसम्बर १९१०, पृ० ६६-६७।
२. ,, ,, १९११, पृ० २२४-२३०।
३. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १०-१८।
४. ,, जुलाई १८८०, पृ० १५-१६।
५. ,, फरवरी मार्च १८९२, पृ० २३-३२।
६. ,, फरवरी १८८५, पृ० ५-८।
७ ,, जून १८८५, पृ० २-७।
८. ,, जलाई १८८५, पृ० १-५।
९. ,, जुलाई अगस्त १८९६, पृ० २२-२५
१०. ,, मार्च अप्रैल १९०३, पृ० १-५।
११. ,, जून जुलाई १८९९, पृ० १-३।
१२. ,, मई १८८०, पृ० ४-६।
१३. ,, जून १८८०, पृ० २२-२४।
१४. ,, मई १८८७, पृ० १-३।
१५. ,, नवम्बर दिसम्बर १९००, पृ० १८-१९।
१६. , अगस्त से अक्टूबर १९०४, पृ० ३९-४२।
१७. ,, अप्रैल १८८२, पृ० १-१४।
१८. ,, जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० २९-३१।
१९. ,, नवम्बर १९०७, पृ० १९-२१।

भट्ट जी ने विशेष रूप से हिन्दी निबन्ध साहित्य को जो देन दी है वह अपने ढंग की अद्वितीय है और उसे देखते हुए निबन्धों के युग के नामकरण की दृष्टि से इस आरम्भिक युग को हम आसानी से भट्ट युग कह सकते हैं। मनुष्य जिस प्रकार अपनी परम्पराओं के रूप में अमर रहता है उसी प्रकार भट्ट जी आज भी अपनी शैली और विचारों की परम्परा के रूप में साहित्य जगत में अमर हैं।

———

पाँचवाँ अध्याय

भट्ट जी आलोचक के रूप में

भट्ट जी की आलोचना के मूल सिद्धान्त :—

भट्ट जी के जीवन और साहित्य सम्बन्धी विचार अत्यन्त स्पष्ट और प्रगतिशील हैं। भट्ट जी साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब मानते हैं।[1] इसलिये जीवन सम्बन्धी उनकी व्यापक दृष्टि ही उनकी आलोचना का वास्तविक आधार है। भट्ट जी उन साहित्यकरों में से नहीं थे जो साहित्य के लिये भिन्न सिद्धान्तों के पक्षपाती हैं और जीवन के लिये भिन्न सिद्धान्तों के। इसीलिये भट्ट जी के राजनीतिक सामाजिक एवं साहित्यिक चिन्तन के मूल में विचारों की एक ही धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित है और उनके सम्पूर्ण साहित्य में अर्न्तव्याप्त है। अपने लक्ष्य के अत्यन्त स्पष्ट होने और उनकी प्राप्ति की ओर सुनिश्चित विचारों के साथ प्रगति के कारण भट्ट साहित्य में अस्पष्टता एवं विरोधी कथनों का सर्वथा अभाव है। इस विशेषता ने भट्ट जी की आलोचनाओं को जहाँ खरा एवं प्रभावशाली बना दिया है वहाँ उसे उदार, पूत एवं उच्च भावनाओं से युक्त बनाने में भी यह अत्यन्त सहायक हुई। विषय की स्पष्टता पैनी दृष्टि और अपनी अद्भुत अन्तर्दृष्टि के कारण भट्ट जी हिन्दी के महान् आलोचकों में से हैं।

साहित्य और जीवन की अभिन्नता प्रकट करते हुए भट्ट जी अपने 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं :—"साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हों सकते हैं।········किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी मार्च** १८९२, पृ० २३-३२।

देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।"[१]

डा० रामबिलास शर्मा भट्ट जी को 'आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म-दाता'[२] उचित ही मानते हैं। भट्ट जी विकासवाद के सिद्धांत के समर्थक हैं। भट्ट जी की आलोचना का मूल आधार तो लोक कल्याण ही है किन्तु जिस युग में उन्होंने साहित्य सृजन किया वह राजनैतिक पराधीनता का युग था। इसलिये उनकी लोक कल्याण की भावना विशेष रूप से भारतवर्ष के कल्याण के संदर्भ में प्रकट हुई है। भट्ट जी यद्यपि आस्तिक थे किन्तु वे धर्म को राजनीति से पृथक नहीं मानते थे अपितु आवश्यकता पड़ने पर वे राजनीति के पक्ष में ही थे। भट्ट जी के इसी प्रकार के विचार उनकी आलोचना को अत्यन्त यथार्थ प्रगति-शील और आकर्षक बना देते हैं। धर्म और राजनीति की तुलना में राजनीति को वरेण्य बताते हुए भट्ट जी लिखते हैं :—

"चाहो धर्म सम्बन्धी एकता से आप और और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनीतिक एकता को ही मानेंगे। जब तक कोई जाति एक राजनीतिक समूह न होगी जिसका एक ही राजनीतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनीतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं हैं तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और बुद्धि की बुनियाद किस चीज पर कायम रखेंगे ? हम देखते हैं अंग्रेजों के इतिहास में बहुत जल्द राजनीतिक एकजातित्व आ गया जिस्के कारण उनकी जाति की उन्नति चरम सीमा को पहुँचने लगी और उसी के विपरीत हम देखते हैं कि राजनीतिक बन्धन न होने से बहुत जल्द हमारी जाति तीन तेरह हो गई। अंग्रेजों में राज-नीतिक एकता के कारण उनके देश की वास्तविक उन्नति हुई उसी के विपरीत राजनीतिक एकता न होने से हमारा ह्रास हुआ और आगे चलकर इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेज जाति ने अपना इतिहास अपने अनुकूल कर लिया वही हमारी जाति का इतिहास झख मार के हमारे प्रतिकूल हो गया। और आपस की फूट से जो कुछ बची खुची ताकत रह भी गई थी उसे विदेशीय जेताओं ने आकर चूर चूर कर डाला।"[३]

भट्ट जी का दृष्टिकोण ऐतिहासिक विकासवाद का है वे आध्यात्मवादियों की भाँति मायावादी नहीं हैं जो सृष्टि को ह्रासोन्मुखी देखते हैं। भट्ट जी का

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८१, पृ० १५-२०।**
२. **भारतेंदु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० ११७।**
३. **'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ६।**

यह ऐतिहासिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण उन्हें उनके युग से तो आगे का सिद्ध करता ही है अनेक बातों में भट्ट जी आज के युग से भी आगे दिखाई देते हैं। एक स्थान पर इतिहास को मार्क्सवादियों जैसा महत्व देते हुए भट्ट जी उसकी महत्ता की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं :—

"जब हमारा प्रश्न ही मनुष्य व्यक्ति के जाति का अनूठापन नितांत ऐतिहासिक है तो इसलिये जहाँ इतिहास हमको सहारा न देगा वहाँ निश्चय हमको ठहर जाना पड़ेगा।"[1]

भट्ट जी उस साहित्य को वांछनीय नहीं समझते जो देश और जाति को विलास की मदिरा पिला कर अकर्मण्य बनाता है तथा उसे उसके राजनीतिक लक्ष्य से भ्रष्ट करता है। भट्ट जी यह भी जानते थे कि पलायनवाद के समर्थकों को अंग्रेजी सरकार की प्रेरणा प्राप्त है। इसलिये अपने साहित्य के द्वारा भ्रम के इस जाल का विध्वंस भी उनकी आलोचना की मूल चेतना थी। एक बार अंग्रेज भक्त राजा शिवप्रसाद ने भारतेन्दु की 'खुशी' की परिभाषा का खंडन कर अपना कुछ आध्यात्मवादी मत प्रतिपादित किया था। भट्ट जी के लिये इस प्रकार के विचार असह्य थे उन्होंने एक स्थान पर इसका उत्तर देते हुए जो विचार प्रकट किये हैं वे भट्ट जी की आलोचना के आधारभूत तत्वों पर समुचित प्रकाश डालते हैं। भट्ट जी लिखते हैं :—

"१८ जून की काशी पत्रिका में राजा शिवप्रसाद का खुशी पर एक लेक्चर छपा है जिसमें उक्त राजा साहब ने खुश गुफ्तारी और गोपाई की खूब ही टाँग तोड़ी है। पहले इन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र के खुशी के डेफीनेशन का खण्डन किया है फिर अपनी निज की निराली तान गा चले हैं जिसमें अन्त को वेदान्तियों के पुराने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो सच्ची खुशी की कुटी जंगल गुफा पहाड में ढूँढ़ना सिद्ध किया है। हमें कैसे निश्चय हो कि राजा साहब से जाहिरदार और अपने मतलब के पूरे दोस्त बुढ़ापे में इस सिद्धान्त पर जी से आरूढ़ हुए हैं। इन दिनों इनका इस सिद्धान्त को पुष्ट करना खाली इल्लत नहीं है। इसमें भी कुछ मतलब होगा। जो हो इस राय की ताईद से तो हमारा बिलकुल नुकसान है बल्कि यह कहना चाहिये कि हिन्दुस्तान की अवनति का बाइस इसी तालीम की ताईद हुई क्योंकि हमारे पुराने लोगों में जिन्हें कुछ भी अकिल हुई संसार को दुख का आगार और झूठा समझ जंगल पहाड़ों में जाय सच्ची खुशी के ढूँढ़ने में माथा मारने लगे। अनेक प्रकार की साइंस और आर्ट को जिसके बल योरोप वाले आप आदमी बनते हैं और हमें जानवर बना

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ३।

रहे हैं कौन बढ़ाता या प्रचलित करता। सच्ची खुशी स्वदेशानुराग की है जिसने अपने मुल्क या मुल्क की बहबूदी के लिए कभी को एक कतरा खून भी बहाया या अपने निज के फाइदे से वरतरफ हो सर्वसाधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धुन में जान माल सब से हाथ धो बैठा उसी को सच्ची खुशी हासिल है न कि राजा साहब सा खुशामदी जो अपने स्वार्थ के लिए बस चले तो देश भर को उलट दें।"[1]

देशभक्ति की यह विचारधारा पूरे भट्ट साहित्य में अन्तर्सूत्र की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं। भट्ट जी 'कला के लिए कला' के उग्र विरोधी थे वे 'साहित्य को जीवन के लिए' मानते थे इसलिए जीवन का जिन जिन विषयों एवं वस्तुओं से सम्बन्ध है उन सबको वे साहित्य का विषय मानते थे। भट्ट जी अनेक अन्य आलोचकों की भाँति समन्वयवादी नहीं थे। हर विषय में उनके अपने निश्चित विचार थे अपना पूर्ण मनन था। इसलिए वे दो विरोधी बातों को मिलाने के प्रयत्न को शुभ कार्य नहीं समझते थे। उदाहरणार्थ उस युग में अनेक लोग सरकार द्वारा इस प्रकार के प्रचार के लिए प्रोत्साहित किये जाते थे कि वे यह कहें कि राजभक्ति और देशभक्ति दो विरोधी बातें नहीं हैं जिससे जनता भ्रम में पड़ जाय और धीरे धीरे देशभक्ति नामशेष हो जाय और केवल राजभक्ति का ही बोलबाला रहे। भट्ट जी ने ऐसी समस्याओं पर द्विधाहीन, तथा निर्भ्रान्त भाषा में अपने सुनिश्चित देशभक्ति पूर्ण विचारधारा को अभिव्यक्ति दी है। इस विषय पर भट्ट जी की आलोचनात्मक शब्दावली देखिए :—

"हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजाहित दोनों का साथ कैसे निभ सक्ता है। जैसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसा ही यह भी असंभव और दुर्घट है।··· राजभक्ति का फल निसंदेह पहले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महामन्दकारी और रूखा है। इसे बहुत खाते खाते मनुष्य क्षीणवीर्य, क्षीण-स्वत्व और क्षीण तेज होता जाता है रग रग और रोम रोम में दास्य भाव कलर्क अर्थात कुत्ते के विष समान ऐसा असर कर जाता है कि जिसके दूर करने की कितनी ही तदवीर हो कुछ कारगर नहीं होती।"[2]

भट्ट जी राजनैतिक स्वाधीनता को प्राथमिक महत्व देते थे उनका यह भी विश्वास था कि ऐसी स्वाधीनता माँगने से नहीं मिलती उसके लिए दृढ़ संगठन

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' जुलाई** १८८०, पृ० १९-२०।
२. „ **दिसम्बर** १८८२, पृ० १-३।

श्रौर श्रान्दोलन की श्रावश्यकता है—यदि हमारे देश बांधव चाहते हैं कि इस अन्याय प्रथा से अपना प्राण छुटावें तो अब उनको अपने बहुत दिनों के पाले पोसे बैरी फूट श्रालस्य श्रौर बेपरवाही को छोड़ एक मत हो श्रान्दोलन करना चाहिए ।"[1]

श्रान्दोलन की सफलता के लिए जाति की एकता श्रौर दृढ़ता श्रावश्यक है किन्तु दृढ़ता लाने के लिए पहले समाज को जर्जर करने वाली कुरीतियों, एवं इस एकता को भंग करने वाले पाखंडियों को निर्मूल करना श्रावश्यक है। भट्ट जी की उग्र श्रालोचक वाणी सदैव इस दिशा में कार्यरत रही है। वे तथा कथित धर्म ध्वजियों तथा धर्म के वर्तमान स्वरूप से बड़े असंतुष्ट थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा हैं :— "गाज पड़े ऐसे धर्म पर श्रौर ऐसी समझ में ऐसे भगोड़े धर्म को हम कबलों बांधकर जकड़ बन्द किये रहेंगे जो जरा जरा में जी छोड़ भाग जाता है। बर्फ़ पी लिया धर्म गया, बाजार की मिठाई दांत तले दाबा धर्म धूर में मिल गया दूसरे के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गए। वेश्या-संसर्ग-दूषित हो धर्म कुंदन सा झलकता रहेगा, दासी गमन करते रहो धर्म कभी न बिगड़ेगा पुरुष मैथुन में कमाल रखते हो धर्म में कभी न फर्क पड़ेगा बेईमानी, फरेब, जालसाजी, झूठ बोलना इसमें तो धर्म का कुछ जिकर ही नहीं है।"[2]

भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत के प्रोफेसर थे संस्कृत साहित्य का इतना गंभीर अध्ययन कितने लोगों को श्राज हैं ? किन्तु यह देखकर श्राश्चर्य होता है कि भट्ट जी में पलायनवाद या मायावाद की वह प्रवृत्ति बिलकुल नहीं है, जो प्रायः धार्मिक पुरुषों में देखी जाती है। भट्ट जी तो इस मायावाद श्रौर पलायनवाद से तीव्र घृणा करते हैं। उदरपूर्ति के लिये गृहस्थों के मुखापेक्षी अकर्मण्य संन्यासियों को समाज विरोधी घोषित करते हुए तथा फटकारते हुए भट्ट जी एक स्थान पर लिखते हैं--- "गृहस्थों के श्रासरे पर जीने वाले नाशुकरे कृतघ्न मुड़े हुए ऐरागी, वैरागी, विरक्त यती, संन्यासी नाहक गृहस्थी को नरक श्रौर गृहस्थी की मूल हमारी गृहेश्वरियों को नरकपुर में प्रवेश का द्वार कहकर बदनाम किए हुए हैं। इन विरक्तों की अपेक्षा मनुष्य गृहस्थी में रहकर जितना जल्दी श्रौर सहज में परमेश्वर को ढूंढ़ले सकता है वैसा बड़ी तपस्या के द्वारा तन सुखाय ये विरक्त तपसी नहीं।"[3]

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जून १८८६, पृ० ७।
२. ,, अगस्त १८८१, पृ० ४।
३. ,, सितम्बर १८९१, पृ० १४।

संसार को दुख का आगार बताकर सुख की खोज में आकाश की ओर निरन्तर ताकने वाले वेदान्तियों के इस प्रकार के विचारों का खंडन करते हुए भट्ट जी एक स्थान पर लिखते हैं :—

"संसार सुख का सार और स्वार्थ तथा परमार्थ साधन का पवित्र मंदिर है पर हम इसे अपने कुलक्षणों से दुख के प्रवाह का स्रोत यावत संताप और क्लेश का अपवित्र आलय कर रहे हैं। पौरुषेय गुण शून्य हम अपने अकर्मण्य वेदान्तियों को क्या कहें जो संसार को दुख रूप मिथ्या और नश्वर मानते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि यह हमारे ही अविचार अविवेक, अशान्ति असंतोष मोहान्ध बुद्धि आदि दुर्गुणों का कारण है कि स्वर्ण मन्दिर संसार को हम ढहाइ के उजाड़ खंडहर कर रहे हैं। जहाँ अमृत का कुण्ड भरा है उसें हम हलाहल विष से भरे देते हैं। बड़े विद्वान् हुए यावज्जीव शास्त्र और फलासफी को रट रट पच मरे जितना रट डाला उसके एक वाक्य पर भी जो विवेक और विचार को काम में लाते तो अपने अस्त व्यस्त कामों से जो अनेक दुख सहते हैं और अपनी समझ और काम को दोष न दे संसार को दुख का आगार मान बैठे हैं यह भ्रम मिट जाता। यदि विवेक और विचार को मन में जगह देते तो जो दुःखमय बोध होता है वही अनन्त सुख का हेतु होता।'[1]

भट्ट जी वैज्ञानिक विचारधारा के व्यक्ति थे। वे परमार्थ को छोड़ कर इहलोक को सुखमय बनाने के पक्षपाती थे और इस संसार को सुखमय बनाने के मार्ग के जो-जो बाधायें संभावित थी वे उन सबका बहिष्कार चाहते थे। भट्ट जी के 'वायकाट' शीर्षक निबन्ध की निम्नांकित पंक्तियाँ उनकी मान्यताओं पर संक्षेप में अच्छा प्रकाश डालती हैं :—"इस समय विदेश की बनी वस्तु या विदेशी पैदावार के वाइकाट की बड़ी धूम है। हम कहते हैं उतने से काम न सरेगा। वाइकाट करने पर उद्यत हुए हो तो जी खोल वाइकाट कर डालिए कसर क्यों रह जाय, समाज में पुराने ख्याल वालों का वाइकाट कर दीजिए, तीर्थों के मूर्ख पण्डों को, लोभ की प्रत्यक्ष मूर्ति नाम मात्र के पण्डितों को आलस्य और अकर्मण्यता की जननी वेदान्तियों की मुक्ति को, प्लेग के कराल कोप में बाल्य विवाह को, ब्राह्मणों को, आलसी और मूर्ख कर देने वाली दक्षिणा को हिन्दुस्तान की प्रधान मेवा बैर और फूट को।"[2]

राजनीति और समाज की आलोचना के भट्ट जी के सिद्धान्त जितने प्रगतिशील, तर्कपूर्ण और लोक कल्याणकारी हैं उतने ही साहित्यिक समालोचना के भी।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर १८९१, पृ० ४।
२. ,, फरवरी १९०७, पृ० १९-२०।

भट्ट जी की भाषा सम्बन्धी आलोचना के मूल सिद्धान्त :—

भट्ट जी के भाषा विषयक अपने निश्चित सिद्धान्त हैं। भट्ट जी के युग में भाषा क्षेत्र में, विशेषरूप से अराजकता थी। राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की विभिन्न शैलियाँ जनता के समक्ष थीं किन्तु इन्हें समाज की मान्यता प्राप्त नहीं हुई। दोनों उपर्युक्त शैलियाँ 'बहिष्कारवाद' की प्रवृत्ति से पीड़ित थीं। इस समस्या को सुलझाया भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने उन्होंने जनता की बोलचाल की भाषा को ही साहित्य की भाषा माना इसलिए भट्ट जी भाषा के रूप में 'हरिश्चन्द्री' हिन्दी के ही समर्थक हैं।[1] भट्ट जी हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा मानने के पक्ष में नहीं हैं। "यह कौन कहता है कि उर्दू दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपान्तर है।[2]"

भट्ट जी की भाषा सम्बन्धी नीति भाषाविज्ञान-सम्मत है। न तो वह विशुद्धता वादी है न बहिष्कार वादी। वे भाषा को जनता की सम्पत्ति समझते हैं किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। वे भाषा को परिवर्तन शालिनी मानते हैं और उस पर व्याकरण आदि के बन्धन लगाने के विरुद्ध हैं। अपने 'भाषाओं का परिवर्तन' शीर्षक निबन्ध में भट्ट जी लिखते हैं :—

"भाषाओं के इतिहास में आप हिन्दी की दशा देख यह मत समझ लीजिए कि भाषा की सूरत बदलने के लिये विदेशी भाषा के साथ टक्कर खाना जरूरी बात है। ऐसा ख्याल करना भूल है कि अगर विदेशियों की भाषा के साथ यह भाषा टक्कर न खाए होती तो शुद्ध रीति पर बनी रहती क्योंकि वेद की संस्कृत को नाटक और काव्यों की संस्कृत में किसने उतार दिया। या संस्कृत को प्राकृत के रूप में किस विदेशी भाषा के साथ टक्कर खाने ने बदल दिया। और फिर भाषा की बाहरी आकृति पर विदेशियों का कुछ असर पहुँच सकता है पर उसके भीतरी नियमों को तिल भर भी खिसकाना किसी की सामर्थ्य में नहीं। हमने ऊपर कहा कि भाषा भी संसार की इतर चैतन्य सृष्टि का नियम मानती है। इस कारण जैसा पीटने से गदहा घोड़ा नहीं हो सकता उसी तरह बाहर वालों का सम्पर्क भी कुछ बहुत हानिकारक नहीं हो सकता और फिर भाषा के सम्बन्ध में हानि शब्द का पूरा-पूरा तात्पर्य तै करना बड़ा कठिन है क्योंकि परिवर्तन के बीज तो भाषा में आपही भरे हैं क्योंकि संस्कृत से प्राकृत हुई और प्राकृत से वर्तमान हिन्दी। हम लोगों का केवल इतना ही कर्त्तव्य है कि देखते जाँय कि क्या-क्या अदल बदल हुए हैं।"[3]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८५, पृ० ५-८।**
२. ,, **फरवरी १८८५, पृ० ६।**
३. ,, **जन १८८५, पृ० ५-६।**

आगे भट्ट जी व्याकरण महात्म्य की निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी में व्याकरण की जटिलता को अनावश्यक बताते हुए लिखते हैं :—

"अभेद दुर्ग सदृश पाणिनि के व्याकरण के आगे हिन्दी का व्याकरण छोटी सी फूँस की झोपड़ी है। यह तो प्रगट है कि अब हमें उतने बड़े व्याकरण की आवश्यकता न रह गई। एक वह समय था कि अनेक जंजालों से भरे हुए पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि के सूत्र वार्तिक भाष्य में एक मात्रा का ही हेर फेर हो जाने पर एक बड़ा भारी इमारत को ढाह कर फिर से खड़ी करना था। और इसी का परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ का व्याकरण ऐसा झंझट से भरा हुआ शास्त्र हो गया जैसा पृथ्वी के किसी कौने में न हुआ होगा। सच पूछिए तो दो गाड़ी के बोझ की पुस्तकें 'शेखर मंजूषा' 'कैयट' आदि बड़े-बड़े जगड्वाल जो रचे गए उनमें और है क्या ? सिवा इसके कि कीचड़ में पाँव बोर फिर धोओ। एक बड़े यत्न और प्रयास से एक बने बनाए सुन्दर मनोहर महल का तोड़ फोड़ छिन्न-भिन्न कर पीछे पछताय फिर उसी को बनाया है। इन्हीं विफल चेष्टाओं में व्याकरण इतना बड़ा शास्त्र हो गया जिसमें नवीन और प्राचीन का झगड़ा पढ़ते-पढ़ते उमर की उमर बीत जाती है, कोरे के कोरे मूर्ख रह जाते हैं। ऐसी सरल भाषा हिन्दी में इस सब खटपट का अब कुछ काम ही न रह गया।"[1]

भट्ट जी विभिन्न भाषाओं के शब्द-समूह को ग्रहण कर हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाने के पक्ष में हैं। उनका विचार है कि इस खुले आदान प्रदान से हमारी भाषा अत्यन्त समृद्ध होगी :—

"अब एक प्रश्न इसके सम्बन्ध में और उठता है कि यदि भाषा की धारा ऐसे आपरिवर्तनीय ढंग पर इतने जोर शोर के साथ बह रही है कि हम उसमें चूँ भी नहीं कर सकते तो किसी समय के अच्छे-अच्छे लेखकों का क्या दबाव या असर उस पर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर सहज में नहीं मिल सकता है। पुरानी हिन्दी को लीजिए पुराने ठेठ हिन्दी शब्दों को कोई अच्छी तरह सोच विचार कर लिखने वाला फिर से जिला कर समाज में प्रचलित कर सकता है। अपनी निज की भाषा के कामकाजी शब्दों को मर जाने या मृतक प्राय: होने से बचाना अच्छे लेखकों का काम है बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना सा कर डालना जिससे भाषा दिन प्रतिदिन अमीर होती जाय यह भी एक बड़ा काम है और सबसे बड़ा काम अपने भाषा के विषयों को दूना चौगुना करते जाना अर्थात जो जो विषय भाषा में पहले कम थे उनका जिलो देना और जो विषय कभी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जून १८८५, पृ० ६-७।**

थे ही नहीं उनको बाहर से लाय भरती करना। इस सब का असर यह होगा कि भाषा की नमन शक्ति बहुत बढ़ जायगी अर्थात् जिस तरह के विषय पहले उससे बाहर समझे जाते थे जल्द उसकी पहुँच के भीतर आजायेंगे। हमारे देखते ही देखते अंग्रेजी मेंमों ने हिन्दुस्तानी गहनों का पहनना आरम्भ कर दिया जैसा सोने की चूड़ियां जड़ाऊ कंठे आदि इस तरह यदि हम अपनी मातृ-भाषा को अंग्रेजी भाषा के आभूषण से आभूषित करें तो क्या क्षति है?"[1]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा-नीति के विषय में पं० बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अनुयायी थे और उन्हें अपना नेता मानते थे। इसलिए भाषा विषयक आलोचना के सिद्धांत भट्ट जी के भी वे ही हैं जो भारतेन्दु बाबू के। डा० रामबिलास शर्मा अपने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा नीति स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखते हैं:—

"भारतेन्दु ने कोई नई भाषा नहीं चलाई। उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया। उनके पक्ष में तीन बातें महत्वपूर्ण थीं। उनकी भाषा सम्बन्धी नीति वही थी जो अवधी और ब्रज के पुराने हिन्दू मुसलमान कवियों की थी। उर्दू के कवि, कुछ अपवाद छोड़कर, तुलसी, सूर, मीरा, रहीम, रसखान, आलमशेख, पजनेस, जायसी, पद्माकर, भूषण आदि की परम्परा से अपरिचित थे। इस परम्परा और उसकी भाषा नीति को भारतेंदु ने अपनाया। यह भाषा नीति यह थी कि तत्सम संस्कृत के मुकाबले में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना, बोलचाल के अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार न करना, गैर बुनियादी शब्द भण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लेना। दूसरी बात उनके पक्ष में यह थी कि उन्होंने ग्रामीण या जनपदीय बोलियों का स्वभाव पहचाना और अपनी हिन्दी को गाँव के साधारण पढ़े लिखे लोगों के लिये सुलभ बनाने की कोशिश की। तीसरी बात उनके पक्ष में नागरीलिपि थी सैकड़ों साल तक फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी नागरी का लोप न हुआ था। गांव के लोग ज्यादातर नागरी ही काम में लाते थे। इस लिपि के जरिए भारतेन्दु जनता के उस तमाम हिस्से को बटोर सके जो उर्दू न जानता था या जिसकी जातीय आवश्यकतायें उर्दू से पूरी न होती थीं।"[2]

भट्ट जी की भाषा विषयक नीति भारतेन्दु की अनुगामिनी होते हुए भी उदारता और प्रगति शीलता में उससे दो पग आगे ही है। ग्रामीण शब्दों और ग्रामीण भाषा को पढ़े लिखे लोग 'गँवारू' या अशुद्ध भाषा कहते थे। आज

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जून १८८५, पृ० ७।**

२. **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० ७८-७९।**

के भाषा वैज्ञानिक अवश्य इस बात को मानते हैं कि भाषा अशुद्ध नहीं होती वह सदैव विकसित ही होती है। प्रकारान्तर से यही बात भट्ट जी सन् १८८५ में कह चुके थे। ग्रामीण भाषा के समर्थन तथा उसके साहित्यिक महत्व के विषय में उन्होंने लिखा है :—

"भाषा का पूरा जोर देखने के लिए उन लोगों पर ध्यान दीजिये जो एक ढंग के 'शून्य भीति' हैं अर्थात् जिन पर किसी तरह की शिक्षा मात्र ने अपना रंग नहीं जमाया है और जो घर में तथा घर के बाहर छोटे बड़े सबसे एक तार की अपनी सहज भाषा बोलते है। सच पूछिये तो ऐसी भाषा से बढ़कर संसार में कोई दूसरी मीठी भाषा नहीं हो सकती। इस कारण अगर ठेठ हिंदी शब्दों की आपको खोज है तो गतकाल के या वर्तमान समय के नपी जुखी प्रायः एक ही ढर्रे पर चलने वाली कवियों की वाणी से लेकर सहस्रों धारा से चलती हुई सजीव ग्रामीण भाषा को देखिए। यदि आप यह कहें कि शिक्षा के अभाव से ऐसे लोग असभ्य या अश्लील शब्द अपनी बोलचाल में बहुत भरते हैं तो साथ ही इसके यह भी सोचना चाहिए कितने हजारों लाखों शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनके पुष्ट भाव या अर्थ गौरव को यह देख चकित रह जाना पड़ता है।

सच पूछिए तो इस थोड़े से समय में हिन्दी की कुछ कम विजय नहीं हुई। वे ही सब शब्द जो किसी समय गँवारों की भाषा समझे गए थे सो अब कालचक्र के हेरफेर से अधिकार शाली पढ़े लिखे लोगों के बर्ताव में फिर आने लगे वरन् ठेठ से ठेठ हिन्दी शब्दों की खोज लोगों को है और वह ठेठ हिन्दी हमारे ग्रामीण जनों के ही कण्ठ का आभरण है। सच है जिस पत्थर को म्यामार ने बेकाम जान फेंक दिया पीछे वही कोने का सिरा हुआ।

प्रयोजन यह कि ठेठ हिन्दी के शब्द हम लोगों के काम में जो लाए जाते हैं इसके बदले कि गँवारपने की बू उनसे आवे एक विचित्र लहलहापन और पुष्टता उनमें भरी हुई पाई जाती है और आप निश्चय जानिए बहुत जल्द ऐसे ही शब्दों की पूरी विजय होगी।"[1]

आज संस्कृत भाषा से पूर्णतः अनभिज्ञ लेखक अपनी भाषा को अधिकाधिक संस्कृत निष्ठ बनाने के लिये आतुर दिखाई देते हैं किन्तु संस्कृत के निष्णात् विद्वान् होने पर भी भट्ट जी के भाषा विषयक विचार कितने संतुलित, प्रगतिशील और साहित्योपयोगी हैं यह देखकर आश्चर्य होता है। भाषा के इस क्रांतदर्शी मनीषी ने हिन्दी का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जलाई १८८५, पृ० १-५।**

द्वितीय अधिवेशन में सार्वजनिक मंच से घोषणा की थी :—"दूसरी बात जो आज मैं खड़ी बोली के कवियों में देख रहा हूँ समास बद्ध क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग है, यही पुराने कवियों की पद्धति के प्रतिकूल है।"[1]

भट्ट जी ने भाषा ज्ञान गर्व में भूले संस्कृत पण्डितों पर व्यंग्य करते हुए कहा था—"संस्कृत में कहो खर्रा का खर्रा रंग डालें पर मुहावरेदार हिन्दी उन्हें चार पंक्ति लिखना पड़े तो उसमें वे दस गलती अक्षर तथा व्याकरण की करेंगे।"[2]

भट्ट जी शुद्ध हिन्दी के समर्थक थे ऐसी हिन्दी के जिसका व्यक्तित्व संस्कृत में लुप्त न हो जाय। उनका विचार था कि "हिन्दी में १०० में ९० शब्द संस्कृत के अपभ्रंश हैं।"[3]

भट्ट जी हिन्दी के उन कवियों को हिन्दी भाषा और साहित्य का सच्चा प्रतिनिधि मानते थे जो अपभ्रंश शब्दों को संस्कृत की तुलना में प्राथमिकता देते थे—"हमारे कवियों को अपभ्रंश जितने सुहावने उनकी कविता के लिये मालूम हुए उतने शुद्ध संस्कृत नहीं। पुराने कवि और आधुनिक कविता के तुक जोड़ने वालों में यही बड़ा अन्तर है कि तुकबंदी वाले संस्कृत का प्रयोग अपनी रचनाओं में जितना अधिक करते हैं उतना हिन्दी का नहीं।"[4]

हिन्दी और संस्कृत में अनेक समानतायें हैं, अँग्रेजी और हिन्दी में भी समानतायें हो सकती हैं किन्तु ये समानतायें अत्यन्त साधारण हैं दो भाषाओं का सबसे बड़ा भेद तो उसके मुहावरों से प्रकट होता है। वास्तव में मुहावरे ही भाषा की जान हैं और उसके जीवन्त होने के वास्तविक प्रमाण हैं। भट्ट जी अपने 'भाषाओं का परिवर्तन' शीर्षक निबन्ध में इसी विचारधारा को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हुए लिखते हैं :—

"इसके मानने में किसको इंकार होगा कि हर एक भाषा के ढंग निराले ही हैं। दो भाषा व्याकरण की रीति पर कुछ-कुछ मिलती भी हों परन्तु वे चीजें जिनको मुहावरे कहते हैं कभी नहीं मिल सकते और ये मुहावरे ही हर एक भाषा की जान हैं। हिन्दी और अंग्रेजी ही को लीजिए इन दो भाषाओं में कहीं कहीं थोड़ा थोड़ा व्याकरण के नियमों का तो भेद हुई है किन्तु बड़ा भारी अंतर मुहावरों की निराली चाल का है। जहाँ कहीं इन मुहावरों की कोई गलती

---

१. **'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०।**

२. ,, **सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०।**

३. ,, ,, ,, ,, ,, ।

४. ,, ,, ,, ,, ,, ।

सुनने में आती है तो वह कान में चट चटक जाती है।....जब तक किसी भाषा में जान है अर्थात् रोज मर्रे के काम में लोग उसे बर्तते हैं और पुष्ट रीति पर उसकी स्थिति बनी रहती है तब तक नए नए मुहावरे नित्य उसमें बनते ही जायेंगे। सृष्टि के चेतन पदार्थों का जो नियम है कि वे कभी एकसा नहीं रहते वरन दिन प्रति दिन परिवर्तन की सान पर चढ़ते ही जाते हैं। यह नियम भाषा के सम्बन्ध में बहुत पूरी रीति पर लगता है क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि रुधिर और अस्थि मनुष्य के शरीर से उतना निकट सम्बन्ध नहीं रखते जितना उनकी भाषा रखती है और इसी कारण बड़े से बड़े पण्डित के आगे कोई अशुद्ध संस्कृत शब्द बोलिए तो वह इतना न खटकेगा जितनी एक सामान्य से सामान्य बेमुहाविरे हिन्दी शब्द कान को चोट पहुँचावेगा। क्योंकि अब संस्कृत बोलचाल की भाषा न रह गई।"[1]

भाषा के आदर्श के विषय में भट्ट जी 'पर उपदेश कुशल' लोगों में से नहीं थे अपितु स्वयं उस पर पहले आचरण कर तत्पश्चात कोई बात लिखने वालों में से थे। भट्ट जी की हिन्दी इतनी मुहावरेदार टकसाली हिन्दी है कि आज के वे मुहावरा हिन्दी लिखने वाले अनेक नौसिखिए लेखक उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

भट्ट जी की साहित्य सम्बन्धी आलोचना के मूल सिद्धान्त :—

साहित्य के भाषा पक्ष पर भट्ट जी के विचार जितने मौलिक समयानुकूल एवं अनुकरणीय हैं ठीक वैसे ही 'साहित्य' पक्ष पर भी हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि साहित्य के विषय में जो विचार आज प्रगतिशील एवं युगानुकूल माने जाते हैं उनमें से अधिकांश भट्टोच्छिष्ट हैं। साहित्य की नवीनतम आलोचना धारा लोक साहित्य को अधिक महत्व देने के पक्ष में दिखाई देती है। फलस्वरूप ब्रज, राजस्थान, मिथिला, बुन्देलखण्ड, पंजाब आदि के लोक साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन आज हो रहा है उतना पहले कभी दिखाई नहीं दिया। भट्ट जी इतने वर्ष पूर्व भी लोक साहित्य को पण्डितों के साहित्य से कम महत्व नहीं देते थे :—

"अब ग्राम्य कविता पर ध्यान दीजिये, मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा बिरहा अथवा आल्हा आदि सब महाभद्दी केवल गंवारों की रोचक कवितायें उनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमण्ड में फूले नहीं समाते अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निस्संदेह वे ग्राम्य कवितायें हैं और

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', जन १८८५; पृ० १-३।**

मलार ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महाभद्दी और घृणित हैं। पर इस्से यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई भी गुण हई नहीं और सर्वथा दूषित ही हैं। अब हमारे पाठक जन पूछ सकते हैं आपने उसमें ऐसा कौन सा गुण पाया जो उस पर इतना लट्टू हो रहे हैं। माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया है। अर्थात् उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिंची हुई पाई जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इस्में कहीं नहीं पाया जाता। जो यहाँ तक कृत्रिमता पूर्ण रहती है कि उस्के जोड़ की एक निराली दुनियाँ केवल कविजी के मस्तिष्क मात्र में ही स्थान पाए हुए है।"[1]

भट्ट जी युगानुकूल साहित्य सर्जन के समर्थक थे। शाश्वत साहित्य की बात उन्होंने कभी नही की। भट्ट जी सम्भवतः पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने वेद को मनुष्य कृत घोषित किया है और उसे तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब मात्र कहा है।[2] वेद का जिन्होंने दर्शन भी नहीं किया उनकी श्रद्धा वेदों के विषय में अधिक है आलोचनात्मक दृष्टिकोण कम किन्तु भट्ट जी तो वेदों का गम्भीर अध्ययन कर चुके थे इसलिये उनका तत्सम्बन्धी विवेचन तथा निष्कर्ष अधिक मूल्यवान है। भट्ट जी की वेद सम्बन्धी आलोचना अत्यन्त वैज्ञानिक है और विश्लेषण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक। वे लिखते हैं :—

"मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्हीं वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं तब दूर की चीजों में खोजता है। इसलिये लोगों ने पहले जब कोई आश्चर्यजनक वस्तु अर्थात् जिसका कारण वे नहीं समझ सके देखा तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्रवरुण सूर्य आदि जो देवता माने गए हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्य देव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़ कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य-नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए पहले सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि औषधी और विद्युत आदि को भी ईश्वर कल्पना कर लिया इसीलिये वेद के अनेक

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १५।
२. ,, मार्च १८८०, पृ० १८।

भागों में इस सबों के नाम का उल्लेख बार-बार आया है। क्रमशः ज्यों-ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते-सोचते मँजती गई तब वे सूर्य आदि को भी जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे।"[3]

भट्ट जी का आलोचक व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि वह किसी प्रकार के बन्धनों में विश्वास नहीं रखता। यह देखकर आश्चर्य होता है कि द्विवेदी काल के आलोचक भी विचारों में इतने उदार और प्रगतिशील नहीं हैं। भट्ट जी कविता के बन्धनमुक्त स्वरूप के अधिक प्रशंसक थे। रीतिबद्ध कविता को वे सड़ा हुआ जल समझते थे जो किसी काम का तो है ही नहीं, हानिकारक अवश्य है। अपने 'सच्ची कविता' शीर्षक निबन्ध में भट्ट जी ने अपने एतद्विषयक विचार बड़े विस्तार में स्पष्टता पूर्वक व्यक्त किए हैं। एक उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा :—

"स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अन्तर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते। इसलिए सुसंस्कृत कविता क्लासिकल पोइट्री अवश्यमेव कृत्रिमता दोष पूरित रहेगी।

हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आजतक चले आये हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं। जिसकी उपमा हम एक छोटे से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं से पानी का निकास है न नया ताजा पानी उसमें आने की कोई आशा है तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन दिन सड़ता ही जाय।"[1]

प्रत्येक आलोचक के अपने थोड़े बहुत पूर्वाग्रह होते ही हैं। भट्ट जी का विचार है कि खड़ी बोली कविता के उपर्युक्त नहीं है। यही विचार इस विषय में भारतेन्दु के थे यह भी हो सकता है कि अपने साहित्यिक नेता में अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण उन्होंने भारतेन्दु बाबू के विचार अपने विचार बना लिये हों फिर भी भट्ट जी ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह अयुक्तियुक्त तथा असंगत नहीं कहा जा सकता है। भट्ट जी की तर्क शैली इतनी उत्कृष्ट है कि

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' मार्च १८८० पृ० १८-१८।

२. ,, अक्टबर १८८६, पृ० १४।

वे पाठक को सहज ही अपने साथ ले लेते हैं। तत्कालीन खड़ी बोली कविता के विषय में उनका विचार है :—

"खड़ी बोली की कविता पर हमारे लेखकों का समूह इस समय टूट पड़ा है आज कल के पत्रों और मासिक पत्रिकाओं में बहुत सी इस तरह की भी कवितायें छपी हैं परन्तु अधिकतर इनमें ऐसी हैं जिनको कविता कहना ही मानो कविता की हँसी करना है हमें तो काव्य के गुण इनमें बहुत कम जँचते हैं।"[१]

अपने एक दूसरे निबन्ध में तो वे खड़ी बोली को काव्य के उपयुक्त भाषा ही नहीं मानते पर साथ ही विचित्रता यह है कि वे ब्रज भाषा के भी समर्थक नहीं :—"मेरी समझ में गद्य लेख खड़ी बोली में हो या ब्रजभाषा में हो चाहे उसमें कूट कूट के संस्कृत शब्द भरे जांय चाहे अरबी के बड़े विकराल शब्द उसमें हों। अपने अपने ढंग के सभी लेख उत्तम हैं पर हम अपनी पद्यमयी सरस्वती को किसी दूसरे ढंग पर उतारि मैली और कलुषित नहीं किया चाहते। पद्य या कविता उसी का नाम है जिस मार्ग पर भूषण, मतिराम, पद्माकर तथा सूर तुलसी, बिहारी प्रभृत्ति महोदयगण चल चुके हैं क्योंकि रस और माधुर्य जो कविता का प्राण है सो इन रूखी खड़ी बोलियों में कभी आने का ही नहीं। ·········इसलिए कविता के लिये उत्तम और उपयुक्त भाषा ओज माधुर्यगुण विशिष्ट बुन्देलखण्ड ही की मर्दानी बोली है। खैर उसके अभाव में मधुर पर जनानी ब्रज की भाषा भी उपयुक्त है। ठेठ वैसवारे की बोली की कविता न जानिए क्यों मुझे बहुत ही भाती है।"[२]

भट्ट जी हिन्दी में संस्कृत छंदों का भी स्वागत नहीं करते हैं :—

"आजकल छन्दों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है इन्द्र-वज्रा, मंदा क्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छंदों का हिन्दी में अनुकरण हम में तो कुढ़न पैदा करता है।"[३]

भट्ट जी को हिन्दी में अतुकांत कविता का प्रचलन भी नहीं भाता :—

"इस समय कुछ पद्य रचना रसिक हिन्दी में अतुकांत काव्य की भी चेष्टा कर रहे हैं दो एक इस क्रम की कवितायें जो अबतक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं भद्दे पन का नमूना है।"[४]

---

१. 'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०।
२. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ० ५४-५६।
३. 'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०।
४. ,, ,, ,, ,,।

लेकिन इस विषय में भट्ट जी यह कह कर अपनी उदारता का परिचय भी देते हैं :—"तुकबन्दी की सहायता का तिरस्कार करना प्रत्येक कवि का काम नहीं। यह कोई अद्भुत प्रतिभाशाली ही कर सकते हैं कि तुकबन्दी की सहायता न लेकर भी अपने काव्य में सरसता लावें। ऐसे कवियों के सम्बन्ध में हम यह अवश्य कहेंगे कि उनकी प्रतिभा के प्राकृतिक सौंदर्य को बढ़ाने के लिये तुकबन्दी के आभूषण की आवश्यकता नहीं।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी की आलोचना में लोक कल्याण की भावना, पाखण्डों का निर्मम विरोध, देशभक्ति की तीव्र भावना, काव्य में पुरातनता तथा बन्धनों का विरोध, आदि स्वर अत्यन्त प्रमुख हैं जो उनकी आलोचना को एक ओर सर्वांगीण बनाते हैं दूसरी ओर उसे उदार, युगानुकूल तथा मार्मिक बनाते हैं।

डा० रामविलास शर्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ भट्ट जी का वास्तविक साहित्यिक रूप चित्रित करती हैं :—"विचारों की उदारता में वह युग के साथ थे कहीं कहीं उससे आगे भी थे। ..... धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के प्रति भट्ट जी के विचारों को देखते हुए कह सकते हैं कि वह अपने युग के सबसे महान् विचारक थे।"[2]

प्राचीन साहित्य की आलोचना

काव्य ग्रंथों पर विस्तृत आलोचना लिखने की परिपाटी अत्यन्त आधुनिक है भारतेन्दु काल में इस प्रकार की आलोचनाओं का प्रायः अभाव है। आलोचकों का ध्यान जाता भी था तो समसामयिक साहित्य की ओर प्राचीन साहित्य की ओर उनकी दृष्टि अध्ययन या गवेषणा तक सीमित रहती थी आलोचनात्मक नहीं होती थी। भट्ट जी ने नियमित रूप से प्राचीन साहित्य पर आलोचनायें नहीं लिखी हैं किन्तु फुटकर लेखों के रूप में उन्होंने संस्कृत के विभिन्न कवियों पर प्रकाश डाला है। हिन्दी प्रदीप की संचिकाओं में प्राचीन संस्कृत कवियों एवं साहित्य पर भट्ट जी के निम्नांकित लेख उपलब्ध हैं :—

वेद[3], पण्डित राज जगन्नाथ[4], महाकवि श्रीहर्ष[5], विल्हण कवि की उक्ति[6],

---

१. 'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ०२ २४-२३०।
२. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १२१-२२।
३. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८७८, पृ० ३-४।
४. ,, अक्टूबर से सितम्बर १८८९, पृ० ३-७।
५. ,, अक्टूबर १८९२, पृ० २१-२४।
६. ,, नवम्बर दिसम्बर १८९२, पृ० २२-२४।

हर्ष की उक्ति[१], महाकवि विल्हण[२], गोबर्द्धनाचार्य[३], सप्तशतीस्तोत्र और भगवद् गीता[४], महाकवि भवभूति[५], महाकवि क्षेमेन्द्र[६], महाकवि हरिश्चन्द्र[७], बाराह मिहर और वाराह संहिता[८], महाकवि बाण भट्ट[९], महाकवि भारवि[१०], त्रिविक्रम भट्ट[११], महाकवि दामोदर गुप्त[१२], भट्टनारायण राजशेखर[१३], प्राचीन ग्रन्थकारों का संक्षिप्त इतिहास, कय्यट, आर्य भट्ट आदि[१४], महाकवि जयदेव[१५], महाकवि विल्हण[१६], आनन्द वर्द्धनादि[१७], भर्तृहरि[१८], कालिदास और भवभूति[१९], अमरसिंह[२०], नागेश या नागेशजी भट्ट[२१], गीता सार समुच्चय[२२], महाकवि वाग्भट्ट[२३], चन्द्रोदय वर्णन[२४], गीता सार समुच्चय[२५], भट्टि आदि

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर दिसम्बर १८९२, पृ० २४-२६।
२. ,, ,, ,, ,, पृ० ३८-४०।
३. ,, जनवरी से मार्च १८९३, पृ० ८-१२।
४. ,, अप्रैल से जून १८९६, पृ० २०-१२।
५. ,, जुलाई अगस्त १८९३, पृ० २२-२८।
६. ,, नवम्बर दिसम्बर १८९३, पृ० १९-४२।
७. ,, सितम्बर अक्टूबर १८९४, पृ० १०-१४।
८. ,, नवम्बर दिसम्बर १८ ४, पृ० ८-१६।
९. ,, जनवरी से मार्च १८९५, पृ० २०-२७।
१०. ,, अप्रैल से जून १८९५, पृ० ७-१३।
११. ,, ,, ,, ,, प० १३-१७।
१२. ,, सितम्बर से दिसम्बर १८९५, पृ० ५९-६४।
१३. ,, जनवरी अप्रैल १८९६ पृ० ५-१३।
१४. ,, ,, ,, ,, पृ० २९-३८।
१५. ,, मई से जून १८९५, पृ० २२-३०।
१६. ,, ,, ,, पृ० ३१।
१७. ,, जुलाई अगस्त, १८९८, पृ० ११-१५।
१८. ,, जुलाई, अगस्त १८९८, पृ० १८-२१।
१९. ,, जून जुलाई १८९९, पृ० ३०-३१।
२०. ,, जुलाई १९००, पृ० ५-७।
२१. ,, जनवरी फरवरी १९०१, पृ० ३४-३७।
२२. ,, अगस्त सितम्बर १९०९, पृ० २०-३६।
२३. ,, अक्टूबर दिसम्बर १९०१ पृ० ३०-३२।
२४. ,, ,, ,, ,, पृ० ३२-३४।
२५. ,, सितम्बर से दिसम्बर १९०३, पृ० ४०-५१।

कवि[१], भवभूति[२], बालमीकि[३], व्यास[४] आदि।

भट्ट जी ने संस्कृत काव्य या कवियों पर जो लिखा है वह प्रकाशित कम हुआ है; अप्रकाशित अधिक पड़ा है।[५] इस प्रकार के सम्पूर्ण साहित्य को देखने से प्रतीत होता है कि वह विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखा गया है और संस्कृत साहित्य के इतिहास की एक रूपरेखा प्रस्तुत करता है। वह परिचयात्मक एवं प्रशंसात्मक ही अधिक है उसमें आलोचनात्मक दृष्टि का तो सर्वथा अभाव है। अधिकांश कवियों का जीवन चरित्र, उनके जन्मकाल का निर्णय उनकी रचनाओं के प्रचुर उद्धरण और उनकी प्रशंसा केवल यही इस प्रकार के लेखों में मिलता है।

भट्ट जी ने जहाँ कवियों पर न लिखकर ग्रन्थों पर लिखा है वहाँ उनकी प्रवृत्ति किंचित आलोचनात्मक हो गई है किन्तु उसे पूर्णतः आलोचनात्मक नहीं कह सकते। वह ऐतिहासिक व्याख्या की ओर अधिक उन्मुख है उदाहरण के लिए उनके "महाभारत के समय का भारत" से एक उदाहरण लीजिए—'अस्तु तो निश्चय हो गया कि महाभारत के युद्ध का समय भारत तथा आर्यों के बल और वीर्य, समृद्धि और वैभव, बुद्धितत्व या सद्विचार प्रणाली, तथा स्थिर अध्यवसाय आदि की प्रौढ़ता का था। यदि वही हालत हिन्दुस्तान की अब तक कायम रहती तो तमाम दुनिया का एकाधिपत्य इस समय इसे प्राप्त हो जाता किन्तु अफसोस देश में सम्पत्ति और वैभव बढ़ने के साथ परस्पर की स्पर्धा, द्वेष और आत्मसुखाभिलाष उस समय इतना अधिक बढ़ गया कि जिससे हमारे अधःपतन के बीज का बोना बहुत सहज हो गया।"[६] किन्तु इस प्रकार की तथ्यकथन तथा प्रशंसात्मक शैली के बीच-बीच लेखक का स्वर कहीं-कहीं आलोचनात्मक भी हो जाता है जैसेः—"कृष्ण को क्षत्रियों के संक्षय के कलंक से बचाने को पृथ्वी का भार उतारने का प्रतिष्ठापत्र उन्हें दिया जाता है किन्तु ऐसे भार उतारने को कौन सराहेगा जिससे ऐसा भारी धक्का लगा कि देश फिर

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १९०५, पृ १४-२०।**

२. ,, **जनवरी १९०६, पृ० १६-१९।**

३. **मर्यादा, सितम्बर १९१३, पृ० २६९।**

४. ,, **अक्टूबर १९१३, पृ० ३७९।**

५. **देखिए सातवें अध्याय के अन्त में इस प्रकार के कवियों की पूर्ण सूची।**

६. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी पृ० ५-६**

आज तक न पनपा। वे ही अलबत्ता सराहेंगे जिनको देश की दुर्गति की चोट का असर बिलकुल नहीं पहुँचा जो स्वार्थ की मूर्ति और आत्मसुख रत हैं।"[१]

वेद क्या है ? नामक निबन्ध में भट्ट जी ने वेदों के भ्रष्टार्थ प्रचार का उत्तरदायित्व पुराणों पर रखा है—"अस्तु जिससे वेद को अधिक धक्का पहुँचा और उसका तत्वार्थ ढँप गया वह पुराणों का आलंकारिक वर्णन है।"[२] और उन्होंने स्वयं पुराणों द्वारा प्रचारित रूपकों को स्पष्ट किया है तथा उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की है। वैसे, पूरे निबन्ध का स्वर आलोचनात्मक नहीं है। भट्ट जी ने वेद पर कई निबन्ध लिखे हैं और वेदों को तत्कालीन समाज का प्रति-बिम्ब माना है। वे वेद को मनुष्य कृत्त भी मानते हैं और अलौकिकता से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ते।[३]

भट्ट जी वेदों मे अधिक महत्व उपनिषदों को देते हैं जिन्होंने वेदों के भद्देपन को सँभाला—"उपरान्त और सोचने वाले ऋषियों ने उपनिषद और ब्राह्मण बनाये वे सब यद्यपि वेद नहीं हैं पर वेद से बढ़कर पदार्थों का वर्णन उनमें है इन सबों ने वेद के बहुत से भद्देपन को सँभाला।"[४]

भट्ट जी ने कहीं-कहीं कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है जैसे "कालिदास और भवभूति"[५] परन्तु विवेचन उसका गम्भीर नहीं है। आलोचना की शैली इस प्रकार की है—"कालिदास की कविता के रसास्वाद को जो कन्द में सना मक्खन का लड्डू कहें तो भवभूति की कविता के रस को मिश्री के टौरों में मिली बालाई कहना चाहिए।"[६]

तथा

"कालिदास से भवभूति इस बात में अलबत्ता विशिष्ट माने जा सकते हैं कि कालिदास चेष्टा करने पर भी दूसरा रस वैसा न लिख सके जैसा शृङ्गार रस लिखा पर भवभूति ने वीर चरित्र में वीरता को पूरी तरह पर दिखला दिया है और उस समय में हुए जब कि कविता प्रौढ़ावस्था को पहुँच गई थी। ....इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास की प्रतिभा भवभूति से बहुत अधिक बढ़ी चढ़ी थी। मालूम होता है कालिदास को कुछ भी नहीं सोचना पड़ा कलम

---

१. 'हिन्दी प्रदीप' फरवरी पृ० ६—७।
२. ,, माघ संवत् १९६६ पृ० ५।
३. ,, मार्च १८८०, पृ० १७—१९।
४. ,, वही, पृ० १८।
५. ,, जून जुलाई १८९९, पृ० ३०—३२।
६. ,, ,, १८९९, पृ० ३०।

उठाय लिखते गये हैं पर भवभूति की लेवर्ड स्टाइल प्रकट कर रही है कि बीच-बीच बहुत ठहर ठहर आगे बढ़े हैं।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में अंग्रेजी पद्धति की तुलनात्मक आलोचना के अंकुर बिलकुल स्पष्ट हैं। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"वेदों की कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्यों से तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी विद्वत्ता, विचार स्वाधीनता, तथा शब्द कृपण शैली का बहुत अच्छा उदाहरण है।"[२]

डा० रामबिलास शर्मा भट्ट जी की स्वच्छन्द और बन्धनहीन विचारधारा के कारण उन्हें प्रगतिशील आलोचक मानते हैं:—"वेदों के बाद भाषा का विकास होता गया और वह अधिक अधिक सरस कोमल और परिष्कृत होती चली गई।" जो लोग वेदों के उपरान्त भाषा का पतन ही पतन देखते हैं उनसे बालकृष्ण भट्ट का मत भिन्न है। वह भाषा विज्ञान के विकास-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। महाभारत के लिए उन्होंने लिखा था कि उस समय 'भारतीय सभ्यता क्षतिग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी।' धर्मराज के विषय में उनका विचार था—"युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं पर उनकी सत्यवादिता निजकार्य साधन के समय खुल गई।" "ये सब बातें भारतीय आलोचना के लिए एकदम नई और क्रांतिकारी थीं।"[३]

हिन्दी के प्राचीन एवम् मध्यकालीन काव्य पर भट्ट जी ने एक शब्द भी नही लिखा है। यों प्रासङ्गिक रूप में कहीं-कहीं इस प्रकार के वाक्य उनके निबन्धों में मिल जाते हैं—'मैं खड़ी बोली की कविता का सर्वथा विरोध नहीं करता परन्तु मेरा यह प्रयोजन है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली ही सोहती है। न मैं शुद्ध ब्रजभाषा का ही पक्षपाती हूँ मुझे तो तुलसी रसखान आदि कवियों का ढङ्ग भाता है।'[४] केवल एक स्थान पर भट्टजी ने ऐसे विचार व्यक्त किये हैं जिनसे पता लगता है कि उन्हें रीतिकालीन रीतिबद्ध कविता पसन्द नहीं थी। सच्ची कविता शीर्षक निबन्ध में रीतिबद्ध कविता के विरुद्ध वे लिखते हैं:—

"प्रायः तो नायक नायिका का एक एक अंग नख शिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बढ़े षट्ऋतु के वर्णन

१. 'हिन्दी प्रदीप', जून, जुलाई १८६६, पृ० ६१–३२।
२. भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० ११७–१८।
३. भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० ११६।
४. 'मर्यादा', सितम्बर १६११, पृ० २२४-२३०।

में जा फँसे बसन्त हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने अपने ढङ्ग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नई बात लावें कहाँ से ? पावस को कहने लगे तो मोर दादुर की टर-टर वियोगिनी नायिका की स्मर दशा आदि इनी गिनी दस पाँच बातें हैं जिन पर कविता की अधिष्ठातृ देवी को सैकड़ों वर्षों से घसीट जीर्ण कलेवर कर डाला।"[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि नियमित रूप से भट्ट जी ने प्राचीन काव्य की आलोचना नहीं की किन्तु प्रासंगिक रूप में यत्र तत्र बिखरे उनके विचारों से उनके भव्य और उदार आलोचक का रूप स्पष्ट हो जाता है। आलोचना के प्रारम्भिक युग को देखते हुए इतना भी क्या कम है ?

समसामयिक साहित्य की आलोचना।

भट्ट जी ने अपने जीवन में जितनी आलोचना लिखी वह परिमाण में अधिक नहीं है, आकार से उसका प्रकार ही अधिक महत्व पूर्ण है। भट्ट जी के समक्ष आलोचना की कोई प्राचीन परम्परा प्रेरणा लेने या मार्ग दर्शन के लिए नहीं थी। उन्हें तो यह परम्परा स्वयं स्थापित करनी थी। भट्ट जी आधुनिक ढङ्ग की आलोचना के जन्मदाता हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त महान है, उनकी साहित्य सेवा विविधतायुक्त है; साहित्य के प्रत्येक अंग पर उन्होंने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। भट्ट जी का समय ऐसा समय था जब 'हिन्दी-साहित्य-कोष' का आधुनिक-भाग प्रायः रिक्त पड़ा था। इस युग के साहित्यकारों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या उस रिक्तता को भरने की थी और इस काल के साहित्य सेवियों में भारतेन्दु के बाद भट्ट जी का व्यक्तित्व महानतम था। इसलिए इस रिक्तता को भरने का उनका उत्तरदायित्व भी इसी अनुपात से अधिक था। सच तो यह है कि इसी कार्यभाराधिक्य के कारण भट्ट जी को इतना अवसर-अवकाश न मिला कि वे किसी एक साहित्यिक विधा के शृङ्गार एवं विकास में ही अपने प्रयत्न केन्द्रित करते। साहित्याभाव के सभी मोर्चों पर एक साथ संघर्ष करने के कारण वे किसी एक दिशा में निश्चित होकर आगे नहीं बढ़ पाए। इसलिए जब हम उनके आलोचना साहित्य का अध्ययन करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि यदि भट्ट जी इस सम्बन्ध में जितना अधिक लिखते उतना ही अच्छा था और यही विचार उनके उपन्यास नाटक आदि को पढ़कर बनता है।

'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में वे निबन्ध जिनका स्वर आलोचनात्मक है निम्नांकित हैं :—

---

३. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १४।**

चन्द्रहास तथा सबके गुरू गोबर्द्धनदास के अभिनय की आलोचना[१], लाला श्रीनिवासदास कृत रणधीर प्रेममोहिनी नाटक[२], नाटकाभिनय,[३] शमशाद सौशन नाटक,[४] नीलदेवी,[५] परीक्षा गुरु,[६] मुद्राराक्षस,[७] नेक सलाह,[८] सच्ची समालोचना संयोगिता स्वयंवर की,[९] एकान्तवासी योगी,[१०] बंग विजेता,[११] हिंदी कालिदास की आलोचना,[१२] नैषध चरित चर्चा पर सुदर्शन का दंश,[१३] रामलीला नाटक मण्डली,[१४] आदि।

उपर्युक्त सूची में दिये हुए लेखों में से अधिकांश पुस्तक-विज्ञापन मात्र हैं जिसमें पुस्तक छपने और मिलने का पता भी दिया गया है जैसे मुद्राराक्षस के विषय में लिखी गई पंक्तियों का उदाहरण लीजिए :—

"विशाखदत के संस्कृत नाटक का अनुवाद बाबू हरिश्चन्द्र रचित। राजनीति की काट छाँट दिखाने को यह नाटक एक ही है। हिन्दुस्तान के अद्वितीय पोलिटिशियन राजनीतिज्ञ चाणक्य की राजनीति कौशल का सब मर्म इस दृश्य काव्य के द्वारा सांगोपांग पूरी तरह पर प्रकट किया गया है। बाबू साहब ने बड़े परिश्रम से भाषा भी इसकी ऐसी उत्तम और संस्कृत से जिसका यह अनुवाद है इतनी मिलती हुई लिखी है कि कदाचित दूसरे किसी से सम्भव न था। इस नाटक का विषय प्लाट इतना कठिन और उबियाऊ है कि किसी नौसिखिया भाषा लेखक कृत अनुवाद होता तो और भी साधारण पाठकों को अरोचक और नीरस जँचता। सिवा अनुवाद के इसकी पूर्व पीठिका फुटनोट टिप्पणी में ऐसी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८७७, पृ० १८-१३।
२. ,, मार्च १८७८, पृ० १६।
३. ,, जनवरी १८८०, पृ० २-३।
४. ,, अप्रैल १८८०, पृ० १।
५. ,, फरवरी १८८२, पृ० १-३।
६. ,, दिसम्बर १८८२, पृ० १२-१३।
७. ,, अप्रैल १८८३, पृ० ३।
८. ,, अगस्त १८८६, पृ० १८-१९।
९. ,, अप्रैल १८८६, पृ० १७-२१।
१०. ,, मई १८८६, पृ० १४।
११. ,, अगस्त १८८६, पृ० १४।
१२. ,, जुलाई अगस्त १९००, पृ० २६-२७।
१३. ,, सितम्बर १९००, पृ० १८-२१।
१४. ,, जनवरी फरवरी १९५०, पृ० २४-२५।

बातें लिख दी गई हैं जो एन्टीक्वेरियन पुरावृत जानने वालों की छान का निचोड़ है। बनारस लाइट प्रेस में छापा गया।[1]

इसी प्रकार 'लाला श्री निवासदास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक, के विषय में भट्ट जी की निम्नांकित आलोचनात्मक पंक्तियाँ देखिए :—

"ट्रेजेडी के किस्म का यह पहला नाटक है जो हिन्दी भाषा में रचा गया है। इसमें श्रृंगार हास्य और करुणा ये तीनों रस बहुत उत्तम रीति के निवाहे गये हैं। बीच बीच सदुपदेश और लोकोक्ति इसमें इस ढंग से रखी गई हैं जिससे उन रसों में मानो जान पिरोह दी गई हो। रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्री भाव जीवन की स्वामिभक्ति नाथूराम का माड़वारियों का सा बनियापन, सुखवासीलाल की स्वार्थपरता सब बहुत अच्छी तरह इसमें दिखाई गई है।"[2]

भारतेन्दु युग में विभिन्न लेखक अपनी पुस्तकें आलोचना के लिये पत्र-सम्पादकों के पास भेजते थे। उनके विज्ञापन के रूप में इस प्रकार पंक्तियां सम्पादक लोग लिखा करते थे। वास्तव में हम इन्हें विकसित आलोचना का निदर्शन तो नहीं मान सकते परन्तु इतना आवश्यक है कि इस प्रकार की टिप्पणियाँ हिन्दी आलोचना के उगते हुए अंकुरों का प्रारम्भिक रूप हैं।

यदि इस प्रकार के लेखों को छोड़ दिया जाय तो केवल तीन आलोचनायें ही रह जाती हैं जो विशद विश्लेषणात्मक, तथा आलोचना के अच्छे स्तर की सूचक हैं। इस प्रकार की आलोचनायें क्रमश: 'नीलदेवी' 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर की सच्ची समालोचना' है। इन तीनों में भी आधुनिक कसौटी पर कसकर आलोचना कही जाने योग्य केवल संयोगिता स्वयंवर की ही आलोचना है।

नीलदेवी की आलोचना में भट्ट जी अपेक्षाकृत अधिक गहराई तक गए हैं, उसके विश्लेषण तथा आलोचना के स्वर से ऐसा लगता है कि आलोचना का स्वरूप कुछ कुछ स्थिर होने लगा था और वह एक निर्दिष्ट मार्ग की खोज में थी। नीलदेवी की आलोचना से कुछ पंक्तियां लीजिए :—"यह छोटा सा ग्रंथ इतना उत्तम है कि समालोचना द्वारा जहाँ तक इसके गुण दरसाते बन पड़ें दरसाते जाँय अव्वल तो यह कि हिन्दी भाषा में यह नाटक ओरिजिनल है किसी का अनुवाद कर नहीं लिखा गया। दूसरे इनका विषय, छंद या गान जो इसमें है ऐसे उत्तेजक हैं जिसे पढ़ कौन ऐसा कायर होगा जिसका जी न

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८३, पृ० ३।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', मार्च १८७८, पृ० १६।**

फड़क उठे। अलबत्ता नाटक वा उपन्यास इस ढंग के लिखे जाँय तो रसिकों के लिये भरपूर विनोद तथा हिन्दी भाषा और देश को बड़ा लाभ पहुँचा सकते हैं जो बात केवल हरिश्चन्द्र ही की विचित्र लेख शक्ति में हैं। वीरता वर्द्धक ऐसे लेख से क्षत्रियों को प्रोत्साहन हो सकता है न कि क्षत्रिय पत्रिका के कूड़ा-कर्कट संग्रह से जिसके सम्पादक जी की जीभ और लेखनी लाल खंगबहादुर मल्ल की प्रशंसा ही करते करते घिसी जाती है। इस दुःखान्त गीति रूपक में पुराने समय के राजपूतों का युद्धोत्साह और सावधानी बहुत अच्छी तरह झलकाई गई है, जैसा—

"सावधान सब लोग रहहु सब भांति सदा ही।
जागत ही सब रहैं रैन हू सोवत नाहीं॥
कसे रहें कटि रात दिवस सब वीर हमारे।
अश्व पीठि सौं होंहि चारजामे जिनि न्यारे॥
तोड़ा सुलगत, चढ़े रहें घोड़ा बन्दूकन।
रहें खुली ही म्यान, प्रत्यचें नहिं उतरे छन॥

दूसरे यवनों की जघन्यता और उनका कूट युद्ध अच्छा दिखाया गया है इसमें १० दृश्य और तीन अंक हैं।········

हमारी समझ में इसमें दो कसर हैं एक तो दृश्य इसके बहुत छोटे हैं अन्त में नीलदेवी के पतिव्रत का विस्तार कृष्णकुमारी समान और अधिक न कर बहुत थोड़े ही में समाप्त कर दिया है।"[१]

भट्ट जी के इस आलोचनात्मक निबन्ध में पहली बार उनकी दृष्टि गुणों के साथ साथ दोषों के प्रति भी आकृष्ट होती है और इस प्रकार पूर्ण आधुनिक आलोचना का श्रीगणेश यहाँ से होता है और यह प्रवृत्ति भट्ट जी की परवर्ती आलोचनाओं में उत्तरोत्तर विकासोन्मुख दिखाई देती है। 'परीक्षागुरु' तक आते आते वह और अधिक संयत, स्थिर, विश्लेषण प्रधान तथा आधुनिक हो जाती है। 'परीक्षागुरु' की आलोचना में वास्तविक गुण-दोष-विवेचन के कारण अधिक स्वाभाविक और तर्कसंगतता है। 'परीक्षागुरु' उपन्यास की भट्ट जी द्वारा की गई आलोचना की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

"इस उपन्यास की भाषा और 'प्लाट' बन्दिश दोनों बहुत कुछ सराहने के योग्य हैं। ग्रन्थकर्ता ने अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाकत जहाँ तक हो सका भरपूर इसमें प्रकट किया है पर न जानिए क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रूखापन जँचता है। पदों का वह लालित्य और माधुर्य क्यों

१. 'हिन्दी प्रदीप' फरवरी १८८२, पृ० १-३।

नहीं आया जैसा बाबू हरिश्चन्द्र के लेख में होता है। नाटक वा उपन्यास के प्रधान अंग शृङ्गार, हास्य कभी-कभी वीर और करुण होते हैं। सो उन सबों की इसमें कहीं झलक भी नहीं है। क्या निरा विदुर प्रजागर और ठौर ठौर वैलून आदि वैज्ञानिक बातों ही के भर देने से समस्त लेख चातुरी समाप्त हो गई? "नाविल राइटिंग" उपन्यास सम्बन्धी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार। बहुत लोग नाविल जैसा मिस्ट्रीज आदि किताबें हैं उनका पढ़ना बुरा समझते हैं और उपन्यासों को "इम्मोरल" असत् उपदेशक कह कर बदनाम कर रक्खा है। पर सच पूछो तो बुराइयों का परिणाम दिखाकर अपनी लेख शक्ति के द्वारा पढ़ने वालों का जो आकर्षण करते हैं जैसा संस्कृत में कादम्बरी है। अन्त में एक अपूर्व उपदेश निकालना उपन्यास ही में है सो बातें इसमें नहीं पाई जातीं। अस्तु फिर भी जहाँ कोई पेड़ नहीं वहाँ रेंड ही रूख।"[1]

अपने "उपन्यास" शीर्षक एक निबन्ध में प्रसंगवश भट्ट जी ने फिर परीक्षा गुरू की चर्चा की है और उसकी कमियों की ओर इंगित किया है:—

"अब उपन्यास सम्बन्धी लेख अंग्रेजी ही भाषा का एक अंग है। हम लोग जैसा और और बातों में अंग्रेजों की नकल करते जाते हैं वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टान्त पर सीख रहे हैं। हाल में लाला श्रीनिवासदास जी का 'परीक्षागुरु' नामक ग्रन्थ जिसे हम उपन्यास ही में गिनते हैं और जिसकी समालोचना से हमारे प्रिय शुभचिन्तक सा० सु० नि० के सुयोग्य सम्पादक महाशय हमारे कुछ अनमने से हो गये हैं अलबत्ता कुछ कुछ अंग्रेजी नाविल के ढंग पर है, परन्तु नाविल प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिये लिखे जाते हैं न कि निरे स्कूलों में "क" "ख" सीखने वालों के लिये। ग्रन्थकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रगट करना था तो गुलदस्ते, यखलाक या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते। यदि ये सब ठौर ठौर के अनुवाद निकाल दिये जायं तो "ओरिजिनल पोर्शन" असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रह ही न जायगा।········बन्दिश 'परीक्षा गुरू' की निःसन्देह बहुत उत्तमोत्तम और औरिजिनल है। पर इसकी भाषा की रुखाई और निरा उपदेश वाक्य पढ़ते पढ़ते जी ऊब जाता है।"[2]

भट्ट जी की आलोचना कला की चरम परिणति हमें उनकी 'संयोगिता स्वयंवर की सच्ची समालोचना' में मिलती है। जहाँ पहली बार भट्ट जी की शैली अत्यन्त प्रवाह पूर्ण, व्यंग्य पूर्ण तथा आलोचना के उपयुक्त है। यह आलो-

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८२, पृ० १–३।

२. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८२, पृ० १७–१९।

चना भट्ट जी ने लाला जी पर चुटकियाँ लेते हुए लिखी हैं यह सर्वथा संयोग की बात है कि हिन्दी की सर्वप्रथम आलोचना लाला श्री निवासदास की पुस्तकों से प्रारम्भ हुई और आलोचक भट्ट जी रहे। 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' दोनों लाला जी की पुस्तकें ही थीं जिनकी कड़ी आलोचना भट्ट जी ने की। यह आलोचना जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट होता है वास्तव में विस्तृत आलोचना है। कथावस्तु, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य, शैली आदि सभी अंगों की आलोचना इसमें की गई है। आलोचना का प्रारम्भ बड़ा ही नाटकीय रोचक और व्यंग्यपूर्ण है:—"लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछें कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे ? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया। यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा। किसी समय के लोगों की क्या दशा थी, उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव "स्प्रिट औफ दी टाइम्स" क्या थे ? इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उनके दरसाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिए। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते, बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस और रूखे से रूखे अर्थान्तिरन्यास गढ़ने की कल कहें तो अनुचित न होगा।"[1]

नाटक के पात्रों के अस्वाभाविक चरित्र विकास पर कठोर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी लिखते हैं :—

"आपके नाटक में राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगिता बेचारी भी अपना पाण्डित्य प्रकाश करने के यत्न में हैरान हो रहे हैं। भला बताइये यह कौनसा ढंग भावों के दरसाने का है ? कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के सदृश कोरा तर्क वितर्क करना भाव का गला ही घोंटना है कि और कुछ ? पृथ्वीराज संयोगिता से क्यों अलग हुआ क्योंकि नीतिशास्त्र में लिखा है। (पृ० ५३) राजा जैचन्द और पृथ्वीराज में क्यों मेल मिलाप हो गया। केवल इसी कारण से कि अन्त को पछताके किसी तरह जयचन्द के मन में महाभारत के घोर युद्ध का कारण धँस गया (पृ० ९२) अहा ! हा ! तनिक और जल्दी धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता।'

---

१. 'हिन्दी प्रदीप,' अप्रैल १८८६, पृ० १७।
२. ,, ,, ,, पृ० १७।

नाटक में पात्रों के व्यक्तित्व एवं उनके चरित्र विकास की कमी की ओर इंगित करते हुए भट्ट जी लाला जी की चुटकी लेते हैं :—

'खैर जाने दीजिए, बेचारे जयचन्द को क्षमा कीजिए। सबकी बुद्धि पर आपके समान पाण्डित्य की सान नहीं रखी हैं। हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (करेक्टराइजेशन) के भिन्न भिन्न होने से ही नाटक की शोभा देखी पर आपके पात्र सबके सब एक ही रस में सने उपदेश देने की हवस में लथर पथर पाए गये और उस रस में आप ही की विद्या के प्रकाश का जहर भरा है।"[2]

नाटक की उपदेश प्रमुखता तथा उसके अवांछनीय होने की घोषणा करते हुए भट्ट जी लाला जी की नाटक कला की खिल्ली उड़ाते हुए कहते हैं :—

"हमारे ही यहाँ के बड़े प्रसिद्ध प्राचीन नाटककार भवभूति ने कहा है—नाटक में पाण्डित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिये इसके विपरीत आज सच्ची प्रीति आदि विषयों पर अपने पात्रों के मुख से लेक्चर दिया चाहते हैं। तो एक सलाह मेरी है, उसको सुनिए, इस नाटक को काट-छाँट इसमें से आठ दस पैम्फलेट छोटे छोटे गुटका छपवा दीजिए और दूसरी बार जब दूसरा नाटक लिखने का हौसला कीजिएगा तब कृपाकर बेचारी निरपराधिनी कवित्व शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजिएगा। नहीं तो जिन कवियों से आप बराबर श्लोक, दोहे, और वैत्त उद्धृत करके लिखते हैं वह बेचारे भाव उन्हीं कवियों के सामने जाय आपकी लेखनी के दिए हुए अपने कोमल शरीर के घाव उनको दिखलावेंगे।"[1]

उपर्युक्त नाटक के कथोपकथनों की स्थिति और उनकी अस्वाभाविकता पर भी भट्ट जी ने कड़ा व्यङ्ग किया है :—

"पृष्ठ ११ में संयोगिता पृथ्वीराज से अपने ही प्रेम के बारे में अपनी सखी करनाटकी से कहती है" फिर प्रेम क्या केवल अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये किया जाता है ? यह तो प्रेम का सबसे निकृष्ट भाव है। "जी नहीं संयोगिता जी आप जरा सा चूक गईं। अभी आपकी उमर ही क्या होगी ? और वेशक ऐसी कच्ची उमर में आपसे किसी तरह के पक्के तजुरवे की आशा करना भी वृथा है। सबसे निकृष्ट भाव प्रेम का हमसे सुनिये। आप सौ जान से अपने प्रियतम के ऊपर न्यौछावर हों पर यह तो बतलाइये कि यह लेक्चर देना आपने

---

१. **'हिन्दी प्रदीप,' अप्रैल १८८६, पृ० १७।**

२. ,, ,, ,, पृ० १८।

किससे सीखा ? आप तन मन धन सबसे आसक्त हों कुछ हरज नहीं पर यदि आप अपने दर्शकों को निरा बालक समझ एक छोटा सा व्याख्यान देने का हौसला करेंगी तो न केवल आपकी प्रीति ही को मैं झूठी समझूंगा वरन् आपको भी निरी पाखण्ड और कपट की कठपुतली मानूंगा ।"[१]

नाटक के बीच में लेखक ने पात्रों के मुख से कुछ पद्य में भी कहलाया है और कहीं कहीं उसका अर्थ असत भावनाओं का प्रचारक हो उठता है इस दुर्गुण पर क्रुद्ध हो भट्ट जी लिखते हैं :—

"अब आपके पद्य से भी एक उदाहरण लेना आवश्यक है । पृ० ४९ में संयोगिता अपने प्यारे पृथ्वीराज को इन शब्दों में मद्यपान के लिए कहती है— "साजन थोड़ा अमल से फुर्ती घणी जणाय, सूर चढ़ै अरु श्रम मिटै बार न खाली जाय ।" यह कहना कुछ अप्रस्ताविक न होगा कि किसी तरह का पद्य दोहा चौपाई गान आदि भी बोलने वाले के ख्याल का एक हिस्सा समझा जायगा और यदि पद्य में ही हुआ तो इससे उसके वाक्य में कुछ गौरव न बढ़ जायगा । हम समझते हैं ग्रंथकार महाशय बीबी संयोगिता को (पण्डित प्रताप-नारायण मिश्र के कलि-कौतुक वाली) शराब खोरों वाली महफिल में भेज देते तो शराब की तारीख में सबसे बीस संयोगिता ही की स्पीच रहती । सच है जो पहली मुलाकात में मर्द से आगे ही सुरापान की इच्छा प्रगट करै उसके ख्यालात और लफ्ज कहाँ तक पाक हो सकते हैं ।"[२]

अंत में नाटक की असफलता और लेखक की अपटुता की घोषणा करते हुए भट्ट जी दुखपूर्ण स्वर में कहते हैं :—

'हाय ! हाय ! संयोगिता पर भरपूर शामत सवार हुई जो उसके बारे में नाटक लिखने का हौसला आपके मन में बढ़ा । छिः ऐसा ही नाटक ऐतिहासिक कहलाने के योग्य है ? लाला जी आपके नाविल 'परीक्षा गुरू' से तो मालूम होता है कि आपने अंग्रेज़ी की कई किताबों की सैर की है तो जरा देखतो लिया होता कि ऐतिहासिक नाविल या नाटकों का निवाह कैसे होता है अथवा इस बात को बंगला या गुजराती ही में (जिसमें आपको पूर्ण पण्डित होने का दावा है) देख लिया होता ।"[३]

भट्ट जी की इस आलोचना ने उस युग में तो तहलका ही मचा दिया था । अपने ढंग की यह पहली आलोचना थी जिसमें पहली बार एक लेखक ने दूसरे

---

१. **'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल १८८६, पृ० १९ ।**
२. ,, ,, १८८६, पृ० २०-२१ ।
३. ,, ,, ,, पृ० २१ ।

लेखक की कृति की कटु और कठोर आलोचना की थी। यहीं से आधुनिक हिन्दी आलोचना का प्रारंभ होता है। आगे चलकर भट्ट जी की इस शैली और इस ढंग की आलोचना का विकास पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया।

हिन्दी आलोचना साहित्य में भट्ट जी का स्थान

आज हिन्दी का आलोचना साहित्य गर्व करने योग्य स्थिति में है उसका भविष्य आज बीते कल की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल है। किन्तु आज का आलोचना साहित्य अपनी इस स्थिति को वायु-यात्रा करके नहीं पहुँचा है, उसकी प्रगति के चरण इसी ठोस धरती पर अपने चिन्ह बनाकर चले हैं। उसकी यात्रा का पिछला पथ यद्यपि आज धुंधला हो गया है किन्तु उसकी आज की परिणति का सारा श्रेय उस भूले और पिछले पथ को ही है। डा० रामबिलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है—"आलोचना या साहित्य का अन्य कोई अंग अपने से पूर्व की रचनाओं का ध्यान रखे बिना सम्यक् रूप से विकास नहीं कर सकता। साहित्य का पौधा वर्तमान की धरती पर उगता है लेकिन उसकी जड़ें अतीत के गर्भ में फैली होती हैं।"[1]

भट्ट जी आज के विकसित समालोचना-साहित्य के मूल हैं। यदि मूल ही दोष युक्त हो तो उसको आधार मान कर विकासाकांक्षी शाखायें अपने शैशव में ही मुरझा जाती हैं। हिन्दी-आलोचना की आज की सुखमय स्थिति के लिये भट्ट जी को उचित श्रेय दिया जाना चाहिए।

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर भट्ट जी का बहुत ऋण है अनेक स्थानों पर द्विवेदी जी के विचार भट्ट जी से उधार लिये प्रतीत होते हैं। भट्ट जी कविता पर बन्धनों के विरुद्ध थे और बनावटी या कृत्रिम कविता के भी वे प्रशंसक नहीं थे भट्ट जी की एतद्विषयक शब्दावली देखिए :—

"स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते इसलिये सुसंस्कृत कविता (क्लासिक पोइट्री) अवश्यमेव कृत्रिमता दोष पूरित रहेगी।"[2]

---

१. **स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्क०, पृ० ८३।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १४।**

उपर्युक्त पंक्तियों को द्विवेदी जी की निम्नांकित पंक्तियों से मिलाइये तो भाव साम्य ही नहीं भाषा साम्य तक उसमें दिखाई देगा :—

"पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता हजारों वर्षों से कविता क्रम जारी है जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन कवि करते हैं उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं वे उलट फेर से प्राय: उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसीसे अब कविता कम हृदय ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दवाब से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा-पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है।"[१]

रीतिबद्ध कविता एवं रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों के विरोध में भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भट्ट जी के अनुयायी हैं। दोनों का एक-एक उदाहरण देना समीचीन होगा। भट्ट जी लिखते हैं :—

"हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आज तक चले आए हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं। जिसकी उपमा हम एक छोटे से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं से पानी का निकास है न नया ताज़ा पानी उसमें आने की कोई आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन दिन सड़ता ही जाय और गंदगी बढ़ती जाय क्योंकि नियम बद्ध हो जाने से गिनी गिनी बातें उनके लिये बच रहीं उन्हीं का बार-बार पिष्ट पेषण किया करें। प्राय: तो नायक नायिका का एक-एक अंग का नखशिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बढ़े षट्-ऋतु के वर्णन में जा फँसे। बसन्त हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने-अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नई बातें लावें कहाँ से? पावस को कहने लगे तो मोर दादुर की टर-टर, वियोगिनी नायिका की स्मर दशा आदि इनी गिनी दस पाँच बातें हैं जिन पर कविता की अधिष्ठातृ देवी को सैकड़ों वर्षों से घसीट जीर्ण कलेवर कर डाला।"[२]

---

१. **'रसज्ञ रंजन', आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, अष्टम संस्करण, पृ० ४६।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १४।**

देखिए इन्हीं बातों को द्विवेदी जी शब्दों के हेर फेर के साथ दुहराते हैं :—

"यमुना के किनारे केलि कौतूहल का अद्भुत अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। " कनिष्ठा और ज्येष्ठा का भेद और उनके चित्र देखे तो क्या और न देखे तो क्या ? और उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण नियमानुसार सिद्ध हो गया तो क्या और न सिद्ध हुआ तो क्या ? नायिकाओं के भी झगड़े में उलझने से हानि के अतिरिक्त लाभ की कोई सम्भावना नहीं। हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिए कि वे अपनी विधा अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार से ग्रंथ लिखने में न करें अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए अलंकार रस और नायिका निरूपण बहुत हो चुका।"[1]

यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो द्विवेदी जी की आलोचना 'चाहिए' के अत्यधिक प्रयोग से कुछ अधिक कुरूप है जबकि भट्ट जी की आलोचना में यह दोष नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना का मूल स्वर लोक मंगल या लोक-कल्याण का है जो वास्तव में भट्ट जी के विस्तृत दृष्टिकोण का एक भाग मात्र है। शुक्ल जी भी प्रवृत्ति मार्ग के समर्थक हैं और निवृत्ति मार्ग का खंडन करते हैं भट्ट जी भी सदैव वेदान्तियों और अकर्मण्य संन्यासियों के विरोधी हैं इन दोनों बातों में इन महान आलोचकों में आश्चर्यजनक समानता है। भट्ट जी की कुछ पंक्तियां इस सम्बन्ध में उद्धृत करना समीचीन होगा :—

"गृहस्थों के आसरे पर जीने वाले नाशुकरे, कृतघ्न, मुड़े हुए ऐरागी बैरागी विरक्त, यती संन्यासी, नाहक गृहस्थी को नरक और गृहस्थी की मूल हमारी गृहेश्वरियों को नरकपुर में प्रवेश का द्वार कहकर बदनाम किए हुए हैं इन विरक्तों की अपेक्षा मनुष्य गृहस्थी में रहकर जितना जल्दी और सहज में परमेश्वर को ढूँढ़ ले सकता है वैसा बड़ी तपस्या के द्वारा तन सुखाय ये विरक्त तपसी नहीं।"[2]

इसी प्रकार भट्ट जी ने राजा शिवप्रसाद की इस बात पर कटु आलोचना की थी क्योंकि उन्होंने 'खुशी' की भारतेन्दु की दी हुई परिभाषा का खण्डन कर उसकी आध्यात्मवादी या पलायनवादी परिभाषा दी थी। भट्ट जी ने इस प्रकार

---

१. **रसज्ञरंजन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, अष्टम संस्करण, पृ० २३-२४।**

२. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८९१, पृ० १४।**

की प्रवृत्ति को देश के लिए घातक बताया है और वेदान्तियों के मायावाद का भी घोर विरोध किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं से भी भट्ट जी की विचार-समानता सूचक दो एक उद्धरण देना आवश्यक है। वे एक स्थान पर लिखते हैं :—

"मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं।"[२]

रीतिकालीन रीतिवद्ध कविता के विषय में भी आचार्य शुक्ल भट्ट जी के साथ हैं। शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा है :—

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते थे दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।"[३]

भट्ट जी की भाँति ही शुक्ल जी काव्य और जीवन को अभिन्न मानते हैं— 'काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।'[४]

समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य के विषय में प्रेमचंदजी तथा भट्ट जी के विचारों में आश्चर्यजनक समानता है कहीं-कहीं तो केवल भाषा का अन्तर है भाव बिलकुल एक दूसरे से मिलते हैं। प्रेमचन्द जी पुराने कवियों के विषय में लिखते हैं :—

"कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रङ्ग चढ़ा हुआ था प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया

१. 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई १८८०, पृ० १६-२०।
२. चिन्तामणि, पहला भाग, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५२।
३. रस मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८।
४. चिन्तामणि, दूसरा भाग, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०१।

करती थी। पद्य में कोई नई शब्द योजना नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था चाहे वह वस्तु स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो।"[१]

जब प्रेमचंद जी यह कहते हैं कि—"पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य पाप के मसले उसके साधन थे।'[२] तो ऐसा लगता है कि भट्ट जी की वाणी को कोई दूसरे स्वर में व्यक्त कर रहा है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, साहित्यकारों का दायित्व तथा 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' आदि जो लेख लिखे हैं उनमें भट्ट जी की विचारधारा से अद्भुत समानता मिलती है। आज के प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक डा० राम-बिलास शर्मा भट्ट जी से इतने प्रभावित हैं कि वे उन्हें भारतेन्दु युग का सर्वमहान आलोचक मानते हैं।[3] और उनकी अनेक मान्यतायें भट्टजी से प्रभावित हैं।

जिस साहित्य मनीषी ने अपने परवर्ती युग प्रवर्तक साहित्यकारों को विचार और अभिव्यक्ति दोनों में प्रभावित किया हो उसकी महत्ता तो स्वयम् सिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से और साहित्यिक दृष्टि से भी भट्ट जी हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों में से हैं और अपने परवर्ती तथा अपनी विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले विचारकों की परम्परा के रूप में वे आज भी अजर-अमर हैं।

———

१. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ३।
२. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, प्रथम संस्करण, पृ० ५।
३. भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२२।
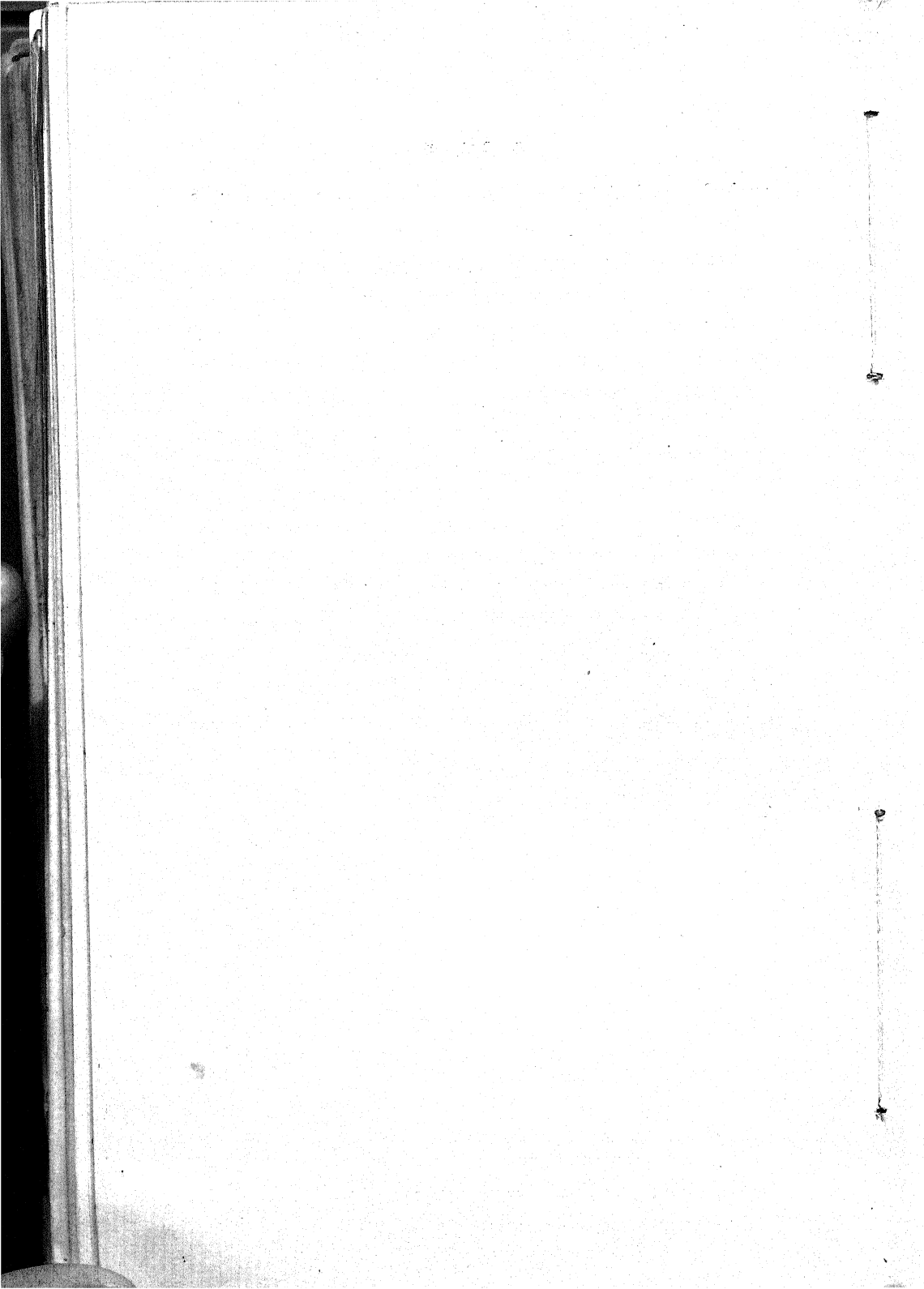
छठवां अध्याय

भट्ट जी कथाकार के रूप में

भट्ट जी के उपन्यास :—

नूतन ब्रह्मचारी :—'नूतन ब्रह्मचारी' सन् १८८६ फरवरी के महीने से 'हिन्दी प्रदीप' में धारावाहिक रूप से निकलने लगा था। बाद में भट्ट जी ने उसे पुस्तकाकार भी प्रकाशित करा दिया। उस समय पाठकों की कितनी कमी थी यह 'नूतन ब्रह्मचारी' के निवेदन से स्पष्ट है—"यह उपन्यास सन् १८८६ की 'हिन्दी प्रदीप' की जिल्दों के कुछ अंकों में ४ या ५ अध्याय निकाल पुस्तकाकार छाप कर उस समय के ग्राहकों को उपहार में बाँट दिया गया था। जो बचा था उसके खरीददार कोई भी न हुए, बिना मूल्य लेने को सब ही हिन्दी रसिक बन गए।"[1]

नूतन ब्रह्मचारी 'हिन्दी प्रदीप' में पूरा प्रकाशित नहीं हुआ इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। वास्तव में भट्ट जी के युग में हिन्दी पुस्तकों का अभाव था और ऐसी पुस्तकों का तो नितांत अभाव था जो पाठ्य पुस्तक के रूप में विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ स्वीकृति की जा सकतीं। भट्ट जी ने इसी आशा से इस उपन्यास को शीघ्र लिखकर प्रकाशित करा दिया था कि कदाचित् शिक्षा विभाग के अधिकारी इस उपदेशपूर्ण पुस्तक को स्कूलों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करलें। लेकिन इस दिशा में निराशा ही उनके हाथ लगी। भट्ट जी की आर्थिक दशा कभी संतोष जनक नहीं रही। इसलिये 'नूतन ब्रह्मचारी' से वे दो उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे एक तो अर्थ प्राप्ति दूसरे विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण। भट्ट जी ने यह देखा था कि विद्यार्थियों के लिये अनेक ऐसी पुस्तकें शिक्षा विभाग स्वीकृत कर लेता है जा मुग्ध मति युवकों के चरित्र निर्माण के स्थान पर उन्हें पथ भ्रष्ट करती हैं। भट्ट जी अपने स्वाभिमान और आदर्श को बेचकर धन प्राप्त

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, निवेदन, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० २।**

नहीं करना चाहते थे इसलिये वैसी पुस्तकें लिखना भी उनके लिये कठिन था जैसी तत्कालीन शिक्षा विभाग चाहता था और जो कि भट्ट जी के आदर्श के अनुकूल नहीं थीं।

'नूतन ब्रह्मचारी' को पाठ्य रूप में स्वीकृत कराने में भट्ट जी सफल नहीं हुए। इस दिशा में निराश होने पर उन्होंने अपना क्रोध और क्षोभ इस उपन्यास के निवेदन में व्यक्त किया है जिससे इस पूरी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है :—

"जो प्रभु कहलाते हैं जिनकी एक बार की कृपा दृष्टि से प्रोत्साहित हो हम बार बार ऐसे ऐसे प्रबन्ध की कल्पनाओं में प्रवृत्त होते वहाँ चाटुकारी के साथ झूठी प्रशंसा और स्वार्थ ऐसे पाँव जमाए हैं कि जिस शिक्षा विभाग के द्वारा उत्तम से उत्तम पुस्तक लिखने का उत्साह बढ़ता और हमारे बालक अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर देश को उन्नति के शिखर तक पहुँचाते वहाँ 'नदेवाय न धर्माय' ऐसी ऐसी रद्दी पुस्तकें भरी पड़ी हैं कि जिनसे हमारे बालकों के सिवाय अपने हाथ से बाहर हो जाने के और कुछ भी भलाई नहीं दिखाई पड़ती। शिक्षा विभाग में जिस तरह की पाठ्य पुस्तकें प्रचलित हैं उन्हें थोड़ा ही पढ़ने से मालूम हो सकता है कि बालकों पर इसका क्या परिणाम होगा। हमारी इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायगा कि बालकों के पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है। और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है। पर अपनी कंगल टिर्रई का दम भरते मथुरा तीन लोक से न्यारी के समान सुलेखकी के अभिमान में चूर आज तक किसी प्रकार की चाटुकारी न बन पड़ी कि प्रभुवरों की झूठी लल्लो-पत्तो में अपना जीवन नष्ट करते तब क्यों शिक्षा विभाग के पदाधिकारी उचित न्याय पर दृष्टि रख उन पुस्तकों को हटा इस प्रकार की बालकोपयोगी पुस्तकों को शिक्षा विभाग में आदर देते। रहे साधारण जन नागरी अक्षरों से परिचय मात्र जिनकी विद्वत्ता की इयत्ता है समाचार पत्रों में इधर-उधर की खबरें पढ़ लेना ही जिनके ज्ञान का भण्डार है उनसे हम क्या आशा कर सकते हैं सिवाय सब ओर से नैराश्य के।"[1]

अर्थाभाव में हमारा साहित्य असंख्य ग्रन्थ रत्नों से वंचित रह गया, भट्ट जी का उपर्युक्त कथन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

'नूतन ब्रह्मचारी' जैसा कि इसके 'निवेदन' से स्पष्ट है बच्चों के चरित्र निर्माण के लिए लिखा गया है। अन्तर इतना ही है कि यह चरित्र निर्माण

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, निवेदन, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० १-२।**

सम्बन्धी उपदेश किसी निबन्ध आदि के माध्यम से न हो उपन्यास के माध्यम से है। भट्ट जी ने जब इस उपन्यास की रचना प्रारम्भ की थी उस समय उपन्यास की आधुनिक कसौटी अस्तित्व में नहीं आई थी और कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य आदि उसके विभिन्न तत्व अज्ञात थे। फिर भी हम यहाँ भट्ट जी के उपर्युक्त उपन्यास को इस आधुनिक कसौटी पर कस कर ही देखेंगे और उसकी उत्कृष्टता का निर्णय तदनुकूल करेंगे।

कथावस्तु--एक महाराष्ट्री विट्ठलराव तथा उनकी पत्नी राधाबाई और पुत्र विनायक राव 'नूतन ब्रह्मचारी' की कहानी के प्रमुख तीन पात्र हैं। विट्ठल राव एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं और उनकी पत्नी राधाबाई एक पतिपरायणा स्त्री हैं। एक दिन यह दम्पत्ति ठाकुर साहब की गढ़ी की ओर चला। ठाकुर एक बड़ा जमींदार था जो इनके गाँव के पास ही रहता था। वह समय समय पर इस ब्राह्मण परिवार की सहायता धन दानादि देकर किया करता था। विट्ठल राव स्वाभिमानी व्यक्ति थे इसलिए उन्होंने एक बार सोचा कि ठाकुर हमारे बिना बुलाए जाते रहने से हमें लालची समझते होंगे इसलिए अबकी बार निमंत्रण आने पर ही चलेंगे यद्यपि वह इस बात को भी अच्छी तरह जानते थे कि पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार वैशाख में ही करना है और बिना ठाकुर साहब की आर्थिक सहायता के वह सुसम्पन्न नहीं हो सकता। लेकिन संयोग से उसी दिन ठाकुर साहब की गढ़ी से निमन्त्रण आ गया और यह दम्पत्ति सहर्ष ठाकुर के यहाँ जाने को तैयार होगया।

जाने से पूर्व विट्ठलराव ने अपने पुत्र को शिक्षा दी—"बेटा! नित्य जितनी गायत्री जपते थे उतनी आज भी अवश्य जपना जैसा हमने बतलाया है, पूरक, कुंभक, रेचक युक्त तीनों प्राणायाम सविधि करना भोजन करते समय मौन रहना, आज की भिक्षा का जो अन्न लाना उसे रख छोड़ना बिना हमारी आज्ञा उसे खर्च मत कर डालना, हमारे साँझ के होम के लिए टटके कुशा और लकड़ी वन से तोड़ लाना और बेटा देखो! जो कोई अतिथि आ जाय तो उसका सत्कार विधिपूर्वक करना तुम अभी लड़के हो इससे ऐसा न हो कि किसी बात में तुम चूक जाओ तो जो पाहुने आवें तो उनका स्वागत सत्कार भरपूर न बन पड़े इस बात की अधिक चौकसी रखना।"[1]

ऐसा उपदेश करने के पश्चात् विट्ठलराव और उनकी पत्नी ठाकुर की गढ़ी की ओर चल दिए। मार्ग में जब वे बातें करते जा रहे थे कि अब हम शाम तक लौटेंगे तो जङ्गल में छिपे तीन डाकुओं ने उनकी बातें सुनलीं और वे

---

१. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० १५।

विट्ठलराव के घर को लूटने के विचार से उस ओर चल दिए। डाकुओं ने घर पर 'विनायक' को अकेला पाया। विनायक राव ने समझा कि ये वे ही अतिथि प्रतीत होते हैं जिनकी चर्चा पिताजी ने चलते समय की थी इसलिये विनायक ने अत्यन्त मीठे शब्दों के साथ उनका सत्कार किया और अत्यन्त शिष्टता के साथ उनसे बातें कीं। बालक के इस निश्छल व्यवहार और सौम्य स्वभाव का प्रभाव डाकुओं के सरदार के हृदय पर पड़ा और उसकी कठोरता, कोमलता तथा मृदुता में परिवर्तित होगई। इस तथ्य से अनभिज्ञ कि आगन्तुक डाकू हैं विनायक राव ने अपना सम्पूर्ण घर उन्हें खोल कर दिखाया और यह भी बताया कि शीघ्र ही मेरा यज्ञोपवीत होने वाला है। जो सामान शेष रह गया है रामू अहीर बाजार से उसे लेने गया है। डाकू संख्या में तीन थे शेष दो डाकुओं ने सरदार से लूटने की आज्ञा चाही किन्तु सरदार ने उनसे मना कर दिया और डाकुओं का सरदार चलते समय विनायक से कह गया कि अपने माँ-बाप से कहना कि उन्हें तुम्हारे जैसा सौम्य शिष्ट और सच्चरित्र पुत्र मिला है। तुम्हारे मृदुल स्वभाव निष्कपट व्यवहार, तथा भोलेपन से प्रभावित होकर ही हम बिना लूटे जा रहे हैं फिर एक दो दिन में तुम्हारे पिता के दर्शन करेंगे। मा बाप के लौटने पर विनायक ने सारी कहानी उन्हें सुनाई, राधाबाई अपने पुत्र को सुरक्षित देख गद्गद् होगईं तथा पिता ने पुत्र को शाबाशी दी और सदैव ऐसा ही आचरण करने की शिक्षा दी।

१५ वर्ष बाद जब विनायक राव युवक होगया तो अपने सद्गुणों के कारण चतुर्दिक प्रसिद्ध होगया। गढ़ी वाले ठाकुर इस युवक को अत्यधिक स्नेह करते थे और अपना विश्वास पात्र मानते थे। विनायक भी प्रायः ठाकुर साहब के पास ही बना रहता था। एक दिन ठाकुर साहब दूर की यात्रा पर निकले साथ में विनायक राव भी था मार्ग में संध्या हो गई और घने जंगल में ही इन्हें रुक जाना पड़ा। शाम को जंगल भ्रमण एवं प्रकृति सौंदर्य दर्शन के लिये विनायक जंगल में चल दिया कि थोड़ी दूर पर ही उसे अस्त्रों की झनझनाहट सुनाई दी। युद्ध कला में दक्ष वीर विनायक ने अपने अस्त्र सँभाले और घटना स्थल की ओर चला पर उसे कोई दिखाई नहीं दिया इसलिये लौटने को हुआ कि उसे किसी का आर्तनाद सुनाई दिया। दौड़ कर विनायक उस स्थान पर पहुँचा तो उसने एक आहत व्यक्ति को वहाँ मरणासन्न अवस्था में पड़ा देखा। बातचीत के बाद विनायक को पता लगा कि यह वही डाकू सरदार था जो एक दिन विनायक राव के यहाँ आया था और बिना लूटे चला गया था। उसने बताया कि आज डाकू दल तुम्हारे यात्री दल पर आक्रमण कर उसे लूटने की

योजना बना चुका है अतः रात को चौकन्ने रहना डाकुओं ने मुझे घायल भी इसीलिये कर दिया क्योंकि उस आक्रमण की योजना में मेरी असहमति थी इतना कहकर डाकू समाप्त हो गया। रात को आक्रमण हुआ यात्रियों के पहले से सजग एवं सतर्क होने कारण वे सफल काम नहीं हुए। संघर्ष में दो डाकू मारे गए। ये वेही डाकू थे जिन्होंने अपने सरदार को घायल कर दिया था। कथा यहाँ समाप्त हो जाती है।"

उपन्यास का शीर्षक अत्यंत सार्थक है क्योंकि ब्रह्मचारी ही इस उपन्यास का नायक है और उसे अपने जीवन में सारी सफलता सच्चरित्र और ब्रह्मचर्य पालन से ही प्राप्त हुई है इसलिये इस उपन्यास की कहानी उसी की कहानी है।

उपन्यास में घटना क्रम सुविन्यस्त है, उपन्यास का प्रारंभ अत्यंत रोचक और आकर्षक है। पाठक उपन्यास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ पढ़ते ही किसी भावी संकट के प्रति आशंकित हो जाता है और आगे पढ़ने की उसकी उत्सुकता कई गुनी बढ़ जाती है। और जब वह तीन डाकुओं की बात उपन्यास में पढ़ता है तो उसका कौतूहल चरमसीमा पर पहुँच जाता है।

घटना आगे बढ़ती है, उसका चरम विकास डाकू सरदार की मृत्यु के रूप में होता है, और सच्चरित्रता की विजय के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

उपन्यासकार १५ वर्ष के काल को योंही पाठक की कल्पना के लिये छोड़ देता है क्योंकि बिना विनायक के युवक हुए उसे अपनी कथा आगे बढ़ती प्रतीत नहीं होती।

उत्सुकता तथा घटनाओं के संयोग का कुशल प्रयोग भट्ट जी ने किया है। देखिए निम्नांकित स्थल पर पाठक की उत्सुकता भी विनायक के साथ बढ़ती जाती है और वह श्वास रोक कर परिणाम की प्रतीक्षा करता है—"यहाँ के वायु में जो जलकणों की ठंढक भर रही थी उससे राह के थके विनायक को अत्यंत सुख मिला। नीचे उतर कर एक छोटे चट्टान पर अपने हथियार रख मुँह हाथ धो पानी पीने लगा। अभी प्यास भर पी न चुका था कि पास ही नीचे जो दूरी थी उसमें उसे शस्त्रों की झनकार सुनाई दी और ऐसा मालूम हुआ कि दो तीन आदमी लड़ रहे हैं। अपनी तलवार भी हाथ में ले विनायक चट उधर दौड़ा पर वह कभी इस जगह पहले आया न था इससे रास्ता तो मालूम था नहीं और इसके अतिरिक्त जहाँ से लड़ाई का शब्द आया था वहाँ पर पहुँचने में फिर भी पाँच चार मिनट लगता इसलिये जब तक में विनायक वहाँ पहुँचे पहुँचे तब तक में शस्त्र की झंकार बंद हो गई और कोई दूसरा शब्द

भी न सुनाई देता था कि जिसके सहारे पर चलकर विनायक कोई बात देखे या तय करे।"[१]

उपन्यास में घटनाओं के संयोग के सौंदर्य से भी भट्ट जी अनभिज्ञ नहीं हैं। इसलिये आहत डाकू सरदार के विषय में वे कोई बात स्वयं नहीं कहते हैं। बल्कि पाठक यह पढ़कर चमत्कृत हो उठता है अरे! यह तो वही डाकू सरदार है। देखिए भट्ट जी के कथा कहने का ढंग :—

"उस समय विनायक से और कुछ तो न बन पड़ा दौड़ गया और थोड़ा पानी लाकर उसके मुँह में छोड़ा, रुधिर की धारा उसके घावों से बराबर बहती जाती थी और बहुत थोड़ी देर का अब वह इस दुनिया में मेहमान मालूम होता था। विनायक ने जो गौर करके देखा तो मालूम हो गया कि यह पुरुष वही डाकुओं का सरदार है जो पन्द्रह वर्ष हुए उसका घर लूटने आए थे।"[२]

उपन्यास का प्रारंभ जितना आकर्षक है समाप्ति उससे भी अधिक चमत्कार पूर्ण है। पाठक यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि उस सच्चरित्र और आदर्श डाकुओं के सरदार को मारने वाले डाकुओं का आखिर क्या हुआ। भट्ट जी आदर्शवादी लेखक ठहरे अतः उन दोनों को बिना दंड दिलवाए उन्हें कैसे संतोष होता? किन्तु दंड देने का ढंग वास्तव में चमत्कारपूर्ण हैं—"प्रातःकाल दो डाकुओं की लाश लोगों ने देखा जो कि कल रात को लड़ाई में मारे गए थे घावों के कारण उनकी सूरत बिगड़ गई थी पर विनायक को ऐसा मालूम होता था कि इन दोनों को किसी समय कहीं उसने देखा था।"[३]

यदि भट्ट जी 'विनायक को ऐसा मालूम हुआ' के स्थान पर 'हमें ऐसा मालूम हुआ' लिख देते तो उपन्यास का सारा सौंदर्य समाप्त हो जाता। इन उदाहरणों से भट्ट जी के कथाकार की पटुता प्रकट होती है।

भट्ट जी प्रभाव वृद्धि के लिये दो ढंग अपनाते हैं एक तो वातावरण का चित्रण दूसरा शकुन की चर्चा। एक उदाहरण लीजिए। विनायक पर आने वाली विपत्ति की भूमिका का आभास पाठकों को बहुत पहले उपन्यास की इन प्रारंभिक पंक्तियों में मिल जाता है :—

"पिंडारियो की लूट मार की दक्षिण में किसी समय बड़ी धूम थी गाँवों का क्या पूछना बडे बड़े नगर और राजधानियाँ भी उनके अत्याचार से न बचे

---

१. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० ४४।
२. ,, ,, ,, पृ० ४५।
३. ,, ,, ,, पृ० ५२।

थे। मुसलमानी और मरहठा राज्य के उथलापथल के कारण वह अंधेर और नबाबी मच रही थी कि राजकीय पुलिस और सैनिक प्रबंध को कौन कहे सामान्य रीति पर भी कोई बचाव जानो माल का न था।"[1]

इसी प्रकार शकुन के द्वारा भावी आशंका की सूचना भट्ट जी देते हैं :—

"विनायक ने ज्योंही ड्यौढ़ी के बाहर पाँव रक्खा त्योंही इनके घर की मजदूरिन पास के झरने से पानी भरने को छूंछा घड़ा लिये घर के बाहर निकली।"[2]

केवल दो बातें ऐसी हैं जिससे भट्ट जी पुराने युग के कथाकार लगते हैं, एक तो वे पाठक से सीधी बात उपन्यास में करते हैं, जैसे—

"पाठकजन आप ही सोच लें और फिर जब ठाकुर का बुलावा आया तो जैसे हर्ष से इनका मनमुकुल विकसित हो एकवारगी खिल उठा इसका पूरा-पूरा अनुभव उन्ही को होगा जिन्हें कभी ऐसी संकीर्णता झेलना पड़ा है या पाठक जन ! इसका अनुमान आप ही कर लीजिए।"[3]

दूसरी बात है उनकी उपदेश देने की प्रवृत्ति जैसे—

"विनायक तुम्हीं क्या बहुतेरे इस संसार में इसी अचरज और दुःख में रहते हैं कि उनके मन की क्यों नहीं होती ? पूर्व जन्म कर्म वासना रूप हो मनुष्य को सब ओर से जकड़े हुए हैं जो उसे एक क्षण भर के लिए भी मुक्त नहीं किया चाहती फिर भी यह जीव स्वयम् प्रभु बन ईश्वर की इच्छा का कायल नहीं हुआ चाहता।"[4]

उस युग में सम्भवतः इस बात की प्रतियोगिता साहित्यकारों में थी कि देखें साहित्य के माध्यम से कौन अधिकाधिक उपदेश देने में सफल होता है ? उस काल के सभी उपन्यासों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

चरित्र चित्रण—इस उपन्यास में केवल एक व्यक्ति का ही चरित्र चित्रण लेखक को अभीष्ट है और वह है विनायक राव। भट्ट जी शब्द चित्र उपस्थित करने में असाधारण रूप से पटु हैं। उनका शब्द चित्र इतना सजीव होता है कि वह पात्र के चरित्र पर भी प्रकाश डालने लगता है। विनायक का भट्ट जी द्वारा प्रस्तुत शब्द चित्र देखिए :—

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० १।**
२. ,, ,, ,, पृ० १५-१६।
३. ,, ,, ,, **पृ० ११।**
४. ,, ,, ,, **पृ० २३।**

"विनायक का वय अभी आठ वर्ष और तीन या चार महीने का होगा पर देखने से छही वर्ष का मालूम होता था क्योंकि उसका दुबला शरीर ऐसा न था कि बाल्यावस्था ही से आगामी युवा अवस्था के सब पूरे लक्षण प्रगट कर सके प्रत्युत इसका डील डौल उन पेड़ों के समान था जो आरम्भ में लगाने वाले को कुछ निराश सा कर देते हैं। यदि ऊँचा और चौड़ा लिलार भाग्य की पहचान है तो खेद के साथ हमें यह अवश्य कहना पड़ेगा कि विनायक के भाग्य में किसी प्रकार का बड़प्पन नही लिखा था।"[1]

विनायक के उपर्युक्त शब्द चित्र से ही स्पष्ट है कि विनायक प्रारंभ से ही दरिद्रता की छाया में पला है। उसके पिता पढ़े लिखे व्यक्ति हैं इसलिये धर्म-निष्ठता, सदाचार, सत्य भाषण, तथा शिष्टता आदि गुण उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही प्राप्त हुए हैं।

बच्चा होते हुए भी विनायक माता-पिता का सच्चा आज्ञाकारी है। इसलिये वह अपने यहाँ आने वाले अतिथियों के प्रति अत्यंत शिष्ट और नम्र है।

विनायक जंगल भ्रमण का आरम्भ से ही शौकीन है। एक बार वह निर्जन जंगल में एक गुफा में उतर गया माँ बड़ी कठिनाई के बाद उसे ढूँढ़ कर लाई और उसे यह कहकर डराया कि इसमें राक्षस रहते हैं तब उसका उस ओर जाना बन्द हुआ।[1]

भट्ट जी के चरित्र चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मनोवैज्ञानिकता है। डाकुओं के आने पर बालक विनायक घर की सब वस्तुयें बड़े उत्साह के साथ दिखाने लगा। भट्ट जी इस मनोवैज्ञानिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

"यह कौन नहीं जानता कि लड़कों को अपना गौरव प्रकट करने में एक प्रकार का घमण्ड होता है यदि उनको कोई ऐसा अवसर मिले जिसमें वे अपने बड़ों का कोई कृत्य प्रकाश कर सकें। यही दशा उस दिन विनायक की थी उसे इस बात का घमण्ड सा हो रहा था कि आप मेरे बाप के मित्रों और नातेदारों की मेहमानी का इन्तज़ाम मुझे सौंपा गया है।

डाकू अतिथियों को घर का सारा सामान दिखाते-दिखाते जब विनायक 'भण्डारे' के पास पहुँचा तो उसका ताला बन्द देख वह खिन्न मन हो गया

---

१. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० १७।
२. ,, ,, ,, पृ० २३।
३. ,, ,, ,, पृ० २५।

क्योंकि चाबी मा के पास थी अतः चीजें दिखाने की उसकी उमङ्ग को सहसा धक्का लगा।[1]

कोठरी में घुसने पर डाकू तो अपने मतलब की चीजें देखते रहे विनायक ने दो बड़े मिट्टी के खिलौने बड़े चाव से उठा लिये। क्योंकि उसकी मा का कहना था कि हनुमान जी की मूर्ति तो बलवृद्धि करती है और दूसरी गाय की मूर्ति उसके विवाह कराने में सहायक होगी।"[2]

इस प्रकार भट्ट जी ने बालक विनायक का चरित्र-चित्रण अत्यंत स्वाभाविक ढंग पर मनोवैज्ञानिकता के साथ किया है। विनायक के चरित्र का विकास उसकी आयु के साथ होना स्वाभाविक ही है ऐसा सोचकर लेखक ने १५ वर्ष की घटनायें छोड़ दी हैं और विनायक को उसकी युवावस्था में एक सच्चरित्र, वीर, और सुशील युवक के रूप में चित्रित किया है। विनायक का बालक रूप पाठक के हृदय पर उसके 'युवक' से अधिक प्रभाव डालता है, इसमें संदेह नहीं।

कथोपकथन :—भट्ट जी ने अपने इस उपन्यास में संवादों का बड़ा ही सार्थक उपयोग किया है। 'नूतन ब्रह्मचारी' के कथोपकथन चरित्र चित्रण में सहायक, घटनाओं को मोड़ देने वाले, घटना क्रम को अक्षुण्ण रखने वाले, पाठक की उत्सुकता में वृद्धि करने वाले अत्यन्त स्वाभाविक, मार्मिक, संक्षिप्त और सशक्त हैं।

आरंभ में डाकू और विनायक की बातचीत, विनायक के चरित्र पर प्रकाश डालती है, वह विनायक को पोठकों के लिये ही प्रिय नहीं बनाती अपितु डाकू राज को भी भावविभोर करने में सफल होती है।[3] अन्त में डाकू और विनायक की बातचीत कथा के विकास की दृष्टि से चरित्र चित्रण और प्रभाव सृष्टि की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। घायल डाकू विनायक को न पहचान कर अपना संदेश विनायक के नाम देना चाहता है। विनायक यह नहीं बताना चाहता कि वास्तव में वही विनायक है लेकिन वार्तालाप की स्वाभाविकता में भेद खुल जाता है :—

डाकू—"गरमी में एक दिन सबेरे तीन डाकू विनायक के घर आए थे उससे कहना कि उसको याद होगा कि"—

"हाँ उसको याद है" जल्दी में विनायक ने कह दिया।

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण,** पृ० ३२।
२. ,, ,, ,, पृ० ३३।
३. ,, ,, ,, पृ० २८।

सरदार कुछ चौंक सा पड़ा—"तुमको कैसे मालूम है कि याद है।"[१] इस प्रकार इस उपन्यास के कथोपकथन उपन्यास की स्वाभाविकता तथा प्रभाव वृद्धि में अत्यंत सहायक हैं।

देशकाल :—'पिण्डारियों के लूटमार की दक्षिण में जब धूम थी' के द्वारा भट्ट जी देशकाल का निर्देश करते हैं और विट्ठलराव के वंश द्वारा उसके मराठे होने का संकेत भी कर देते हैं—"पहनावा विट्ठलराव का छज्जेदार मरहठी पगड़ी, घुटने तक का चोलीदार छोटा अंगा था, किनारेदार एक मोटी धोती पहने थे और चौड़े किनारे का एक नागपुरी उपरना ओढ़े थे।"[२] विट्ठलराव जाति के ब्राह्मण हैं और गढ़ी वाले ठाकुर हैं इसलिये हिन्दू होने की बात भी इससे स्पष्ट हो जाती है। यज्ञोपवीत संस्कार आदि की चर्चा भी इस ओर संकेत करती है। लूटमार का वातावरण था यह कथा के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। हिन्दू संस्कृति के अनुसार ब्राह्मण के सच्चरित्र होने के लिये वातावरण अपेक्षाकृत अनुकूल रहता है इसलिये भट्ट जी ने उपन्यास का नायक एक सच्चरित्र ब्राह्मण बालक ही रखा है। इस प्रकार देशकाल का सजीव चित्रण इसमें हमें मिलता है।

शैली :—उपन्यास अन्य चरित शैली में लिखा गया है। जहाँ जहाँ प्रकृति चित्रण लेखक ने किया है वहाँ शैली संस्कृत निष्ठ है जैसे—"शिखर इस पहाड़ी का इस कारण मानो सुवर्ण रंजित सा हो रहा था ऐसा ज्ञात होता था कि नीचे की वन भूमि से शोभा समिट कर इसी एक शिखर पर पुंजित सी हो रही है इतना सुन्दर वह नीचे से लगता था यद्यपि जाड़े का अवसान था तथापि अभी से हवा में कुछ-कुछ ठंडक आ चली थी।"[३]

भट्ट जी ने चित्र खड़ा करने के लिये कहीं-कहीं उपमा रूपक आदि का प्रयोग किया है—"विनायक घर में घुसा तो बाहर आने की हिम्मत न पड़ती थी वरन् जैसे खरहा शिकारी जानवरों के डर के मारे अपनी माँद में दबका बैठा रहे वैसे सबसे भीतर की कोठरी में चुप्पी साधे विनायक बैठा था। और सहम जाने की बड़ी शिला उसकी छाती को दबाए थी।"[४]

शब्द चित्र खींचने की भट्ट जी की भाषा में अद्भुत सामर्थ्य है जो उपन्यास

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण,** पृ० ४८।
२. ,, ,, ,, पृ० ८।
३. ,, ,, ,, पृ० ४३।
४. ,, ,, ,, पृ० ३७-३८।

की सफलता के लिये सबसे अधिक आवश्यक है। एक चित्र लीजिए :—"विनायक स्तब्ध और मुग्ध सा हो गया मानो पृथ्वी में उसे किसी ने ठोक दिया हो, हिलने डोलने की शक्ति भी उसके बदन में न रह गई, हाथ पाँव काँपने लगे, ब्रह्मचर्य का कमण्डल हाथ से गिर पड़ा, जनेऊ भी न सँभल सका, ढीला होकर कमर के नीचे आगया, सितली छूट आई पसीना बहने लगा त्रिपुण्ड के बीच-बीच प्रस्वेद विन्दु मोतियों की लड़ी से सोहने लगे मानो पत्थर का हो जहाँ का तहाँ खड़ा खड़ा उन डाकुओं को निहारता रह गया।"[1]

उद्देश्य—विट्ठलराव द्वारा विनायक राव को दी गई शिक्षा के निम्नांकित वाक्यों को हम सरलता के साथ इस उपन्यास की मूल चेतना कह सकते हैं। "बेटा तुमने बहुत अच्छा किया चाहे अपने जान पहचान का आदमी हो या अनजान हो जो अपने घर आवे वह अतिथि कहलाता है उसकी जहाँ तक बन पड़े सेवा करे। सुशीलता और शिष्टाचार इसी का नाम है और जो आज तुमने बिना जाने किया उसे सदा किया करना। बेटा! जो अपने साथ बुराई करे उसके साथ भी भला करना वरन् दुर्जन और दुष्ट मनुष्य जिनका स्वभाव ही दूसरे की बुराई और हानि करने का है उनका मन भी बुराई की ओर से फेर देने का यही एक उपाय है कि सदा उनके साथ शुद्ध भलाई का बर्ताव करे और उनकी बुराई को अपनी भलाई से दबा कर उनका मन अपने वश में करले।"[2]

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भट्ट जी ने इस उपन्यास की कथावस्तु गढ़ी है और कथा द्वारा उसे सहज ढंग पर व्यक्त करने में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

यद्यपि 'नूतन ब्रह्मचारी' हिन्दी उपन्यास के आदि युग की रचना है तथापि आज की आधुनिकतम कसौटी पर भी वह खरी उतरती है यदि हम उसमें से भट्ट जी की पाठकों के साथ सीधी वार्ता, उपदेशात्मक श्लोक, तथा उपदेश की प्रत्यक्ष प्रणाली के कुछ उदाहरण निकालदें तो वह सभी अर्थों में उत्कृष्ट आधुनिक कृति का रूप ग्रहण कर लेगी।

'सौ अजान और एक सुजान'

पं० बालकृष्ण भट्ट का यह दूसरा उपन्यास है जो पुस्तकाकार उपलब्ध है। अगस्त १८६० में इसका धारावाहिक प्रकाशन 'हिन्दी प्रदीप' में आरम्भ हुआ था। भट्ट जी ने उपन्यास का प्रारम्भ निम्नांकित दोहे से किया है जो उसकी विषय वस्तु की ओर इंगित करता है :—

---

१. **नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, तृतीय संस्करण, पृ० ३६।**

२. ,, ,, ,, पृ० ४०-४१।

खोटे को संग साथ, हे मन तज्यौ अंगार ज्यों
तातो जारै हाथ, सीतल हू कारो करे।

कथावस्तु—'सौ अजान और एक सुजान' की कथावस्तु अत्यन्त साधारण है। अवध प्रान्तान्तर्गत गोमती के किनारे अनंतपुर नामक गाँव में एक सेठ हीराचंद रहते हैं। हीराचंद सद्गुणों के भंडार हैं। उनके एक ही पुत्र रूपचन्द नामक उत्पन्न होता है किन्तु गुणों में वह हीराचन्द का प्रतिनिधित्व नहीं करता और उसकी मृत्यु भी युवावस्था में ही हो जाती है। रूपचंद अपने पीछे ऋद्धिनाथ और निधिनाथ नामक दो बच्चे छोड़ जाता है। सेठ हीराचंद उनका पालन पोषण करते हैं। सेठ जी के एक परम मित्र विद्वान् शिरोमणि मिश्र हैं जो उसी गाँव में अध्यापन का कार्य स्वतंत्र रूप से करते हैं। उन्हीं का एक शिष्य चन्द्रशेखर नामक है जो असाधारण रूप से प्रतिभाशाली और सच्चरित्र है। सेठ हीराचंद इसी युवक को अपने पौत्रों को घर पर शिक्षा देने के लिए नियत करते हैं। जब तक ऋद्धिनाथ निधिनाथ छोटे रहते हैं तब तक तो वे चन्द्रशेखर के उपदेशों में रुचि लेते हैं किन्तु युवावस्था के आगमन और सेठ हीराचंद के इस लोक से विदा होते ही उनकी अतृप्त कामनायें अपनी तृप्ति के मार्ग ढूँढ़ने लगती हैं। नन्ददास, बुद्धदास, बसंता आदि दुष्ट लोग इन नवयुवकों को अपने प्रभाव में कर उन्हें पथ भ्रष्ट कर देते हैं। चन्द्रशेखर के उपदेश कोई काम नहीं करते और दोनों भाई विषय वासनाओं की पूर्ति में लिप्त हो जाते हैं। बाहर से नित्य नई वेश्यायें लाई जाती हैं; सुरापान और द्यूत क्रीड़ा का बोलबाला रहता है। बड़ा लड़का बीच में कुछ थोड़े दिन के लिए सँभलता है फिर बिगड़ जाता है और अंत में उनका रोग असाध्य हो जाता है। बच्चों की माता रमा यह दृश्य देखकर अत्यन्त दुखी रहती है क्योंकि अपनी युवती वधुओं के कष्ट उसके हृदय को और भी वेदना देते हैं। कई बार तो इन सेठ पुत्रों को पुलिस पकड़ने के लिये आ जाती है किन्तु चन्द्रशेखर इनकी रक्षा करता है। अंत में अपने चरित्रवान् मित्र पंचानन की सहायता से चन्द्रशेखर इनका उद्धार करने में सफल होता हैं। सेठ धनदास के मर जाने के बाद उसकी सम्पत्ति के झूठे दस्तावेज नंददास, बुद्धदास की सहायता से तैयार करता है उसी मामले में उसे और बुद्धदास को न्यायालय से दंड के रूप में क्रमशः ७ और १० वर्ष का सपरिश्रम कारावास होता है। इन दुष्टों के हटने पर सेठ हीराचंद का परिवार फिर वैसा ही सुख और धन से सम्पन्न हो जाता है जैसा पहले था।"

संक्षेप में यही इस उपन्यास की कथा है।

इस उपन्यास से लगभग चार वर्ष पूर्व भट्ट जी 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास

लिख चुके थे जो उपन्यास कला की दृष्टि से इससे कहीं उत्कृष्ट उपन्यास है। 'सौ अजान और एक सुजान' कथा के गठन तथा रोचकता आदि गुणों में नूतन ब्रह्मचारी को नहीं पाता। इसकी कथावस्तु अत्यन्त शिथिल हो गई है और उपदेशाधिक्य ने उसे और भी नीरस कर दिया है। औपन्यासिक कला के जो अंकुर नूतन ब्रह्मचारी में देखने को मिलते हैं वे विकसित होने के स्थान पर इसमें कुम्हलाए प्रतीत होते हैं। इस उपन्यास में भट्ट जी की पाठक से बात करने की प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत बढ़ गई है, पृ० ३६, ४१, ४५, ५८, ५६, ६६, ७८, ६२, ११३, आदि में अनेक स्थलों पर वे पाठक से बात करने में कथा का सौंदर्य नष्ट कर देते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस उपन्यास में वे सभी दोष हमें मिलते हैं जिनके लिये भट्ट जी 'परीक्षागुरू' उपन्यास की कड़ी आलोचना बहुत पहले ही कर चुके थे।[1] कहीं-कहीं तो उनकी यह बातचीत हास्यास्पद तक हो जाती हैं जहाँ वे उपन्यास रचना के सिद्धान्तों तक की बातें पाठक से करने लगते हैं जैसे :—

"ऐसे दोपहर के समय यह क्यों घर से निकला और क्या इसका मनसूबा था इसका रहस्य जानने को कौन न उकताता होगा, किन्तु सहसा किसी रहस्य का उद्घाटन उपन्यास लेखकों की रीति के विरुद्ध है इससे इस प्रस्ताव को यहीं समाप्त करते हैं।"[2]

और भट्ट जी इस उपन्यास में बार-बार पाठकों को कुछ पात्रों को पहचान लेने के लिए कहते हैं जैसे यदि वे यह बात न कहें तो पाठक कुछ याद रखेगा ही नहीं। भूतनाथ १८ भागों में यदि उसका लेखक पाठक को पिछली घटना या किसी पात्र का स्मरण कराने लगे तो वह क्षम्य भी है पर इतने छोटे उपन्यास में तो यह हास्यास्पद लगता है. एक उदाहरण लीजिए :—

"पाठक आप बसंता से भरपूर परिचय कर रखिए अभी आपको इससे बहुत काम पड़ना है क्योंकि हमारे इस किस्से के कई एक नायक प्रतिनायकों में चंदू का प्रतिनायक यही होता रहेगा। चंदू सा सुपात्र भला मानस और बसंता के समान नटखट कुपात्र कहीं विरले पाओगे।"[3]

कथा का विकास भी इस उपन्यास में स्वाभाविक रीति पर नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि कहावतों और श्लोकों के आधार पर एक कथा लिखने का

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८२, पृ० १८-१६।

२. सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवां संस्करण, पृ० ३६।

३. ,, ,, ,, पृ० ३५।

प्रयास भट्ट जी कर रहे हैं। कहीं कहीं यह देखकर दुख होता है कि इन श्लोकों और कहावतों से भट्ट जी बिना किसी विशेष कारण के कथा की धारा ही मोड़ देते हैं। उदाहरण के लिये 'संगत ही गुन ऊपजै संगत ही गुन जाय'[1] कहावत को सत्य सिद्ध करने के लिये वे सेठ के बड़े लड़के को चन्द्रशेखर के उपदेश के द्वारा सुधरा हुआ और तुरन्त बाद ही बसंता की संगति के कारण पुनः भ्रष्ट दिखाते हैं। जो इतना आकस्मिक तथा अमनोवैज्ञानिक होने के कारण हास्यास्पद तक हो जाता है।

स्थान-स्थान पर भट्ट जी स्वयं उपदेश कथन करने लगते हैं जिससे कथा की धारा छिन्न भिन्न होकर अत्यन्त अगम्भीर हो उठती है जैसे :—

"अफसोस ! यदि समस्त ब्रह्म मंडली या उनमें से अधिकांश चंदू के समान उन उन सुलक्षणों से सुशोभित होते तो इस नई रोशनी के जमाने में भी इनके विरुद्ध मुँह खोलने को किसी की हिम्मत न पड़ती और न ये सर्वथा पतित हो ऐसी गिरी दशा में आ जाते।"[2] ऐसे भट्ट जी के निष्कर्ष यदि दो चार स्थानों पर ही होते तो कोई बात नहीं थी परन्तु ये तो प्रत्येक पृष्ठ पर कई बार पाठक को पढ़ने पड़ते हैं।

औपन्यासिक कला की दृष्टि से 'सौ अजान और एक सुजान' तक आने में भट्ट जी ने कोई प्रगति नहीं की है अपितु वे पीछे ही लौटे हैं क्योंकि 'नूतन ब्रह्मचारी' में ये दोष इसकी तुलना में न के बराबर है। हाँ उपदेशाधिक्य को यदि उपन्यास की उत्कृष्टता की कसौटी मान लिया जाय तो अवश्य उन्होंने प्रगति की है।

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि 'नूतन ब्रह्मचारी' की तुलना में प्रस्तुत उपन्यास में कहने योग्य कुछ हो ही नहीं। इस उपन्यास में पात्रों के शब्द चित्र प्रस्तुत करने, वातावरण को घनीभूत और प्रभावशाली बनाने में, तथा पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग द्वारा स्वाभाविकता की सृष्टि में वे निस्सन्देह अपने पिछले उपन्यास से आगे बढ़े हैं। वातावरण सृष्टि का एक उदाहरण लीजिए जो पाठक के समक्ष पूरे कार्य व्यापार का सजीव चित्र उपस्थित कर देती है :—

"एक तो अत्यन्त दण्डायमान दिन उसमें ललाटतप चंडांशु के प्रचण्ड आतप के ताप से संतप्त शीतलच्छाया का सहारा लिए यह जङ्गम जगत भी स्थिर भाव

---

१. सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ६२।

२. " " " पृ० २४।

धारण कर मौन अवस्था में दुखदायी ग्रीष्म के उच्चाटन का मानो मन्त्र सा जप रहा है। जङ्गम जगत की इस मौन दशा में कभी कभी पुराने खण्डहरों पर बैठी चील का भयङ्कर किकियाना जो कानों को व्यथा पहुँचा रहा है, सो मानो बीच बीच उस उच्चाटन मन्त्र की सुमिरनी पूरी होने का पता देता है। प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ घर घर सब लोग भोजन के उपरान्त विश्राम सुख का अनुभव कर रहे हैं, नींद आ जाने पर पङ्खा हाथ से छूट गया है खुर्राटे भरने लगे हैं। स्त्रियाँ गृहस्थी के काम काज से छुटकारा पाय दुधमुँहे बालकों को खिला रही हैं। कोई कोई बालक बालिकाओं को इकट्ठा कर उनके रिझाने की कहानियाँ कह रही हैं। कोई कोई रूपगर्विता बार-बार दर्पन में मुख देख वेशभूषा की सजावट कर रही हैं। कोई कोई बड़ी जंगरैतिन गृहस्थी का सब काम शेष होते देख जेठ के दीर्घ दोपहर की ऊब दूर करने को सूप की फटकार से अपने परोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही हैं। हवा के साथ लड़ने वाली कोई कर्कशा न लड़ेगी तो खाया हुआ अन्न कैसे पचेगा यह सोच अपने परोसियों पर बाण से तीखे और रूखे वचनों की वर्षा कर रही है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भट्ट जी को वह सूक्ष्म निरीक्षण प्राप्त था जो एक सफल उपन्यासकार के लिए आवश्यक है और सबसे महत्व की बात तो उस निरीक्षण की व्यंजक भाषा में अभिव्यक्ति है जिसमें भट्ट जी अद्वितीय हैं।

भट्ट जी के इसी प्रकार के वर्णन इस उपन्यास में कथावस्तु की नीरसता और अरोचकता दूर करते हैं। फिर भी कथावस्तु शिथिल है उसका स्वाभाविक विकास नहीं हुआ हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है।

पात्र या चरित्र चित्रण— कहने भर के लिए तो इस उपन्यास में निम्नांकित पात्र हैं—सेठ हीराचन्द, रूपचन्द, ऋद्धिनाथ, निधिनाथ, रमा, शिरोमणि मिश्र, चन्द्रशेखर, पञ्चानन, नन्ददास, बसन्ता, बुद्धदास, धनदास, बुद्धू पाण्डे, तथा हुमा वेश्या किन्तु वास्तव में इनमें से चन्द्रशेखर को छोड़कर सब अजान और दुष्ट हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भट्ट जी स्वयम् चन्द्रशेखर को ही सर्वाधिक महत्व पूर्ण बताते हैं—"इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चन्दू था।"[2]

पात्रों के चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी यह उपन्यास भट्ट जी के इससे पहले उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' से आगे नहीं बढ़ा। कितने ही चरित्र तो ऐसे हैं

---

१. सौ अजान एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ सं०, पृ० ३१-३२।

२. ” ” ” **पृ० १२३।**

जिनके न होने से भी काम चल जाता जो उपन्यास में बहुत थोड़ी देर दिखाई देते हैं और फिर समाप्त हो जाते हैं जैसे :—सेठ हीराचन्द, रूपचन्द, शिरोमणि मिश्र, धनदास आदि। इस उपन्यास में भट्ट जी ने चरित्र चित्रण में घटनाओं से योग नहीं लिया अधिकांश पात्रों के चरित्र का उन्होंने कथन कर दिया है घटनाओं द्वारा उनकी व्यंजना नहीं की। कहीं कहीं तो भट्ट जी अच्छे पात्रों के साथ अच्छे और बुरे पात्रों के साथ बुरे विशेषण लगाकर स्वयम् बोलने लगते हैं जैसे बसन्ता नामक पात्र के विषय में भट्ट जी की शब्दावली देखिए :–

"यह निश्चय जान रखिए कि चन्दू सरीखे बुद्धिमानों के सदुपदेश के अंकुर का बीजमार करने वाला अकालजलदोदय के समान यही मनुष्य था। यद्यपि अनन्तपुर में सेठ के घराने से इस कदर्य का पुराना सम्बन्ध था किंतु सेठ हीरा-चंद के जीते जी इसका केवल आना जाना मात्र था।"[1]

इसी प्रकार एक पात्र रघुनन्दन के विषय में भट्ट जी की शब्दावली देखिये :–

"रग्घू जाति का ब्राह्मण था पर कदर्यता में अत्यन्त पामर महाशूद्र से भी गया बीता था। केवल नामधारी ब्राह्मण था।"[2]

इसी प्रकार किसी अच्छे पात्र के लिए भट्ट जी जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह प्रायः स्तुति के निकट पहुँच जाती है। जैसे शिरोमणि मिश्र के विषय में वे लिखते हैं :—"नाम इनका शिरोमणि मिश्र था। गुण में भी ये वैसे ही विद्वन्मडली मण्डन शिरोमणि के समान थे। अध्यापकी के काम में दूर-दूर कालाक्षरी के नाम से प्रसिद्ध थे।.........स्वभाव के अत्यन्त गम्भीर और देखने में साक्षात् गणेश की मूर्ति मालूम होते थे। इनका चौड़ा लिलार और दमकती हुई मुख की द्युति दामिनी की दमक के समान देखने वाले के नेत्र को मानो चकाचौंध सी उपजाती थी। प्रातःकाल के समान जब त्रिपुण्ड और रुद्राक्ष धारण किये कोड़ियों विद्यार्थी अपना अपना आसन बिछाय संथा लेने को इनकी गद्दी के चारों ओर घेर कर बैठ जाते थे उस समय यह मालूम होता था मानो ऋषि मण्डली के बीच पद्मासन पर ब्रह्मा विराजमान हों उस समय देखने वाले के चित्त में यही भासती थी कि धन्य है इन विद्यार्थियों को जो प्रतिदिन प्रतिक्षण इनके दरस परस से अपना जन्म सफल करते हैं। सरस्वती भी धन्य है जो इनके मुख कमल के सम्पर्क का सुखानुभव करती हुई ऐसे महात्मा के प्रसन्न, गम्भीर और विमल मन मानस में राजहंसी के समान वास करती है।"[3]

---

१. **सौ अजान एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ३३।**
२. ,, ,, ,, ,, **पृ० ५७।**
३. ,, ,, ,, ,, **पृ० १७-१९।**

यदि किसी चरित्र के विषय में लेखक स्वयं इतनी बातें कह देगा तो फिर चरित्र चित्रण के लिए शेष क्या रह जायगा। 'सौ अजान एक सुजान' में पात्रों के दो वर्ग हैं, (१) देवता वर्ग, (२) राक्षस वर्ग। जो पात्र श्रेष्ठ हैं वे शिरोमणि मिश्र के समान इतने श्रेष्ठ हैं कि देवता भी उनके सामने तुच्छ हैं और जो पात्र नीच हैं वे राक्षसों से भी अधिक नीच हैं। भट्ट जी के पात्रों में मानव श्रेणी दिखाई नहीं देती जो अच्छाइयों-बुराइयों से युक्त हो। उनके बुरे पात्र भी अच्छे होकर उसी देवता श्रेणी में चले जाते हैं।

ऋद्धिनाथ निधिनाथ :—जब तक छोटे थे अत्यन्त शीलवान, शिष्ट, आज्ञाकारी और भद्र थे।[1] अपने गुरु चन्द्रशेखर की आज्ञा मानकर सदैव चलते थे। किन्तु युवक होने पर वे बिना किसी विशेष कारण के पतित और भ्रष्ट हो गए।[2] भट्ट जी ने केवल इतना कारण इनके भ्रष्ट होने का दिया है—"इस तरह वहाँ अजान लोगों का दल इकट्ठा होते देख और इन दोनों के कुढंग और कुचाल की बढ़ती देख चंदू सा सुजान अचानक अंतर्द्धान हो गया।[3]

और अन्त में ये दोनों अचानक सुधर गए। कारण भट्ट जी के शब्दों में केवल इतना था—"नंदू का बुरा परिणाम देख इन बाबुओं को कुछ ऐसा भय सा समा गया कि उसी दिन से इन्हें चेत हो आई।"[4]

भट्ट जी ने दोनों सेठ पुत्रों का व्यक्तित्व बिलकुल नहीं उभारा। अच्छे रहे, फिर बुरे हो गए, कोई मानसिक द्वंद नहीं, कोई उलझन नहीं। 'नूतन ब्रह्मचारी' के पात्र मनोविज्ञान के जितने निकट होकर चलते हैं उसकी तुलना में इस उपन्यास के पात्रों की उससे दूरी बहुत अधिक हो गई है।

चन्द्रशेखर—चन्द्रशेखर सज्जन व्यक्ति के ही रूप में उत्पन्न हुआ अन्त तक वह सर्वश्रेष्ठ पात्र के रूप में दिखाई देता है। भट्ट जी को इस उपन्यास में ऐसे पात्र की अतीव आवश्यकता थी यही इस उपन्यास का एक सुजान है। शिरोमणि मिश्र के रहते ऐसे सुजान दो हो जाते इसलिए सम्भवतः भट्ट जी ने मिश्र जी को अधिक दिन जीने की आज्ञा नहीं दी। भट्ट जी ने एक स्थान पर स्पष्ट लिख भी दिया है :—"यह पण्डित जी का पट्ट शिष्य था और उनके पढ़ाए

---

१. **सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ संस्करण,** पृ० २२-२३।
२. ,, ,, ,, पृ० २६।
३. ,, ,, ,, पृ० २६।
४. ,, ,, ,, पृ० २२२।

हुए विद्यार्थियों में सबसे चढ़ा बढ़ा था, बल्कि शिरोमणि महाराज के सब उत्तम गुण इसमें देखे गए ।"[५]

पंचानन——इस पात्र की भरती भट्ट जी ने केवल इसलिए की है क्योंकि इस व्यक्ति के द्वारा उन्हें सेठ पुत्रों के लिये कानूनी सहायता की आवश्यकता थी और उनका सर्वज्ञान सम्पन्न पात्र चन्द्रशेखर इस ज्ञान की दिशा से अनभिज्ञ था । भट्ट जी ने निस्संकोच कह भी दिया है :—

अब और एक नए आदमी का परिचय यहाँ पर देना मुनासिब जान पड़ता है क्योंकि ऐसे दो एक और लोगों का बिना भरती किए हमारे कथानक की शृंखला न जुड़ेगी ।[१] यह मनुष्य चाल चलन का किसी तरह बुरा न था बल्कि चंदू सरीखे शुद्ध चरित्र की मैत्री के भरपूर लायक था और कसौटी के समय चाल चलन की शिष्टता भी इसमें चंदू ही के टक्कर की थी ।[२]

पात्रों के चरित्र की दृष्टि से भट्ट जी की औपन्यासिक कला इसमें ह्रासोन्मुख दिखाई देती है । किन्तु भाषा के सम्राट भट्ट जी अपनी सब कमियां अपने असाधारण भाषाधिकार से पूरी कर देते हैं । इस उपन्यास में कुछ शब्द चित्र तो इतने उत्कृष्ट हैं कि प्रेमचन्द जी भी सम्भवतः उनसे अच्छे शब्द चित्र हिन्दी को नहीं दे सके । बसन्तराम नामक पात्र का शब्द चित्र लीजिए :——'नाक घसड़ी, होठ मोटे, आँखें घुच्चू सी माथा बीच में गड्ढेदार, चेहरा गोल, रङ्ग काला मानो अंजन गिरि का एक टुकड़ा हो ।'[३]

इसी प्रकार पंचानन का शब्द चित्र देखिए : —

"बड़ी लम्बी नाक, नीचे को झुके हुए छोटे छोटे मोछे, पस्तक़द पेट के ऊपर दोनों गड्ढेदार छाती जैसा किसी गहरी नदी के ऊपर आगे की ओर झुका हुआ कगारा हो ।[४]

यदि भट्ट जी वर्णनात्मकता से हटकर शब्द चित्र का व्यंग्यपूर्ण मार्ग अपनाते तो उनके उपन्यासों का रूप ही दूसरा होता ।

कथोपकथन——यद्यपि सर्वत्र तो इस उपन्यास में कथोपकथन प्रशंसनीय नहीं हैं परन्तु इस दिशा में 'नूतन ब्रह्मचारी' की तुलना में भट्ट जी ने निश्चित

---

१. **सौ अजान और एक सुजान** बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० २२-२३ ।
२. ,, ,, ,, पृ० ६२ ।
३. ,, ,, ,, पृ० ६२-६३ ।
४. ,, ,, ,, पृ० ३४ ।
५. ,, ,, ,, पृ० ६५ ।

रूप से प्रगति की है। पात्रानुकूल भाषा बुलवाने वाले हिन्दी कथा साहित्य में भट्टजी सम्भवतः पहले व्यक्ति हैं। डा० रामबिलास शर्मा ने इस उपन्यास की इस विशेषता के विषय में लिखा है :—

'यथार्थ चित्रण की ओर इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गई है। नौकर दासी चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में पढ़े लिखे बाबू लोगों की भाषा में अंग्रेजी का भी पुट रहता है 'मैं आप लोगों के प्रपोजल को सैकिण्ड करता हूँ', इत्यादि। कहीं कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वत: और प्रकाश दोनों प्रकार से बातचीत करते हैं।

कहीं-कहीं तो भट्ट जी के पात्र आपस में पहेलियाँ बुझाने लगते हैं जैसे चंदू और पंचानन का वार्तालाप।[2] वैसे पृष्ठ ४३,८९ तथा १०३ पर पात्रों की वार्ता प्राय: नीरस है। इस उपन्यास में भट्ट जी के कथोपकथन चरित्र चित्रण में अधिक सहायता नहीं देते जैसे 'नूतन ब्रह्मचारी' में फिर भी समग्रता की दृष्टि से वे किसी सीमा तक संतोषजनक हैं।

देशकाल—अवध प्रान्तान्तर्गत गोमती के किनारे अनंतपुर नामक गांव उपन्यास की घटनाओं का केन्द्र है। निम्न पात्रों की अवधी भाषा से भी यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है।[3]

उपन्यास का काल भट्ट जी का जीवन काल ही है या कह सकते हैं कि जिस सन् में वह लिखा गया उसी काल का चित्र इसमें हमें मिलता है। 'हिन्दी प्रदीप' के प्राय: प्रत्येक अङ्क में भट्ट जी पुलिस के भ्रष्टाचार तथा अन्याय के विषय में लिखा करते थे इस उपन्यास में पुलिस के इसी रूप का उद्घाटन उन्होंने किया है। दरोगा जी का चिंतन देखिए :—मुझे मालूम है जिन लोगों का यह काम है। पता भी मैंने लगा लिया है पर मरजूद बड़ा कज़्ज़ाक काइयाँ है, एक झंझी नहीं गलाना चाहता और बातों ही बातों में काम निकालना चाहता है। मैंने सोच रक्खा है आधे पर मामला तय करेगा तो खैर बहतर नहीं बचा कुल से हाथ धो बैठेंगे। ५०० रुपया रोज पैदा किए बिना दातून करना हराम है। अच्छा फिर हमारा गुजारा भी तो किसी तरह होना चाहिए।

---

१. **भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२६-२७।**

२. **सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ११४-१५।**

३. ,, ,, ,, **पृ० ९१।**

बड़े बड़े नबाबों का जो खर्च न होगा वह हम अपने जिम्मे बाँधे हैं १० रु० रोज बी बन्नी को जरूर ही चाहिए, किले सी बड़ी भारी इमारत जुदा छेड़े हुए हैं, जिसमें लक्खों रुपये सोख गए।……आखिर अल्लाह ताला को हमारी भी तो फिकर है रोज नया शिकार न भेजे तो इतना बड़ा अटाला कैसे पार हो।"[1]

यह उपन्यास तत्कालीन समाज का वास्तविक रूप प्रस्तुत करता है। धन-सम्पन्न वर्ग में व्याप्त कुरीतियां वेश्यागामित्व, द्यूत क्रीड़ा, मदिरापान आदि का यह उद्घाटन करता है। डा० रामबिलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है :—

"भट्ट जी ने अपने उपन्यास को देशकाल की सीमाओं में मजबूती से बांधा है। उन्होंने पृष्ठ भूमि के चित्रण के लिये अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है। यह उस समय के लिये नई बात थी। प्रकृति वर्णन में आलंकारिकता होते हुए भी यथार्थवाद की ओर रुझान है।"[2]

शैली—यह उपन्यास अन्य चरित शैली में लिखा गया है। 'नूतन ब्रह्मचारी' की भांति इस उपन्यास में भी जहाँ-जहाँ प्रकृति वर्णन लेखक ने किया है भाषा अधिक संस्कृत निष्ठ हो गई है। जैसे—ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है—"जिसे छुओ वही अंगारे सा गरम बोध होता है मानो त्वगिंद्रिय शीतस्पर्श से निराश हो जल में शैत्य गुण का निर्देश करने वाले (शीतस्पर्शवत्यापः) कणाद महामुनि की बुद्धि का भ्रम मान बैठी है। एक तो अत्यंत दंडायमान दिन उसमें ललाटतप चंडांशु के प्रचंड आतप के ताप से संतप्त शीतलच्छाया का सहारा लिये यह जंगम जगत भी स्थिर भाव धारण कर, मौन अवस्था में दुःखदायी ग्रीष्म के उच्चाटन का मानो मंत्र सा जप रहा है।[3]

कहीं-कहीं भाषा के द्वारा विनोद की सृष्टि करने के लिये इस प्रकार की भाषा का प्रयोग भी किया गया है :—"दोनों मिलकर आवारगी में औवल दरजे की सार्टीफिकेट के बड़े उत्साही केंडीडेट हो गए।"[4]

भाषा में उर्दू का पुट कहीं कहीं अधिक हो गया है—"नंदू मालामाल हो

---

१. **सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवां संस्करण, पृ० १०७।**

२. **भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२७।**

३. **सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवां संस्करण, पृ० ३१।**

४. ,, ,, ,, **पृ० ७०।**

गया क्योंकि हुमा की फरमाइशें इसी के जरिए मुहय्या की जाती थीं, और वहाँ का कुल हिसाब किताब इसी के सुपुर्द था।"[1]

कहावतों और मुहावरों का लेखक ने अत्यधिक उपयोग अपनी भाषा में किया है। भाषा कहीं-कहीं बड़ी चित्रात्मक है और पाठक के नेत्रों के समक्ष वातावरण का सजीव चित्र उपस्थित कर देती है।[2]

उपन्यास की कुरूपता ढकने उसे रोचक और आकर्षक बनाने का अस्सी प्रतिशत श्रेय इसकी भाषा शैली को ही है।

उद्देश्य—उपन्यास की मुख्य चेतना अजान को सुजान बनाना है। लेखक ने अपने शब्दों में ही अपना यह उद्देश्य प्रकट कर दिया है। अंत को हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हों तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ आशा करते हैं, सुजान बनें। इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंदू था, और आप लोगों को यह उपन्यास होगा।"[3]

बुद्धि की अपरिपक्वता एवं कुसंगति के कारण भले लोग भी अनेक बार पथ भ्रष्ट हो जाते हैं उनको मार्ग पर लाने का एक मात्र ढंग सुसंगति है। सज्जन मित्र एक अच्छा और दुर्जन मित्र सौ भी बुरे यही इस उपन्यास का संदेश है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही एक दोहे के द्वारा लेखक ने इसे पहले ही स्पष्ट कर दिया है :—

खोटे को संग साथ है मन तजौ अंगार ज्यों।
तातो जारै हाथ, सीतल हू कारो करै॥

रहस्य कथा उपन्यास :—

वास्तव में यह उपन्यास भट्ट जी का सर्वप्रथम उपन्यास है। नवम्बर सन् १८७९ के 'हिन्दी प्रदीप' से इसका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था। लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरू' उपन्यास सन् १८८२ में प्रकाशित हुआ था और आज यही हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। तिथि की दृष्टि से यह गौरव भट्ट जी को मिलना चाहिए। रहस्य कथा उपन्यास उनके १०० अजान और एक सुजान उपन्यास की भाँति सामाजिक उपन्यास है और यह भी विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि १०० अजान और एक सुजान की कथा का बीज इस उपन्यास में निहित है दोनों उपन्यासों की कथा वस्तु में ही नहीं अपितु उनमें विचित्र विभिन्न परिस्थितियों, पात्रों, तथा भाषा तक में भारी समानता है।

---

१. **सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवां संस्करण,** पृ० ७१।
२. " " " पृ० ३१-३२।
३. " " " पृ० १३२।

यह बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि 'रहस्य कथा उयन्यास' अधूरा ही मिलता है। यद्यपि मई सन् १८८२ में भट्ट जी पाठकों को आश्वासन देते हैं कि...."किसी कारण से इस किस्से का छापना इतने दिनों से बन्द था जब इसे फिर शुरू करते हैं। हमारे पाठकों को चाहिए पुराना नम्बर निकाल इस्की सब शृंखला बैठाय कर तब पढ़ें।'[1] परन्तु इसके पश्चात् इसका प्रकाशित होना अचानक बन्द हो गया और फिर 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में यह कभी प्रकाशित नहीं हुआ। यद्यपि यह उपन्यास अपने अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध है किन्तु कथा के विकास और रोचकता की दृष्टि से यह सौ अजान और एक सुजान उपन्यास से उत्कृष्ट है।

कथावस्तु—भट्ट जी ने 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास में धनी व्यापारी वर्ग का चित्र उपस्थित किया है तो इसमें उन्होंने बड़े जमीदारों के जीवन व्यापार को प्रस्तुत किया है। संक्षेप में कथा यों है—अवध प्रान्त में मोहनपुर की प्रसिद्ध जागीर के अधिकारी प्रसिद्ध क्षत्रिय सोहनसिंह थे। उनके उत्तराधिकारी वृषभानसिंह तथा भानुमानसिंह हुए जागीर दोनों में बँट गई। वृषभानसिंह के दो पुत्र थे बड़ा धनुषधारी छोटा तिलकधारी। भानुमानसिंह के कोई पुत्र न था। धनुषधारी बड़ा कुटिल, धूर्त और दुष्ट प्रकृति का युवक था। तिलकधारी इसके विपरीत अत्यन्त शांत, शिष्ट सौम्य और सच्चरित्र था। पिता ने दोनों पुत्रों को शिक्षा प्राप्ति के लिये लखनऊ रख दिया था। धनुषधारी तो विलास केलि में मग्न रहता था। तिलकधारी मन लगाकर पढ़ता था। दोनों को घर से प्रतिमास पचास पचास रुपये मिलते थे। इसी बीच में तिलकधारी एक पेंशनर सिपाही केसरी सिंह की सुन्दरी पुत्री के प्रेमपाश में बंध गया। अचानक घर से समाचार आया कि तुम्हारी माता की मृत्यु हो गई हैं तुरन्त आओ। तिलकधारी अपनी प्रेयसी गुनवती को छोड़कर मोहनपुर लौट आया। चलते समय उसने अंगूठी गुनवती को दी थी। और जीवन मे उसी से विवाह करने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया था गुनवती ने भी अपना यही निश्चय व्यक्त किया। घर आने पर जागीरदारों की एक ट्रेडिंग कम्पनी में चीन की कोठी का एजेंट होकर तिलकधारी चीन चल दिया पर मार्ग में ही उसका जहाज डूब गया और यह प्रसिद्ध हो गया कि और सबके साथ तिलकधारी भी समाप्त हो गया।

इधर वृषभानुसिंह का देहावसान हो गया और धनुषधारी का जागीर पर पूर्णाधिकार हो गया।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', मई १८८२, पृ० २३।**

केसरीसिंह के परिवार पर भी कष्टों का पहाड़ टूटा । अचानक घर में आग लगी और सब कुछ जल गया । वे एक दूर की रिश्तेदार प्रमदा के घर रहने लगे जो बालविधवा और दुष्चरित्र थी ।

एक दिन भानुमानसिंह 'कोर्ट' के कार्य से लखनऊ आए । और प्रमदा के घर पुराने परिचय वश ठहरे । गुनवती को देखकर प्रौढ़ावस्था में भी उनका मन चंचल हो गया और उसका पाणिग्रहण करने में उन्होंने प्रमदा की सहायता चाही प्रमदा ने केसरीसिंह को बातों में भुलाकर वह शादी करवा दी । गुनवती भानुमान के घर पहुँच गई और इधर तिलकधारी का पत्र आया कि वह आरहा है । गुनवती के काटो तो खून नहीं, सोचा अब तिलकधारी को कैसे मुँह दिखाए ।

धनुषधारी का विलास व्यापार अवाध चल रहा था । उन्होंने एक मुहर्रिर इन्द्रशेखर नाम का जमीदारी की लिखा पढ़ी का काम करने रख लिया था जिसने इसकी माँ के मृत्यु के पश्चात् इन्द्रशेखर की बड़ी सहायता की थी । हरिश्चन्द एक सुशिक्षित धनी व्यापारी था जो एक मकान किराए पर लेकर लखनऊ में रहता था । एक राज्य की राजकुमारी उससे प्रेम करती थी और उसके साथ विवाह करने की इच्छुक थी हरिश्चन्द ने उसे आश्वासन दे रखा था कि जैसे ही मेरी एक कामना पूर्ण हुई मैं शादी कर लूँगा ।

कथा अचानक यहाँ समाप्त हो जाती है । ऐसा भी हो सकता है कि सौ अजान और एक सुजान' की कथा वस्तु भट्ट जी के मस्तिष्क में आ गई हो और उन्होंने इसे बीच में ही बन्द कर दिया हो । यही एक उपन्यास ऐसा नहीं है जिसे भट्ट जी ने अधूरा छोड़ा हो और भी उपन्यास और कई नाटक ऐसे हैं जिन्हें वे या तो पूरा कर नहीं सके या उन्होंने पूरा करना नहीं चाहा ।

अब यहाँ इस उपन्यास की विशेषताओं पर कुछ विचार किया जाय ।

भाषा की जो आलंकारिकता 'सौ अजान और एक सुजान' में है वह इस उपन्यास में भी है । उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखिए—

"अपनी प्रेम पात्री को सुईकारी का काम करते देख गुलाब की पांखुरी सा सुकुमार अधर और कोमल गोल कपोल की शोभा खड़ा खड़ा निरखा करता था मानो बहुत दिनों का प्यासा मरभूमि के पथिक समान उसके अधर रूप मूंगे के कटोरे में रक्खा हुआ सुधारस उठाकर पिया चाहता हो ।"[1]

रूप वर्णन में भाषा प्रायः अत्यन्त संस्कृत निष्ठ हो गई है :—

"यह विद्युल्लता सी देदीप्यमान अपने घन केश जालों में अलकावली की

१. 'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर १८७९, पृ० १० ।

गूथन तथा विकसित पुण्डरीक नेत्रों से वर्षा और शरत् ऋतुओं का अनुकरण कर रही थी।"[१]

शब्द चित्र इस उपन्यास में उतने ही यथार्थ, आकर्षक और व्यंजक हैं जितने 'सौ अजान और एक सुजान' में। कुछ शब्द चित्र देखिए :—

"यह इसी की हम उमर थी, लम्बी पतली दुबली और डील डौल में बहुत सुडौल थी। रंग इसका काला तो था पर ऐसा काला न था जो सोहावना न मालूम पड़ता हो। इसकी आँख बड़ी तीखी और होठ पतले थे। दाँतों में मिस्सी की धजी और लिलार पर श्याम मंजनी का तिलक बहुत ही भला लगता था।"[२]

इस उपन्यास में भी भट्ट जी ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है।[३] कोष्ठकों में संकेत दिए हैं[४] तथा चन्द्रोदय निबन्ध के समान यत्र तत्र कल्पना की उड़ानें ली हैं।[५]

'सौ अजान और एक सुजान' में जैसे वे कथा के भेद के विषय में पाठकों को आश्वासन देते हैं तथा पाठकों से सीधी वार्ता करते हैं ठीक वैसे ही पर कम मात्रा में वे इस उपन्यास में भी करते हैं :—

"पाठक जन ऊबें नहीं जहाँ कहीं इनके रहस्य की कथा में कुछ उरझाव आ पड़े उसकी गाँठ समझे रहें सब पेचीदगी का भेद अन्त को उन्हें आपही आईना हो जायगा।"[६]

इसी प्रकार—"पाठक जन कहेंगे दाल भात में मूसलचन्द सा यह भग्गू कौन था जो इस किस्से के बीच आकर कूद पड़ा इसलिये मैं यहाँ पर उसके चाल चलन का कुछ थोड़ा सा इशारा किये देता हूँ।"[७]

इस उपन्यास में कई ऐसी विशेषतायें भी हैं जो भट्ट जी के अन्य उपन्यासों में नहीं मिलती। उदाहरणार्थ इस उपन्यास में भट्ट जी धनी वर्ग में प्रचलित बुराइयों[८] तथा हिन्दू समाज में व्याप्त अन्य कुरीतियों[९] आदि पर कठोर व्यंग्य करते हैं अपने शब्दों में कुछ न कह कर उनको घटनाओं के द्वारा व्यंजना देते हैं। भट्ट जी का यह पहला उपन्यास है जिसमें भतीजे की चहेती का विवाह

---

१. **'हिन्दी प्रदीप'**, अगस्त १८८१, पृ० १२।
२. ,, ,, ,, पृ० १३।
३. ,, अप्रैल १८८१, पृ० २४।
४. ,, ,, ,, ,, ,,।
५. ,, अगस्त १८८१, पृ० १२।
६. ,, दिसम्बर १८८०, पृ० १८।
७. ,, अप्रैल १८८१, पृ० २४।
८. ,, दिसम्बर १८७९, पृ० ९।
९. ,, ,, ,, पृ० १२।

उसके चाचा के साथ करा एक सामाजिक उलझन की ओर तो इंगित करते ही हैं साथ ही साथ उस स्त्री के मानसिक द्वंद का यथार्थ और स्वाभाविक चित्र भी उपस्थित करते हैं ।[1]

यदि यह उपन्यास पूर्ण हो जाता तो भट्ट जी के उपन्यासों में तो यह सर्वश्रेष्ठ होता ही ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से ही हिन्दी उपन्यास-भंडार का भी एक श्रेष्ठ रत्न होता ।

गुप्त बैरी—भट्ट जी ने एक उपन्यास 'गुप्त बैरी' के नाम से लिखना प्रारंभ किया था । उसका प्रारंभ मई १८८२ के 'हिन्दी प्रदीप' से हुआ किन्तु वह केवल तीन अङ्कों में निकलकर बंद हो गया । उस उपन्यास के अपूर्ण भाग के पढ़ने से प्रतीत होता है कि भट्ट जी गोसाइयों के पाखंडों एवं धूर्तता का उद्घाटन इस उपन्यास के द्वारा करना चाहते थे । गोरखपुर प्रान्तान्तर्गत राजपुर की एक बड़ी जमीदारी है जिसके अधिकारी बाबू शिवसरनसिंह हैं । योगनाथ नामक एक योगी गोसाईं इन्हें भुलावे में डालकर उनकी सारी धन संपति पर अधिकार कर लेता है और उन्हें धार्मिक प्रेरणा से अभिभूत कर संन्यासी बनने के लिये विवश करता है । संन्यास लेने के बाद शिवसरनसिंह जंगलों में घूमते रहते हैं और अंत में योगनाथ के षड्यंत्र से मारे जाते हैं वे अपने पीछे नाहरसिंह नामक पुत्र छोड़ जाते हैं जो इन योगी गोसाइयों से मन ही मन घृणा करता है। योगनाथ उसे शिष्य बनाकर सारी सम्पति कानूनी रूप से भी हरण करना चाहते हैं । स्वप्न में नाहरसिंह के पिता उसे जागीर वापस लेने की प्रेरणा देते हैं । इसी बीच एक दिन उसकी भेंट इरम्मदा नामक ग्रामीण युवती से हो जाती है जो बड़े उग्र विचारों की है । नाहरसिंह उसके प्रेम में पड़ जाता है । और जागीर मुक्ति के लिये प्रयत्न भी करता है । इरम्मदा का भाई एक साहसिक दल का सदस्य है । वह एक दिन नाहरसिंह को अपने दल में ले जाता है । डाकू नाहरसिंह को अपने दल का सदस्य बनने के लिये बाध्य करते हैं । न बनने पर इरम्मदा संकट में पड़ सकती है यह सोचकर नाहरसिंह उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है । कथा यहीं अपूर्ण समाप्त हो जाती है ।

कहानी कोई निश्चित रूप ग्रहण करे इससे पूर्व ही समाप्त हो जाती है । और फिर भट्ट जी ने इसे कभी पुनः प्रारंभ नहीं किया । जितना यह उपन्यास प्रकाशित हुआ है उससे गोसाइयों के मठ जीवन का बहुत कुछ उद्घाटन होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि ये तथाकथित संन्यासी डाकुओं से भी

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', फरवरी १८८०, पृ० २० ।**

भयंकर हत्यारे परधनापहरण पटु तथा निष्ठुर होते हैं। धन के लिये इस पृथ्वी पर बुरे से बुरा सम्भव कार्य कर सकते हैं।

प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसमें कोई विशेष बात नहीं है 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'रहस्य कथा उपन्यास' की शैली ही इसकी शैली है। अनेक वर्णन तो ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। 'गुप्त बैरी' 'हिन्दी प्रदीप' के निम्नांकित तीन अङ्कों में प्रकाशित हुआ था :—

'हिन्दी प्रदीप—मई १८८२, पृ० ६-१४।

'हिन्दी प्रदीप'—जून १८८२, पृ० ९-१३।

'हिन्दी प्रदीप'—अगस्त १८८२, पृ० ९-१२।

उचित दक्षिणा :—भट्ट जी ने 'उचित दक्षिणा' नामक एक उपन्यास प्रारंभ किया था। परन्तु वह 'हिन्दी प्रदीप' के केवल एक ही अङ्क में छप कर बन्द हो गया।[1]

इस उपन्यास में भट्ट जी वकील वर्ग का जीवन चित्रित करना चाहते थे। भट्ट जी के अनेक मित्र वकील थे इसलिए हो सकता है कि अदालती वातावरण और वकीलों के रोचक जीवन को चित्रित करने को उनकी इच्छा जाग्रत हुई हो। इस अंक में प्रकाशित उपन्यास में केवल दो पात्रों की चर्चा हुई है बाबू गजानन वकील की और मुहर्रिर गरुड़ की। इस एक अंक में भट्ट जी कहानी की भूमिका भी नहीं तैयार कर पाए हैं इससे यह भी आभास नहीं मिलता कि वे कहानी को किस दिशा में ले जाना चाहते थे।

भट्ट जी ने दो उपन्यास हमारी घड़ी[2] तथा रसातल यात्रा[3] और प्रारम्भ किए थे किन्तु 'हिन्दी प्रदीप' के एक ही अंक में छपकर वे बंद होगए और फिर कभी प्रारम्भ नहीं किए गए।

इसके अतिरिक्त भट्ट जी का और कोई उपन्यास पूर्ण या अपूर्ण रूप में नहीं मिलता।

भट्ट जी के नाटक

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के पश्चात् सर्वाधिक नाटक लिखने वालों में भट्ट जी प्रथम हैं। अभी तक किसी लेखक ने भट्ट जी के वास्तविक नाटकों की संख्या नहीं दी। डा० सोमनाथ गुप्त अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास' में लिखते

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८४, पृ० १-१०।

२. ,, अप्रैल से जून १८९२, पृ० १९-२४।

३. ,, ,, ,, पृ० २८-४५।

हैं भट्ट जी की "नाटक रचनाओं के सम्बन्ध में इतिहास लेखकों में मतभेद है।" बा० ब्रजरत्नदास जी ने भट्ट जी द्वारा लिखित छः नाटक माने हैं:—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा और चन्द्रसेन। माताप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक में केवल शिक्षा दान का नाम दिया है।"[१]

वास्तव में ब्रजरत्नदास जी ने जो नाम दिए हैं उनमें पद्मावती और चन्द्रसेन को छोड़ कर भट्ट जी का और कोई नाटक नहीं है। डा० गुप्त अंत में निष्कर्ष निकालते हैं कि भट्ट जी की प्राप्त रचनायें केवल दमयंती स्वयंवर, वेणुसंहार तथा जैसा काम वैसा परिणाम हैं। यह निष्कर्ष उन्होंने श्री धनंजय भट्ट द्वारा सम्पादित उपर्युक्त तीनों पुस्तकों के आधार पर किया है। डा० गुप्त का भ्रम तो यहीं से प्रारम्भ होता है जब वे लिखते हैं :—

"भट्ट जी के सुपुत्र पं० धनंजय भट्ट 'सरल' ने अपने पिता द्वारा लिखित और स्वयं सम्पादित दमयंती स्वयंवर नाटक के वक्तव्य में पृ० २ पर लिखा है।"[२]

वास्तव में श्री धनंजय भट्ट स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र नहीं सुपौत्र हैं पता नहीं डा० सोमनाथ गुप्त ने उन्हें किस आधार पर स्वर्गीय भट्ट जी का पुत्र मान लिया और इस प्रकार पूरी एक पीढ़ी की भूल कर गए। स्व० भट्ट जी की रचनाओं के विषय में भ्रम-प्रचार का बहुत कुछ श्रेय भट्ट जी के इन सुपौत्र को भी है क्योंकि उन्होंने बिना ध्यान से देखे कई दूसरे लेखकों की कृतियों को भट्ट जी द्वारा लिखित घोषित कर दिया है। स्वसम्पादित भट्ट नाटकावली में श्री धनंजय भट्ट ने स्वर्गीय भट्ट जी कृत नाटकों की सूची में 'मृच्छकटिक' तथा 'शर्मिष्ठा' नाटक का भी उल्लेख किया है जो वास्तव में भट्ट जी ने कभी नहीं लिखे। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुए हैं। मृच्छकटिक 'हिन्दी प्रदीप' में सितम्बर १८८० पृ० ६ से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ परन्तु उसके लेखक हैं पं० गदाधर, इसी प्रकार 'शर्मिष्ठा' नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में मार्च १८८० पृ० ६ से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ और उसके लेखक हैं श्री रामचरण शुक्ल। भारतेन्दु युग का अभी व्यापक और प्रामाणिक अध्ययन नहीं हुआ है इसलिये तत्कालीन साहित्य एवं लेखकों के विषय में ऐसी भूलें प्रायः देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिये इससे बड़ी भूल और क्या होगी कि डा० केशरीनारायण शुक्ल ने 'स्त्री सेवा पद्धति'

---

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, दूसरा संस्क० पृ० १००।

२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, दूसरा संस्क० पृ० १००।

नामक निबन्ध अपने 'भारतेन्दु के निबन्ध' नामक ग्रंथ में भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र के निबन्ध के रूप में संकलित किया है। जबकि यह निबन्ध है प्रसिद्ध साहित्यकार राधाचरण गोस्वामी का, जोकि 'हिन्दी प्रदीप' के जून १८७९ के अंक में पृ० ३-७ पर प्रकाशित हुआ है।

'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में प्राप्त भट्ट जी के सम्पूर्ण नाटक निम्नांकित हैं :—

(१) पद्मावती[1], (२) चन्द्रसेन[2], (३) किरातार्जुनीय[3], (४) पृथुचरित या वेणुसंहार[4], (५ शिशुपाल वध[5], (६) नलदमयंती या दमयंती स्वयंवर[6], (७) शिक्षादान या जैसा काय वैसा परिणाम[7], (८) आचार बिडम्बन[8], (९) नई रोशनी का विष[9], (१०) बृहन्नला[10], (११) सीता वनवास[11], (१२) पतित पंचम[12], (१३) मेघनाद वध[13]।

उपर्युक्त नाटकों को विषय की दृष्टि से हम दो वर्गों में रख सकते हैं :— (१) पौराणिक नाटक, (२) सामाजिक नाटक। भट्ट जी का केवल एक नाटक 'चन्द्रसेन' अपवाद स्वरूप ऐतिहासिक नाटक है। भट्ट जी के पौराणिक नाटकों में उनके निम्नांकित नाटक उनका प्रतिनिधित्व करते हैं, नलदमयंती या दमयंती

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८७८, पृ० ६-६।

२. ,, सितम्बर १८७७, पृ० (फट गया)

३. ,, अक्टूबर से दिसम्बर, पृ० १६-३३।

४. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम संस्करण, ५५-८१।

५. 'हिन्दी प्रदीप', मई से अगस्त १९०३, पृ० ४०-५२।

६. दमयन्ती स्वयंवर सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल', प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

७. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर से दिसम्बर १८९६, पृ० ४०-५२।

८. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८९९, पृ० १०-१६।

९. ,, अक्टूबर १८८४, पृ० १५-१८।

१०. भट्ट नाटकावली—सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम संस्करण, पृ० ६-५३।

११. 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८८२, पृ० १३-२१।

१२. ,, अगस्त १८८८, पृ० १४-१७।

१३. ,, नवम्बर दिसम्बर १८९४, पृ० ४-८।

स्वयवर, वेणुसंहार या पृथुचरित्र, तथा वृहन्नला इसलिये इन तीनों नाटकों पर यहाँ विस्तार में विचार करना समीचीन होगा।

नलदमयंती या दमयंती स्वयंवर नाटक :—नल दमयन्ती के नाम से यह नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में सितम्बर १८९७ (पृ० २९-३०) से प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ था पश्चात श्री धनंजय भट्ट ने इसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अपने सम्पादन में प्रकाशित कराया। भट्ट जी के प्राप्त नाटकों में आकार में यह सबसे बड़ा है। इसमें १० अंक हैं। संस्कृत नाटकों की पद्धति का इसमें अनुकरण किया गया है। नांदी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है और इस प्रकार प्रस्तावना के बाद नाटक की मुख्य कथा प्रारम्भ होती है। ऐसा नहीं लगता कि यह अभिनय के लिये लिखा गया हो क्योंकि रंगमंच की दृष्टि से दस अंक व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते।

भट्ट जी ने अपने इस नाटक की कथा महाकवि श्री हर्ष कृत 'नैषधचरित' से ली है। स्थान स्थान पर मूल काव्य के श्लोक भी भट्ट जी ने उद्धृत कर दिये हैं और पात्रों के कथोपकथन में भी मूल काव्य की पंक्तियों का अनुवाद मात्र कर दिया है। नाट्य कला की आधुनिक कसौटी पर इस नाटक को कसना समीचीन होगा।

कथावस्तुः—नाटक की कथा लोक प्रसिद्ध नलदमयंती की कथा है। विदर्भ देश के राजा भीम की दमयंती नामक पुत्री है जिसकी सुन्दरता की कथा सारे देश में व्याप्त है। दमयन्ती का चित्र एक चित्रकार द्वारा पाकर नल उस पर आसक्त होता है। उधर दमयन्ती भी नल के रूप गुण की चर्चा सुनकर उस पर आसक्त है। एक स्वर्ण हंस नल का संदेश दमयन्ती को देता है। उसके बाद तो वह नल को वरण करने का निश्चय ही कर लेती है। उसका पिता स्वयंवर का आयोजन करता है जिसमें, नाग, यक्ष, किन्नर, देवता, तथा मनुष्य सभी आते हैं दमयन्ती उन सब में से नल को ही अपना पति चुनती है। स्वयंवर में ठीक समय पर न पहुँच सकने वाले कलि देव को जब यह सूचना देवताओं से मिलती है कि दमयन्ती तो पति वरण कर चुकी तो निराशा की भयंकर प्रतिक्रिया में वे नल और दमयन्ती को दण्ड देने का निश्चय करते हैं उनकी प्रेरणा से ही नल जुआ खेलता है और हारता है उसके पश्चात कष्टों की लम्बी शृंखला का श्रीगणेश होता है। वन में पक्षियों को पकड़ने के प्रयत्न में नल अपने एक मात्र वस्त्र से भी हाथ धो बैठता है। कष्टों से ऊब कर अन्त में वह दमयन्ती को सोती हुई छोड़ दूर चला जाता है। दमयन्ती एक ऋषि की सहायता से घर लौटने में सफल होती है और कर्कोटक नाग की सहायता से नल अपना रूप

विकृत करने तथा उसे यथेच्छा प्राप्त करने की सिद्धि प्राप्त करता है। दमयन्ती चेदिनगर के राजा अपने मौसा के यहाँ दासी रूप में आश्रय लेती है और उधर नल अयोध्यापति ऋतुपर्ण का सारथी बन जाता है और उससे द्यूत क्रीड़ा सीख उसमें पारंगत हो जाता है। भीम नल का पता लगाते लगाते थक जाते हैं और अंत में दमयन्ती के सुझाव पर वे उसके दूसरे स्वयंवर की घोषणा करते हैं जिसमें नल और दमयन्ती का मिलन हो जाता है।

नाटक की कथा परम्परा भुक्त है। भट्ट जी ने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं जोड़ा। भट्ट जी चाहते तो उसे संक्षिप्त तथा आकर्षक बना सकते थे किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग नैषध चरित के श्लोकों का अनुवाद कर उसे भाषा रूप देने में किया, कथावस्तु को व्यवस्थित एवं आकर्षक रूप देने में नहीं। भट्ट जी ने कथा चूँकि एक महाकाव्य से ली है इसलिये उसे नाटक का आकार देने का उत्तरदायित्व पूर्णतः उन्हीं का है। अनेक गर्भांकों के होते हुए भी उन्होंने पृ० ८, ९, ३०, ६०, ७१, ७४ पर नेपथ्यवाणी द्वारा कथा आगे बढ़ाने और परिवर्तन की सूचना देने का काम लिया है। जो स्वाभाविक नहीं जँचता। कलि के परामर्शदाता उसे पृष्ठ ४० से ४८ तक परामर्श देते हैं जो एक उबा देने वाली बात है। पृष्ठ ७२, ७३ पर जब दमयन्ती और नल आपस में मिलते हैं तो अतीत की घटनाओं के रूप में वे एक दूसरे को वही सब कथा सुनाते हैं जो दर्शक पहले ही देख चुके हैं।

भट्ट जी ने इस उपन्यास में शकुनों द्वारा अनेक स्थलों पर भावी घटनाओं का आभास दिया है। यदि भट्ट जी चाहते तो वे इसमें कुछ सुधार कर सकते थे। नल दमयन्ती की कथा वैसे ही बड़ी आकर्षक है भट्ट जी ने उसे इस नाटक द्वारा और अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न नहीं किया या इस प्रयत्न में वे सफल नहीं हुए।

पात्र—यों तो तपस्वी और सौदागर को छोड़ कर इस नाटक में पात्रों की संख्या २३ है जो अभिनय की दृष्टि से किसी भी नाटक के लिये व्यावहारिक नहीं है। फिर भी पूरे नाटक में केवल नल और दमयन्ती का चरित्र ही उभर कर आता है।

नल—नल अपने युग का सर्वाधिक सुन्दर व्यक्ति था। उसकी सुन्दरता की कल्पना इसी से की जा सकती है कि अग्नि, वरुण, यम तथा इन्द्र उसके रूप को देखकर चकित रह जाते हैं और उसकी तुलना में अपने को हीन अनुभव करते हैं—"हाँ इसकी रूप माधुरी, लवनाई और तारुण्य देखकर दमयन्ती अब हमें काहे को कभी अपने चित्त में स्थान देगी। मनुष्य कोटि में भी ऐसे रूपवान

हैं तो हम सबों को जो अपने को देवयोनि मानते हैं, धिक्कार है। यदि दमयन्ती नल को छोड़कर हम में से किसी को चुन भी ले तो हम यही कहेंगे वह निस्संदेह रूप की परख में गँवार है।"[1]

नल इस नाटक में एक सच्चे प्रेमी के रूप में चित्रित है। वह अपने हृदय में दमयन्ती के अतिरिक्त कभी किसी को स्थान नहीं देता। विवाह से पूर्व ही सारा संसार बिना दमयन्ती के उसे सौंदर्य रहित तथा सुखहीन दिखाई देता है। वह अपने मित्र भागुरायण से एक स्थान पर कहता है—"मित्र तुम स्वस्थ चित्त हो। तुम्हें ये वृक्ष ऐसे ही भासित होते हैं पर मुझ वियोगी को तो अधिक व्यथा उपजाते हुए उस ललना ललाम की ओर भी सुध दिलाते हैं।"[2]

दमयन्ती को छोड़कर जाने के लिये उद्यत नल का मानसिक द्वन्द्व भट्ट जी ने बहुत ही सुन्दर रूप में चित्रित किया है।[3]

नल एक महान चरित्रवान और परोपकारी व्यक्ति है। देवताओं की प्रार्थना पर वह उनके लिये दुस्तर दूत कार्य करता है और उसके ड़स लेने पर भी बुरा नहीं मानता। देवता तक उसके प्रशंसक हैं। और अप्रत्यक्ष रूप से कलि के विरुद्ध उसकी सहायता करते हैं।

इस नाटक में नल का आदर्श रूप पिता का रूप है। वर्षों से बिछुड़े अपने बच्चों को देखकर नल के नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं वह भाव विह्वल हो उठता है। नल के चरित्र में ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती जिसे भट्ट जी की मौलिक उद्भावना कहा जा सके।

दमयन्ती—दमयन्ती नल के चरित्र का स्त्रीकरण है। जो पुरुषोचित गुण नल में है वे ही स्त्रियोचित होकर दमयन्ती में हमें मिलते हैं। दमयन्ती एक पतिपरायणा सती साध्वी नारी है। अनेक कष्ट आने पर भी नल की ओर से उसका मन किंचिन्मात्र भी मैला नहीं होता। वह भारतीयता और भारतीय नारी की सच्ची प्रतिनिधि है। भट्ट जी ने दमयन्ती का विरह बहुत कुछ रीतिकालीन नायिकाओं जैसा दिखाया है।[4] लेकिन इसमें भट्ट जी का दोष इतना ही है कि उन्होंने 'नैषध चरित' में दिए दमयन्ती के विरह श्लोकों का हिन्दी अनुवाद भर कर दिया है। यदि अनुवाद की दृष्टि से देखा जाय तो उससे अच्छे

---

१. **दमयन्ती स्वयंवर, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल'**, पृ० १४।
२. ,, ,, पृ० ५।
३. ,, ,, पृ० ५५।
४. ,, ,, पृ० ११-१२।

अनुवाद की हम कल्पना नहीं कर सकते परन्तु भट्ट जी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि विरह का जो अतिशयोक्ति पूर्ण रूप काव्य में अच्छा लगता है, नाटकों में नहीं। संस्कृत नाट्य या काव्य चूँकि रस-प्रधान होते थे चरित्र चित्रण प्रधान नहीं इसलिये यह नाटक भी रस से तो आप्लावित है किन्तु नल और दमयन्ती के चरित्र अधिक स्वाभाविक व्यक्तित्वपूर्ण तथा विविधतायुक्त नहीं हैं।

कथोपकथन:—इस नाटक के कथोपकथन प्रायः अनावश्यक रूप से लम्बे हैं। कंचुकी का स्वगत कथन लगभग १० मिनट चलता है। सरस्वती राजाओं का परिचय देने में लगभग आधे घंटे का समय लेती है वह पृष्ठ ३३ से ३७ तक चलता है। कलि के सभासद, काम क्रोध लोभ मोह आदि का कथोपकथन अनावश्यक रूप से लम्बा और नीरस है।[१] भट्ट जी आसानी से इसे संक्षिप्त और अधिक मार्मिक बना सकते थे। पूरे नाटक में नल और दमयन्ती तथा केशनी-दमयन्ती तथा केशनी और नल का कथोपकथन अधिक व्यंजक और सरस है। नल और दमयन्ती के संवाद तो संवाद से अधिक काव्य होगये हैं जो पढ़ने में अत्यन्त सरस लगते हैं जैसे दयमन्ती कहती है—शिरिष के फूलों के समान इन कोमल चरणों को क्लेश दै आप कितनी दूर चलकर आए हैं? किस देश को सूना कर आप यहाँ पधारे? नाम गोत्र सुन क्या मैं अपने जन्म को कृतार्थ कर सकती हूँ?—

नल——राजकुमारी! अभिजात्य और कुलीनता की प्रकाशक मैं तुम्हारी इन कोमल वाक्य पदावलियों से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इन्द्र, वरुण, यम और अग्निदेव का भेजा हुआ मैं तुम्हारा अतिथि हो यहाँ आया हूँ। हम तुम्हारे इस अभ्युत्थान उचित सत्कार से अत्यन्त संतुष्ट हुए क्यों आप अपने कोमल अङ्ग को क्लेश दै रहीं हैं। बैठ जाइए। मैं देवताओं का जो संदेशा लेकर आया हूँ उसे यदि अनुग्रह पूर्वक अपने पवित्र मन म नस में स्थान दीजिए तो वही मेरी पहुनाई है।[२]

लेकिन ऐसे सुन्दर संवादों में कहीं कहीं भट्ट जी ने उर्दू के अप्रचलित शब्दों का प्रयोगकर पाठक के आनन्द में विक्षेप डाल दिया है जैसे 'प्रत्यक्ष रूबरू बात-चीत करने में'[३] यहाँ केवल प्रयत्क्ष शब्द ही अर्थ बोध के लिए पर्याप्त था।

इस नाटक के कथोपकथन संतोषजनक कहे जा सकते हैं।

---

१. **दमयन्ती स्वयंवर, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० ४०-४६।**
२. ,, ,, ,, पृ० २०-२२।
३. ,, ,, ,, पृ० २३।

देशकाल—विदर्भ, निषध, तथा चेदिनगर घटना के मुख्य स्थल हैं। समय पुराणकालीन है। लेकिन भट्ट जी अपने नाटक को युग के प्रभाव से नहीं बचा सके। छठे अङ्क में काम कलि से कहता है :—"हमने न जानिए कितने दुबे तिबे चौबे, गर्ग गौतम, शांडिल्य, काश्यप, भारद्वाज, आजपेयी, वाजपेयी को मदन मंजरी के घर का कुत्ता कर दिया।"[1]

भट्ट जी इस बात का ध्यान भूल जाते हैं कि उस काल में ब्राह्मणों के गोत्र उपगोत्र इस प्रकार के थे भी या नहीं।

इसी प्रकार भट्ट जी 'नास्तिकता' से निम्नांकित शब्द कहलाते हैं जो वे स्वयं 'हिन्दी प्रदीप' में कई बार कह चुके हैं। कलि के दरबार में नास्तिकता कहती हैं :—"नेचरिए स्वभाववादी आदि कितने और भी उन्हीं बौद्ध और चार्वाक के परतो पर नये नये लोग सब आप ही के समय में हुए और होते जाते हैं। जिनमें यह चार्वाक सबों का दादा गुरू है। ···बेटा! चार्वाक तुम भी अपना सिद्धांत कह सुनाओ।"[2]

कहाँ नेचरिए, कहाँ बौद्ध और कहाँ कलि की सभा। भट्ट जी ने नाटक में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया।

भट्ट जी देश और काल का ध्यान वहाँ भी भूल जाते हैं जहाँ वे रंग मंच पर ही नल और दमयन्ती द्वारा एक दूसरे का चुम्बन करवाते हैं।[3] रंग मंच पर तो भारतवर्ष में आज भी चुम्बन दिखाने की प्रथा नहीं है फिर भट्ट जी ने न जाने क्या सोचकर ऐसा लिखा है।

भाषा शैली :—भट्ट जी ने इस नाटक में नैषध चरित का केवल अनुवाद ही नहीं किया अपितु पृ० २०, २४, २५, ४१, ४२, ४३, ४४, ४७, ५३, ५६ आदि पर मूल संस्कृत के श्लोक भी रख दिए हैं। भट्ट जी ने इस नाटक में भाषा के सम्बन्ध में भी एक बड़ी भूल यह की है कि उन्होंने अपने पात्रों से ऐसी कहावतों का प्रयोग कराया है जो नाटक के देशकाल को देखते हुए हास्यास्पद लगती हैं जैसे—'फिर दमयन्ती इन सबों को निबुआ नौन चटा देगी।'[4] भट्ट जी को यह मुहावरा इतना प्रिय है कि ३३ वर्ष की 'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में यह हजारों बार प्रयोग किया गया होगा। इसी प्रकार केशनी अपने

---

१. **दमयन्ती स्वयंवर, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल'** पृ० ४१।
२. ,, ,, ,, पृ० ४६।
३. ,, ,, ,, पृ० ७४।
४. ,, ,, ,, पृ० १८।

मन में कहती है 'लाओ ऐसा नर पीर बबर्ची, भिश्ती खर'[1] नल के समय में 'बबर्ची' और 'भिश्ती', अच्छा चित्र उपस्थित नहीं करते ।

कहीं कहीं उर्दू शब्दों का भद्दा प्रयोग भट्ट जी कर गए हैं जो उनकी संस्कृत निष्ठ पदावली में आँखों में चुभते और कानों में खटकते हैं जैसे काम कहता है—

"फिदकी के शिकार के लिए शेर के शिकार का बन्दोवस्त आप कर रहे हो ।"[2] तथा 'रोज दुरदुराए जाते हैं ।"[3]

अपने इस नाटक में भट्ट जी ने पात्रानुकूल भाषा बुलवाने का प्रयत्न किया है । उच्च वर्ग के सब पात्र संस्कृत निष्ठ भाषा बोलते हैं और सौदागर लोग गाँव की भाषा बोलते हैं । एक उदाहरण लीजिए :—

"सौदागरों का मुखिया – काहो पितई, ननकू, रमई, भाय । अब तुम सबन की का राय है ? अपने सौदागरी का सब माल अब यहीं उतारा चाहत हो कि कोई दूसरे शहर मा चलें ।"[4]

उद्देश्य—संस्कृत नाट्य शास्त्र की दृष्टि से तो 'शृंगार रस' को अभि-व्यक्ति देना ही उस नाटक का उद्देश्य है और भट्ट जी इस नाटक के 'भीम' पात्र द्वारा यह संदेश देते हैं— "(दमयन्ती से) धन्य है तेरा सौभाग्य । तूने अपते सतीत्व के प्रताप से अपना खोया हुआ प्राणधन पुनः पाया ।"[5]

वेणुसंहार या पृथुचरित्र—यह नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में कार्तिक संवत् १९६६ (सन् १९०९) (पृ० २४-२८) से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था । पश्चात् श्री धनंजय भट्ट 'सरल' ने इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा से अपने सम्पादन में प्रकाशित कराया ।

कथावस्तु यह नाटक भी संस्कृत नाट्य शैली पर लिखा गया है । नांदी के बाद सूत्रधार आता है और इस प्रकार प्रस्तावना के पश्चात् कथा प्रारम्भ होती है । इसकी कथा पौराणिक है । महाभाग्त में अङ्ग नामक महाप्रतापी राजा का उल्लेख है । उसकी सुनीथा नामक रानी से 'बेणु' उत्पन्न हुआ । यह बड़े ही दुष्ट स्वभाव का क्रूर तथा दुराचारी था । महाराज अंग पुत्र के कुकृत्यों

---

१. **दमयन्ती स्वयंबर, सम्पा० धनंजय भट्ट** 'सरल' पृ० ६६ ।
२. ,, ,, ,, पृ० ४१ ।
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, पृ० ५७-५८ ।
५. ,, ,, ,, पृ० ७४ ।

से दुखी होकर राज्य त्याग, संन्यासी होकर वन में चले गए। तत्पश्चात वेणु विधिवत मूर्धाभिषिक्त हुआ, किन्तु सिंहासनासीन होने के पश्चात् बेणु के अत्याचार और कुकृत्य और भी बढ़े। भीत त्रस्त नागरिक ऋषियों के पास अपनी दु:ख गाथा लेकर पहुँचे। उस समय वास्तविक शासन कृषियों के हाथ में ही था वे ही नियम बनाते थे और कोई समस्या खड़ी होने पर उनकी व्यवस्था ही अन्तिम निर्णय मानी जाती थी। भृगु, अत्रि, मैत्रावरुणि, आदि ऋषि राजा को समझाने राजधानी आए, पर मदांध बेणु ने उनका घोर तिरस्कार और अपमान किया। अत्यन्त उत्तेजित किए जाने पर ऋषियों ने बेणु को मृत्यु-शाप दिया और फलस्वरूप बेणु तुरन्त निर्जीव होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

कथावस्तु चूँकि पौराणिक है इसलिये अपनी ओर से कुछ कहने का अवकाश भट्ट जी को नहीं था, किन्तु वे चाहते तो उसे उन अवगुणों से बचा सकते थे जिनका समावेश वे स्वयं अनजान में उसमें कर गए। भट्ट जी ने इस नाटक में उर्दू तर्ज के गीत दे दिए हैं जिनकी विषय वस्तु तथा शब्दावली उस युग से बिलकुल मेल नहीं खाती। उदाहरण के लिए उस काल के एक नागरिक से देखिए भट्ट जी गीत की निम्नांकित पंक्तियों का उच्चारण कराते हैं :—

भाई सुना है जब से हमने इस खबर को।
होश गायब हो सिधारा आसमान को॥
उससे काँप रहा है तन हमारा।
कहो कैसे करेंगे यार अब हम सब गुजारा॥[1]

और उस समय तो बात के हास्यास्पद होने की चरमसीमा हो जाती है जब भट्ट जी कुप्रवृत्ति नामक तरुणी के मुख से 'सो वाइज व्ही बोर्न व्ही काल अवर फादर्स फूल्स' जैसे शब्दों का उच्चारण करवाते हैं।

उर्दू की गजलों की पद्धति पर गीतों की इस नाटक में भरमार है जो कथावस्तु में ऊब पैदा करते हैं विषय से असम्बद्ध, भाव सौंदर्य हीन और अनावश्यक तो वे हैं ही।

पात्र :—यों कहने को तो इस नाटक में १३ पात्र हैं पर मुख्य चरित्र बेणु का ही है और इस चरित्र का भी समुचित विकास नहीं हुआ क्योंकि बेणु रंगमंच पर कुछ क्षणों के लिये ही आता है और शाप से उसकी मृत्यु हो जाती है दर्शकों को उसके विषय में केवल सूचना भर मिलती है कि वह क्रूर, हठी,

---

१. **भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय** भट्ट **'सरल' प्रथम संस्क०, पृ० ५८।**

अत्याचारी तथा नृशंस है। और किसी दूसरे पात्र का चरित्र इसमें उभरा ही नहीं है।

कथोपकथन :—भट्ट जी यदि चाहते तो कथोपकथनों में अपना व्यक्तित्व ला सकते थे पर लगता है इस दिशा में भी उन्होंने कोई परिश्रम नहीं किया। समस्त नाटक में कथोपकथन अत्यन्त शिथिल और अनावश्यक रूप से लम्बे हैं। वृद्धश्रवा नामक कंचुकी पूरे दो पृष्ठों में सोचता है।[1] इसी प्रकार कुप्रवृत्ति नामक तरुणी पूरे तीन पृष्ठ में स्वगत भाषण करती है।[2] भट्ट जी इस प्रकार के अनावश्यक विस्तार को कम कर देते तो नाटक अधिक सुगठित, सुव्यवस्थित और आकर्षक हो जाता।

भट्ट जी ने कथोपकथनों में युगानुकूल भाषा का ध्यान नहीं रखा। और स्थान स्थान पर वह वर्ण्य विषय और युग के देखते हुए हास्यास्पद तक हो गई है। जैसे दो नागरिक आपस में बातचीत कर रहे दूसरा नागरिक पहले से कहता है :—"कोई चिन्ता नहीं हम आकर्षण मंत्र जानते हैं नहीं तो न्यूटन के आकर्षण की ईजाद कब काम आवेगी।"[3]

चौथा उसे शाबाशी देता है—"शाबाश ! गाजी भई शाबाश !"[4] कुक्कुट मिश्र पूरे डेढ़ पृष्ठ में भाषण करते हैं जो उबा देने वाला है।[5]

देशकाल—देशकाल का ध्यान तो भट्ट जी ने इस नाटक में बिलकुल नहीं रखा। वे अपने पात्रों से न्यूटन की चर्चा करवाते हैं।[6] इतना ही नहीं उनका एक पात्र तो अंग्रेजी वाक्य का उच्चारण भी करता है।[7] और हास्यास्पद स्थिति की वह चरम सीमा है जब इस नाटक का एक पात्र अपने गीत में निम्नांकित बातों की चर्चा करता है :—

"उड़ावें पाव रोटी अब खुशी से,
न देखें रास्ता हरगिज किसी का।
बनें साहब पहन कर कोट पतलूं,
मजा इसमें बड़ा है जिन्दगी का।

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम सं०, पृ० ७५-७७।
२. " " " पृ० ६०-६३।
३. " " " पृ० ५८।
४. " " " पृ० ५८।
५. " " " पृ० ७३-७४।
६. " " " पृ० ५८।
७. " " " पृ० ६०।

करें भोजन मजे से होटलों में,
मजा चखलें बराण्डी और टी का ।
मटन बिसकुट और ह्विस्की भी उड़ाए,
नहीं इसमें इजारा है किसी का ।"[1]

'बेणु संहार' नाटक की विषय वस्तु और उस युग को देखते हुए भट्ट जी ने क्या सोचकर इस प्रकार की बातों की चर्चा की समझ में नहीं आता । महाराज बेणु का एक कर्मचारी ढिंढोरा पीटते हुआ कहता है--"इस नए परमेश्वर के देवदूत खुशामदी हाँ में हाँ मिलाने वाले **सेकंडरी** या दूसरे परमेश्वर हैं ।"[2] बेणु का कर्मचारी अंग्रेजी के सेकेण्डरी शब्द का व्यवहार करता है देश काल के विपरीत इस प्रकार की बातें इस नाटक में अनेक मिलती हैं ।

भट्ट जी बेणु कालीन देशकाल के चित्रण में अपने समय का चित्रण कर गए हैं । जो कि नाटक के सौंदर्य के लिए घातक हो गया है ।

भाषा-शैली— नाटक की शैली प्राय: संस्कृत निष्ठ है, यथा, "होम का धुंआ आश्रम की पताका सा आकाश मंडल में छाया हुआ आगन्तुक पाहुनों को आतिथ्य सत्कार के लिये मानो बुला रहा है । कुटियों के चारों ओर मृग वधू घूम-घूम अपने-अपने छौनों को दूध पिलाती हुई परिचित ऋषि पत्नियों की ओर पुआल का चारा पाने को ताक रही है । आश्रम में प्रवेश करते ही ऐसी अद्भुत शांति का संचार मन में होता है कि शब्द के द्वारा जिसे प्रगट करना असंभव सा है, तिर्यकयोनि-पशु-पक्षी जहाँ स्वाभाविक बैर छोड़ बैठे हैं ।"[3]

भाषा में यत्र तत्र तुक की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है :—

"पर मेरे बिना तुम कहीं भाती हो । सबके सामने तो मुझे सरकाती हो पर भीतर ही भीतर सैन और इशारे में मुझे बुलाती हो ।....आँचल से मुँह ढांप मुसकराती हो ।"[4]

कहीं कहीं उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जैसे—वह **जल्द जहन्नुम रसीद** होगा ।"[5] "न्यूटन के आकर्षण की **ईजाद** कब काम आएगी जो आपके **होश** को लाके न हाजिर करेगी ।"[6] तथा खबर, शाबाश, गाजीमर्द, गुजारा, गायब, यार जैसे शब्दों का प्रयोग भी इसमें हुआ है ।

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम सं० पृ० ६१ ।
२. ,, ,, ,, पृ० ५७ ।
३. ,, ,, ,, ,, ।
४. ,, ,, ,, पृ० ७० ।
५. ,, ,, ,, पृ० ५८ ।
६. ,, ,, ,, पृ० ५८ ।

यत्र तत्र अंग्रेजी के शब्द ही नहीं, कहीं कहीं तो वाक्य भी अंग्रेजी के मिल जाते हैं जैसे—"सो वाइज व्ही बोर्न व्ही काल अवर फादर्स फूल्स"[1] तथा ब्राण्डी, ह्विस्की, टी, विसकुट, सेकंडरी आदि अंग्रेजी शब्दों तक का प्रयोग इसमें मिल जाता है।

वैसे सामान्यतः शैली संस्कृत गर्भित है और विषयानुकूल है।

उद्देश्य :—संस्कृत में पृथुचचित्र काव्य का जो भी उद्देश्य रहा हो किन्तु भट्ट जी को कुछ बातें उसमें ऐसी मिल गई जो इस युग से मेल खाती थीं इसलिए उन्होंने उद्देश्य का आरोप अपनी ओर से करके इस नाटक की रचना कर डाली। बेणु के शासन में प्रजा अत्यन्त भीत, त्रस्त, दीन हीन और दुखी थीं अंग्रेजों के शासन से इसकी समानता ठीक बैठतीं थी इसलिए भट्ट जी ने वे ही सब परिस्थितियाँ बेणुकालीन शासन में दिखाई हैं जो उन्हें अंग्रेजी शासन में दिखाई देती थीं। और बेणु के पतन या नाश के द्वारा इस बात की स्पष्ट व्यंजना भी की है कि प्रजा की उपेक्षा कर चलने वाले निरंकुश और अत्याचारी शासकों का नाश अचिरात अवश्यम्भावी है। भृगु के द्वारा मानों वे अपने युग की बात कहलाते हैं :—

क्या कारण है कि हमारा आश्रम इन दिनों निरन्तर जन संचार विहीन सा रहता है। मनुष्य की कौन पशु पक्षी तक उदासीन से मालूम होते हैं। काल विपर्यय सा हो गया है ठीक समय पर अच्छी वर्षा न होने से आश्रम पादप सब मुरझाने से हैं। जान पड़ता है यह सब राजा के उपद्रव का परिणाम है क्योंकि अनावृष्टि, तथा प्रजा में आधि व्याधि, रोग, शोक आदि कष्ट का फैलना बिना राजा के अत्याचार के नहीं होता। ……राजा में लोभ के आते ही सुख समृद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है तो निश्चय इस समय कुछ राजोपद्रव है जिससे सब लोग दुःखी हो रहे हैं।"[2]

भट्ट जी वैसे भी अत्याचारी शासकों के विरुद्ध संगठित होने के लिये भारतीय जनता को प्रोत्साहित करते रहते थे उन्होंने इस नाटक में भी नागरिकों को संगठित कर बुद्धि के प्रतीक ऋषि वर्ग के सहयोग से उनके आंदोलन में उन्हें सफल काम दिखाया है।

इसके साथ-साथ भट्ट जी ने अपने काल के देशद्रोहियों[3], मूर्ख पण्डितों आदि पर कठोर व्यंग्य भी किए हैं।[4]

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', प्रथम सं०, पृ० ६७।
२. " " " पृ० ६०।
३. " " " पृ० ७३।
४. " " " पृ० ७४।

इस प्रकार बेणु संहार या पृथुचरित्र नाटक उतना अपने काल का चित्र पाठक के सामने नहीं उपस्थित करता जितना भट्ट जी के काल का चित्र उपस्थित करता है।

नाट्य कला की दृष्टि से हम कोई विशेष महत्व इस नाटक को नहीं दे सकते क्योंकि कुप्रवृत्ति आदि अशरीरी पात्र रंगमंच पर लाए भी नहीं जा सकते वैसे थोड़ी काट छाँट के बाद नाटक अभिनेय हो सकता है।

वृहन्नला नाटक

कथावस्तु—यह नाटक भी भट्ट जी ने संस्कृत नाट्य शैली के अनुकूल लिखा है। सूत्रधार इसमें भी आता है किन्तु नांदी इसमें नहीं है। भट्ट जी ने वृहन्नला की कथा महाभारत से ली है। जुआ में हार जाने के पश्चात् पांडव अज्ञात वास कर रहे हैं। वे महाराज विराट के यहाँ आश्रय ग्रहण करते हैं और छद्मवेश में वहाँ सेवा वृत्ति करते हैं। अर्जुन वृहन्नला के नाम से नपुंसक के रूप में वहाँ प्रसिद्ध है। युधिष्ठिर कंक भट्ट के नाम से महाराज विराट के परामर्शदाता बन जाते हैं। भीम अपना नाम बल्लभ रख लेते हैं और सूपकार बनते हैं। नकुल और सहदेव अश्वपाल और गोपाल का कार्य करते हैं और इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक दिन कौरव लोग अचानक विराट नगर पर महाराज विराट की अनुपस्थिति में जब वे त्रिगर्ताधिप से युद्ध करने गए हुए थे, आक्रमण कर देते हैं। महाराज विराट का पुत्र उत्तर वृहन्नला से युद्ध क्षेत्र में चलने को कहता है किन्तु कौरवों की असंख्य सेना का सिंहनाद सुनकर डर जाता है। वृहन्नला उसे आश्वत करता है और अपना वास्तविक नाम अर्जुन उसे बता देता है तब उत्तर को शांति मिलती है। भयंकर युद्ध होता है कौरव वाहिनी पराजित होकर भागने लगती है तभी भीष्म अर्जुन को आकर आशीर्वाद देते हैं। युद्ध में अर्जुन की विजय होती है। उधर महाराज विराट युद्ध से लौटते हैं और कुमार के युद्ध गमन का समाचार सुनकर अत्यन्त दुखी होते हैं। कंक भट्ट उन्हें आश्वस्त करते हैं कि वृहन्नला के रहते चिंता का कोई कारण नहीं। इतने में विजय का समाचार मिलता है विराट हर्ष विह्वल होकर कुमार के स्वागत समारोह की आज्ञा देते हैं उनके लिए यह विजय बिलकुल अप्रत्याशित है जबकि कंक का कहना है कि इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं वृहन्नला के कारण ही विजय प्राप्त हुई है। प्रसन्न होकर महाराज विराट कंक के साथ पाँसा खेलने बैठते हैं और वे बीच-बीच में कुमार के शौर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने जाते हैं मिथ्या होने के कारण कंक उसे सहन नहीं कर पाते और प्रतिवाद करते जाते हैं कि

विजय का वास्तविक कारण वृहन्नला है कुमार नहीं। असहिष्णु विराटाधिपति इस बात पर क्रुद्ध हो हाथ का पाँसा फेंक कर कंक के मारते हैं जिससे उनके मस्तक से रक्तस्राव होने लगता है। इतने में कुमार उत्तर युद्ध क्षेत्र से लौट आता है और सब रहस्य से अवगत होने के कारण अपने पिता की भर्त्सना करता है। बाद में महाराज युधिष्ठिर विराट के सिंहासन पर बैठाए जाते हैं पहले तो यह सुनकर विराट नरेश अत्यन्त क्रुद्ध होते हैं परन्तु पश्चात् पता लगने पर कि ये धर्मराज युधिष्ठिर हैं विनयावनत हो जाते हैं। और अपनी कन्या उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर देते हैं। नाटक भरत वाक्य के साथ समाप्त होता है।

पूरी कथावस्तु परम्परा भुक्त है भट्ट जी ने केवल इतना किया है कि हास्य की सृष्टि करने के लिए एक कायर ब्राह्मण की कल्पना उन्होंने की है जो थोड़ी देर तक दर्शकों का मनोरंजन अपनी मूर्खता से करता है।

नाटक चूँकि छोटा ही है इसलिए घटनायें उसे देखते हुये पर्याप्त हैं भट्ट जी के अन्य नाटकों से यह इसीलिए अधिक रोचक है।

पात्र :—पात्रों की सम्पूर्ण संख्या तो इस नाटक में १६ है किंतु जैसा नाटक के नाम से ही प्रसिद्ध है इसका नायक या प्रमुख पात्र अर्जुन या वृहन्नला ही है। यह वीर रस का नाटक है इसलिए अर्जुन का नायक होना उसमें मणिकांचन संयोग है। अर्जुन महाभारत का सर्वश्रेष्ठ वीर है उसका चरित्र तथा गुण इसमें पूर्णतः उभर कर आए हैं। अर्जुन महान् पराक्रमी और वीर पुरुष है उसके शत्रुपक्ष पर उसका कितना आतङ्क है द्रोणाचार्य के निम्नांकित शब्दों से वह स्पष्ट हो जाता है :—

"(नेपथ्य में शङ्ख ध्वनि सुन कर) विना देवदत्त के ऐसा कठोर नाद दूसरे शङ्ख से नहीं हो सकता इससे इस शङ्ख का बजाने वाला सिवा अर्जुन के दूसरा कोई न होगा अर्जुन को हमारे और शिष्यों के समान कदापि मत समझो। इन्होंने इन्द्रादि देवताओं से अनेक शस्त्र पाया है। अब इनसे लड़ना सहज काम नहीं है। इससे हम बारबार यही कहते हैं कि विराट का गो धन जो हम लोग हर लाए हैं जाय तो जाने दो पर दुर्योधन की रक्षा हम सब मिल करें।"[1]

कर्ण को अपनी वीरता की डींगें हाँकते देख द्रोणाचार्य से नहीं रहा जाता और वे उससे कह ही देते हैं—"तेरा पुरुषार्थ जो न जानता हो उसके सामने तू ये बातें हाँका कर। त्रयोदश वर्ष की अवधि पूर्ण हुई है मेघ वृन्द मुक्त

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० १५।

मिहिर के सदृश जिस समय पार्थ रण भूमि में देख पड़ेगा उस समय किस का सामर्थ्य है कि उसका असह प्रताप सह सके ।"[१]

द्रोणाचार्य के उपर्युक्त शब्द अर्जुन के चरित्र पर उचित प्रकाश डालते हैं ।

अर्जुन का चरित्र ऐसा है कि उसके प्रबल प्रतिपक्षियों में से अनेक प्रमुख व्यक्ति उसे आदर, प्रेम और स्नेह की दृष्टि से देखते हैं । युद्ध में उसे देखकर भीष्म पितामह प्रेम विह्वल हो उठते हैं—"हमारा हृदयनिधि, नयनों की पुतली फाल्गुणी कहाँ है ? (अर्जुन को देखकर) अरे अर्जुन, तूने बड़ा दुख सहा बेटा, हा नष्ट देव पूर्णिमा का यह पूर्ण चन्द्र दुःख रूपी राहु से कवलित हो रहा है ।"[२]

अर्जुन के शेष भाई भी उसके पराक्रम एवं वीरता के विषय में जो विचार रखते हैं उससे अर्जुन के चरित्र पर उचित प्रकाश पड़ता है कंक भट्ट (युधिष्ठिर) विराटराज से कहते हैं :—"राजन आप क्यों व्यर्थ शोकाभिभूत होते हैं । वृहन्नला कुमार के साथ है तो त्रिभुवन एकत्र हो लड़े तब भी कुमार का कुछ भय नहीं है ।"[३]

इस प्रकार इस नाटक में अर्जुन एक वीर और परम तेजस्वी पुरुष के रूप में चित्रित है ।

उत्तर—महाराज विराट का यह पुत्र, स्वभाव से कोमल और कायर है । घर से वह यह सोचकर निकला है कि कौरवों से अपना गोधन छिना कर उन्हें उचित दंड देगा, किन्तु जब उसे कौरवों की असंख्य सेना का गगन भेदी सिंहनाद कर्ण-गोचर होता है तो उसका साहस चुक जाता है और भय पीड़ित हो वह घर भाग जाना चाहता है :—

"वृहन्नला, चल चल, लौट चल इस असंख्य सेना समूह में अकस्मात् क्यों रथ लाया ? जिन महारथियों का नाम सुन देवेन्द्र भी भयभीत हो जान छिपाते हैं उनके साथ हम लोग कहाँ से इतना साहस कर सकते हैं कि युद्ध करें । हाय ! अम्मा तुम कहाँ हो ? चलती बार तुमने हमें बहुत मना किया था पर हमने अहंकार में आय तुम्हारी बात पर जो ध्यान न दिया उसी का फल पाया । अब क्या करें, वृहन्नला जल्दी चल, ऐसा न हो कि कौरवों की सेना कहीं हमें देखले ।"[४]

---

१. **भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० १६ ।**
२. „ „ पृ० २९ ।
३. „ „ पृ० ३२ ।
४. „ „ पृ० १० ।

उत्तर अत्यंत नम्र, शिष्ट और वीरों के प्रति अत्यन्त आदरपूर्ण भी है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि जिसे वह वृहन्नला समझ रहा था वह जगत प्रसिद्ध अर्जुन है तो वह विनयावनत होकर कहता है :—

(क्षणिक मुग्ध सा हो साष्टांग प्रणाम पूर्वक हाथ जोड़) हे वीर वर, हमें क्षमा करो, हमने बिना जाने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है। वीर धुरीण उन सब बातों को आप भुलाकर हमारा अपराध क्षमा करो क्योंकि उन्हें यदि आप स्मरण करावोगे तो फिर हमारा निस्तार कहाँ होना है ? हम आपके पाद पद्म की शरण लेते हैं हमारी रक्षा कीजिए हम तुम्हारे दासानुदास हो चिरकाल लों तुम्हारी सेवा करेंगे।"[१]

नाटक में उत्तर एक बार फिर कायर व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है जब वह युद्ध क्षेत्र से जान बचाकर भागता है। अर्जुन उसे रोकता है :—

"सुनो, सुनो भागो मत अब थोड़ी सी बात के लिये हिम्मत छोड़े देते हो देखो कौरबी सेना के सब बड़े-बड़े योद्धा महारथी रण से पराङ्मुख हो भागे जाते हैं। चलो जहाँ हमारे प्रपितामह भीष्म हैं वहाँ रथ ले चलो।"

उत्तर—"महाशय, अब हमें शक्ति नहीं है, अब हम सर्वथा असमर्थ हो गए हैं।"[२]

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर में केवल एक दोष है, उसमें साहस का अभाव है। वैसे वह एक सज्जन व्यक्ति है। नाटक के अंत में जब वह यह सुनता है कि उसके पिता ने कंक भट्ट को अपमानित और घायल किया है तो वह अत्यंत क्रुद्ध—क्षुब्ध होता है और अपने पिता की कठोर भर्त्सना करता है—"पिताजी ऐसा विशुद्ध और उदार स्वभाव परम न्यायशील, धर्मपरायण जगत में कोई दूसरा पुरुष होगा, पिताजी हृदय विदारक आपके इस काम से हमें परम लज्जा और शोक होता है।"[३]

ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं मिला सकता इसलिए चरित्र-चित्रण का अवकाश उपर्युक्त चरित्रों में लेखक के लिये कम से कम होता है। फिर भी वृहन्नला भट्ट जी का पहला ऐसा नाटक है जिसमें चित्र कुछ उभर कर आ सके हैं। और कथा अपनी रोचकता बनाए रह सकी है।

---

१. **भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम सं०, पृ० १४।**
२. ,, ,, ,, **पृ० २७।**
३. ,, ,, ,, **पृ० ३६।**

कथोपकथक—वृहन्नला वीर रस प्रधान नाटक है इसलिये इसके कथोपकथन बड़े ही ओजपूर्ण चरित्र पर प्रकाश डालने वाले और व्यंजक हैं। द्रोण, कर्ण तथा अश्वत्थामा के कथोपकथन विशेष रूप से रोचक हैं।

"कर्ण— द्विजकुल कमल निशाकर वृद्ध भल्लूक मैं कर्ण हूँ जो अपनी बाण वृष्टि से सूर्य को भी आच्छादित कर सकता हूँ। क्या कहूँ एक तो तू ब्राह्मण दूसरे महाराज दुर्योधन के घर का पूज्य है नहीं तो मैं अभी तेरा शिरच्छेदन कर अपना पौरुष तुझे दिखा देता, बस अब चुप रह मत बोल हम बहुत तेरी सह चुके।"

अश्वत्थामा—क्यों रे राधानंदन सूत सुत, जिनके बल और पुरुषार्थ का आदर भीष्म से महाबली और प्रतापी सदा करते हैं उनकी नीच तू अवज्ञा कर शिरच्छेदन करने कहता है, छोटे मुँह बड़ी बात, देख हम अभी तुझे समुचित दंड देते हैं।"[1] यह रोचक वार्तालाप पृ० १६ से १८ तक चलता है।

उत्तर और अर्जुन के कथोपकथन (पृ० ९ से १४) विराट और कंक भट्ट के कथोपकथन (पृ० ३२ से ३८) विराट राज के क्रोध पूर्ण वाक्य बड़े ही व्यंजक सशक्त और एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं।

देशकाल—महाभारत का काल प्रस्तुत नाटक का वर्ण्य काल है भाषा और वातावरण की दृष्टि से भट्ट जी का यह नाटक निर्दोष है इसमें केवल चार अंक है। पहले अंक में ३ गर्भांक दूसरे में ३ गर्भांक तीसरे में १, तथा चौथे में एक गर्भांक है। अभिनय की दृष्टि से यह नाटक बड़ा ही उपयुक्त है अन्य नाटकों की भाँति अंग्रेजी उर्दू आदि भाषाओं के अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग भट्ट जी ने इसमें बिलकुल नहीं किया है। अपनी ओर से अपने काल की समस्याओं को भी उस पर आरोपित करने का यत्न उन्होंने नहीं किया है। फल यह हुआ है कि नाटक बड़ा ही रोचक, सुगठित और मार्मिक बन पड़ा है। वह सहज ही प्रसाद जी की शब्दावली और उनके दृश्य चित्रण की याद दिला देता है।

भाषा शैली—सामान्यतः इस नाटक की भाषा संस्कृत निष्ठ है जो विषयानुकूल है। एक उदाहरण लीजिए :—

"वृहन्नला (हंस कर राजा से) जिनकी आज्ञा, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि दिग्पाल भी मानते हैं, वृष्णि, भोज, अन्धक आदि समस्त यादवगण सहित भगवान कृष्णचन्द्र जिनके आगे सदा अंजलि बद्ध रहते हैं, मही मंडल के समस्त राजागण जिनका नाम स्मरण कर कम्पायमान हो जाते हैं, दश लक्ष हस्ती, असंख्य अश्व, पदाति, रथ, जिनकी सेना के साथ चलते हैं जिनके दान से

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम सं०, पृ० १७।

समस्त भूमण्डल का दरिद्र दूर हो गया है, जिनके धर्मराज्य में असंख्य प्रजागण सुख पूर्वक कालयापन करते हैं जो पाश क्रीड़ा में सम्पूर्ण राज्य तृणवत् त्याग कर धर्मपाश बद्ध हो १२ वर्ष बन-बन भ्रमण कर अनेक प्रकार का कष्ट सहते रहे, हिम निर्मुक्त सूर्य समान आज वही धर्म नंदन राजा तुम्हारे सिंहासन को अपने चरण रज से पवित्र कर रहे हैं। इनके योग्य क्या यह सिंहासन नहीं है?"[1]

'वृहन्नला' में भी भट्ट जी ने पात्रानुकूल भाषा बुलवाई है। एक साधारण सिपाही से वे अवधी भाषा बुलवाना पसंद करते हैं:—

"सिपाही—(सब ओर देख) ई का यहाँ देखत आही, एक मेहरारू बैठल है। अरे ऐसे विजन वन में यह यहाँ कहाँ से आइल। वाह कस सुन्दर है जनौ गोबर के ढेर पर काठ की पुतली जड़ी होय (पास जाइ) विद्याधरी, तुम केअहिउ इस विजन बन में तुम्हार आउब कैसे भइल।"[2]

इस नाटक की भाषा अत्यन्त सरस, व्यंजक और संस्कृत गर्भित है जैसी कि वह इस प्रकार के नाटक के लिये होनी चाहिए।

उद्देश्य—संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार धर्म अर्थ काम मोक्ष में से कोई एक अभीष्ट होना चाहिए। वैसे रस निष्पत्ति नाटकों का प्रधान लक्ष्य होता है। इस नाटक में वीर रस की व्यंजना ही प्रमुख है। जिसमें लेखक पूर्ण सफल हुआ है।

चन्द्रसेन नाटक

अपने हिन्दी नाटककार नामक ग्रंथ में श्री जयनाथ नलिन ने लिखा है:—"प्रतापनारायण मिश्र के 'हम्मीर हठ' और बालकृष्ण भट्ट के चन्द्रसेन का भी नाम इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में लिया जाता है। वे दोनों ही अप्राप्य हैं।"[3]

यह नाटक ऐतिहासिक नाटक केवल इसी अर्थ में है कि इसमें इतिहास प्रसिद्ध अलाउद्दीन का नाम आ गया है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में इतिहास की कोई बात नहीं है।

यह नाटक ३ अंकों में समाप्त होता है। इसके पात्रों की तालिका निम्नांकित है:—

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम सं०, पृ० ४४-४५।
२. ,, ,, ,, पृ० २१।
३. हिन्दी नाटककार, जयनाथ 'नलिन', पृ० २४४।

(१) विजय वर्मा—बिहार का राजा ।
(२) सागर चन्द्र—विजय वर्मा का कर्मचारी ।
(३) इन्द्रमणि—एक क्षत्रिय राजा ।
(४) मदन लतिका—इन्द्रमणि की राजकुमारी ।
(५) चन्द्रसेन—राणा वंश का पुरुष उदयपुर अधिपति ।
(६) कलानाथ—चन्द्रसेन का लड़का ।
(७) विनोदिनी—चन्द्रसेन की पत्नी ।
(८) चित्ररथ—गंधर्व ।
(९) प्रमद्वरा—अप्सरा ।
(१०) तुराव खां
(११) मौजू खां } अलाउद्दीन की फौज के तीन सरदार ।
(१२) फजल खां

भट्ट जी नाटक लिखने का उद्देश्य माल्यवनु तथा सूत्रधार की वार्ता में माल्यवनु द्वारा स्पष्ट कर देते हैं :—

"नाटक का बीज 'अन्त बना तो सब बना' यह लोक गाथा जो आपने अभी कहा वह तो अभिनय के लिये बड़ी उत्तम है । इसी को रूपक द्वारा पुष्ट कर इन सभासदों को क्यों नहीं देखाते । क्या आवश्यकता है कि हम किसी दूसरी बात की खोज करें ।"[1]

कथावस्तु—अलाउद्दीन राजा इन्द्रमणि की भारत प्रसिद्ध सुन्दरी राजकुमारी का पाणिग्रहण करना चाहता है । इन्द्रमणि उसके प्रस्ताव को अमान्य कर देता है । फलस्वरूप वह बन्दी बना लिया जाता है । यह स्मरणीय है कि इन्द्रमणि की राजकुमारी मदनलतिका का वाग्दान उदयपुराधिपति चन्द्रसेन के पुत्र कलानाथ के साथ पहले ही हो चुका था पर आपसी मतभेदों के कारण विवाह सम्पन्न नहीं हो सका । इसी बीच में अलाउद्दीन के सैनिक चन्द्रसेन को मार डालते हैं और उसकी पत्नी तथा पुत्र असहाय हो जाते हैं कलानाथ के रूप पर प्रसन्न हो एक अप्सरा उस पर दयार्द्र हो उठती है और चित्ररथ गंधर्व की सहायता से उसका कुछ उपकार करना चाहती है । इधर अलाउद्दीन के सरदार बलात् मदनलतिका की शादी एक कुबड़े के साथ करना चाहते हैं । परन्तु एक गंधर्व चित्ररथ तथा अप्सरा प्रमद्वरा की सहायता से कलानाथ और मदनलतिका का संयोग हो जाता है । और गंधर्व-अप्सरा की दैवी शक्ति के समक्ष अलाउद्दीन के सरदार उपायहीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं ।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १८७७, पृ० (फट गया)** ।

जहाँ गंधर्व और अप्सरा पात्र हों तो वह उपन्यास ऐतिहासिक किसी प्रकार नहीं हो सकता। नाट्य कला की दृष्टि से भी उपन्यास की कथावस्तु अत्यन्त शिथिल और उबा देने वाली है। कथोपकथन अनावश्यक रूप से लम्बे और निर्जीव हैं। वीरगति प्राप्त चन्द्रसेन के स्वागत में देवताओं की लम्बी वार्ता चलती है।[१] 'भारत' पुरुष रूप में अत्यन्त लम्बा आत्मकथन करता है।[२] कुबड़ा विवाह की प्रसन्नता में लम्बा स्वगत कथन करता है।[३] ये सब स्थल अत्यन्त ऊब पैदा करने वाले हैं।

इस नाटक में भट्ट जी दुश्चरित्र ब्राह्मणों पर व्यंग्य करना भी नहीं भूले हैं।[४] विचित्र बात यह कि अलाउद्दीन रंग मंच पर इसमें आता ही नहीं।

किरातार्जुनीय :—

यह नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में अक्टूबर से दिसम्बर सन् १८९९ पृ० १६ से धारावाहिक प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। भट्ट जी ने नाटक के स्रोत के विषय में सूत्रधार से कहलवा दिया है—"हाँ अच्छी सुध आई महाकवि भारवि की गंभीर अर्थ गर्भित कविता इनके लिए बहुत ही उपयुक्त होगी कहा भी है 'भारवेरर्थ गौरवम्'।....उसी ने (नाटककार ने) यह 'किरातार्जुनीय' दै मुझे आज्ञा दिया कि जा इसके अभिनय द्वारा अपना गुन दिखाय।"[५]

भट्ट जी ने नाटक लिखने सम्बन्धी नीति भी टिप्पणी में स्पष्ट करदी है—"जहाँ तक हो सका है किरातार्जुनीय का मैंने मुहाविरे की हिन्दी में अनुवाद किया है इसे आगे रख किरात पढ़े तो थोड़ा संस्कृत जानने वाले को भी किरात लगता जायगा।"[६]

कथावस्तु—इसमें अर्जुन और शिव के युद्ध का वर्णन है जिसमें अर्जुन सबको पराजित कर देता है।

भट्ट जी ने टिप्पणी में दी अपनी प्रवृत्ति के द्वारा इसे नाटक रहने ही नहीं दिया उन्होंने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के श्लोक समानान्तर उद्धृत किये हैं और उनका अर्थ मात्र कर दिया है। इसलिये यह नाटक से अधिक काव्यानुवाद मात्र रह गया है।

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८७७, पृ० १३।
२. ,, जनवरी १८७८, पृ० १४-१५।
३. ,, मई १८७८, पृ० ९-१०।
४. ,, अगस्त १८७८, पृ० १३।
५. ,, अक्टूबर से दिसम्बर १८९९, पृ० १७।
६. ,, ,, ,, पृ० १८।

द्रौपदी पाण्डवों को उत्तेजित करना चाहती है उसका उपदेश पृ० २३ से २६ तक चलता है।[1] भीम पृ० २६ से ३० तक भाषण करते हैं और युधिष्ठिर पृ० ३० से ३३ तक।[2]

इसी प्रकार ब्रह्मचारी के वेश में इन्द्र अर्जुन को पृ० १० से १७ तक[3] उबा देने वाला लम्बा उपदेश देता है और अर्जुन किरात को पृ० १९ से २२ तक[4] लम्बा उपदेश देता है।

इस प्रकार पूरे नाटक को भट्ट जी ने भाषण संग्रह मात्र बना दिया। काव्य रस की दृष्टि से तो यह अच्छा है पर नाटक की परिभाषा के अन्तर्गत यह नहीं आता या यह कह सकते हैं कि एक घोर असफल नाटक है।

पौराणिक नाटकों में भी भट्ट जी अपने काल की समस्यायें उठाना नहीं भूलते किन्तु वृहन्नला को छोड़ कर उनके अन्य नाटकों में ये समस्यायें कथावस्तु से अलग थलग प्रतीत होती हैं। किरातार्जुनीय में भी उन्होंने म्यूनिसपैलिटी और चुंगी की समस्या उठादी है और वे इन अत्याधुनिक नामों को देने का लोभ भी संवरण नहीं कर पाए हैं। उनका एक पात्र किरात बनेचर कहता है :—"शहरों के रहने वाले मकान के आगे दो गज़ जमीन सहन के लिये तरसते हैं यहाँ कुल जंगल का जंगल हमारा घर है। जिसमें उनके सैकड़ों लम्बे चौड़े महल दो महले एक कौने में अट जाँय। गंदगी और बदबू दूर करने को शहरों में म्युनिसपैलिटी नित्य नया प्रबन्ध सफाई का किया करती है। जिस्का खर्चा अदा होने को चौगुनी चुंगी और टैक्स बढ़ा दिया जाता है जिसके अदा करने में लोगों का चूर ढीला होता है।"[5]

सीता वनवास :—यह नाटक तीन अंकों में समाप्त होता है। 'हिन्दी प्रदीप' के सितम्बर १८८२ के अंक (पृ० १३-२१) से इसका धारावाहिक रूप से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। नगर के एक साधारण से व्यक्ति के द्वारा सीता की निंदा सुनकर लोकापवाद के भय से राम सीता को वन में भेज देते हैं वहाँ लव-कुश नामक दो पुत्र उनके होते हैं। राम द्वारा किए हुए यज्ञ में दोनों कुमार आते हैं। सीता को पृथ्वी ग्रहण कर लेती है। संक्षेप में यही इसकी कथा है। भट्ट जी के अन्य पौराणिक नाटकों की सभी विशिष्टतायें इसमें हैं। अनेक स्थल

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८९९, पृ० २३-२६।**
२. ,, ,, पृ० २६-३३।
३. ,, **अप्रैल से जून १९००, पृ० १०-१७।**
४. ,, ,, पृ० १९-२२।
५. ,, **अप्रैल से जून १८९९, पृ० ८।**

बड़े लम्बे और नीरस हो गए हैं। चित्रकार द्वारा बनाए चित्रों को राम लक्ष्मण सीता पृ० १५ से २० तक देखते रहते हैं।[1] पता नहीं रंग मंच पर इस व्यापार को कैसे सफलता पूर्वक दर्शकों की रुचि का ध्यान रखते हुए दिखाया जा सकता है। इसी प्रकार राम अपना भाषण दो पृष्ठ में (पृ० ७-८) समाप्त करते हैं।[2] संस्कृत के उद्धरण भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। मौलिकता का नितांत अभाव है तथा नाटक नीरस है।

शिशुपाल बध—पौराणिक आख्यान पर आधारित भट्ट जी का यह नाटक 'हिन्दी प्रदीप' के मई से अगस्त १९०३ (पृ० ४०-५२) के अंक से धारावाहिक रूप में निकलना प्रारम्भ हुआ। कृष्ण द्वारा शिशुपाल बध की प्रसिद्ध पौराणिक गाथा ही इसकी विषय वस्तु है।

'किरातार्जुनीय' की भाँति भट्ट जी ने इसमें भी 'शिशुपाल बध' महाकाव्य के अनेक श्लोक उद्धृत कर दिए हैं और उनके अर्थ के सहारे कथावस्तु को आगे बढ़ाया है। फलस्वरूप नाटकत्व इसमें कुछ नहीं रह गया है। वह केवल उपर्युक्त संस्कृत महाकाव्य का गद्यानुवाद लगता है।

कुक्कुट मिश्र तथा उलूक भट्ट के रूप में दो लोभी और पाखण्डी ब्राह्मणों को इसमें प्रस्तुत करना भट्ट जी नहीं भूले हैं। वे सभी पुराने नाटकों में अपने युग की समस्या में रखना पसन्द करते हैं यद्यपि नाटक इससे अस्वाभाविक ही हो जाता है। ब्राह्मणों में आपस में कितनी फूट होती है वह भी इसमें व्यंग्य है। 'हिन्दी प्रदीप' में अनेक बार प्रयुक्त उनकी निम्नांकित प्रिय कहावत ब्राह्मणों के सन्दर्भ में इसमें भी आई है "ब्राह्मण नाऊ हाऊ जाति देख गुर्राऊ।"[3]

नाटक अभिनेय तो है ही नहीं नीरस भी है। संस्कृत नाट्य शैली पर लिखा गया है।

'शिक्षा दान' या जैसा काम वैसा परिणाम,[4] आचार विडम्बन,[5] पतित

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १५८२, पृ० १५-२०।**

२. **,, ,, पृ० ७-८।**

३. **,, सितम्बर से दिसम्बर १९०३, पृ० १८।**

४. **भट्ट नाटकावली, सम्पादक धनञ्जय भट्ट 'सरल', प्रथम संस्करण, पृ० ८५–१२६।**

५. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टू० से दिस० १८९९, पृ० १०–१६।**

पञ्चम[1] तथा नई रोशनी का विष[2] भट्ट जी के सामाजिक और समस्या मूलक नाटक हैं।

'जैसा काम वैसा परिणाम' के प्रारम्भ में ही लेखक ने उसका उद्देश्य निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है :—

"पर–तिय–रमन समान, नहिं कुकर्म कोउ आन जग ।
सुख ज्यों ग्रीषम भान, हरत आयु यह नरन कै ॥"[3]

नांदी के रूप में वह कामना करता है :—

"जो धनवान सुजान को करि राख्यो अज्ञान ।
ईश्वर तिन्ह गनिकान सौं करौ सदा कल्यान ॥"[4]

इस नाटक का प्रमुख पात्र रसिक लाल अपनी सती साध्वी पत्नी की उपेक्षा कर मोहिनी नामक वेश्या पर आसक्त है जो धन तो रसिकलाल से लेती है और प्रेम राधावल्लभदास नामक व्यक्ति को करती है। एक दिन यह भेद खुल जाता है और रसिकलाल अपनी पत्नी को पुनः प्रेम करने लगता है।

जैसा काम वैसा परिणाम अपने गठन और अङ्कों के विभाजन के आधार पर नाटक से अधिक प्रहसन ही है। इसमें भट्ट जी ने अङ्क नहीं दिये हैं केवल ५ पटों का परिवर्तन मात्र रखा है।

यह विचित्र बात है कि भट्ट जी ने 'जैसा काम वैसा परिणाम' की पृष्ठ ८७ से ९० तक की कथा[5] ज्यों की त्यों अपने रहस्य कथा उपन्यास से उद्धृत कर दी है।[6] अन्तर इतना है कि इस नाटक का राधावल्लभ दास उपन्यास का भग्गू है।

इस नाटक में भट्ट जी ने बीच बीच में हिन्दुओं की पवित्रता के पाखण्ड पर भी व्यंग्य किया है। जहाँ वेश्या भी पाखण्ड में धर्मनिष्ठ लोगों से दो पग आगे बढ़ जाती है।[7]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १८८८, पृ० १४–१७।**

२. ,, **अक्टूबर १८८४, पृ० १५-१८।**

३. **भट्ट नाटकावली, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल' प्रथम संस्क०, पृ० ८३।**

४. ,, ,, ,, ,, **पृ० ८५।**

५. **भट्ट नाटकावली, सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल', प्रथम संस्करण, पृ० ८७–९०।**

६. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८१, पृ० २२-२४।**

७. **भट्ट नाटकावली, संपादक धनंजय भट्ट 'सरल', प्रथम संस्करण, पृ० १०६।**

स्थान-स्थान पर नीरसता इसमें अधिक है वैसे अभिनेय है और थोड़ी काट छाँट से रोचक भी बनाया जा सकता है।

आचार बिडम्बन--भट्ट जी की यह कृति भी प्रहसन के अधिक निकट है। 'हिन्दी प्रदीप' में इसका धारावाहिक प्रकाशन अक्टूबर से दिसम्बर १८९९ (पृ० १०) से प्रारम्भ हुआ। पाखण्डी पेटू पण्डितों की पोल खोलने के लिए ही भट्ट जी ने इसकी रचना की है। इसमें दो पात्र हैं, राम प्रपन्न मिश्र और माधवाचार्य। रामप्रपन्न मिश्र पं० बालकृष्ण भट्ट का ही दूसरा रूप है और माधवाचार्य पाखण्डी पण्डितों का प्रतिनिधि। इसमें भट्ट जी ने दोनों के वार्तालाप के मिस पाखण्ड का अनन्त भंडार खोल कर रख दिया है। चतुर रामप्रपन्न मिश्र बातों बातों में ही पाखण्ड की सारी बातें माधवाचार्य से उगलवा लेता है। भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' में अपने निबन्धों द्वारा हिन्दू समाज की जिन बुराइयों पर कठोर प्रहार करते रहे हैं इस प्रहसन में उन्हीं बुराइयों पर उनके मीठे व्यंग्य हैं। हिन्दू समाज की तीन बुराइयों का उद्घाटन इसमें उन्होंने विशेष रूप से किया है, (१) बाल्य विवाह की प्रथा, (२) शिक्षा की उपेक्षा, (३) पाखंडों एवम् आडम्बरों के प्रति आस्था। पाखण्डी पण्डित माधवाचार्य की शब्दावली का एक उदाहरण लीजिए :—

"हाँ फिर इसमें तो कोई संदेह नहीं जबसे हड़ही चीनी चल पड़ी है मैंने बाजार की मिठाई खाना छोड़ दिया। बाजार की साग भाजी भी नहीं घर में आने देता। इसलिए कि बम्बे का पानी उस पर छिड़का रहता है। अहीर के घर का दूध दही काम में नहीं लाता सो भी इसीलिए कि अहीर लोग बम्बे का पानी गाय भैंसों को पिलाते हैं। जिनके दूध में कहाँ तक बम्बे का पानी न उतर आता होगा मैं तो जिधर निगाह फैलाता हूँ कोई ऐसे नहीं मालूम होते जो भ्रष्ट न हो गये हों इसीसे मैं स्वयं पाकी होगया हूँ।"[1]

फिर भी पूरा वार्तालाप घटनाओं से रहित है इसलिए सिद्धांत कथन मात्र लगता है। नीरसता से यह प्रहसन भी पीड़ित है।

पतित पंचम--पतित पंचम भी अपने आकार प्रकार से प्रहसन ही है। 'हिन्दी प्रदीप' में इसका धारावाहिक प्रकाशन अगस्त १८८८ (पृ० १४) से प्रारम्भ हुआ। इस प्रहसन में भट्टजी ने काँग्रेस विरोधियों को आड़े हाथों लिया है। यद्यपि स्वयम् भट्ट जी काँग्रेस के आलोचकों में से थे किन्तु और लोगों द्वारा काँग्रेस का विरोध उन्हें असह्य था। उनके युग में राजा शिवप्रसाद और सर

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर से दिसम्बर १८९९, पृ० १२-१३।**

सैयद अहमद खाँ दो बड़े काँग्रेस बिरोधी व्यक्ति थे और अंग्रेजों के गुलाम के रूप में प्रसिद्ध थे। इस प्रहसन का वर्ण्य विषय भी इसी प्रकार का है। काँग्रेस की एक मीटिङ्ग आयोजित की गई है जिसमें अंग्रेजों के पाँच गुलाम विघ्न डालने आते हैं पर अकृतकार्य होने पर वे अपना सा मुँह लेकर चले जाते हैं। काँग्रेस विरोधियों को भट्ट जी 'पापी' की संज्ञा देते हैं। इसलिए इस प्रहसन के निम्नांकित पात्र ही पाँच पापी हैं।

(१) कुतर्क वागीश भट्टाचार्य : इसका चरित्र राजा शिवप्रसाद से अत्यन्त मिलता जुलता है।

(२) मुहम्मद फाजिल।

(३) एक सफेद दाढी वाला व्यक्ति (सम्भवतः भट्ट जी सर सैयद को ही चित्रित करना चाहते हैं।)

(४) एक जमीदार।

तथा (५) मुंशी मार्जार।

विषय अत्यन्त रोचक होते हुये भी भट्ट जी इसमें सरसता का निर्वाह नहीं कर सके। स्थान-स्थान पर प्रहसन अत्यन्त नीरस होगया है।

नई रोशनी का विष—सन् १८८४ में इसका 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। भट्ट जी ने इसे पाँच अङ्कों में समाप्त किया है। 'हिन्दी प्रदीप' में वैसे भी वे पाश्चात्य सभ्यता, फैशन आदि के विरुद्ध लेख लिखा करते थे इस नाटक में उन्होंने नई रोशनी के विष से पीड़ित लोगों की दुर्गति दिखाई है और उनके पश्चाताप के द्वारा इस विष की बुराई उन्होंने घोषित की है। इस नाटक के प्रधान पात्र हैं, सत्यानन्द, भानुदत्त, ताराचन्द, प्रमदा, सरला आदि। भट्ट जी पात्रों के नाम 'यथानाम तथा गुण' के आधार पर रखते हैं। प्रमदा 'नई रोशनी के विष' से विषाक्त है वह पहले सिने-तारिका रह चुकी है। अब उसने ताराचन्द नामक कलकत्ते के प्रसिद्ध धनी व्यक्ति को अपनी मुट्ठी में कर रखा है। ताराचन्द धनी ही नहीं वह अर्थपिशाच भी है। इस नई रोशनी के कारण उसमें अनेक अवगुण आ जाते हैं और अन्त में वह पश्चाताप करता हुआ लेखक के विचारों की घोषणा करता है :—

"आप लोगों ने सच सच मेरी आँखें खोल दीं अब कभी ऐसी गुस्ताखी मुझसे न होगी।"[1]

इसके अतिरिक्त 'नई रोशनी के विष' से एक बार पीड़ित विश्वामित्र का

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अगस्त १८८५, पृ० १४।**

पुत्र भानुदत्त भी अब इस 'विष' से दूर रहने की प्रतिज्ञा करता है और अतीत में की भूलों पर पछताता है :—

'दो एक भूल पिताजी मुझसे बन पड़ी जिनकी वजह से मैंने बहुत बहुत सी तकलीफ उठाया अब उन सब कामों को आपके सामने कहकर काँटों में अपने को नहीं घसीटा चाहता । इस्से प्रार्थना करता हूँ कि उनको अपने मुँह से कहने की शरम से मुझे बचाए रखिए और यद्यपि 'नई रोशनी के विष' का स्वाद मुझसे अधिक किसी ने न चक्खा होगा । पर हम यह भी कह सकते हैं कि मुझसे अधिक उसके लिये किसी ने ऐसा पश्चाताप भी न किया होगा ।"[1]

इस प्रकार भट्ट जी के सम्पूर्ण नाटकों का निरीक्षण करने से इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि उनका कला पक्ष इतना पुष्ट नहीं है जितना भाव पक्ष । जब 'हिन्दी नाटक' आकार ग्रहण कर रहा था उस समय भट्ट जी उन साहित्यकारों में से थे जिन्होंने उसे निश्चित आकार प्रदान किया ।

भट्ट जी की कहानियाँ

आधुनिक कहानी कला के आधार पर कहानी कही जा सके ऐसी एक भी कहानी भट्ट जी ने नहीं लिखी । किन्तु अपने लेखों, नाटकों तथा उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने कथा कहने का एक अद्भुत ढंग निकाला था । वे स्वप्न के रूप में कथायें लिखते थे । ये स्वप्न निबंध भी नहीं थे नाटक भी नहीं थे और न उपन्यास ही थे वे सबसे अधिक निकट कहानी के ही पड़ते हैं । वास्तव में वे कहानी से भी उतनी दूर हैं जितने निबंध से । इन्हें कथात्मक लेख की संज्ञा दी जा सकती थी पर लेख का गठन भी इनमें नहीं है । भट्ट जी ने 'पढ़े लिखे बेकार की नकल'[2] एक कथा लिखी है पर वे इसे स्वयं लेख की संज्ञा देते हैं :—

"जिन्होंने अपना जीवन केवल किताब और पुस्तकों ही में बिताया और जिनके सीधे सरल चित्त में संसार की बुराई भलाई ने स्थान पाया ही नहीं उनको कालेज छोड़ने पर ऊँची नीची दशा में पड़ कैसा सुख दुःख झेलना पड़ता है उसी का एक चित्र हमारे इस लेख का लक्ष्य है ।"

भट्ट जी विचारक और सुधारक पहले हैं बाद में कुछ और । उनके नाटकों, उपन्यासों, आलोचनाओं, अग्र लेखों सब में उनका यह रूप सबसे ऊपर है । सम्भवतः इसी लिये भट्ट जी निबंधकार के रूप में जितने सफल रहे

---

१. **'हिन्दी प्रदीप,' अगस्त १८८, पृ० १४ ।**

२. **वही, अप्रैल से जून १८९७, पृ० ३-२६ ।**

उतने न नाटककार के रूप में और न उपन्यासकार के रूप में और कहानीकार उन्हें कहना तो युक्तियुक्त नहीं होगा। भट्ट जी अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये बड़े उतावले रहते हैं इसलिये कथा के आवरण में वे कोई बात सफलतापूर्वक नहीं कह पाते। 'पढ़े लिखे बेकार की नकल' में जहाँ उन्हें अवसर मिलता है, धन, वर्तमान समाज व्यवस्था, समाचार पत्रों का दयनीय स्तर, बेईमानी आदि के वातावरण पर वे व्यंग्य करना नहीं भूलते।

भट्ट जी के 'स्वप्नों' का प्रारंभ अवश्य बड़ा स्वाभाविक और आकर्षक होता है :—"कल रात को मैं अपने देश की दीन दशा पर पड़ा पड़ा सोच रहा था इतने में घोर निद्रा ने आकर मुझे दबाया और यह एक अद्भुत स्वप्न देखने लगा।"[१]

यह वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि हम जिस विषय या वस्तु की चिन्ता करते हुए सोते हैं वही हमारे स्वप्न का आधार बनती है। इसलिये भट्ट जी के ये 'साहित्यिक स्वप्न' सचमुच कहानी बन सकते थे यदि कभी देश की चिंता के अतिरिक्त और किसी विषय में भी वे होते। भट्ट जी के एक दूसरे स्वप्न का प्रारंभ देखिए लगभग एक सा ही है :—

"दिन भर के परिश्रम से थकाथकाया शोकमोह से व्याकुल आज मैं चाँदनी रात में अपनी टूटी खाट पर पड़ा यह विचार कर रहा था कि क्या कारण है जो भारत भूमि की नित्य नित्य अवनति होती जाती है। क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिसमें इस अभागिनी का विनाश न हो।"[२]

वास्तव में भट्ट जी को हर स्वप्न में एक भव्य और दुखी मूर्ति दिखाई देती है और वह भारतमाता की होती है। जो कभी तो स्वप्न देखने वाले को यह प्रेरणा देती है—"अब इस समय अपना पूर्व काल का गौरव तेज और प्रताप क्यों नहीं प्रकट करते, विज्ञान और शिल्प चातुरी सीखो, बनिज की वृद्धि करो अपने भाइयों के चित्त में भी स्वदेशानुराग का अंकुर जमाय ऐसा यत्न करो कि जो तुम्हें दास और अर्द्ध शिक्षित कहते हैं उन्हें भी भारतीय बुद्धि गौरव का परिचय मिल जाय। अमेरिका का नवाभ्युदय देख क्या तुम्हें भी नहीं उत्साह होता, जाओ समुद्र पार हो विदेशियों के बीच अपना विजय स्तम्भ गाड़ो।"[१]

और कभी उसे वह दुष्टों से घिरी दिखाई देती है :—

"मैं उस महापुरुष के साथ उस पुण्य भूमि में घूमता अनेक आश्चर्यकारी

---

१. 'हिन्दी प्रदीप', जून १८८२, पृ० ५।
२. ,, अप्रैल १८८७, पृ० ६।
३. ,, जून १८८२, पृ० ७।

पदार्थों को देखता उस स्थान के मध्य भाग में जा पहुँचा जहाँ स्फटिक मणि की वेदी पर विराजमान एक परमसुन्दरी स्त्री बैठी थी। यह चन्द्रमुखी अपने देह के तेज से सम्पूर्ण स्थान को प्रकाशित करती उस भूमि की अधिष्ठात्री देवी सी जान पड़ती थी। उसके चारों ओर काले काले भयंकर रूप के अनेक नर नारी खड़े उसे पीड़ा दे रहे थे उस मृगनयनी के आकार और ढंग से मुझे यह जान पड़ा कि इन दुष्टों के व्यवहार से वह महाव्याकुल हो रही है। मानो ये सब उसके लोहू के प्यासे हैं।"[1]

और भट्ट जी इस पराधीनता का कारण जातपाँत, फूट, इर्ष्या, डाह, बैर कुटिलता, स्वार्थपरता आदि को समझते हैं और ये दुष्प्रवृत्तियाँ ही शरीर धारण कर उन्हें स्वप्न में दिखाई देती हैं। अत्यधिक उद्देश्य गर्भित होने के कारण इन 'स्वप्नों' का थोड़ा बहुत कथा अंश भी इस आदर्श, उद्देश्य या विचार भार से पीड़ित रहता है।

इन स्वप्नों की भाषा कहीं कहीं तो बड़ी चमत्कार पूर्ण हो गई है और पढ़ते समय काव्य का आनन्द देती है :—

"साहित्य राहित्य भाव को प्राप्त हो गए, व्याकरण का मरण हुआ चाहता है, श्रुति की किसी को स्मृति भी न रही वेदांत का अन्त हो गया पतंजलि को भी मैंने तिलांजलि दिलवादी, पाणिनि को बिना पानी मरना पड़ा।"[2]

इस प्रकार इन स्वप्नों का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि वे कहानी तो कम से कम नहीं हैं। उन्हें हम अन्योक्ति का गद्यीकरण कह सकते हैं।

एक अशर्फी का आत्म वृत्तांत —[3]

एक अशर्फी का आत्म वृत्तांत भी स्वप्न कथा है। यह पहली कथा है जो भारत माता के विषय में नहीं है। लगता है भट्ट जी अशर्फी पर कोई लेख लिखना चाहते होंगे पर जब वह कल्पना प्रधान हो गया तो उसने कथा का रूप धारण कर लिया। वास्तव में भट्ट जी की यह कथा अन्य कथाओं से अधिक रोचक और कहानी के निकट है।

इसका प्रारम्भ भी बड़ा ही आकर्षक है—"आधी रात बीत चुकी थी १३ या १४ मिनट हुये होंगे कि बारह की गजल चारों ओर से सुनाई देने लगी, सब सुनसान था परन्तु मुझे अभीतक निद्रा न आई बहुत जी ऊबा तो उठ बैठा।

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८७, पृ० १०।**
२. ,, ,, पृ० १३।
३. ,, **सितम्बर १९००, पृ० ४-८।**

पास मेज पर एक अखबार पड़ा था उठा लिया और चाहा कि लाओ इसे ही पढ़ें कि किसी तरह वक्त तो कटै। पास ही उस अखबार के देखा तो एक अशर्फी पड़ी है, उनींदा सा तो था ही मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह अशर्फी अपने कगर के बल खड़ी हो गई और मेरी ओर मुँह कर खखारने लगी। मैं इसी अर्द्धनिद्रा की दशा में इस अनोखे शब्द को सुन बड़ा चौकन्ना हो ध्यान दै जो शब्द वहाँ से निकले सुनने लगा।"[1]

भट्ट जी ने अशर्फी का जो आत्म वृतांत प्रस्तुत किया है उसमें घटना स्थलों की उद्‌भावना में उनका कथाकार छिपा हुआ है। अन्य बातें तो साधारण हैं पर अशर्फी का जेब से गिरकर एक हिन्दुस्तानी व्यापारी के हाथ लगना[2] भट्ट जी की सूझ है जिससे वे पीरू देश के निकट उत्पन्न अशर्फी को भारतीय पाठक के निकट लाने में सफल होते हैं।

इस रोचक कथा में भी भट्ट जी उपदेश देना नहीं भूले हैं लेकिन इस कथा में उपदेश पाठक को खलता नहीं है। अशर्फी पाठकों को वेश्या के यहाँ न जाने का उपदेश देती हुई कहती है :—

'पाठक महाशय मैं तुम्हें सचेत करती हूँ कि तुम कभी इनके भ्रमजाल में न पड़ो नहीं तो ये तुम्हें जहां तक निचोड़ते बन पड़ेगा कसर न करेंगी और तब तुम्हें शव तुल्य अस्पृश्य समझ त्याग देगीं।'[3]

'कट्टर सूम की नक़ल'[4] शीर्षक भट्ट जी की रचना भी प्रहसन और कहानी के बीच की वस्तु है। उसमें कथा है और बीच बीच में कोष्ठकों में नाटकों की भाँति निर्देश भी हैं। अपने पिता की कँजूसी से तंग आकर एक लड़का भाग जाता है और फिर अपने पुरुषार्थ से २००) रुपया कमा कर घर भेजता है पिता को लड़के के भाग जाने का दुख बिलकुल नहीं है, किन्तु जब चिट्ठी में २००) रुपये भेजने की बात पढ़ता है तो अपना आधा हिस्सा तो अपना समझता ही है। अपनी लड़की के नाम भाई के द्वारा भेजे गए शेष आधा रुपया भी हड़पना चाहता है। भट्ट जी ने कथा के अंत में लिखा है:—

सूमड़े की यह एक नक़ल है। हमारे पढ़ने वाले इसे निरी कल्पना न समझें वरन इस धरती को बड़ा बोझ न जाने कितने ऐसे कदर्य इस संसार में पड़े हैं जिनकी तन मन यह लोक परलोक जो कुछ है सब रुपया है।'[5]

---

१. **'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर १९००, पृ० ४।**
२. ,, ,, पृ० ६।
३. ,, **सितम्बर १९००, पृ० ८।**
४. ,, **अप्रैल से जून १८९५, पृ० १९-२५।**
५. ,, ,, ,, **पृ० २५।**

हिन्दी के कथाकारों में भट्ट जी का स्थान

यद्यपि कथाकार का रूप भट्ट जी का प्रमुख रूप नहीं है और कथाकार के रूप में वे प्रसिद्ध भी नहीं हैं फिर भी हिन्दी के अनेक प्रमुख कथा लेखकों पर उनका प्रभाव विषय और अभिव्यक्त दोनों में ही पड़ा है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी 'उसने कहा था' कहानी मे लहनासिंह को बालक के रूप में पहले दिखाया है फिर एक लम्बा अन्तर बीच में देकर उसे युवक के रूप में दिखाया है। ब्रह्मचारी मैं भट्ट जी बहुत पहले ऐसा कर चुके थे। कथा प्रारंभ कनने से पहले वातावरण का चित्रण भट्ट जी के उर्बर मस्तिष्क की ही उपज थी जिसका अनुकरण गुलेरी जी ने अपनी कहानी के प्रारम्भ में वातावरण चित्रण के रूप में किया है इतना ही नहीं उपन्यास सम्राट प्रेमचंद तक इस विषय में भट्ट जी के ऋणी हैं। वातावरण चित्रण, पात्रानुकूल भाषा और यथार्थवादी चित्रण में वे भट्ट जी के वास्तव में अनुयायी हैं। डा० रामबिलास शर्मा भी अपने भारतेन्दु युग नामक ग्रंथ में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—"यथार्थ चित्रण की यह वहीं भूमि है जिस पर बाद में प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में विशाल प्रासाद का निर्माण किया। ऊपर के उद्धरण से मालूम होता है कि भट्ट जी कोरे किताबी विद्वान् न थे। स्त्रियों के सूप फटकारने और हाथ नचाकर वाग्बाण बरसाने को उन्हों उतने ही ध्यान से देखा सुना था जितने ध्यान से मेघदूत पढ़ा था। पंखा कुली के प्रति सहानुभूति न होती तो वह भारतेन्दु युग के लेखक न होते।"[1]

आकृति चित्रण की विशेषता भी भट्ट जी के कथा साहित्य की अपनी विशिष्टता है और इस विषय में भी वे प्रेमचन्द के मार्गदर्शक हैं। डा० रामबिलास शर्मा स्वीकार करते हैं :—

"चरित्र चित्रण में भट्ट जी आकृति निदान की ओर विशेष आकृष्ट दिखाई देते हैं कहीं-कहीं पर सामुद्रिक शास्त्र का हवाला भी दे देते हैं। व्यंग्य पूर्ण चित्रण में वह पुनः प्रेमचन्द की याद दिलाते हैं जैसे बुद्धदास जैन का चित्र "पानी चार बार छान कर पीता था पर दूसरे की थाली समूची निगल जाता था डकार तक न आती थी।" वैसे ही आकृति और वेश भूषा का यह बड़ा सजीव वर्णन करते थे। जैसे बुद्धदास के ही लिये—"उमर इसकी ४० के ऊपर आगई थी, दाँत मुँह पर एक भी बाकी न बचे थे, तो भी पोपले और खोड़हे मुँह में पान की बीड़ियां जमाय, सुरमे की धज्जियों से आँख रँग,

---

१. **भारतेन्दु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२७-१२८।**

केसरिया चन्दन का एक छोटा सा बेंदा माथे पर लगा, चुननदार बालावर अंगा पहन, लखनऊ के बारीक काम की टोपी या कभी कभी लट्टूदार पगड़ी बाँध जब बाहर निकलता था तो मानो ब्रज का कन्हैया ही अपने को समझता था।" एक ही वाक्य में उन्होंने उस युग के पहनावे की झाँकी खड़ी कर दी है जो अब हमारे लिए बीत चुका है। इससे बालकृष्ण भट्ट का चौकन्नापन और अपने चारों ओर के आदमियों को देखने समझने की उनकी प्रवृत्ति प्रकट होती है।"[1]

प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वमहान् उपन्यासकार हैं और 'गोदान' उनके उपन्यासों में भी सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। उसमें प्रेमचन्द द्वारा दिए ये आकृति चित्र भट्ट जी से कितने प्रभावित हैं यह उन्हें पढ़कर ही जाना जा सकता है।[2]

भट्ट जी ने युग की समस्याओं को साहित्य द्वारा सुलझाने के प्रयत्न का श्रीगणेश किया है, 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'जैसा काम वैसा परिणाम' में जो वेश्या समस्या है वही प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' की मूल चेतना बनी है।

'वृहन्नला' और 'नूतन ब्रह्मचारी' की संस्कृत गर्भित एवम् ओजपूर्ण शैली का प्रभाव 'प्रसाद' के नाटकों पर देखा जा सकता है। भट्ट जी ने सामाजिक समस्याओं को अपने कथा साहित्य का विषय बनाकर अपने परवर्ती लेखकों के लिए विषय वस्तु का एक असीम भण्डार ही उन्मुक्त कर दिया।

भट्ट जी के 'चन्द्रसेन' नामक नाटक में चन्द्रसेन ठीक प्रसादजी के विम्बसार की भाँति सोचता है। इसलिए 'चन्द्रसेन' का प्रभाव विम्बसार पर केवल कल्पना ही नहीं है।

भट्ट जी के द्वारा लिखी 'स्वप्न कथाओं' का व्यापक प्रभाव परवर्ती लेखकों पर हुआ। डा० नगेन्द्र जैसे प्रतिष्ठित समालोचक ने भी हिन्दी उपन्यास[3] शीर्षक अपना निबन्ध इसी स्वप्न पद्धति पर लिखा है। 'एक अशर्फी का आत्म वृत्तांत' कला के जिस रूप का पहला छोर है 'पगडण्डी'[4] उसी का दूसरा।

---

१. भारतेंदु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १२८।

२. गोदान, प्रेमचन्द्र, तेरहवाँ संस्करण, पृ० २६,३,५४,६५,६१,१०७, १६५,२६० आदि।

३. विचार और अनुभूति, डा० नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृ० २५-३५।

४. पगडण्डी, कमलकांत वर्मा, कथाकुंज, सम्पादिका डा० किरणकुमारी गुप्ता, पृ० ६५ पर सङ्कलित।

किसी भी साहित्यकार की महानता निर्धारण के लिए दो बातों पर विचार आवश्यक है, पहली, साहित्यकार अपने परवर्ती लेखकों को कहाँ तक प्रभावित कर सका है, दूसरी, स्वयम् अपने विचारों की अभिव्यक्ति में उसकी सफलता कहाँ तक है। दोनों दृष्टियों से भट्ट जी युगान्तरकारी साहित्यकार हैं। वे हिन्दी के आदि युग के कथाकार हैं जिनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर अनेक परवर्ती लेखकों ने भाव और भाषा की दुर्लभ पर अक्षय और अमूल्य निधि प्राप्त की है।

सप्तम अध्याय

भट्ट जी का अप्रकाशित साहित्य

तेतीस वर्षों तक भट्ट जी ने अनथक रूप से लिखा और उसे स्वसम्पादित 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित किया इसलिए सहसा विश्वास नहीं होता कि कुछ ऐसा साहित्य भी उनके द्वारा प्रणीत हो सकता है जो अप्रकाशित हो। सन् १९०९ में 'हिन्दी प्रदीप' ब्रिटिश सरकार के दमन का शिकार हो गया था। उसके बाद भी भट्ट जी कुछ न कुछ लिखते अवश्य रहे होंगे क्योंकि उन्हें 'लिखने का नासूर' था।[1]

अप्रकाशित रचनाओं में हिन्दी सम्बन्धी सामग्री में तो भट्ट जी का केवल एक लेख 'निस्सहाय हिन्दू' शीर्षक उपलब्ध है जो उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं पर उनके प्रकाशित किसी भी निबन्ध से अधिक प्रकाश डालता है। इस निबन्ध में उन्होंने एक १५ वर्षीय निस्सहाय हिन्दू बालक का करुण चित्र प्रस्तुत किया है। यह निस्सहाय बालक वास्तव में भट्ट जी के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यों तो अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में भट्ट जी अपनी मान्यतायें यथा प्रसङ्ग अनेक स्थानों पर प्रकट कर चुके हैं पर एक ही स्थान पर अपनी सम्पूर्ण मान्यताओं एवम् विश्वासों के प्रकाशन की दृष्टि से इस निबन्ध का अत्यधिक महत्व है। यह निबन्ध भट्ट जी के हस्त लेख में ७ पृष्ठों में उपलब्ध है जो उसकी समाप्ति के ढङ्ग से अपूर्ण सा ही प्रतीत होता है। परिशिष्ट 'क' के रूप में यह निबन्ध अविकल दे दिया गया है।

अन्य अप्रकाशित सामग्री में संस्कृत भाषा के विभिन्न कवियों पर लिखे भट्ट जी के हस्त लेख में उनके ३६४ पृष्ठ उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्ट जी विद्यार्थियों के लिये उपयोगी संस्कृत साहित्य का एक संक्षिप्त इतिहास लिखना चाहते थे किन्तु अपने जीवन में वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। भट्ट जी

१. 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी, फरवरी १९०३, पृ० ३।

संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे संस्कृत भाषा और साहित्य के लिये उनके हृदय में अगाध प्रेम था। किन्तु हिन्दी-साहित्य-सेवा से कभी इतना अवकाश नहीं मिलता था कि वे उस दिशा में भी कुछ कार्य कर सकें। सम्भवतः अपनी उसी अवरुद्ध अभिलाषा को वे उपर्युक्त पृष्ठों में अभिव्यक्ति देना चाहते थे। भट्ट जी द्वारा संस्कृत कवियों पर लिखा गया यह साहित्य विवेचनात्मक अथवा गवेषणात्मक ढंग का नहीं है अपितु सूचनात्मक ढंग का है। इतिवृत्तात्मक शैली में भट्ट जी ने विभिन्न कवियों की प्रमुख प्रमुख बातों का उल्लेख भर कर दिया है। दंडी, भामह, कालिदास तथा भारवि पर अवश्य उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ लिखा है। भट्ट जी द्वारा संस्कृत साहित्य के विषय में लिखे इन पृष्ठों का आलोचन एवं विवेचन प्रस्तुत निबंध की विषय-परिधि से बाहर है इसलिये यहाँ केवल उन कवियों की तालिका तथा उनके विषय में लिखे पृष्ठों की संख्या देना ही पर्याप्त होगा।

कवियों के नाम		पृष्ठ संख्या	कवियों के नाम		पृष्ठ संख्या
१. रत्नाकर	...	१	१७. रघुनाथदास गोस्वामी		१
२. राजशेखर	....	२	१८. प्रबोधानन्द सरस्वती	...	१
३. चक्रवती	...	१	१९. जीव गोस्वामी	...	१
४. कृष्णदास कविराज	...	१	२०. वामन भट्ट बाण	....	२
५. विशाख दत्त	...	२	२१. श्री रूप गोस्वामी	...	२
६. गोविन्द	...	१	२२. कृष्ण मिश्र		
७. दण्डी	...	३८	(ता० १९-८-१२)		११
८. भास	....	१	२३. भोज	....	२
९. रुह्यक	...	१	२४. उदण्ड	....	१
१०. जल्हण	...	१	२५. माघ	....	२६
११. रूद्रट	...	१	२६. भामह	...	२
१२. दामोदर मिश्र	...	३	२७. विल्वमङ्गल	....	३
१३. मुरारी	....	२	२८. घटकर्पर	....	३
१४. जयदेव	...	२	२९. कर्णपूर	....	१
१५. नीलकण्ठ	....	२	३०. शाङ्र्गधर	....	१–२
१६. वेंकटाध्वरी	....	२	३१. देवेश्वर	...	१

कवियों के नाम	पृष्ठ संख्या	कवियों के नाम	पृष्ठ संख्या
३२. भास	१	४७. धनपाल	१
३३. विश्वेश्वर	१	४८. कुमारदास	१
३४. माघ	२	४९. विश्वनाथ कविराज	२
३५. भल्लट (लोलम्बराज		५०. मूक कवि	१
श्रीधरदास)	१–३	५१. भट्टि	२
३६. विश्वनाथ	१	५२. कालिदास	१३
३७. गङ्गादास	१	मेघदूत	६
३८. सायन	१	रघुवंश	४१
३९. जगन्नाथ पण्डितराज	२	कुमार सम्भव	३०
४०. उमापतिधर	१	५३. अप्पय दीक्षित	३
४१. पद्मगुप्त	१	कुवलयानन्द	६
४२. धनंजय	१	५४. भवभूति	६
४३. सुभट	१	५५. भारवि	
४४. शङ्खधर (उमापतिधर)	१	किरातार्जुनीय	३०
४५. अभिनवगुप्त	१	५६. हर्ष	३६
४६. क्षेमीश्वर	१		

पृष्ठ योग –३६४

इस प्रकार हम देखते हैं कि निबन्धकार, उपन्यासकार, आलोचक, तथा नाटककार के रूप में भट्टजी का केवल ऐतिहासिक महत्व ही नहीं है अपितु भाषा और साहित्य का शृङ्गार करने वालों में भी वे मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं। उनके द्वारा हिन्दी भाषा के लिए किया गया त्याग तो सचमुच अद्वितीय है हिंदी का कोई दूसरा लेखक इस विषय में उनका प्रतिद्वंदी नहीं।

परिशिष्ट 'क'

नोट :—भट्ट जी का एक अप्रकाशित एवम् अपूर्ण लेख जो उनके जीवन एवम् विचारों को सबसे अधिक स्पष्ट करता है।

'श्री'

'निस्सहाय हिन्दू'

(१५ वर्ष का एक बालक)

क्या जगन्नियंता जगत्पिता परमेश्वर ने सृष्टि रचना के साथ सहायता को नहीं सृजा ? तब क्यों यह जगत जीर्ण अरण्य समान सब ओर अन्धकारमय हो रहा है। हाय कोई नहीं है जो इस असहाय बालक का सहायक बने और इस अशरण को शरण दे अपनावे। हा कोई इस अनाथ का साथ देने वाला नहीं है। हा ! कोई तो मेरा हाथ पकड़ने वाला देख पड़ता जो इस अन्धकार से मुझे उबार उस ज्योति के प्रकाश का दर्शन कराता, जिसके अस्तित्व से तमसाच्छन्न आकाश विमल तारकावली सुशोभित हो जाता है। तारापति की मृदुल शीतल किरण आँख को ठंडक और मन को प्रमोद देते। ऊँची-ऊँची उमंगों से मुझे प्रमुदित और प्रोत्साहित करता। हाय ! इस अभागे के एक भी मनोरथ नहीं पूरे हुआ चाहते। तब क्या सदा मैं इसी सूची भेद्य अंधकार में पड़ा सड़ा करूँगा। चित्त चाहता था सकल विद्या पारंगत हो जाता जैसा वीर केसरी हनुमान एक ही उछाल में बड़े बड़े नक्र मक्र पूर्ण समुद्र को डाक गये वैसा ही मैं भी अपने बुद्धि के सहारे विद्या निधान बन जाता। मन में उमंग थी ऐसा व्यवसाय कुशल होता कि बात की बात में लाखों का वारा न्यारा करते देर न लगती। राममूर्ति को उदाहरण में रख यावत् चिन्ता और फिक्र से अलग रह शरीर अत्यन्त बलिष्ठ करते सो भी न हुआ। तात्पर्य यह कि शारीरिक मानसिक तथा सम्पति का बल तीनों से रहित रहे। परस्पर सहायता और सहानुभूति तो हिन्दुस्तान की धरती ही से मुख मोड़ रूठ कर और देशों

में बहुत दिनों से जा बसी यहाँ की शापित पृथ्वी तथा जल में कुछ ऐसा जहर मिल गया है जो देश भर को छिन्न भिन्न किए है। सहानुभूति एकमत्य तथा पुरुषार्थ को पास नहीं फटकने देता। इस निःसहाय बालक का तो कहना ही क्या जिसे किसी ने कभी अपनाया ही नहीं। साहस के अथाह सागर में इसने भी अपनी उम्र की कश्ती को छोड़ 'आत्मैदह्यात्मनौ वंधुरात्मैदरिपुरात्मनः' गीता के इस भगवद्वाक्य को अपना शिक्षा गुरू मान कार्य क्षेत्र के समरांगण में वीरता के साथ लड़ने को उद्यत हो गया। इसे केवल अपने बाहु बल के सहारे के सिवाय कहीं से कोई आशा न रही। बहुत दिन तक इसे यही धुन सवार रही कि किसी समाज में अपना नाम लिखाय उसमें भरती हो जाऊँ क्योंकि किसी समूह या जत्था में बिना मिले कुछ हो नहीं सकता। कदाचित् इसी से हमारे पुराने लोग कह गए हैं 'अनाश्रमी न तिष्ठेत'। पर जहाँ जिस समूह में गए वहाँ कुछ ऐसा गोलमाल पाया और ऐसा समुदार भाव और स्वार्थ देखा कि जी घिनाने लगा। अन्त में आर्य समाज में गया कि इसमें जो लोग हैं सो देश हित पर कमर बाँधे हैं और दावा करते हैं कि एक समय आवेगा कि समस्त देश का देश आर्य समाजी बन जायगा। किन्तु वहाँ पहुँचते हो मेरा नाम निस्सहाय हिन्दू पाय सबके सब खा खा कर दौड़ पड़े कितनों को तो इतनी घिन मुझसे हुई कि यह तो हिन्दू है इसकी हवा न लगने पावे। एक उनमें का जिसमें कुछ उदार भाव की झलक थी मेरे पास आ कहने लगा, 'महाशय जी आप आर्य सिद्धान्त स्वीकार करें तो हम लोग हर तरह पर सहायता देने को उद्यत होंगे'। मैंने अपने मन में कहा 'ऐ परमेश्वर मैंने अनार्य सिद्धान्त क्या मान रखा है और कौन सी अनार्यता की बात मेरे मन में है जिसे यह छोड़ने कहता है।' अत्यन्त विनीत भाव से उत्तर दिया मैं तो अपने में कोई अनार्यता नहीं पाता बहुधा स्वामी दयानन्द की प्रशंसा करता हूँ कई बार पत्र में लेख लिख चुका हूँ जिसमें उनकी बहुत सी बातों की श्लाघा का गान मैंने किया है। हाँ ब्राह्मणों से लागमत में (१) रख जड़ पेड़ से हिन्दू धर्म का उच्छेद नहीं किया चाहते न वेदों से तार रेल आदि अनेक नूतन वैज्ञानिक तरक्कियों को सिद्ध करने में सहमत हूँ। इसपर वह महाशय कुछ उदास से हो मुँह बनाय चलते बने। ऐसे ही राधास्वामी के एक पक्के अनुयायी (ने) तीन दिन तक अपने मत का सिद्धान्त मुझे सुनाया जो कुछ तत्व सन्त मत का था सब उन्होंने उगल दिया और कहा "जितने आपके ऋषि मुनि हुए सबों ने कपट किया तत्व को किसी ने नहीं बतलाया न वहाँ तक पहुँचे थे। परमार्थ का तत्व केवल सन्तों ही ने पाया और उन्हीं लोगों ने हम लोगों में उसका प्रचार किया। तब आत्म

कल्याण और उस बड़े मालिक से मिलने का केवल एक यही रास्ता है।" यह सब कह मुझसे पूछा कहिए अब आपके क्या मन में है। मैंने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया मैं केवल अपना ही आत्म कल्याण नहीं चाहता वरन् यह हमारा समस्त देश का देश इस गिरी दशा से उद्धार पाय आत्म कल्याण की वासना का अधिकारी हो तब मैं भी उन्हीं के साथ अपने आत्मा का कल्याण ढूँढ लूँगा। तब उन्होंने कहा —"इस अनित्य संसार की उन्नति में क्या रखा है मानलो तुम यूरोप के किसी देश में पैदा होते तो वहीं की तरक्की चाहते तब हमें चाहिए हम उस भूमि की उन्नति में लगें जो सदा के लिए है इस दृश्य जगत के समान अनित्य और क्षणिक नहीं है। मैंने कहा मुझे इतनी समाई नहीं है। इस समय तो इस गढ़े से किसी तरह निकलूँ जिसमें पड़ा सड़ रहा हूँ फिर देखा जायगा। इस पर वह कुछ अप्रसन्न सा हो मुँह बिचकाए अलग मुड़ गए। जब मैं सोचने लगा मैं अपने लिए कौन से मार्ग का अनुसरण करूँ जिसमें सुख से जीवन निर्वाह कर सकूँ। धन पास नहीं जो कुछ रोजगार करूँ, स्वच्छंदता की उन्मूलक सेवा वृत्ति किया नहीं चाहता। किसी ने कहा आप ब्राह्मण हो पढ़े लिखे भी हो बह्मनई में अच्छा लाभ उठाओगे। थोड़ी देर के लिए मूर्ख धनी अपढ़ यजमान के सम्पर्क में अपनी स्वतंत्रता नाक पर रख दंभ और आडम्बर रचना पड़ेगा तो इसमें क्या हानि है। कहावत है घी खाइये शक्कर से दुनिया ठगिए मक्कर से। किसी ने कहा फक्कड़ व्यास बन पुराण बाँचा करो, किसी ने कहा ज्योतिषी बन पत्रा बगल में दाब घर घर घूमा करो। रुपया दो रुपया प्रति दिन कमा लेना कम न होगा। एक हमारे परम स्नेही मित्र ने कहा आप वैद्य बनें ग्रंथ आप लगा लोगे रसायनिक क्रिया आदि हम बतला देंगे थोड़े दिन में आप अच्छे वैद्य होंगे तब धन और मान दोनों की कमी न रहेगी। एक मेरे वकील मित्र ने वकालत का इम्तिहान पास करने को मुझसे कहा पर मुझे संस्कृत साहित्य का ऐसा चस्का लग गया कि मैंने कानून पढ़ने से इन्कार कर दिया। और साहित्य सागर में डुबकियाँ मारने लगा। कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, बाण, दण्डी आदि कवियों की उक्ति युक्ति का रसास्वादन रगरग में भीन गया। एक तो यों ही आजादगी के तेज़ घोड़े पर सवार थे कवियों की चुटीली उक्ति युक्ति सोने में सोहागा की भाँति हो गई। सुतराम् मैं महीनों तक इसी गलता पेची में पड़ा रहा कि किस क्रम का अनुसरण करूँ जो हमारी स्वतंत्रता का विघ्नकारी न हो और जीवन यात्रा भी चल जाय। 'एक तो तित लौकी दूजे चढ़ी नीम।' एक ओर तो सब ओर से निस्सहाय दूसरे अत्यन्त स्वतंत्रता प्रिय, रुखाई का जाम पहने कहीं पर किसी अंश में तनिक अनुचित

पाय लोकएषणा को तिलांजलि दिए हुए तब ऐसे का संसार सागर में कहाँ ठिकाना जहां स्वार्थ ही सर्वस्व है। कुटलाई के भाँति भाँति के ऐंच पेंच शास्त्र की गठीली फक्किका हैं। इनके चले जाने के उपरान्त में देर तक मन मैं सोचता रहा इन्होंने यह क्या कहा कि हमारे ऋषि मुनि सब कपट कर गए। सीधा रास्ता किसी को न बतलाया। कैसे इनका कहना मान लें कि कैसे ऐसे महानुभावी त्रिकालदर्शी ऋषि मुनि सब कपटी थे। और फिर इतने युगानुयुग बीत गए जब तक सरल सीधा मार्ग परलोक सुधरने का छिपा ही रहा। कलके जन्मे कबीर दादू आदि सन्तों ही ने इसे बताया संसार में प्रकट किया। इस प्रकार की ऊट पटाँग बातों पर कैसे श्रद्धा हो ? निश्चय औरों के समान दुकानदारी से यह भी खाली नहीं है फिर जिस दुनियावी तरक्की पर हमारे देश का दारमदार है उसे यह अनित्य और क्षणिक कहते हैं। तब इनके कहने पर कौन कान दे। जब नए टटके सौरभ का लोभी मेरा चंचल चंचरीक मन ताजी और मीठी महक की खोज में लगा हुआ ब्रज की सुहावनी पुण्य भूमि में जाय पहुँचा। भगवत चरण अंकित जहाँ की रेणु के स्पर्श मात्र से भक्ति का उद्‌गार मन में हो जाता है। परमात्मा भगवान् कृष्णचन्द्र के अनेक लीला ताण्डव की रंगभूमि वृंदावन में पहुँच यही चित्त चाहता है कि बस 'एतावज्जन्मसाफल्यम्' जहां के रजःकण का कृष्ण चैतन्य, हितहरिवंश, गोस्वामी हरिदास सरीखे कितने भावुक जन्मजन्मान्तर के पाप मोचन का सुगम उपाय मान चुके हैं। जिस रजःकण में लोटने ही मात्र से पूतात्मा धूतपाप भक्ति निर्भर हो अपने सेव्य प्रभु नन्द सुवन के चरण सरोज की सेवा का यह जीव पूरा अधिकारी बन जाता है। स्मरण, कीर्तन, वंदन, पाद-सेवन, सख्य आत्मनिवेदन आदि नवधा भक्ति से अपने प्रभु को रिझाए हुए भोले और सीधे जोकि भक्ति भावना से विमल अन्तःकरण सरस हृदय वाले ज्ञानी विरक्त के रूखे थान और वैराग्य पर पछताते हुए भक्ति और निर्वाण पद को भी लात मारते हैं। इनके चित्त का अकुटिल सरल भाव इनके चहरे की चमक दमक देख यही मन में आया कि वैष्णव सम्प्रदाय सर्वोत्तम है। इस मार्ग का अनुसरण सब तरह कल्याणकारी है। किन्तु बिना कुछ दिन के बर्ताव के आदमी की भरपूर परख नहीं होती। सच किसी ने कहा है—'सँगत कीजै जान पानी पीजै छान।' भीतर पेट के देखा तो यहाँ सबसे अधिक पोल पाई। सम्प्रदाय प्रवर्तक ने जिस नवधा भक्ति का रूप खड़ा कर दिखाया था जिसके अनुसार चल कितने लोग सिद्ध हो गये। अष्ट छाप के वैष्णव, नामदेव तथा मीरा आदि इसके उदाहरण हैं जिनके कहे पदों में वह असर है जिसे सुन या पढ़ मनुष्य का चंचल मन स्थिर भाव-धारण

कर परमात्मा का अनन्य उपासक हो जाता है। भगवत् कृपा का भाजन हो अब भय रहित बार बार जन्म मरन के क्लेश से मुक्त हो जाता है। वह सब जब केवल ढकोसला मात्र रह गया है कस्तूरी कहीं लेशमात्र को भी न बची केवल महक रह गई। प्रत्युत व्यभिचार आदि अनेक दूषित दुष्कर्मों का अड्डा इसे देख जी ऐसा घिनाता है कि इस ओर ताकने का मन नहीं करता। तब इनमें मिल इनका अनुयायी होना कैसा!

ब्रज भूमि में यह सब दुर्दशा देख अयोध्या आदि कई तीर्थों की ओर से श्रद्धा घट गई पर काशी को यह समझ कि वाराणसी बहुत दिनों से विद्यापीठ प्रसिद्ध हैं यहाँ कदाचित ऐसा धींग धींगा न होगा। यहाँ पहुँच देखा तो निःसंदेह संस्कृत के पठन पाठन में लोगों की विशेष रुचि और प्रवृत्ति पायी। ठौर ठौर देव मंदिर और शिवाले देख हिन्दुवानी का केन्द्र कहना उचित हुआ।[1]

---

१. **नोट :—यह अप्रकाशित निबंध पं० जनार्दन भट्ट के पास अब तक सुरक्षित है। सुम्भवतः इसे पं० बालकृष्ण भट्ट ने सन् १९०९ 'हिन्दी प्रदीप' के बन्द हो जाने के बाद लिखा होगा। इसलिये प्रकाशित नहीं हो सका। यह निबंध पं० बालकृष्ण भट्ट के हस्त लेख में ७ पृष्ठों में लिखा हुआ उपलब्ध है।**

परिशिष्ट 'ख'

भट्ट जी के प्रतिनिधि साहित्यिक निबन्धों की तालिका

शैली प्रधान निबन्ध

क्रम	निबन्ध	पत्र	तिथि व पृष्ठ
१.	ईश्वर भी क्या ठठोल है,	हिन्दी प्रदीप,	जनवरी से मार्च १८९३, पृ० २६–२८।
२.	क्या करें हमारा बस न चला,	,,	जनवरी से मार्च १८९३, पृ० ४५–४८।
३.	नहीं,	,,	जुलाई अगस्त १८९८, पृ० १-४।
४.	मन्त्र कलाप,	,,	मार्च अप्रैल १९०१, पृ० १४-१६।
५.	पत्नीस्तव,	,,	जनवरी से अप्रैल १९०३, पृ० १३–१५।
६.	नाम में नई कल्पना,	,,	अक्टूबर १९०५, पृ० ८–११।
७	वधूस्तव,	,,	दिसम्बर १९०५, पृ० ७–९।
८.	होता आया है,	,,	,, १९०५, पृ० १३–१४।
९.	'द',	,,	नव० दिस० १९००, पृ० २२-२३।
१०.	'जी'	,,	,, ,, ,, २३-२५।
११.	नई वस्तु की खोज,	,,	मई से जुलाई १९०१, पृ० ४३-४६।
१२.	घुन,	,,	जन० फर० १९०३, पृ० २९-३०।
१३.	लौ लगी रहे	,,	सित० से दिस० १९०३, पृ० १-६।
१४.	क्या होगा,	,,	जन० से अप्रैल १९०४, पृ० ५६-५९।
१५.	ढोल के भीतर पोल,	,,	जनवरी १९०३, पृ० ६-९।
१६.	खटका,	,,	मई १८९६, पृ० ७-१०।
१७.	नए तरह का जनून,	,,	नव० दिस० , पृ० ३५-३८।
१८.	मेला ठेला,	,,	जून जुलाई , पृ० ३७-४०।
१९.	विशाल वाटिका,	,,	नवम्बर १९०५, पृ० १-७।
२०.	चली सो चली,	,,	जनवरी १८९८, (पृ० फट गया)
२१.	चलन,	,,	जुलाई १८९३, ,,
२२.	देवताओं से हमारी बातचीत,	,,	अक्टूबर १८९३, ,,
२३.	होनहार,	,,	अप्रैल १८९९, पृ० ५-७।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध

('हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित)

१. मनोविज्ञान— जनवरी १८८०, पृ० १४-१६।
२. अभिलाषा— नवम्बर १८८४, पृ० १६-२०।
३. पसन्द— मई १८८५, पृ० २०-२३।
४. आशा— जनवरी १८८६, पृ० १-६।
५. मन की दृढ़ता— दिसम्बर १८८६, पृ० १-७।
६. धैर्य— जून १८८७, पृ० १४-१६।
७. सुख दुख का अलग अलग विवेचन—नव० दिस० १९००, पृ० १३-१५।
८. लोकएषण— ,, ,, १५-१८।
९. दृढ़ सङ्कल्प या स्थिर अध्यवसाय—अक्टू० से दिस० १९०१, पृ० २-५।
१०. ज्ञान और भक्ति— मार्च अप्रैल १९०३, पृ० १-५।
११. कर्तव्य परायणता— मई से अगस्त १९०३, पृ० ३६-४०।
१२. विश्वास— जनवरी से अप्रैल १९०४, पृ० ४८-४९।
१३. मुक्ति और भक्ति— जून १९०७, पृ० १५-१६।
१४. कौलीन्य— मार्च १९०८, पृ० १०-१२।
१५. भक्ति की भावना— फागुन संवत् १९६६, पृ० २०-२४।
१६. नासमझी— अप्रैल से जून १८९३, पृ० ८-१०।
१७. चरित्र पालन— सित० अक्टू० १८९४, पृ० ३-६।
१८. मन और प्राण— जुलाई अगस्त १८९७, पृ० ४-७।
१९. महत्व— अगस्त सित० १८९९, पृ० १६-२०।
२०. सुख क्या है— जुलाई अगस्त १८९६, पृ० २५-२९।
२१. मन और नेत्र— अप्रैल १८९०, पृ० ९-१३।
२२. दृढ़ और पवित्र मन— मई १९०६, पृ० ७-९।
२३. बोध मनोयोग और मुक्ति— जुलाई अगस्त १८९६, पृ० २२-२५।
२४. भक्ति— जून जुलाई १८९९, पृ० १-३।
२५. कौतुक— अक्टू० से दिस० १८८९, पृ० १-३।
२६. नई बातों की चाह लोगों में क्यों होती है— सित० से दिस० १८९६, पृ० ५-११।
२७. हमारे मन की मधुप वृत्ति— अप्रैल से जून १८९२, पृ० ३६-३७।
२८. मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है— अगस्त सितम्बर १८९९, पृ० १-४।

शास्त्रीय निबन्ध

('हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित)

१. अनूठी उपमा —दिसम्बर १८८६, पृ० ६-१० ।
२. उपमा —जुलाई अगस्त १८८६, पृ० १३-१६ ।
३. रसाभास —अक्टू० से दिस० १८८६, पृ० १०-१३ ।
४. वाक्यालंकार —सित० अक्टू० १८६४, पृ० १४-१५ ।
५. रूपक —मार्च अप्रैल १६०१, पृ० ५-१२ ।
६. हमारी मातृभाषा —जून १६०६, पृ० १-४ ।
७. हमारी भाषा क्या है ? —अप्रैल १८८२, पृ० ११-१४ ।
८. भाषा कैसी होनी चाहिए —जुलाई १८८५, पृ० १-५ ।
९. भारतवर्ष की जातीय भाषा —फरवरी १८८६, पृ० १८-२२ ।
१०. हिन्दी की वर्तमान दशा —जन० से अप्रैल १६०४, पृ० २६-३१ ।
११. गुन आगरी नागरी —नवम्बर १६०७, पृ० १६-२१ ।
१२. शब्दों की यातना —मार्च १८७७, पृ० १-३ ।
१३. देशी भाषा और देशी अक्षर —अगस्त १८८०, पृ० १७-१६ ।
१४. शब्दों की बनावट —जन० से मार्च १६००, पृ० ४६-४८ ।
१५. सभ्यता और साहित्य —मई १८७८, पृ० १-३ ।
१६. फार्सी थियेटर —सित० से दिस० १६०३, पृ० ८-६ ।
१७. प्रतिभा —अक्टूबर १६०६, पृ० १-३ ।
१८. खड़ी बोली का पद्य —अक्टू० से दिस० १८८८, पृ० ४-६ ।
१९. उपन्यास —जनवरी १८८२, पृ० १७-१६ ।
२०. संस्कृत की वर्तमान अवस्था —सित० अक्टू० १८६४,
२१. खड़ी और पड़ी बोली का विचार—अक्टू० से दिस० १८८३, पृ० १६-१८ ।
२२. उपयुक्त विशेषण —जनवरी १८६२, पृ० ४-६ ।
२३. उपयुक्त उपमा — ,, ,, पृ० ५-६ ।
२४. उपयुक्त क्रिया —माघ सम्वत् १६६६, पृ० २६-२७ ।
२५. हिन्दी का अपमान —अगस्त १८८८, पृ० १२-१४ ।
२६. हिन्दी —अक्टूबर १८७७, पृ० १ ।

विषय प्रधान निबन्ध

('हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित)

१. बाल्य विवाह —दिसम्बर १८८०, पृ० २१-२३।
२. होली —मार्च १८८२, पृ० ६-१०।
३. स्त्रियां और उनकी शिक्षा —फरवरी १८८५, पृ० १४-१६।
४. जातपाँत —अप्रैल १८८६, पृ० १-४।
५. हमारी भारत ललनायें —जुलाई १८६१, पृ०६-६।
६. परिवार की एकान्न भोजन की कुप्रथा —जुलाई १६६१, पृ०१४-१८।
७. महिला स्वतंधय —जुलाई अगस्त १६००, पृ० २२-२३।
८. सूद खोरी —दिसम्बर १६०५, पृ० ११-१४।
६. विजयलक्ष्मी —सितम्बर अक्टूबर १८६७।
१०. सुगृहिणी —जुलाई अगस्त १८६५।
११. मांस भक्षण —अप्रैल से जून १८६४, पृ० १५-१८,
१२. देश सेवा महत्व —दिसम्बर १६०८, पृ० २-५।
१३. राजा और प्रजा —जनवरी १६०८, पृ३ २-५।
१४. हमारा दास्य भाव — ,, ,, पृ० ११-१३।
१५. राजा —जुलाई अगस्त १८६४, पृ० १-३।
१६. हिन्दू जाति का स्वाभाविक गुण—अक्टूबर से दिसम्बर, पृ ८-१३।
१७. मनुष्य तथा वनस्पतियों में समानता —मई से जुलाई १६०१, पृ० १-४।
१८. कृष्कों की दुरवस्था —जनवरी फरवरी १६०१, पृ० ११-१३।
१६. कृषि की कर्षित दशा —जनवरी से मार्च १८६७, पृ० १-८।
२०. ग्राम्य जीवन —अगस्त सितम्बर १६०१, पृ० २-५।
२१. प्रकाश —जूने १८८८, पृ० २४।
२२. आधुनिक वैज्ञानिकों से प्राचीन आर्यों का सहमत —अप्रैल से जून १८६३, पृ० ४५-४६।
२३. स्वतंत्र वाणिज्य —जुलाई १६०७, पृ १-४,
२४. शिक्षा का प्रकाश —फाल्गुन संवत् १६६६, पृ० २४-२५।
२५. अंग्रेजी शिक्षा और प्रकाश —अप्रैल १६०६, पृ० २६-३२।
२६. हिन्दुस्तान में तालीम का नफा नुकसान —मई से जुलाई १६०४, पृ० १-५।
२७. हमारे नए सुशिक्षितों में परिवर्तन —कार्तिक संवत् १६६६, पृ० २६-३२।

परिशिष्ट 'ग'

भट्ट जी के निधन पर शोक-संवेदना में प्राप्त पत्र तार आदि

१—ता० २३-७-१४, चौक लखनऊ, गोपाल लाल—(शोक प्रकाशन)

२—ता० २१-७-१४, जेठियों का अखाड़ा वीर शिरी घाट महाराणा जी का, उदयपुर (चेतनानन्द)—(शोक प्रकाशन)

३—ता० ८-८-१४, सरस्वती पाठशाला बड़ा ग्राम (शङ्करदयालु शर्मा) मुख्याध्यापक, पो०—महौली, जिला सीतापुर (अवध)—(शोक प्रकाशन)

४—ता० २४-७-१४, श्री वृन्दावन (राधाचरण गोस्वामी)—

श्री राधारमणो जयति महामहिम !

अपने परम मित्र श्रद्धास्पद श्री पण्डित भट्ट जी के स्वेष्ट प्राप्ति का सम्वाद सुनकर बहुत ही कष्ट हुआ। मैं समझता हूँ कि हिन्दीं 'विधवा' होगई। भट्ट जी के गुणों की छटा मेरे हृदय में अङ्कित है। मैं उसको इस छोटे से पत्र में कहाँ तक लिखूँ। जो उद्वेग इस समय मेरे हृदय में है वह उस समय तक दूर न होगा जब तक भट्ट जी की सचित्र जीवनी न प्रकाशित हो। यदि जीवनी छपै तो मैं उसकी १०० कौपी का ग्राहक हूँ—मैं आपके और आपके कुटुम्ब से समवेदना प्रकाश करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आप मुझ पर भट्ट जी के समान सदैव कृपा रखेंगे।

५—ता० ८-८-१४, केम्प मऊ, छीवो कर्वी (शिवकुमारसिंह)—
(शोक प्रकाशन)

६—ता० १५-८-१४, भूरालाल मिश्र आ० सेक्रेटरी, हिन्दी-साहित्य-सभा, कलकत्ता, तुलापट्टी नं० ७६—

श्रीयुत पं० जनार्दन जी भट्ट महोदय,

हिन्दी-साहित्य-सभा का एक विशेष अधिवेशन महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मण शास्त्री जी के सभापतित्व में हुआ जिसमें आपके पूज्य पिता पं० बालकृष्ण भट्ट जी की मृत्यु पर शोक प्रकट किया गया। भट्ट जी के स्मारक में एक स्वर्ण पदक देना भी सभा ने निश्चय किया है। सभा ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं इसकी सूचना आपको दूँ और आपके शोक संतप्त हृदय के साथ समवेदना प्रकाश करूं।

सभा को पूर्ण विश्वास है कि भट्ट जी की कीर्ति को चिरस्थाई रखने के लिए आप हिन्दी में लेखादि लिखकर उसके भंडार को पूर्ण करते रहेंगे।

७—ता० २५-८-१४, मधुमंगल मिश्र, जबलपुर—

प्रिय महादेव !

रजिस्टरी से भेजा चित्रदर्शन वाला 'हिन्दी प्रदीप' और तुम्हारा नोट मिला। जीवन चरित लिख डाला। चित्र के लिए 'विद्यार्थी' को लिखा गया था। रामजीलाल ने कुछ उत्तर न दिया सरस्वती वाले चित्र के लिए इण्डियन प्रेस को लिखा उसने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ चित्र देने का नियम नहीं है। 'विद्यार्थी' का चित्र सुदर्शन प्रेस में छपा है। क्या सुदर्शन प्रेस सुदर्शनाचार्य का है। यदि ऐसा हो तो उनसे आप मिल के इतना पूछ के लिखिए कि २२०० प्रिंट उससे देने का वह क्या लेंगे और कब तक दे सकेंगे। अथवा सुदर्शन प्रेस किसी और का हो तो यह इस प्रश्न का उत्तर क्या देता है? मैं चाहता हूँ जीवन चरित चित्र के साथ ही निकले। अन्यथा जीवन चरित एक में और चित्र दूसरे में निकालना अच्छा न होगा। यदि 'विद्यार्थी' न दे तो क्या आप कोई और फोटो जैसी चित्र दर्शन में लिखी है नहीं भेज सकते वह आपको लौटा दी जावेगी।

८—ता० २८-८-१४, मधुमंगल मिश्र, जबलपुर—

प्रिय महादेव ! नमस्कार !

आपका कार्ड हाल में मिला उसमें आप लिखते हैं कि बंगलोर से भाई साहब ने कुछ नोट्स भेजे हैं वे शीघ्र ही भेजता हूँ पर अभी लों नहीं भेजा। इस कार्ड की प्राप्ति के पूर्व ही मैं एक कार्ड आपको भेज चुका हूँ कि मैं जीवन चरित लिख चुका। 'हितकारिणी' को दे भी दिया। पर फोटो नहीं मिली है। आपके भेजे नोट्स मिले उनका उपयोग किया है, स्थान परिमित है। भाई साहब के

नोट्स देखके सम्पादक से और स्थान माँगूँगा मिलेगा तो सन्निवेश की चेष्टा करूंगा। सुदर्शनाचार्य से अथवा सुदर्शन प्रेस के मालिक से पूछ कर लिखियेगा कि 'विद्यार्थी' में छपा चित्र वे देंगे २२०० चाहिए क्या लेंगे अथवा आप कोई दूसरा फोटो रजिस्टरी से भेजिए।

९—ता० १४-९-१४, **बिहारीलाल गुजराती उपमंत्री, हिन्दी साहित्य-सभा, चौक, लखनऊ—(शोक प्रस्ताव)**

१०—ता० २ अगस्त १९१४, **राधाचरण गोस्वामी, मंत्री हि० सा० सम्मेलन श्री वृन्दावन—(शोक प्रस्ताव)**

११—ता० २४-७-१४, **मधुमंगल मिश्र, नार्मल स्कूल, जबलपुर—**

शोक प्रकाश

"एक बार तुमने १८९०-९३ के बीच में 'हिन्दी प्रदीप' में एक लेख लिखा था। उसमें अन्य पुरुष के ब्याज से भट्ट जी का हाल और चित्र का वर्णन किया था। आँख कमजोर हैं यह भी लिखा था। यह संख्या मिले तो भेजना पिछले जीवन का भी हाल मुझे परदेश में रहने से स्वल्प ही विदित है। पर जी चाहता है कि इस प्रदेश के लोगों को अपने गुरु का परिचय दूँ। क्या तुम शीघ्र मसाला भेजोगे। थोड़े ही दिनों में सब पत्र पत्रिकायें रँग जायेंगी और जीवन चरित सुलभ होगा पर शीघ्रता के लिए तुम से माँगता हूँ।"

१२—ता० १५-७-१४, **माधोप्रसाद, गणेशगंज, मिर्जापुर—(शोक प्रकाश)**

१३—ता० ३-८-१९१४, **(नं० ४८०) ब्रजनन्दनसहाय मंत्री ना० प्र० सभा आरा—(शोक प्रस्ताव)**

१४—ता० ४ अगस्त १९१४, **रघुनाथ प्रसाद पाण्डे वकील मंत्री, सरयूपारीण ब्राह्मण सभा, जबलपुर—(शोक प्रस्ताव)**

१५—**श्रावण सुदी ४ संवत् १९७१, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, सम्पादक, मनोरंजन—(शोक प्रकाश)**

१६—ता० ३-८-१४, **गणेशशंकर विद्यार्थी, प्रताप कार्यालय, कानपुर—**

प्रियवर-वन्दे—

मैं नहीं जानता कि किन शब्दों में मैं आपसे आपकी इस घोर क्षति में सहानुभूति प्रकट करूँ **एक स्वतंत्र विचार वाले महानपुरुष के** स्वर्गवास पर सांसारिक लल्लो चप्पो से काम लेना उस महान पुरुष का अपमान करना है।

आप ही की क्षति नहीं क्षति सार्वजनिक है। परन्तु केवल संतोष के और कुछ हाथ नहीं। परमपिता उनकी आत्मा को शान्ति दें और आपको धैर्य।

आपको शीघ्र पत्र लिखना आपके शोकपूर्ण हृदय को और भी शोकाकुल बनाना था इसलिए देरी से पत्र लिख रहा हूँ।

योग्य सेवा लिखें—

आपका

विनीत

गणेशशंकर 'विद्यार्थी'

इस प्रकार के पत्र और तारादि की संख्या ४२ है। हिन्दी जगत् में भट्ट जी के व्यापक सम्मान और उनकी लोकप्रियता को स्पष्ट करने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों के पत्र ही यहाँ प्रकाशित किए जाते हैं। इनमें से कुछ पत्र भट्ट जी के जीवन और उनकी जीवन सामग्री के सूत्रों की प्रामाणिकता की ओर भी इंगित करते हैं। अधिकांश पत्र पं० जनार्दन भट्ट के नाम पर ही आए हैं परन्तु कुछ पं० महादेव भट्ट और पं० लक्ष्मीकांत भट्ट के नाम पर भी।

लेखक

परिशिष्ट 'घ'

सहायक ग्रंथों की सूची

१. अशोक के फूल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण ।
२. अनुसंधान के स्वरूप, डा० सावित्री सिन्हा, प्रथम संस्करण ।
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४८ ।
४. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण ।
५. आधुनिक काव्यधारा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण ।
६. आधुनिक हिन्दी नाटक, डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण ।
७. आलोचनांजलि, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण ।
८. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल, सन् १९४२ ।
९. आधुनिक हिन्दी साहित्य, 'अज्ञेय', प्रथम संस्करण ।
१०. आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि, प्रकाशचन्द गुप्त, प्रथम संस्करण ।
११. आधुनिक कथा साहित्य, गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्रथम संस्करण ।
१२. आचार्य रामचन्द शुक्ल, शिवनाथ एम० ए०, प्रथम संस्करण ।
१३. आधुनिक साहित्य, नंददुलारे वाजपेयी, प्रथम संस्करण ।
१४. आदर्श हिन्दी कहानियाँ, केदारनाथ भट्ट एम० ए०, प्रथम संस्करण ।
१५. आचार्य रामचन्द शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण ।
१६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, कृष्ण शंकरशुक्ल, प्रथम संस्करण ।
१७. इक्कीस कहानियाँ, सम्पादक रायकृष्णदास, सातवाँ संस्करण ।
१८. उपन्यास कला, विनोदशंकर व्यास, प्रथम संस्करण ।
१९. कहानी कला, विनोदशंकर व्यास, प्रथम संस्करण ।
२०. काव्य कला तथा अन्य निबंध, जयशंकरप्रसाद, प्रथम संस्करण ।
२१. कथा कुंज, डा० किरणकुमारी गुप्ता, प्रथम संस्करण ।
२२. कहानी और कहानीकार, मोहनलाल जिज्ञासु, प्रथम संस्करण ।
२३. खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ, विश्वम्भर मानव, द्वितीय संस्करण ।
२४. खड़ी बोली आन्दोलन (संकलित), बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, प्रथम संस्करण ।
२५. खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण ।
२६. गोदान, प्रेमचन्द, तेरहवाँ संस्करण ।
२७. चिन्तामणि, पहला भाग, आचार्य रामचन्द शुक्ल, सन् १९५६ ।

२८. चिन्तामणि भाग २, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० वि० २००२ ।
२९. तृतीय हिन्दी सम्मेलन के सभापति का भाषण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० १९७८ ।
३०. तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का भाषण, साहित्य सम्मेलन प्रयाग १९८० ।
३१. दमयन्ती स्वयंवर, सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' सं० १९९९ ।
३२. द्विवेदी मीमांसा, प्रेम नारायन टण्डन, प्रथम संस्करण ।
३३. द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य, गंगाबख्शसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
३४. द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति की वक्तृता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग; सं० १९७३ ।
३५. द्विवेदी पत्रावली, बैजनाथसिंह 'विनोद' प्रथम संस्करण ।
३६ नूतन ब्रह्मचारी, पं० बालकृष्ण भट्ट, चौथा संस्करण ।
३७. नाट्य-शास्त्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पहला संस्करण ।
३८. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट, गोपाल पुरोहित, प्रथम संस्करण ।
३९. पत्र और पत्रकार, कमलापति त्रिपाठी, पहला संस्करण ।
४०. पत्रकार कला, विष्णुदत्त शर्मा, द्वितीय संस्करण ।
४१. प्रेमचन्द, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण ।
४२. प्रेमचन्द और उनका युग, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण ।
४३. पञ्चम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का भाषण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।
४४. प्रेमचन्द घर में, शिवरानी प्रेमचन्द, द्वितीय संस्करण ।
४५. बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, झाबरमल्ल शर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण ।
४६. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, डा० कपिलदेव सिंह, प्रथम संस्करण ।
४७. भारतेंदु नाटकावली, श्यामसुन्दरदास, प्रथम संस्करण ।
४८. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, श्यामसुन्दरदास, प्रथम संस्करण ।
४९. भारतेंदु की विचारधारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पहला संस्करण ।
५०. भारतेंदु युग, डा० रामबिलास शर्मा, द्वितीय संस्करण ।
५१. भट्ट निबंधावली भाग १, सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल,' द्वितीय संस्करण ।
५२. भट्ट निबंधावली भाग २, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', द्वितीय संस्करण ।
५३. भट्ट निबंध माला १, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', प्रथम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

५४. भट्ट निबंध माला भाग २, सम्पा० धनंजय भट्ट 'सरल', नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण ।
५५. भारतेंदु ग्रंथावली, ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण ।
५६. भारतेंदु मण्डल-ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण ।
५७. भारतेंदु मुकुर, प्रचार विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।
५८. भारतेंदु, ब्रजरत्नदास, द्वितीय संस्करण ।
५९. भारतेंदु के निबंध, डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण ।
६०. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण ।
६१. मेरे निबंध, बाबू गुलाबराय, प्रथम संस्करण ।
६२. मेरी असफलतायें, बाबू गुलाबराय, द्वितीय संस्करण ।
६३. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयमानसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
६४. रसज्ञ रंजन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, अष्टम संस्करण ।
६५. युग और साहित्य, शांति प्रिय द्विवेदी, प्रथम संस्करण ।
६६. रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, द्वितीय संस्करण ।
६७. रानी केतकी की कहानी, इंशा अल्ला खां, संवत् २००२ ।
६८. विश्व साहित्य, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रथम संस्करण ।
६९. विचार और वितर्क, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण ।
७०. विचार और विवेचन, डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण ।
७१. विवेचन, इलाचंद्र जोशी, प्रथम संस्करण ।
७२. विचार और अनुभूति, डा० नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण ।
७३. शंकर सर्वस्व, सम्पादक हरिशंकर शर्मा, प्रथम संस्करण ।
७४. श्री गोविंद निबंधावली, गोविंदनरायण मिश्र, प्रथम संस्करण ।
७५. साहित्य सुषमा, नन्ददुलारे बाजपेयी, प्रथम संस्करण ।
७६. साहित्य सर्जना, इलाचन्द्र जोशी, पाँचवां संस्करण ।
७७. सिद्धान्त और अध्ययन, बाबू गुलाबराय, प्रथम संस्करण ।
७८. साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दरदास, द्वितीय संस्करण ।
७९. साहित्य चिंतन, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण ।
८०. साहित्य सुमन, बालकृष्ण भट्ट, संवत् १९७५ वि० ।
८१. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, प्रथम संस्करण ।
८२. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, डा० रामबिलास शर्मा, प्रथम संस्करण ।
८३. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, संवत् २००७ वि० ।

८४. सौ अजान और एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, ग्यारहवां संस्करण ।
८५. साहित्यिकों के संस्मरण, प्रेमनारायण टंडन, प्रथम संस्करण ।
८६. सम्मेलन निबंधमाला, सम्पा० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, तृतीय संस्करण ।
८७. हिन्दी नाट्य साहित्य, ब्रजरत्नदास, चौथा संस्करण ।
८८. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, दूसरा संस्करण ।
८९. हिन्दी नाटककार, जयनाथ 'नलिन', संस्करण ।
९०. हिन्दी गद्य शैली का विकास, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, चौथा संस्करण।
९१. हिन्दी काव्य विमर्श, बाबू गुलाबराय, प्रथम संस्करण ।
९२. हिन्दी साहित्य, डा० श्यामसुन्दरदास, नवाँ संस्करण ।
९३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ संस्करण ।
९४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण ।
९५. हिन्दी के सामाजिक उपन्यास, ताराशंकर पाठक, प्रथम संस्करण ।
९६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' प्रथम संस्करण ।
९७. हिन्दी गद्य निर्माण, सम्पादक लक्ष्मीधर बाजपेयी, अष्टम संस्करण ।
९८. हिन्दी गद्य गरिमा, सम्पादक भारत भूषण सरोज, प्रथम संस्करण ।
९९. हिन्दी निबंध माला भाग १, डा० श्याम सुन्दर दास नवीन संस्करण ।
१००. हिन्दी निबंध माला भाग २, डा० श्यामसुन्दर दास, ,,
१०१. हिन्दी निबन्धकार, प्रो० जयनाथ 'नलिन', प्रथम संस्करण ।
१०२. हिन्दी निबंध, प्रभाकर माचवे, प्रथम संस्करण ।
१०३. हिन्दी में निबंध साहित्य, जनार्दन स्वरूप अग्रवाल, प्रथम संस्करण ।
१०४. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, त्रिभुवनसिंह, प्रथम संस्करण ।
१०५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, मिश्रबंधु, प्रथम संस्करण ।
१०६. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा, प्रथम संस्करण ।
१०७. हिन्दी साहित्य में निबंध, ब्रह्मदत्त शर्मा, प्रथम संस्करण ।
१०८. हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी, पद्मसिंह शर्मा, द्वितीय संस्करण ।
१०९. हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह, परशुराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण ।
११०. हिन्दी गद्य मीमांसा, रमाकांत त्रिपाठी, तृतीय संस्करण ।
१११. हिन्दी कोविद रत्नमाला, श्यामसुन्दरदास, द्वितीय संस्करण ।
११२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण ।
११३. हिन्दी भाषा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, संवत् १८९० ई० ।
११४. हिन्दी भाषा, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, संवत् १९६४ वि० ।
११५. हिन्दी पुस्तक साहित्य, डा० माताप्रसाद गुप्त, सन् १९४२ ।
११६. हिन्दी बनाम उर्दू, वेंकटेशनारायण तिवारी, सन् १९३९ ।

११७. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सन् १९०७।
११८. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, चतुर्सेन शास्त्री, १९४६ ई०।
११९. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, बाबू राधाकृष्ण दास, १८९४।
१२०. हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास डा० लक्ष्मीनारायणलाल, प्रथम संस्करण।
१२१. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, नंद दुलारे बाजपेयी, संवत् १९९९।
१२२. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५२ ई०।
१२३. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पं० रामनरेश त्रिपाठी, १९८० वि०।
१२४. हिन्दी साहित्य एक अध्ययन, डा० रामरतन भटनागर, १९४८ ई०।
१२५. हिन्दी साहित्य, श्यामसुन्दर दास, २००३ वि०।
१२६. हिन्दुस्तानी का उद्गम, पं० रामचन्द्र शुक्ल, १९९६ वि०।

पत्र पत्रिकायें

१–हिन्दी प्रदीप।
२–मर्यादा।
३–सरस्वती।
४–हिन्दू पंच।
५–ब्राह्मण।
६–आनंद कादम्बिनी।
७–हरिश्चन्द्र चन्द्रिका।
८–कविवचन सुधा।
९–लक्ष्मी
१०–विशाल भारत
११–चांद
१२–माधुरी।
१३–वीणा।
१४–हंस।
१५–साधना।
१६–साहित्य संदेश।
१७–सुधा।
१८–ललिता।
१९–इंदु।
२०–नागरी प्रचारिणी पत्रिका।
२१–हिन्दी अनुशीलन।
२२–विश्व वाणी।
२३–कल्पना।
२४–पाटल।
२५–अजंता।
२६–सम्मेलन पत्रिका।
२७–विश्व मित्र।
२८–आलोचना (त्रैमासिक)
२९–हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश।
३०–हिन्दुस्तान (साप्ताहिक)
३१–धर्मयुग (साप्ताहिक)
३२–हिन्दुस्तान (दैनिक)
३३—नवभारत टाइम्स (दैनिक)